आनन्दवनग्रन्थमालायाः षड्विंशं कुसुमम्

द्वादशदर्शनसंग्रहः

(बीस आर्याशतक)

डा: शम्भुशंकर सिंह
पूर्व व्याख्याता। सम्पूर्णानन्द संस्कृत
विश्व विद्यालय वाराणसी

आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीकाशिकानन्दगिरि

शिवसङ्कल्प

श्रुति-स्मृति-पुराणोत्थ-नानादर्शन-दर्शिनीः ।
ताः सर्वा लोकमङ्गल्या वन्दे गुरुपरम्पराः ॥
नास्तिक्यास्तिक्य-भेदेऽपि सत्यान्वेषण-दीक्षिताः ।
सर्वदर्शनशीर्षण्या वन्दे गुरुपरम्पराः ॥

पूज्य स्वामी श्री श्री काशिकानन्द महाराज के इस ग्रन्थ का लोकार्पण करने का अवसर पाकर मैं एक विशेष आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। इसके दो कारण हैं। पहला यह है, कि थोड़े ही समय पूर्व जब मैं स्वामीजी से मिला और गङ्गा की अस्खलित अमृतधारा के समान उनका धारा-प्रवाह संस्कृत प्रवचन सुना, तब स्वामीजी के संस्कृत भाषा पर कूलंकष प्रभुत्व तथा उनकी सर्वपथीन शास्त्र-प्रतिभा की प्रथम झलक से ही मैं बहुत प्रभावित हुआ। दूसरा कारण यह है, कि स्वामीजी अपने पूर्वाश्रम में इसी विश्वविद्यालय के अन्तेवासी थे और यहीं से उन्होंने वेदान्त शास्त्र का प्रथम पाठ पढ़ा है। यहीं से वे वेदान्ताचार्य हुए। और तो और, यहाँ से निकलने के बाद उन्होंने संन्यास आश्रम स्वीकार कर लिया और संप्रति वे देश के उन सन्त महात्माओं में से एक हैं, जो वर्तमान वैज्ञानिक भौतिक-वाद की चकाचौंध से अभिभूत, दिग्भ्रान्त एवं पथभ्रष्ट समाज को हमारी चिरंतन आध्यात्मिक प्रज्ञा के स्थिर एवं सौम्य आलोक के सहारे सन्मार्ग पर लाने के उदात्त लक्ष्य से भारत वर्ष के कोने-कोने में अपने-अपने चुने हुए क्षेत्रों में आधुनिक प्रचारतन्त्र से दूर रहकर सात्त्विक समाज-सेवा कर रहे हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वामी काशिकानन्दजी महाराज सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के उस विशाल परिवार के एक मान्य सदस्य हैं, जो समग्र भारतवर्ष में फैला हुआ है। किसी भी विश्वविद्यालय की गरिमा ऐसे महनीय व्यक्तित्वों पर ही निर्भर हुआ करती है जो विश्वविद्यालय की चार दिवारी से निकलने के बाद अपने श्रेष्ठ कार्यों से सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और अपनी प्रतिष्ठा के साथ अपने विश्वविद्यालय की कीर्ति बढ़ाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के प्रति विश्वविद्यालय

को विशेष आत्मीयता होना भी स्वाभाविक ही है। अत एव अपने परिवार में विकसित प्रतिभा से प्रसूत इस ग्रन्थ को पाठक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करने में संस्कृत विश्वविद्यालय परिवार के वर्तमान मुखिया के रूप में मुझे एक अनूठा आनन्दानुभव होना भी सर्वथा स्वाभाविक है। यह मेरी अनुभूति ठीक उस फुल्लहृदया माता की अनुभूति की भाँति है जो अपने पुत्र की विद्वत्ता का समाचार सुनकर पुलकित हो उठती है, जिसका सटीक वर्णन तमिल साहित्य के मूर्धन्य सन्त-महाकवि तिरुवल्लुवर ने अपने तिरुक्कुरल में किया है। विश्व के शाश्वत साहित्य के रूप में लब्ध-प्रतिष्ठ तथा संस्कृत के प्राचीन ऋषिमुनियों की "अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्" के रूप में परिभाषित सूत्र-शैली में लिखित इस ग्रन्थ में माता की ममता का वर्णन करते हुए कहा गया कि संसार में किसी भी माता के लिए वह क्षण पुत्रजन्म के आनन्द से भी अधिक हर्षोल्लास का क्षण होता है जब उसे यह सुखद समाचार सुनने को मिलता है कि उसका पुत्र बड़े विद्वान् के रूप में समाज में सम्मानित हुआ है। संस्कृत विश्व-विद्यालय के लिए गौरव की बात है कि इसके विद्यावंश के एक श्रेष्ठ प्रतिनिधि ने अपनी विद्या एवं साधना के माध्यम से इस विशाल देश के एक दूसरे भाग में 'मिशनरी' के रूप में राष्ट्र के सांस्कृतिक उद्धार के महान कार्य के लिए स्वयं को समर्पित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतवर्ष में विकसित प्रमुख दर्शनों का सरल प्रति-पादन किया गया है। जैसा कि स्वामीजी ने अपनी भूमिका में स्वयं लिखा है, इस प्रकार के ग्रन्थ पहले भी लिखे जा चुके हैं। विकसित होते-होते जब भारतीय दर्शन साहित्य बहुत ही विशाल हो गया तथा उसकी समग्रता का आकलन सामान्य पाठक-जनों तथा जिज्ञासु-साधकों के लिए दुःसाध्य बन गया, तब दर्शन की विभिन्न धाराओं का सार संगृहीत करने की दिशा में प्रयास होने लगा। जैन आचार्य हरिभद्रसूरि का षड्दर्शन-समुच्चय संभवतः इस दिशा में प्राचीनतम उपक्रम था। शताब्दियों बाद माधवाचार्य ने (जिन्हें लम्बे समय तक नामसाजात्य के कारण शृंगेरी पीठ के आचार्य विद्यारण्य स्वामी से अभिन्न माना जाता रहा) सर्वदर्शन-संग्रह लिखा, जो इस श्रेणी की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना बन गयी। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता और लोकप्रियता के ही कारण पाश्चात्य विद्वानों को भारतीय दर्शनों से परिचित कराने के लिए इसी ग्रन्थ का डा० कावेल ने

अंग्रेजी में इसका अनुवाद किया। माधवाचार्य के **सर्वदर्शनसंग्रह** की लोकप्रियता एवं व्यापक प्रतिष्ठा के बावजूद, अनेक परवर्ती आचार्यों ने सभी दर्शनों का सार प्रस्तुत करने वाली इस रचनाधारा को निरन्तर प्रवहमान रखा। इसी शताब्दी का लिखा इस धारा के एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ का यहाँ उल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हूँ क्योंकि उसमें एक सर्वथा नवीन पद्धति अपनायी गयी। इन्दौर के संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने सन् १९३८ में प्रकाशित अपनी **मोक्षमन्दिरस्य द्वादश-दर्शन-सोपानावलि** में इस रचनाधारा को एक नया मोड़ देकर उपादेयता बढ़ाने का एक उल्लेखनीय प्रयास किया है। उन्होंने दर्शनों की साधारण समस्याओं को दृष्टि में रखकर एक सामान्य प्रश्नावली तैयार की और उसी प्रश्नावली के ढाँचे में सभी दर्शनों का विवेचन किया। पं० हसूरकर ने जिन सात सामान्य दार्शनिक समस्याओं को आधार बनाया, वे इस प्रकार हैं—

१. किं ज्ञेयम् ?
२. कीदृशो ज्ञाता ?
३. अज्ञानस्य स्वरूपं किम् ?
४. दुःखस्य स्वरूपं किम् ?
५. ज्ञानस्य स्वरूपं किम् ?
६. दुःखध्वंसस्य (मोक्षस्य) स्वरूपं किम् ?
७. एतेषु सर्वेषु प्रमाणं किम् ?

कहने की आवश्यकता नहीं है कि विवेचित दर्शनों के तुलनात्मक मूल्यांकन के लिए यह सामान्य ढाँचा बहुत ही उपयोगी है।

स्वर्गीय पं० हसूरकर की **द्वादशदर्शनसोपानावलि** के बाद अब इस धारा में स्वामीजी का यह ग्रन्थ पाठकों के समक्ष आ रहा है। इस ग्रन्थ की भी अपनी अनेक विशिष्टताएँ है। मेरी मान्यता है कि इन विशिष्टताओं के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ विभिन्न वर्गों के जिज्ञासु-पाठकों के लिए एक प्रकार से वरदान सिद्ध होगा। मुझे लगता है कि स्वामीजी ने अन्यान्य स्तर के एवं भिन्न-भिन्न रुचि के पाठकों की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं को सामने रखकर ही प्रस्तुत ग्रन्थ की योजना बनायी है।

मेरे विचार से स्वामीजी की ग्रन्थ-योजना की उत्कृष्टता के कुछ प्रमुख पक्ष निम्नानुसार है—

समन्वय दृष्टि

प्रस्तुत ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशिष्टता है, इसकी समन्वयात्मकता। इसमें बारहों दर्शनों को परस्पर संघर्ष या विरोध करने वालों के रूप में प्रस्तुत न कर विद्वान लेखक ने दार्शनिक चिन्तन में सामंजस्य की स्थापना को ही मूल उद्देश्य बनाया है। हाँ, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि लेखक मूलतः अद्वैत वेदान्त के हार्दिक पक्षधर हैं और उनकी यह समन्वयपरिकल्पना अद्वैत वेदान्त की छत्रच्छाया में की गयी है। यहाँ पर यह भी कह देना उचित होगा कि शाङ्कर वेदान्त की ही ऐसी सर्वसंग्रहात्मक छत्रच्छाया हैं जिसमें सभी दर्शनों को आत्मसात करने की क्षमता है। यह भी उल्लेखनीय है कि पं० हसूरकर ने भी अपनी **सोपानावलि** में माधवाचार्य का अनुसरण करते हुए शाङ्कर वेदान्त को ही अन्तिम सोपान बनाया है, यद्यपि वे जन्म से मध्व सम्प्रदाय के थे।

स्वामीजी ने अपनी अद्वैत-वासना एवं प्रगाढ़ अद्वैत-निष्ठा को छिपाया नहीं है। जहाँ अन्य सभी दर्शनप्रवर्तक ऋषियों एवं आचार्यों को नाम से निर्दिष्ट किया, स्वसम्प्रदायप्रवर्तक अद्वैत के प्रतिष्ठापनाचार्य श्री शङ्कराचार्य का उन्होंने कहीं नाम से उल्लेख नहीं किया, किन्तु उनका उल्लेख निरुपपद 'भगवत्पाद' शब्द से ही सर्वत्र किया है।

दार्शनिकों में जो परस्पर खण्डन-मण्डन करने की प्रथा थी अथवा उसी खण्डनात्मक प्रवृत्ति के कारण तत्त्व को कभी-कभी 'शुष्क तर्क' या 'वाद-कोलाहल' में उलझाकर दर्शनों को मात्र बौद्धिक व्यायाम बना देने की परम्परा थी, उससे अपने ग्रन्थ को बचाने का श्लाघनीय प्रयास स्वामीजी ने इस ग्रन्थमें किया है। इससे दो प्रयोजन सिद्ध हुए। पहला, ग्रन्थ अधिक सरल एवं सुबोध बन गया, जितना ऐसे दार्शनिक तत्त्वों के प्रतिपादन में सम्भव था। दूसरा, जो साधक-मनोवृत्ति के जिज्ञासु होते हैं और राग-द्वेष के मार्ग से हटकर अन्यान्य दर्शनों के मूलभूत सिद्धान्तों से परिचित होना चाहते हैं, उनके लिए भी नितान्त उपादेय बन गया है।

स्वामीजी ने अपनी भूमिका के प्रारम्भ में ही इस बात का संकेत करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि दूसरों को पहचानने, सबका गुण-ग्रहण करने तथा युग-धर्मानुसार यथासम्भव पारस्परिक समन्वय-समझौता करने का दृष्टिकोण रखकर ही यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसलिए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि यह वर्तमान युग के भौतिकवाद-वासना-वासित

कुछ ऐसे बुद्धिजीवियों का मुँहतोड़ उत्तर है, जो धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में आपाततः प्रतीयमान परस्पर विरोधात्मक दृष्टि से कतराते हैं तथा दार्शनिक वाद-विवाद अथवा संघर्ष के मूलभूत रहस्य को न समझते हुए धर्म एवं धार्मिक संस्थाओं की जोर-शोर से आलोचना करते हैं और नादान टीका-टिप्पणी करते हैं।

स्वामीजी का यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण सर्वथा स्वागत-योग्य है। इस सम्बन्ध में मैं पाठक-बन्धुओं को यह स्पष्ट रूप में बता देना चाहता हूँ कि यह सोचना बड़ी भूल होगी कि यह दृष्टिकोण कोई पाश्चात्य विचारकों का नया अवदान है। हमारे पूर्व युगों के अनेक मनीषियों ने ने और स्वयं श्री शङ्कराचार्य जैसे उद्भट शास्त्रार्थ-महारथी दार्शनिक ने भी ऐसी वैचारिक समन्वयदृष्टि का प्रबल समर्थन किया है। उदाहरणार्थ सत्रहवीं शताब्दी के महाकवि नीलकण्ठ दीक्षित ने अपने **शिवलीलार्णव** महाकाव्य में बहुत ही सुन्दर ढंग से कहा है—

एक-मातृ-प्रसूतानाम् ऐकमत्य-प्रवर्तिनाम्।
स्ववैमत्येन वैमत्यं शास्त्राणां बालिशा जगुः॥ ६

काव्यात्मक भाषा में कवि कहते हैं—समस्त शास्त्र एक माँ की सन्तान हैं। पूरी मानव जाति में एकता स्थापित करना ही सब शास्त्रों का उद्देश्य है। इस यथार्थता को न समझकर कुछ मूर्ख लोग कहते हैं कि शास्त्र परस्पर विपरीत हैं। वास्तविकता तो यह है कि ऐसे कहने वालों की बुद्धि विपरीत है और वे अपनी बुद्धिगत विपरीतता को शास्त्रों पर आरोपित करते हैं। कितनी सुन्दर बात! और कितने सुन्दर ढंग से कही गयी! काश! शास्त्रार्थ के नाम से शोर मचाने वाले हमारे आज के विद्वान भी इस तथ्य को आत्मसात करते!

अब देखिये, भारत के समस्त वैदिक-अवैदिक दर्शनों में 'नीर-क्षीर-विवेक' करने वाले अनुपम पारखी श्रीशङ्करभगवत्पाद ने आज से बारह सौ वर्ष पूर्व शुष्क दार्शनिक विवादों के विषय में क्या सोचा है। अपनी अप्रतिम मेधाशक्ति के लिए दार्शनिक जगत में 'कनिष्ठिकाधिष्ठित' तथा अलौकिक दार्शनिक प्रतिभा के लिए विश्वविख्यात श्रीशङ्कराचार्य ने प्रश्नोपनिषद्-भाष्य में लिखा है कि व्यावहारिक बिन्दुओं को लेकर जो खण्डन आदि वे करते हैं, उसका आशय मात्र इतना है कि जिज्ञासु-साधक आत्मतत्त्व के प्रति प्रेरित हों, न कि तार्किकों की भाँति व्यावहारिक विषयों

में उनके मन में कोई आग्रह या दुराग्रह है, न ही किसी भी प्रकार की हठवादिता। उन्होंने आगे यह भी कहा है कि विशुद्ध वैदिक सम्प्रदाय का सदैव यही दृष्टिकोण रहा है। अपनी इस महत्वपूर्ण घोषणा की पुष्टि में आचार्य शङ्कर ने इस विशुद्ध वैदिक परम्परा का एक प्राचीन पद्य भी उद्धृत किया है। भाष्य का यह मार्मिक सन्दर्भ इस प्रकार है—

वेदान्ततत्त्वमेकत्वदर्शनं प्रत्यादरवन्तो मुमुक्षवः स्युरिति तार्किकमत-दोषप्रदर्शनं किंचिदुच्यतेऽस्माभिर्न तु तार्किकवत्तात्पर्येण। तथैतदत्रोक्तम्—

विवदत्स्वेव निक्षिप्य विरोधोद्भवकारणम्।
तैः संरक्षितसद्बुद्धिः सुखं निर्वाति वेदवित्॥

बहिरङ्ग वैशिष्ट्य—पद्यात्मकता

स्वामीजी ने प्राचीन भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए इस पूरे ग्रन्थ को पद्यात्मक बनाया है। **सांख्यकारिका, परमार्थसार** आदि प्राचीन ग्रन्थों की भाँति यह पूरा ग्रन्थ आर्या छन्द में निबद्ध है। अन्तर केवल इतना है कि उन ग्रन्थों का बहुत ही सीमित आयाम है और सौ से कम छन्द हैं, स्वामी जी के प्रस्तुत ग्रन्थ में दो हजार से भी अधिक छन्द हैं। स्वामीजी ने ग्रन्थ के इस बहिरङ्ग आकार में एक और सन्तुलन रखा है। ग्रन्थ के प्रत्येक खण्ड को स्वामीजी ने १११ पद्यों में पूरा किया है—मात्र इस बात में थोड़ा अन्तर रहा कि अपने परिचयात्मक दो छन्द कहीं इसी संख्या में अन्तर्निहित हुए—कहीं इसके अतिरिक्त रहे। प्रारम्भ में **'वेदार्थ परिचय'** के रूप में एक पृथक् खण्ड और अन्त में परिशिष्ट के रूप में **'भक्तितत्त्वनिरूपण'** के रूप में एक खण्ड—इस प्रकार दो अतिरिक्त खण्ड सम्मिलित हैं।

ग्रन्थ-योजना के विषय में एक और बात। प्रस्तावित बारह दर्शनों के बारह खण्डों के अतिरिक्त **'बौद्धसामान्यदर्शन'** के लिए एक पृथक् खण्ड अधिक रखा गया है, जो इस प्रकार की पूर्व रचनाओं में कहीं नहीं है। इस बाह्य रूपविवेचन के प्रसंग में एक बात कुछ विचित्र सी-लगती है कि स्वामीजी ने रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ तथा शैव-शाक्त आदि आचार्यों के मतों को वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत न रखकर उससे अलग और उससे पूर्व रखा है। अद्वैत-मतानुयायी स्वामीजी का गूढ़ आशय सम्भवतः यह है कि शाङ्कर अद्वैत ही सच्चे अर्थ में उपनिषत्सम्मत वेदान्तदर्शन है। अतएव वेदान्तदर्शन का प्रारम्भ करने के पूर्व पीठिका के रूप में ४

पद्यात्मक एक पृथक् भाग भी रखा है जिसमें वेदान्त-सूत्रकार बादरायण, भगवत्पाद शङ्कर आदि गुरु परम्परा के प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित किये है। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ १११ पद्यों के २० भागों के साथ कुछ अतिरिक्त पद्यों को लेकर कुल २२३६ छन्दों में पूर्ण हुआ है।

हिन्दी भावानुवाद

संस्कृत भाषा से अपरिचित सामान्य पाठकों के हित को ध्यान में रख कर स्वामीजी ने हिन्दी में मूल संस्कृत पद्यों का सरल सुबोध अर्थ भी लिखा है। यह तो बहुत अच्छा हुआ, स्वामीजी ने शाब्दिक अनुवाद नहीं लिखा। ऐसे संस्कृत ग्रन्थों के शाब्दिक अनुवादों की दुर्दशा से सभी परिचित हैं। अतएव अक्षरानुवाद की कल्पना को छोड़कर विद्वान-लेखक ने इसे एक उन्मुक्त उपपादन का रूप दिया है—जो सर्वथा अभिनन्दनीय है। श्लोकों का यह हिन्दी सार अथवा रूपान्तर कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार विस्तृत विवेचन अथवा पूरक व्याख्या का रूप भी ग्रहण करता है जिससे मूल श्लोकों के मन्तव्यों तथा तत्संबन्धी सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों को समझने में पाठकों को पूरी सहायता मिलेगी।

भूमिका—दर्शनों का इतिहास

आज के पाठक की प्रगाढ़ रुचि इतिहास के प्रति भी रहती है—इसको दृष्टि में रखते हुए कृपालु स्वामीजी ने अपनी विस्तृत हिन्दी भूमिका में प्रत्येक दर्शन के मूल सिद्धान्त के विशद विवेचन के साथ साथ प्रमुख ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का ऐतिहासिक परिचय भी दिया है। आप की भूमिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वामीजी को रामानुजाचार्य आदि के मतों को 'मीमांसा' के अन्तर्गत मानना अभीष्ट है। यह एक नयी विचार-सरणि अवश्य है, किन्तु इससे एक नया विवाद निश्चित खड़ा होगा। मेरा विनम्र विचार है कि ऐसे दर्शनों को भी वेदान्त के अन्तर्गत मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी।

हिन्दी व्याख्या के कुछ मार्मिक पक्ष—पाठक वर्ग के प्रति व्यापक सहानुभूति

श्लोकों के प्रांजल अनुवाद और सुगम व्याख्या का उल्लेख पूर्व में ही मैं कर चुका हूँ। इन व्याख्याओं में पद-पद पर स्वामीजी की प्रकाण्ड विद्वत्ता तथा शास्त्र-रहस्यों के गम्भीर परिचय के साथ सामान्य पाठकों के

प्रति उनकी करुणापूर्ण सहानुभूति की झलक भी मिलती है। दर्शनों के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ उनकी मूल प्रासंगिकता आदि समस्याओं पर प्रकाश डाल कर स्वामीजी ने सामान्य पाठक-वर्ग के प्रति महान उपकार किया है—जिससे सामान्य पाठक के मन में उठनेवाली शंकाओं का भी अनायास समाधान हो जाता है।

इसका एक उदाहरण देता हूँ। वैशेषिक दर्शन के मूल उद्देश्य पर हँसी उड़ाते हुए कुछ प्राचीन मीमांसकों ने महर्षि कणाद की कटु आलोचना की और कहा कि धर्म की व्याख्या करने वाले कणाद मुनि के द्वारा द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थों की व्याख्या तक अपने शास्त्र को सीमित रखना महान भूल है। कहां धर्म का बोध और कहां द्रव्य आदि भौतिक पदार्थों में व्यर्थ भ्रमण ? कणाद ऋषि का कार्य ठीक उसी तरह उपहासास्पद है जैसे दक्षिण के सागर पहुँचने के इच्छुक कोई व्यक्ति उसके ठीक विपरीत उत्तर की दिशा में हिमालय की ओर बढ़े !

धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम् ।
सागरं गन्तुकामस्य हिमवद्गमनोपमम् ॥

पूज्य स्वामीजी ने वैशेषिक दर्शन के उद्देश्यों को स्पष्ट करने वाले अपने पद्य की व्याख्या में इस प्रश्न को उठाया और इसका सटीक उत्तर भी दिया है। (देखिये पृ० २०१-२०२)।

परिशिष्ट के रूप में अन्त में **भक्तितत्त्वनिरूपण** का एक अलग प्रकरण जोड़ने के पीछे भी, मैं समझता हूँ, स्वामीजी की साधक वर्ग के प्रति यही गहरी सहानुभूति प्रेरक कारण है। अन्यथा प्रत्येक दर्शन के लिए एक-एक प्रकरण रखने की उनकी योजना में भक्ति के लिए एक स्वतन्त्र प्रकरण का कोई औचित्य ही नहीं था, क्योंकि भक्ति का कोई स्वतन्त्र दर्शन है ही नहीं। प्रकरणों के उपसंहार पद्यों में स्वामीजी ने स्वयं कहा भी कि उन्होंने लोक-मंगल की भावना से ही यह ग्रन्थ लिखा।

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता।

आकर-ग्रन्थों के सन्दर्भों का समावेश

अन्त में इस ग्रन्थ के उस महत्वपूर्ण पक्ष की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जिसमें स्वामीजी के अन्यान्य दर्शनों के मूल ग्रन्थों के व्यापक स्वाध्याय का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। स्वामीजी के

इन दो हजार से अधिक पद्यों में अनेक स्थानों पर उन-उन दर्शनों के सूत्र, कारिका, भाष्य, व्याख्या आदि ग्रन्थों के प्रसिद्ध संदर्भ अनायास गुँथे हुए मिलते हैं। सांख्य-दार्शनिक पञ्चशिखाचार्य के प्रसिद्ध उद्धरण "स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः" को स्वामीजी ने अपने एक पद्य में कुशलतापूर्वक संजोया है (दे० पृ० २४३ पद्य ९)। इसी प्रकार "पुरुषबहुत्व" सिद्ध करने वाली सांख्यकारिका के श्लोक का कुछ परिवर्तन के साथ विशिष्टाद्वैत के "जीवबहुत्व" के सन्दर्भ में समावेश भी द्रष्टव्य है (पृ० ३१९, पद्य ९३)। स्वामीजी के द्वारा वेदान्त दर्शन की पीठिका के रूप में लिखे मङ्गलाचरण के प्रथम पद्य में ब्रह्मसूत्र की प्रसिद्ध चतुःसूत्री की मनोरम छाया नितान्त रमणीय रूप में आस्वादनीय है। इसी प्रकार विद्यारण्यस्वामी के विख्यात पञ्चीकरण विषयक अनुष्टुप छन्द को स्वामीजी ने अपनी समानान्तर आर्या-छन्द में कितने सुन्दर ढंग से रूपायित किया है, यह दर्शनीय है (पृ० ४१८, पद्य ७७)।

ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य के अनेक सन्दर्भ भी इसी प्रकार स्वामीजी की लेखनी से छन्दोबद्ध रूप धारण किये हुए मिलते हैं। भगवत्पाद के अध्यास-भाष्य का एक सन्दर्भ तथा स्वामीजी का समानान्तर छन्द तुलना हेतु नीचे उद्धृत है—

न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्य-मिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनाताद्यध्यस्यन्ति।

(ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य, अध्यासभाष्य)

अप्रत्यक्षे गगने तलमालिन्यादि साक्षिवेद्यत्वात्।
अध्यस्यन्ति हि बालाः करणादेर्दोषविरहेऽपि॥

(वेदान्तदर्शनम्—पद्य ८२ पृ० ४१९)

इस प्रकार यह ग्रन्थ विभिन्न स्तर के तमाम जिज्ञासुओं के लिए उपादेय एवं उपकारक होगा। मुझे विश्वास है कि संस्कृत विद्वानों के लिए सभी दर्शनों के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने वाले प्रामाणिक संग्रह-ग्रन्थ के रूप में तथा संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ भारतीय दर्शन के जिज्ञासु सुधीजनों के लिए भी एक सुबोध प्रवेश-ग्रन्थ के रूप में इस ग्रन्थ का समग्र भारतवर्ष में प्रचार-प्रसार होगा। रचनाकार का नाम भले, काशिकानन्द हो, उनकी यह उत्कृष्ट रचना भारतानन्द का भाजन हो—यही मेरी कामना

है और भगवान् विश्वेश्वर से यही मेरी भक्तिनम्र प्रार्थना है। लिखते-लिखते यह भावना स्वयं छन्द बन गयी—

सर्व-दर्शन-सद्ग्रन्थ-रोमन्थ चतुरानना।
भारतानन्द-दोग्ध्री स्यात् काशिकानन्द-गौरियम् ॥

शिवं भूयात्

वाराणसी
विक्रम सं० २०४५, चैत्र शुक्ल प्रथमा
शुक्रवार (वर्ष प्रतिपदा)
१८-३-८८

वि० वेङ्कटाचलम्
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

भूमिका

द्वादशदर्शनसंग्रह

विचारस्वातन्त्र्य या वाक्स्वातन्त्र्य भारतवर्ष की आदिकालीन विशेषता रही। अपने मतसे विरुद्ध कोई बोलता हो तो उसे सुनने, समझने और उसपर विचार करनेके लिये परम आवश्यक सहिष्णुता एवं उदारता भारतीयोंमें परम्परागतरूप से विद्यमान थी। बल्कि वादविवादोंमें भी ऋषियोंने यही सिखाया कि प्रथम प्रतिपक्षीकी पूरी बात सुनो (न कि बीचमें ही बोल पड़ो) फिर उनकी पूरी बातका अपने शब्दोंमें अनुवाद करो (जिससे यह मालूम हो कि यह प्रतिपक्षीको बातको समझ गया है) फिर उसका खण्डन मण्डन जो भी करना हो करो। क्या राजा, क्या प्रजा, सबमें यह सहिष्णुता समानरूपसे थी। यहाँ किसीको अपने प्रतिकूल देखकर सूलीपर नहीं चढ़ाया, जैसे ईसामसीको किया। न जहर दिया, जैसे सुकरातके साथ हुआ। इसका परिणाम विचारकोंकी दृष्टिमें बड़ा अच्छा हुआ, हाँ कई मनीषियोंके मतमें कुछ बुरा भी निकला। अच्छा यह हुआ कि दार्शनिक जगत्में भारतने शेष संसारको बहुत पीछे छोड़ दिया। बुरा यह बताते हैं कि परवर्ती कालमें जनता अनेक भागोंमें बँट गयी और देश कमजोर हुआ। पर कमजोरीमें हेतु केवल वाक्स्वातन्त्र्य नहीं था। मुख्य कारण तो कुछ स्वार्थी लोगोंकी विघटनकारी प्रवृत्ति ही थी। अतः वाक्स्वातन्त्र्यको दोष देना ठीक वैसा हो है जैसे नदीतटपर जर्जरित मूलके पेड़के गिरनेमें हवाको दोष दिया जाता है। यह मान सकते हैं कि बादमें कुछ सम्प्रदायवादो ऐसे हुए जिनकी असहिष्णुताका योगदान उसको अवश्य मिला। किन्तु वह उसी असहिष्णुताका परिणाम था, वाक्स्वातन्त्र्यका नहीं।

विचारस्वातन्त्र्यके फलस्वरूप भारतवर्षमें अनेक दर्शनोंका प्रादुर्भाव हुआ। चर्वाकसे लेकर वेदान्तपर्यन्त अनेक दर्शन बने। बीस-पचीस तो मुख्य दर्शन बन गये। अवान्तर भेदोंको लेनेपर पचासों दर्शन हो जाते हैं। इन्हीं दर्शनोंमें मुख्य मुख्य कुछ दर्शनोंका संग्रहात्मक यह प्रस्तुत ग्रन्थ है।

इस संग्रहका उद्देश्य यही है कि हम एक दूसरेको पहचाने, दूसरे इस विषय में क्या विचार रखते हैं यह समझें। गुण ग्रहण करें। जहाँ समझौता संभव है वहाँ वर्त्तमानयुगानुसार आवश्यक समझौता करें, या कमसे कम परनिराकरणके

समय उनका आशय समझ कर लेखनी आदि उठावें। यहीं कारण था कि[१] श्री शंकराचार्यने स्वयमेव सर्वसिद्धान्तसंग्रह नामका ग्रन्थ लिखा, जिसमें चार्वाकसे लेकर वेदान्तपर्यन्त तत्काल प्रसिद्ध समग्र सिद्धान्तोंका उन्हीं सिद्धान्तवादियोंके शब्दोंमें वर्णन किया। श्री माधवाचार्यके सर्वदर्शनसंग्रहमें भी वही पद्धति है। प्रस्तुत ग्रन्थमें विशेषता यही है कि यहाँ खण्डन-मण्डनकी प्रधानता न देकर दर्शनकारोंकी मुख्य-मुख्य प्रक्रियाओंका संकलन करनेका प्रयास किया गया है। अर्थात् दर्शनोंके प्राथमिक प्रक्रिया ग्रन्थोंका यह एक प्रकारका समाहार है।

इस ग्रन्थका नाम द्वादशदर्शन संग्रह है इसका मतलब यह नहीं कि इसमें बारह ही प्रकरण या दर्शन हैं। इसमें बौद्धोंका सामान्यदर्शन अलग दिखाया है। वेदान्तमें वैष्णवोंके चार दर्शन तथा शैव शाक्त दर्शन भी अलग बताया है। आदिमें वेदार्थपरिचय और अन्तमें भक्तिनिरूपण ऐसे दो प्रकरण भी अधिक हैं। इस प्रकार यह वीस शास्त्रोंका संग्रहरूप है।

दर्शन

दर्शन शब्दका अर्थ लोग प्रायः फिलासाफी इस अंग्रेजी शब्दसे समझते हैं। फिलासोफीका अवयवार्थ विद्यानुराग होता है। विद्यानुरागी को फिलासाफर कहते हैं। किन्तु वहाँ भी यह केवल यौगिक अर्थका बोधक नहीं है। दिनरात जो पढ़ने में व्यसनी हैं उसको कोई भी फिलासाफर नहीं कहता। यह फिलासाफीका विद्यार्थी है कहनेपर विद्यानुरागका विद्यार्थी है ऐसा अर्थ प्रतीत नहीं होता। अतः फिलासाफीका रूढार्थ समझनेके लिये हमारा यही 'दर्शन' शब्द उपयुक्त होगा। दर्शन शब्दका चाक्षुष प्रत्यक्ष यहाँ अर्थ नहीं है। किन्तु अनुभव अर्थ है। मानव जीवन का लक्ष्य क्या है और उसका साधन क्या है इस बात का तत्त्वचिन्तकोंने जो अनुभव किया वही दर्शन है। मुख्य लक्ष्य और मुख्य साधन के साथ अवान्तर लक्ष्य और अवान्तर साधन स्वत एव आ जाता है अतः उसको पृथक् करके व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है। कुछ लोग 'दृश्यते अनेन' इस विग्रहसे दर्शन करनेके उपकरणको दर्शन शब्दका अर्थ मानते हैं। तथा कुछ लोग ब्रह्मदर्शन आदि भी अर्थ करते हैं। परन्तु शंकरका दर्शन, रामानुजका दर्शन, कणादका दर्शन, इत्यादिमें उपकरण अर्थ प्रतीत नहीं होता। तथा चार्वाक दर्शनमें ब्रह्म-

१. ये आद्यशंकराचार्य ही थे या कोई परवर्ती अन्य, यह स्पष्ट नहीं है। फिर भी रामानुजादि आचार्योंके बादके तो नहीं ही थे। यदि होते तो उनका भी सिद्धान्तनिर्देश होता।

दर्शनका स्पर्श भी नहीं होता। लक्ष्यका और साधनोंका अनुभव ही दर्शन है तथापि जैसे अद्वैतसिद्धिका अद्वैतनिश्चय अर्थ होनेपर भी तज्जनक ग्रन्थ भी अद्वैतसिद्धि शब्दसे जाना जाता है वैसे दर्शनका अनुभव अर्थ होनेपर भी उसका जनक ग्रन्थ भी दर्शन कहलाने लगा। चार्वाकदर्शनका लक्ष्य समानकालीन विषयभोग तथा तत्साधन अर्थ एवं दण्डनीति आदि हैं। यही बृहस्पतिका अनुभव है। वैशेषिक दर्शनका लक्ष्य आत्यन्तिक दुःखध्वंसरूप मोक्ष और उसका साधन धर्मविशेषप्रसूत द्रव्यादि पदार्थोंका साधर्म्यवैधर्म्यज्ञान है। इत्यादिरीति समझना चाहिये। जीवनके लक्ष्यका प्रतिपादन न हो केवल पदार्थतत्त्वविवेचन हो तो उसे 'विज्ञान'संज्ञा देना ही उचित है। यद्यपि केवल लक्ष्य नहीं, किन्तु अलौकिक लक्ष्यके प्रतिपादकको दर्शन कहना उचित है। इसप्रकार फिर चार्वाकदर्शतको दर्शन कहना उचित नहीं होगा। अन्यथा हालिक मजदूरोंका भी अपना अपना दर्शन अलग-अलग मानना होगा। तथापि अन्यदर्शनकारोंके अलौकिक जीवनलक्ष्यका निराकरण ही उसमें अलौकिकता है, यही समाधान देना होगा। अतएव चार्वाकोंको कहीं कहीं वैतण्डिक भी बताया है। न्यायमञ्जरीमें बताया है—"नहि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते। वैतण्डिककथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः" वैतण्डिककथा इव यहाँ इवकारका अर्थ है कि यह सर्वथा वैतण्डिक नहीं है। क्योंकि लौकिक मार्ग को मानता है।

दर्शनों की संख्या यद्यपि कोई निश्चित नहीं है तथा विभाजनका भी कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। उदाहरणार्थ पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा दोनोंको मिलाकर एक ही शास्त्र कई आचार्य मानते हैं। फलतः वह एक ही दर्शन हो जाता है। कुछ लोग न्यायवैशेषिक को भी एक दर्शन मानते हैं। यही सांख्ययोग की भी स्थिति है। सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्यने तो माहेश्वरदर्शन लकुलीशदर्शन पाणिनीयदर्शन इत्यादिको भी पृथक् पृथक् परिगणित कर बीस दर्शनतक पहुँचा दिया है। माधवाचार्यके समय पश्चिमीय दर्शन नहीं थे या भारतमें प्रसिद्ध नहीं थे। अन्यथा उनको भी जोड़कर वे पचीस-तीसतक पहुँचाते। हमने द्वादशदर्शन भारतीय प्रसिद्धिके अनुसार लिखा। जैसे कि वाचस्पति मिश्रको द्वादशदर्शन-काननपञ्चानन लिखते हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने इतने दर्शनों पर लेखनी उठायी। क्योंकि चार्वाक बौद्धादिपर उनका कोई ग्रन्थ नहीं है। बौद्धनिराकरण यद्यपि बड़ी विद्वत्ताके साथ भामती आदिमें किया है। किन्तु इस दृष्टिसे फिर पाणिनीयदर्शनादिके भी वे महान विद्वान थे यह स्फोटनिराकरणादिसे स्पष्ट है। वाचस्पति मिश्रने वैशेषिक दर्शनपर भी कोई ग्रन्थ नहीं

लिखा। उक्त प्रसिद्धिमें द्वादशदर्शनमें परिगणनीय वे ही दर्शन हैं जिनको हमने इस ग्रन्थमें दिखाया है। अर्थात् चार्वाक, जैन और चार बौद्ध ये छः नास्तिक दर्शन हैं और वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमासा ये छः आस्तिक दर्शन हैं। मिलाकर द्वादश दर्शन हैं।

दर्शनोंका क्रम रखनेमें अपनी अपनी विशिष्ट अभिरुचि ही कारण है। माधवीय सर्वदर्शनसंग्रहके क्रमसे यहाँपर क्रम नहीं रखा है। माधवाचार्यने बौद्धोत्तर जैनको रखा। यहाँ जैनोत्तर बौद्धको रखा। यह कालकी दृष्टिसे नहीं है। किन्तु इसलिये कि जैन दर्शनकी अपेक्षा तर्ककुशलता बौद्धोंमें देखने में आयी। देवी-देवताओंके बारेमें जैन और बौद्ध लगभग एक बराबर ही हैं। जैन महावीरकी पूजा करते हैं, बौद्ध बुद्धकी पूजा करते हैं यह भी बराबर है। पूर्वजन्म परजन्म भी दोनों मानते हैं। शून्यमें पहुँचना यह तो तर्ककुशलताका ही परिणाम है। श्रुतिका आधार छोड़नेपर वहाँतक पहुँचना तार्किकके लिये अनिवार्य है।

सैद्धान्तिकरीत्या नास्तिकोंके बाद आस्तिक दर्शनका उत्तरपक्षरूपमें निरूपण उपयुक्त है। अतएव कालदृष्टिसे वैशेषिक दर्शनकी अत्यधिक प्राचीनता होनेपर भी द्वादशदर्शनमें सर्वप्रथम न रखना संगत है। आस्तिक दर्शनोंमें प्रथम तो उत्तरोत्तर दर्शनोंका विचार अधिक गहन होनेसे समञ्जस है। श्रीमन्माधवाचार्यकी दृष्टिसे रामानुजीयादि दर्शनोंमें सांख्यादिकी अपेक्षा उत्कर्ष न दीखनेसे उन्हें पूर्वमें रखा। किन्तु यहाँपर वेदान्तदर्शनका सर्वोत्कर्ष विद्वत् सम्मत होनेसे उसीके अवान्तररूप होनेके कारण वेदान्तदर्शन या ऐकशास्त्र्य होनेसे वैष्णवमतमें मीमांसाके साथ ही उनको भी रख दिया। और अन्तमें गहनतम परम सिद्धान्त शाङ्करदर्शनको रखा।

द्वादश दर्शनोंका संग्रह करनेका क्या प्रयोजन ? स्वाभिमत दर्शन ही को सब लोग श्रेष्ठ मानते है। अतः अलग-अलग ग्रन्थ ही बनाये जा सकते थे। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि सभी दर्शनोंमें प्रायः परदर्शन खण्डन देखनेमें आता है। परन्तु उसके अनुयायी परमतको बराबर समझे बिना ही उनपर धूलि प्रक्षेप करने लगते हैं। अनुयायी मात्र नहीं, कई आचार्य भी अन्य ग्रन्थमें लिखे परमतखण्डनको स्व-ग्रन्थमें निवेश करते हैं। इसपर दीधितिकार रघुनाथशिरोमणिकी यह उक्ति कितनी मार्मिक है—"दूष्यं वचो मम परं निपुणं विभाव्य भावावबोधविहितो न दुनोति दोषः" मेरे वचनोंमें दोष भले दिखाओ, पर मेरा भाव अच्छी तरह समझकर। विना भाव समझे धूलीप्रक्षेप करना सह्य नहीं है। टीकाकार तो क्या आचार्योंके

भी ग्रन्थोंको देखनेपर ऐसा लगता है कि मानों दार्शनिकोंको कोई अभिशाप लगा हुआ है। गाली गलौच तो आम बात दर्शनकारोंके ग्रन्थमें पायी जाती है। उसको तो वैष्णवोंने विशेषकर सीमोल्लङ्घन करा दिया। समग्र दर्शनोंके धुरंधर विद्वान वाचस्पति मिश्रके ग्रन्थोंको देखो, कहीं भी न असभ्य गालियाँ हैं और न कोई मिथ्या आरोप ही है। इधर गालियाँ शुरु हुई तो गालीका जवाब गालीसे देना आरम्भ हो गया। फिर ग्रन्थोंकी और मानसिक भावनाओंकी जो दुर्दशा हुई वह देखते ही बनती है। इतना ही नहीं वैदिक कहलानेवालोंने वेदोंकी दुर्दशा करनेमें भी कसर उठा नहीं रखा। निष्पक्षविचारकोंको यह सब अच्छा नहीं लगता। अतः समस्त दर्शनोंका यथार्थ सिद्धान्तज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त उपयोगी है। समग्र दर्शनोंका पूर्ण अध्ययन सबके लिये शक्य नहीं है। अतः अल्प शब्दोंमें सिद्धान्त संग्रह करना अवश्यमेव उपयोगी सिद्ध होता है।

हमने द्वादशदर्शनोंका संग्रह यथासंभव मूलग्रन्थोंके आधारपर ही किया है। और जहाँतक संभव हुआ संक्षिप्त सांगोपांग वर्णनका प्रयास किया। जैसे चार्वाक-दर्शन उपलब्ध बार्हस्पत्य सूत्रादिके आधारपर किया। जैन दर्शन तत्त्वार्थाधिगम-सूत्रादिके आधारपर लिखा। बौद्धदर्शन अभिधर्मकोश, प्रमाणवार्तिक, माध्यमिक कारिका तथा तद्व्याख्याओंके आधारपर लिखा। तथा वैशेषिकादिदर्शन तत्तत्सूत्र, तद्भाष्य एवं तत्सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थोंके आधारपर। माधवीयसर्वदर्शनसंग्रहका भी कई जगह उपयोग किया तथा वर्तमान गवेषक दर्शनविशेषज्ञोंसे भी स्थान-स्थानमें सहायता प्राप्त हुई। डा० श्री राधाकृष्णन्, दासगुप्ता, उमेशमिश्र, बलदेवोपाध्यायादि विशेषनिर्देशयोग्य हैं।

श्लोकोंमें हमने इसलिये लिखा कि सिद्धान्तानुगम करनेके लिये श्लोक याद रखनेमें सुविधा होती है। किन्तु एक विद्यार्थीने जब यह शिकायत की कि यह आर्यावृत्त मुझे बड़ा अटपटा सा लगता है। चतुर्थपादमें विशेषरूपसे कुछ छुट गया जैसा लगता है। मैंने सोचा अनुष्टुप् आदिमें लिखता तो सम्भवतः अधिक अच्छा होता। किन्तु लेख समाप्त होनेसे उसमें परिवर्तन संभव नहीं था। और उस विद्यार्थीको भले अटपटा लगे किन्तु बहुतसे लोग ऐसे भी हैं जो आर्या छन्दको ही विशेषरूपसे पसंद करते हैं। इसीलिये सांख्यसप्ततिको आर्यासप्ततिके अतिरिक्त सुवर्णसप्तति कनकसप्तति आदि भी लोग कहने लगे थे।

माधवीय सर्वदर्शनसंग्रहमें एक विशेषता यह है कि तत्तत् दर्शनोंको उनके आचार्योंके वचनप्रमाण एवं युक्तियोंसे प्रथम सुसज्जित कर फिर उत्तरदर्शनारम्भमें पूर्वदर्शनके दोषोंको दिखाया। प्रस्तुत ग्रन्थमें यह प्रक्रिया नहीं है। यहाँ तत्तद्दर्शनके

पदार्थोंका वर्णनमात्र है। क्योंकि एक तो अल्पग्रन्थमें अधिकका समावेश संभव नहीं था। दूसरी बात दोषको अपेक्षा कुछ गुणोंका ग्रहण किया जाय तो अधिक अच्छा रहेगा। दोष तो जिस सम्प्रदायके अनुयायी हों वे अपने मूल ग्रन्थोंके पढ़ते समय वहीं लिखे हुए पालेंगे। उस समय उसका मूल स्रोत क्या है इस जिज्ञासाकी पूर्ति यह ग्रन्थ करेगा। यद्यपि प्राचीन पद्धतिके अनुसार पूर्वापर संगति न हो तो वह 'एक' ग्रन्थ नहीं माना जाता। अतएव माधवीय ग्रन्थमें पूर्वकी न्यूनताको दूर करनेका प्रयत्न होनेसे उत्तर ग्रन्थके साथ संगति होती है और एक ग्रन्थ हो जाता है किन्तु नवीन परिपाटीमें वह बन्धन नहीं रखा गया है। और यदि संगति बैठाना हो तो उत्तरोत्तर उत्कर्षयुक्त ग्रन्थ लेखनमात्रसे संगति बैठाना संभव है। सर्वत्र ग्रन्थकारको स्वयमेव संगति दिखाना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। संगतिका अस्तित्वमात्र एकग्रन्थताका प्रयोजक है। उसे आवश्यकतानुसार व्याख्याकार प्रकट कर सकते हैं।

(१) वेदार्थपरिचय

द्वादशदर्शनोंके संग्रहके लिये सर्वप्रथम वेदोंका परिचय आवश्यक है। क्योंकि इन सभी दर्शनोंके उपजीव्य वेद हैं। फरक इतना ही है कि नास्तिक दर्शन वेदोंको पूर्वपक्षमें रखकर उनके निराकरणमें प्रवृत्त हैं और आस्तिक दर्शन वेदोंको सिद्धान्त पक्षमें रखकर उनके अर्थके विस्तारण और स्पष्टीकरण में प्रवृत्त हैं। इतनी बात और ज्ञातव्य है कि नास्तिक वेदोंको तूर्वपक्षमें रखते हुए ही वेदोक्त ही प्रायः अर्थको अपने मतके रूपमें प्रस्तुत करते हैं। चारभूत अथवा पाँचभूत वेदोक्त हैं। इन्द्रियाँ वेदप्रतिपादित हैं। मन वेदोक्त है। इन्हीं सब को सबने अपने अपने मतमें भी रखा है। कुछ लोगोंका कहना है कि पृथिवी आदि भूत तथा इन्द्रियादि प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। इनके लिये वेदोंका आश्रयण मानना व्यर्थ है। परन्तु सबको यह अनुभव है कि इन शास्त्रोंके अध्ययनसे पूर्व किसी को भी पृथिवी, जल, तेज इत्यादि विभाग मालूम नहीं था। जैसे पानी और पत्थरको पृथक् समझते हैं वैसे लकड़ी और पत्थरको भी अत्यन्त पृथक् ही समझते थे। असंख्य वस्तुएँ हैं इतना ही प्रत्यक्षसे ज्ञात होता है। अतः किसी दर्शनके आधारपर ही यह विभाग हुआ है तो चार्वाकादिसे पूर्व कौन सा दर्शन था? ये ही वेददर्शन रहे। अतः नास्तिकोंका अविरुद्ध पदार्थ-निरूपण वेदमूलक हो है। फिर उन्होंने वेदोक्त स्वर्गनरकादिका खण्डनकर एक अपना दर्शन खड़ा किया। बौद्ध और जैनोंका परममूल वाक्य 'अहिंसा परमो धर्मः' यह वेदोक्तका ही अनुवाद है। "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" यह

मूल वाक्य है। बौद्धों के शून्यवादका भी मूल "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदे-कमेवाद्वितीयम्" यह छान्दोग्यवाक्य ही है। छान्दोग्य बौद्धोक्त शून्यवादका अनुवादक इसलिये नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह सर्वसम्मत है कि उपनिषदों का अस्तित्व बुद्धसे पूर्व ही था। वस्तुतः अन्यथार्थक "असद्वा इदमग्र आसीत्" इस वाक्यसे उत्पन्न भ्रान्तिमान् पुरुष ही 'तद्धेके' में एक' शब्दका अर्थ है। नास्तिकोंने अपनी कल्पना द्वारा कुछ नवीन पदार्थोंको जोड़ा और कुछ वेदार्थ-निराकरण किया इस प्रकार उनका दर्शन तैयार हुना। सर्वथापि नास्तिक दर्शन समझनेके लिये वेदपरिचय आवश्यक है। इस दृष्टिसे प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रथम वेदपरिचय को स्थान दिया।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ऐसे चार वेद माने जाते हैं। कहीं कहीं तो ऋक्, यजु, साम ऐसे तीन ही माने गये हैं। पुराणादिमें ऐसा वर्णन आया है कि पहले वेद एक ही था। भगवान् वेदव्यासने ही उसे चार भागोंमें विभक्त किया जिसके कारण ही उनका नाम वेदव्यास नाम पड़ा। किन्तु वेदों में ही विभाजित संज्ञा मिलती है। "तस्माद् यज्ञात् सर्वंहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्याद्यजुस्तस्मादजायत" इस मन्त्रमें ऋक्, यजु और साम इन तीनका स्पष्ट नामोल्लेख है। "तस्मात्तपस्तेपानात्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः" यहाँ वेदघटित नाम है। इसपर "वेदो वा प्रायदर्शनात्' इत्यादि अधिकरण बन गया। अतः चाहे ऋचाएँ कहो, चाहे ऋग्वेद इत्यादि, सभी प्राचीन विभाग ही हैं। वेदव्यास जोने लुप्त उस विभाग का पुनरुद्धार किया हो या अन्य कोई विभाजन किया यह विषयान्तर है।

वेदोंमें तीन काण्ड हैं ऐसी प्रसिद्धि है। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञान-काण्डके रूपमें वे माने जाते हैं। जिनमें अस्सी हजार मन्त्र कर्मकाण्डके, सोलह हजार उपासना काण्डके और चार हजार ज्ञानकाण्डके माने गये हैं। इसप्रकार मिलाकर कुल एक लाख मन्त्र होते हैं। परन्तु यह विभाजन अत्यन्त प्राचीन प्रतीत नहीं होता। श्रीशंकराचार्य जीने वेदोंमें प्रवृत्तिधर्म तथा निवृत्तिधर्म ऐसे दो ही विभाग किये हैं। उसके लिये महाभारत वाक्य का उदाहरण भी वे देते हैं। उपासनाका वर्णन वेदोंमें है किन्तु वह प्रवृत्तिमार्गके अन्तर्गत ही है ऐसा उनका आशय है। आयुर्विद्या, गणितविद्या आदि अन्य भी अनेक विषय वेदों में स्थान-स्थानपर पाये जाते हैं। परन्तु आचार्य लोग उन्हें कर्म उपासना आदिके अंगके रूपमें ही मानते हैं।

सनातनधर्मियों की मान्यता है कि वर्णाश्रम धर्मका मूल वेद ही हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न ही शुद्ध ब्राह्मण है। ब्राह्मणसे क्षत्रियामें जो उत्पन्न हुआ वह वर्णसंकर है ऐसी स्मृतिकारों की मान्यता है। वीजप्रधानसे ब्राह्मण है, क्षेत्रप्रधानसे क्षत्रिय है। उभयप्रधानके अभावमें वर्ण-संकर है इत्यादि भी मत हैं। इनके आचारविचारमें भिन्नता भिन्न-भिन्न प्रान्तों में आजकल पायी जाती है। छुआ-छूत भी काफी समयसे इसका अंग बना हुआ है। उसमें भी सर्वत्र भिन्नता पायी जाती है। इनमें कौन सत्य कौन झूठा यह निर्णय करना कठिन क्या असम्भव ही है। सदाचारसे स्मृति आदिकी जहाँ कल्पना होती है वहाँ देशविशेषादिघटित कल्पना नहीं होती ऐसा मीमांसक मत है। 'दस कन्नौज ग्यारह चूला' कहावत भी प्रसिद्ध हो गयी है। वर्णधर्म का क्षय वर्तमानमें प्रत्यक्ष है। कलियुगमें ब्राह्मण तथा शूद्र दो ही जाति रहेगी ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं। क्योंकि क्षत्रियोंका अमुक-अमुक राजामें आकर संस्था (विनाश) भागवतादि पुराणोंमें बताया है। परन्तु ये लोग यह नहीं बता सके हैं कि वैश्योंकी संस्था (अन्त) कहाँ आकर हुई? इस विषयमें क्या प्रमाण? फिर क्षत्रिय राजाओंका अन्त भागवतादिमें कहा है क्षत्रिय का नहीं। अतः वर्ण धर्म अनादि अनन्त है यह अन्य विद्वानोंकी मान्यता है। आश्रम धर्ममें ब्रह्मचर्याश्रम तो आज सर्वथा समाप्त है। जटावल्कलधारी कोई ब्रह्मचारी आज नजर नहीं आता जो गुरुकुलमें रहकर अध्ययन करता हो। वानप्रस्थाश्रम क्या है यह तो पुस्तकस्थ विद्या हो गयी है। हाँ, कुछ संन्यासी नजर आते हैं और गृहस्थ तो हैं ही। परन्तु गृहस्थोंके लिये जो आश्रमधर्म बताया है वह अपवाद रूपमें ही कहीं देखा जा सकता है। पञ्चयज्ञादि करने वाला गृहस्थ ढूंढनेपर भी नहीं मिलता और गार्हस्थ्यको आजकल एक धर्मविशेष माना नहीं जाता। पति-पत्नी व्यवहार तो सर्वत्र संसारमें है। उसे किसी धर्मविशेषके रूपमें कोई नहीं देखता। हाँ संन्यासीको देखकर लोग समझते हैं कि ये एक विशेष धर्मके हैं और संन्यासी भी अपनेको समझते हैं कि मैं एक विशेष धर्मका हो गया हूँ। परन्तु संन्यास विधिमें उक्त धर्मका वे पालन कहाँ तक करते हैं यह तो वे ही बता सकते हैं। जो भी हो, जैसे ब्राह्मण और शूद्र दो जाति रह गयी वैसे संन्यासी और गृहस्थ ऐसे आश्रमके भी दो ही विभाग रह गये हैं।

वेद दो भागोंमें विभक्त हैं। एक मन्त्रभाग है। दूसरा ब्राह्मणभाग है। अर्थस्मारक मन्त्र हैं। और क्रियाविधायक ब्राह्मण है ऐसा सामान्य लक्षण है।

दूसरे प्रकारसे संहिताभाग और ब्राह्मणभाग भी कहते हैं। इनमें संहिताभाग ही वास्तविक वेद हैं ब्राह्मणभाग नहीं ऐसा आर्यसमाजियोंका मत है। फिर भी वे वेदव्याख्यानमें ब्राह्मणभागका उपयोग आवश्यक मानते हैं। ब्राह्मणभागके ही आरण्यकभाग तथा उपनिषद्भाग है। ईशावास्यादि कतिपय उपनिषद् मन्त्र-भागमें भी हैं। उपनिषदोंको पृथक् कर पूर्वकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड ऐसे भी दो विभाग माने जाते हैं। पूर्वकाण्डमें धर्मका निरूपण है और उत्तरकाण्डमें ब्रह्मका निरूपण है। वस्तुतः यें ही दो वेदके विषय हैं जिनमें पूर्वकाण्डका विचार 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादिसे महर्षि जैमिनिने किया और 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रकार उत्तरकाण्डका विचार महर्षि बादरायण (व्यास) ने किया।

इन्हीं विषयोंको लेकर प्रस्तुत वेदार्थपरिचय नामका यह ग्रन्थ द्वादश दर्शन की भूमिकाके रूपमें निबद्ध किया है जिसका ही ऊहापोह तथा खण्डनादि मण्डनादि दर्शनोंमें है। यद्यपि पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त) नामके दो दर्शन द्वादशदर्शनमें आ जाते हैं। अतः वेदार्थपरिचय उन दोमें गतार्थ है ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु वहाँ केवल दार्शनिक बातका विस्तार है। वर्णाश्रम धर्मके स्वरूपादिके विषयमें और नाना कर्मोंकी कर्तव्यताके विषयमें विवरण नहीं है। अतः संक्षेपतः सर्वार्थसंग्रही सर्वोपयोगी इस ग्रन्थकी आवश्यकता होनेसे पृथक् एक ग्रन्थका यहाँ समावेश किया गया। जिससे यह स्पष्ट हो कि नास्तिकोंने किस अंशका खण्डन किया और आस्तिकोंने क्या समर्थन किया।

वेदोंकी रचना किसने की कब की इत्यादि बातें तो केवल कल्पनापर आधारित होकर कहनी पड़ेगी। कोई दृढ़ प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः ईश्वर-रचित या अनादि अपौरुषेय, जो प्रस्तुत ग्रन्थमें विचारा है उसको वहीं समझकर पाठक स्वयं निर्णय लें, इस कारण निरर्थक ऊहापोहके लिये स्थान यहाँ हम देना नहीं चाहते।

प्रस्तुत ग्रन्थमें वेदोंकी धार्मिक स्थितिका और दार्शनिक विचारका ही सामान्यतः ओर संक्षेपतः विचार है। विशिष्टरूपसे निरूपण तो उपलभ्यमान वेदोंके अर्थोंका भी संभव नहीं है। और 'अनन्ता वै वेदाः' इस शतपथ वचन पर विचार करें तो कल्पनातीत भी है। यहाँ द्वादशदर्शननिरूपणके लिये उपयोगी अंशमात्रका समावेश है। दर्शननिरूपणमें बहुधा धर्मकी भी बात आ जाती है। उन्हें दर्शनसे पृथक् करना शक्य नहीं है। अतः वैदिक अनुष्ठेय धर्मोंका यहाँ निरूपण किया गया। दूसरी बात चार्वाकोंने उसीके विशेष खण्डनमें अपना

गौरव मान रखा है। तथा जैन बोद्धादिने भी उसपर काफी कटाक्ष किया है। अतः दार्शनिक विचारके अन्तर्गत रूपसे धर्म विचार भी आवश्यक ही है।

धर्मनिरूपणमें प्रायः सभी आस्तिक एक-मत हैं। जैमिनीय निर्णय सर्वसम्मत है। और उसपर जो शावरभाष्यादि हैं उसपर भी विप्रतिपत्ति नहींके बराबर है। पशुहिंसादिके बारेमें मतभेद अवश्य है। "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि में आलम्भन स्पर्शमात्र रूप है तथा पूजाविशेषमात्रार्थक है ऐसा एक मत है। और वैसे तो आलम्भनका स्पर्श ही अर्थ है। तथापि स्पर्शमात्रसे यज्ञ सिद्ध नहीं होता अतः हवनपर्यन्त अर्थ करना चाहिये ऐसा मतान्तर है। बस इतने ही अंशमें विवाद हैं। **अन्य सभी मीमांसाका भाष्यवार्तिकादिनिर्णीत अर्थ ही सर्वग्राह्य है।** उत्तरमीमांसागत ब्रह्मनिरूपणमें अत्यधिक मतभेद है। सभी आचार्योंने अपना अपना अलग अलग डफला बजाया है। मध्यकालमें यहाँतक हो गया था कि जो ब्रह्मसूत्रोंपर स्वतन्त्र स्वसिद्धान्तोपपादक भाष्य लिखे वही आचार्य कहलाने योग्य है। फिर क्या था। थोड़ा थोड़ा फरक करके सबने भाष्य लिखना ही शुरू कर दिया। अनुयायियोंकी तो कमी नहीं होती। जैसे आजकल क्रांग्रेस, जनता, लोकदल आदि सब पार्टियोंको अनुयायी मिल ही जाते हैं वैसे उस समय भाष्य-कर्ताको अनुयायी मिलते थे। अतएव यहाँपर ब्रह्मनिरूपणमें विस्तारकी आवश्यकता थी। तथापि ये मतभेद तत्तदाचार्यमत निरूपण प्रसंगमें गतार्थ होनेसे सामान्यरूपेण प्रतीयमान अर्थमात्रको हमने वेदार्थपरिचयमें निवेश किया।

हिरण्यगर्भोपासना प्रकृतिउपासना तथा अन्य सकाम उपासता कर्म (प्रवृत्ति) कोटिमें है और पञ्चाग्निविद्या, आदित्यब्रह्मादिउपासना एवं निर्गुणोपासना निवृत्तिकोटिमें हैं; अतः पृथक प्रकरण इसका यहाँ बनाया नहीं।

(२) चार्वाकदर्शन

छः नास्तिक दर्शनोंमें प्रथम चार्वाक दर्शनको ही सब लोग लेते हैं। इसे लोकायत दर्शन भी कहते हैं। आजकल नास्तिक दर्शन शब्दको लोग बहुत अच्छा नहीं समझते। अतः आस्तिक-नास्तिक ऐसा विभाग न कहकर वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन ऐसा विभाग कहते हैं। किन्तु यह एक सांप्रदायिक वासनामात्र है। जैसे वितण्डाशब्द लोकभाषामें निन्दितार्थका द्योतक होनेपर भी वितण्डावादी अपनेको वैतण्डिक कहकर गौरवान्वित ही मानते हैं वैसे नास्तिक भी अपनेको नास्तिक कहलाकर ही गौरव अनुभव करेगा। क्या 'सर्वं शून्यं शून्यं' बोलनेवाले बौद्ध अपनेको आस्तिक कहलाना पसंद कर सकते हैं? क्या चार्वाक अपनेको

आस्तिक माननेके लिये तैयार हैं ? जैनोंके विषयमें कुछ विप्रतिपत्ति हो सकती हैं क्योंकि ईश्वरको न मानते हुए भी वे परलोकादि मानते हैं। फिर भी वेदोंको अमान्य करनेसे प्रारिभाषिक नास्तिकता उनमें होनेसे नास्तिक शब्दसे उनको पुकारा जा सकता है। और आजकल अधिकतर लोग ईश्वर एवं धर्म आदिको न माननेके कारण अपनेको आस्तिक कहलानेमें ही हीनता समझते हैं।

चार्वाक दर्शनके आदि प्रवर्तकका नाम बृहस्पति बताया जाता है। उनका एक सूत्रग्रन्थ था। जिनमेंसे कुछ ही सूत्र आजकल उपलब्ध हैं जो प्रसङ्गतः तत्तद् ग्रंथों पूर्वपक्षके रूपमें उद्धृत हैं। ये बृहस्पति कौन थे ? पुराणप्रसिद्ध देवगुरु बृहस्पति ही थे या परवर्ती बृहस्पति नामका कोई पण्डित हुआ इसका ऐतिहासिक विश्लेषण दुष्कर है। पुराणोंमें यह बात आती है कि शुक्राचार्यके तपस्या करनेके लिये जानेपर बृहस्पतिने भेष बदलकर या शुक्राचार्यका रूप धारणकर असुरोंको चार्वाकदर्शनका उपदेश किया जिससे मोहित होकर असुरोंने शुक्राचार्यका भी तिरस्कार किया जो असुरोंके भारी विनाशका कारण बना। यही यदि यथार्थ बात हैं तो इसके प्राचीनत्वमें कोई संशय नहीं है। परन्तु उपलब्ध कुछ सूत्रोंपर विचार करनेपर मालूम पड़ता है कि ये अधिक प्राचीन नहीं हैं। "प्रत्यक्षमेव प्रमाणं" इस सूत्रमें एवकार से अनुमानादिका प्रमाणत्वनिराकरण प्रतीत होता है। ये प्रमाण-वादी मुख्यतः वैशेषिकादि हैं उनके अनुमानादिके प्रमाणत्वके निराकरणार्थ यह सूत्र है। यदि कहें कि वेदप्रामाण्यनिरासार्थ यह सूत्र है और वेद तो प्राचीन सर्व-मान्य हैं ही तो उसका उत्तर यही है कि "धूर्तप्रलापस्त्रयी" इत्यादि सूत्रसे गतार्थ होने से पृथक इस सूत्र की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार "तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा" इत्यादि सूत्र भी वैशेषिक परिभाषोत्तरभावी प्रतीत होता है। फिर भी बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटकमें चार्वाकशास्त्राध्ययन का निषेध स्वयं बुद्ध करते हैं अतः यह बुद्धपूर्ववर्ती हैं यह निश्चित होता है। जैनोंने भी इसका निषेध किया है। किन्तु बौद्ध एवं जैनोंका चार्वाकों ने भी खण्डन किया है। संभव है यह पश्चाद्भावी अन्य ग्रन्थकारों ने किया हो।

यद्यपि चार्वाक सिद्धान्तका सबने खण्डन किया। किन्तु किसी न किसी अंशमें चार्वाकसिद्धान्तमें सभी लिप्त भी रहे। पहले समयमें राजसिद्धान्त और तदनुवर्ती प्रजासिद्धान्त जो भी रहा हो किन्तु वर्तमान समयमें चार्वाक सिद्धान्त ही सर्वत्र काम आ रहा है। विश्वका बहुत बड़ा भारी भाग धर्मनिरपेक्ष शासन को ही मानता है। धर्मको शासन में मान्यता नहीं है तो मोक्षकी मान्यता कैसे हो। धर्म और मोक्ष छूट गये तो अर्थ और काम रह गये। ये दो ही तो चार्वाक

मतमें पुरुषार्थ हैं। चार्वाक मतमें दण्डनीति ही राज्यरक्षक है जिसको आधुनिक भाषामें "लॉ एण्ड रेग्युलेशन" कहते हैं। क्या आज कोई बालक पूर्वजन्मका स्मरण कर कोर्टमें यह दावा करे कि इस मिल्कियतका मालिक मैं था, मुझे मिलना चाहिये, तो कोर्ट उसके पक्षमें निर्णय देगा ? अर्थात् पूर्वजन्म एवं पर-जन्मको न मानने वाले चार्वाक का सिद्धान्त ही कोर्ट को मान्य है।

यह तो राजसिद्धान्त हुआ। प्रजासिद्धान्त में चार्वाक दर्शनका तो बोल-बाला ही है। सभी प्राय. अर्थकामप्रधान ही हैं। कौन ऐसा है जो लाख रुपये हाथसे निकलता हो तो सन्ध्यावन्दनमें तल्लीन रहेगा ? क्या कोई हरिश्चन्द्रके समान सत्यवादी आज उपलब्ध है ? असत्यका सहारा तो प्रायः अर्थ और कामके लिये ही लिया जाता है। आजकी बात छोड़ों। द्वापर युगमें भी अर्थ-कामकी प्रधानता रही। भीष्मपितामहका तो यह वचन ही है "अर्थस्य पुरुषो दासो नार्थो दासस्तु कस्यचित्"। गीतामें अर्जुनने जो विशेषण दिया—हत्वार्थकामांस्तु गुरून्" यह भी अनुसन्धानयोग्य है। भर्तृहरिने ठीक ही कहा—"जातिर्यातु रसातलं गुणगणास्तस्याप्यधो गच्छताम्, अर्थोस्तु नः केवलं" "सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति"।

यद्यपि चार्वाकोंके विषयमें एक श्लोक प्रसिद्ध है। "यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" किन्तु यह बृहस्पतिका सूत्र नहीं है। किसी आस्तिककी यह व्यङ्ग्योक्ति है। क्योंकि बृहस्पतिका यह स्पष्ट निर्देश है कि—"दण्डनीतिरेव विद्या"। जगतकी स्थिति आज दण्डनीति पर ही है। दण्ड नीतिके होते हुए 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेद्' ऐसा सिद्धान्त आज नहीं है तो तब कैसे होने लगा ? क्या धर्म ईश्वर आदिको न मानने वाले रूस चीन आदिमें दण्ड नीतिपर राज्य नहीं चलता ? क्या वहाँ सबके सब "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" के सिद्धान्तपर चलते हैं ? अतः यह आस्तिक दर्शनवालोंकी ओरसे निराधार आक्षेपमात्र है। हाँ इतने अंशमें सचाई मानना पड़ेगा कि आज वही चतुर माना जाता है जो गैरकानूनी कार्य करके कानूनके फंदेसे मुक्त होनेमें सफल हो जाय। झूठ बोलकर उसे सत्य बनानेमें जो सफल हो वही विद्वान है। जितना अधिक झूठको सत्य साबित करनेमें कामयाब हो उतना ही वह श्रेष्ठ वकील माना जाता है. दुनियामें उसीकी मान्यता है। क्योंकि केसोंमें अपनी हार नहीं होगी। परन्तु ऐसा दोष आस्तिक वर्गमें भी कम नहीं है। बहुतसे ऐसे भी आस्तिक हैं जो झूठको सच बनाकर भगवानसे माफी माँग लेते हैं। 'नरो वा कुञ्जरो वा' यह झूठको सत्य बनानेकी ही तो कला थी। फिर बृहस्पति

ने यह कहा नहीं कि तुम झूठको सच बना लो। बृहस्पतिका कहना है कि परलोकके भयसे नहीं किन्तु दण्डनीतिके बलसे राज्य चलाओ। अन्यथा बाहरसे परलोक दिखाकर भीतरसे नास्तिकता रखनेवाले आसानीसे जनताको ठग सकते हैं। अस्तु।

बृहस्पतिके बाद इस दर्शनपर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचनेवाला शायद ही कोई हुआ है। एक ग्रन्थ "तत्त्वोपप्लवसिंह" नामका मुद्रित हुआ है। परन्तु वह चार्वाकदर्शनानुसारी नहीं दीखता। यद्यपि ग्रन्थकारने प्रथम बृहस्पतिका नाम लिया है। किन्तु लक्षणखण्डन आदि चार्वाकाभिप्रेत नहीं हैं। बृहस्पतिका कहना है—"लोकमार्गोऽनुसर्तव्यः। लक्षणखण्डनादि तो अनिर्वचनीयवादियोंका काम है। वह कोई लौकिक मार्ग नहीं है। जैसे खण्डनखण्डकार श्री हर्षने किया। तत्त्वोपप्लवसिंहका कुछ अंश नष्ट हो गया है। उपलब्धांशमें बृहस्पति का नाम है। किन्तु इतना ही बृहस्पतिमतानुयायी होनेके लिये पर्याप्त नहीं है। खण्डनकारने भी प्रथम बृहस्पति एवं सौगतादिका सादर नाम लिया है। तो क्या वे चार्वाक या बौद्ध हो गये ? तत्त्वोप्लवसिंह तो मेरी दृष्टिमें अनिर्वचनीयतावाद (वेदान्त) का ही ग्रन्थ है। बृहस्पतिने प्रत्यक्षको प्रमाण माना है। तत्त्वोपप्लव सिंह ने सबका खण्डन कर दिया है।

इसके बादमें चार्वाक सिद्धान्तको समझनेके लिये एकमात्र ग्रन्थ माधवाचार्य कृत सर्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत चार्वाकदर्शन ही है। इतस्ततः विकीर्ण चार्वाक मतोंका उत्तम संग्रह इसमें किया है और जहाँ तक संभव हुआ निष्पक्षतया सिद्धान्त समझाने का प्रयास किया। किन्तु उसमें "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्" इत्यादि व्यङ्ग्योक्तियोंको भी सिद्धान्त रूपमें रख दिया जिसके औचित्य पर हम अनुपद विचार कर चुके। श्रीमाधवाचार्यके बाद आधुनिक समीक्षकोंके समीक्षात्मक ग्रन्थ भी महत्त्व रखते हैं। किन्तु उनमें जितने ही भोगवादी वाक्य हैं उन्हींको वास्तविक सिद्धान्त रूपमें वर्णित किया है जिन सबका उत्तर दण्डनीतिको विद्या बतानेवाला बार्हस्पत्य सूत्र है। यदि गीतामें "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि" लिखा है तो यहाँ भी 'दण्डाविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि' कहा जा सकता था। और बृहस्पतिके समयमें भी राजनीति, राज्यशासन आदि चलते ही थे।

चार्वाक सिद्धान्त ग्राह्य है या नहीं इस विषयमें हमारा वक्तव्य स्पष्ट है कि इस विचारके विना ही लोगोंने और शासकोंने इसे स्वीकार कर लिया है। हाँ, मोक्षमार्गमें और धर्ममार्गमें निश्चित ही यह सिद्धान्त अनुपादेय है। लोकव्यवहारमें इसकी उपयोगिता आपद्धर्मके रूपमें आपत्कालमें सर्वस्वीकृत है।

इतना अवश्य है कि किसी अलौकिक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये जो मार्गदर्शक है वही दर्शन है ऐसी यदि परिभाषा हो तो चार्वाकदर्शनको दर्शनसंज्ञा देना कठिन होगा। जीवन सुख पूर्वक बिताओ, मरण ही मोक्ष है, यह कोई अलौकिक बात नहीं है। यह तो सभी जानते हैं कि एक दिन मरना है, जीवन सुखमय बनाना है। इतनेके लिये दर्शन शब्दके प्रयोगकी उपपत्ति कठिन है। यही कहा जा सकता है कि अन्य दर्शनोंमें बताये हुए समस्त अलौकिक पदार्थोंका खण्डनात्मक होनेसे इसमें यही एक अलौकिकता है। इसको लेकर औपचारिक दर्शन शब्द प्रयोग है। अथवा अवास्तविकताका निराकरण कर वास्तविकता का दर्शन करानेवाला दर्शन है, इस परिभाषासे इसे दर्शन समझना चाहिये। अवास्तविकता तथा वास्तविकता दर्शनकारोंकी अपनी दृष्टिको लेकर है। अत एव अन्य दर्शनकारोंकी दृष्टिसे विपरीत होनेपर भी दर्शनत्व असिद्ध नहीं होता।

इस दर्शनका साहित्य अत्यन्त सीमित होनेसे विस्तार होनेका भय नहीं था। अतः हमने अपनी ओरसे अनेक यौक्तिक बातोंको इसमें समावेशित किया जो इस दर्शनके अनुकूल हैं। पुराणादिमें जहाँ चार्वाकवर्णन आता है वहाँ उनके कुछ धर्मोंका भी वर्णन मिलता है। चार्वाकोंके लिये ये धर्म आस्थेय हैं या नहीं है इतना ही विवादास्पद है। अत एव वर्णाश्रम धर्मका प्रतिपादन और विद्या विरोधी होनेपर उनका त्याग दोनोंका यहाँ निर्देश किया। अर्थात् कुलपरम्परागत धंधा तत्कुलीनको सुगम होता है। वह उसमें प्रगति विशेष रूपसे कर सकता है। अतः राज्य शासनमें वह उपयोगी है। ऐसा देखे तो वर्णधर्मादि मान लो। न कि पुण्य-पापके भयसे। अन्यथा उसको त्यागो यह चार्वाकाभिप्राय है।

चार्वाकमतमें पृथिवी जल, तेज और वायु चार तत्त्व हैं। उन्हींके विशिष्ट संघातसे शरीर, इन्द्रिय और विषय बनते हैं। संघात ठीक हो तो उसमें चैतन्य होगा। जैसे इंजन पुर्जे बराबर हो तो क्रिया शक्ति होती है। यही चैतन्य आत्मा है। वह उत्पत्ति विनाश वाला है। प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। अनुमान अंदाज है। पानी बरसेगा इस अन्दाजसे किसान धान बोता है। अन्दाज गलत भी होता है। सभी अस्मत्सदृश मनुष्य होनेसे तन्निर्मित वेद प्रमाण नहीं है। अपौरुषेयता कोरी कल्पना है। ईश्वरके न होनेसे ईश्वरनिर्मित भी नहीं है। दण्डनीति ही विद्या है। अर्थ काम ही पुरुषार्थ है। यही इस दर्शनका संक्षिप्त विषय है।

(३) जैन दर्शन

जैनादि दर्शनोंमें दर्शन शब्दकी उपपत्तिके लिये वह कठिनाई नहीं है जो चार्वाक दर्शनमें है। क्योंकि अन्य सभी दर्शनोंमें अलौकिक लक्ष्यकी प्राप्तिका मार्ग

दर्शन है। मूल आचार्योंने अपनी कठोर तपस्यासे निजमतानुसार जो मार्गदर्शन पाया वही उन सबका दर्शन बना। जैन दर्शनमें चार्वाकोंके समान मरण ही मोक्ष नहीं है। किन्तु अलौकिक आकाशमें व्यापकरूपसे स्थिति या सिद्धशिला-मध्यस्थिति ही मोक्ष है। उसके साधन भी तप योग एवं यमनियमादि हैं। चार्वाकमतमें ईश्वर तो नहीं ही। ऐसा कोई अलौकिक पुरुष भी नहीं है। क्योंकि अलौकिकता धर्मानुष्ठानसे आती है और धर्मको चार्वाक मानता नहीं। बल्कि "आम्रवनानि सेवयेत्" "मांसानि च" "मत्तकामिन्यः सेव्याः"[१] इत्यादि कहकर भोगत्यागी जैनोंपर चार्वाकोंने भारी आक्षेप करते हुए कहा—"नग्न श्रमण दुर्बुद्धे कायक्लेशपरायण। जीविकार्थे विचारस्ते केन त्वमसि शिक्षितः"। अर्थात् ये दण्डधारणादि धर्म पौरुषहीनोंकी जीविका हैं, भोगार्थ है। इधर पौरुषहीन होकर निकले धर्म करने, उधर भोग भी नहीं मिला। तात्पर्य यही कि चार्वाकवत् जैन नास्तिक नहीं हैं। भले वैदिकों की दृष्टिमें नास्तिक हों। इतना ही नहीं। तपस्यासे कईयोंने परमसिद्धियाँ भी प्राप्त कीं। जो महान् सिद्ध हुए उनमेंसे ही तीर्थंकर भी हुए।

जैन मतमें चौवीस तीर्थंकर हुए। जैसे सनातन धर्ममें चौबीस अवतार हुए। जैन कहते हैं कि सनातनियोंने हमारा अनुकरण किया। सनातनी कहते हैं हमारा अनुकरण जैनोंने किया। जैसा भी हो चौबीस तो दोनों मतमें हैं। बल्कि बौद्धोंमें भी चौवीस बुद्धोंकी चर्चा है। चौवीस तीर्थंकरोंमें प्रथम ऋषभदेव हुए। जिनको आदिनाथ भी कहते हैं। सनातनियोंके चौवीस अवतारोंमें भी ऋषभदेव का नाम आता है। अजितनाथ, संभवनाथ आदि शेष तेईसमें एक मल्लिनाथ भी तीर्थंकर हैं और वह महिला थी ऐसे श्वेताम्बरों की मान्यता है। दिगम्बर मल्लिनाथको भी पुरुष ही मानते हैं। उनके मतमें स्त्री तीर्थंकर नहीं हो सकती। तीर्थंकर दिगम्बर हुआ करते हैं। स्त्री दिगम्बर नहीं होती। उनको मुक्ति भी इस जन्ममें नहीं मिलती। किन्तु साध्वी होकर तप करनेसे अग्रिम जन्ममें पुरुष जन्म प्राप्तकर दिगम्बर होनेसे ही मुक्ति मिलती है। अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए। महावीरका समय ईसा पूर्व ५९९ से ५२७ तक है।

महावीरके नौ प्रकारके गणशिष्य थे। यह शिष्यपरम्परा ईसा पूर्व प्रायः ३०० वर्ष तक चली, जिनमें अन्तिम भद्रबाहु हुए। भद्रबाहुने निर्युक्ति नामके ग्रन्थकी रचना की। ईसवी प्रथम शताब्दीमें उमास्वाति हुए जिनको दिगम्बर उमास्वामी और श्वेताम्बर उमास्वाती कहते हैं। उन्होंने तत्त्वाधिगम सूत्र तथा उसपर वार्तिक लिखा जो जैनदर्शनका सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। प्रथम शताब्दीमें ही

कुन्दकुन्दाचार्य भी हुए। उन्होंने पञ्चास्तिकाय, समयसार आदि ग्रन्थोंकी रचना की। पञ्चम शताब्दीमें क्षपणक (सिद्धसेन दिवाकर) ने सम्मतितर्क सूत्र, न्यायावतार आदि ग्रन्थ लिखे। सप्तम शताब्दीमें सिद्धसेन गणि, अष्टममें हरिभद्रसूरि, एकादशमें मल्लवादी आदि, द्वादशमें देवसूरि, हेमचन्द्रादि, तेरहवींमें मल्लिषेण सूरि तथा चौदहवीं शतीमें राजशेखरसूरि हुए। इनके भी ग्रन्थ जैन संप्रदायमें प्रसिद्ध हैं। ये सभी मुख्यतः श्वेताम्बर हुए। दिगम्बर संप्रदायमें भी अकलङ्कदेव विद्यानन्द आदि ग्रन्थकर्ता विद्वान् हुए। सत्रहवीं सदी के यशोविजयसूरी शायद अन्तिम उद्भट विद्वान् हुए। उसके बाद फिर ऐसे विद्वान्को चर्चा उपलब्ध नहीं है।

कई जैनाचार्योंने न्यायवैशेषिक शास्त्रपर भी ग्रन्थ लिखे हैं। जैसे राजशेखर सूरिने वैशेषिकसूत्रके प्रशस्तपाद भाष्यकी न्यायकन्दली टीकापर पञ्जिका नाम की उत्तम टीका लिखी। परन्तु तीन सौ वर्षसे उनमें कोई उद्भट लेखक ग्रन्थकर्ता के न होनेमें हेतु क्या यह एक रहस्यमय प्रतीत होता है। संभव है कि इस दरमियान दिगम्बरों का प्रायः अभाव हुआ और श्वेताम्बर केवल परिव्राजक रह गये। वर्तमान समयमें पूर्ववत् गणधरादि नहीं होते। अपासरा आदि सभी गृहस्थोंके ही अधिकार एवं संरक्षणमें हैं। वे साधुओंको चातुर्मास्यसे अतिरिक्त समयमें एकत्र वासके पक्षधर न होनेसे साधु केवल परिभ्रमणमें ही रह जाते हैं।

वर्तमान समयमें यही देखनेमें आता है कि कठोर व्रत और उपवासादिमें ही जैन साधु उलझे रहते हैं। अमुक साधुने चालीस दिनका उपवास किया। फलाना साध्वीने ढाई महीनेका उपवास किया। इसीमें गृहस्थ उनकी वाहवाही करते हैं उसमें ही ये तन्मय हो जाते हैं। इस प्रकार उपवास करनेवाले ग्रन्थ क्या लिखेंगे ? आरुणिने श्वेतकेतुको पन्द्रह दिन उपवास रखनेको कहा था। इतनेमें ही श्वेतकेतु वेदोंको भूलने लगे थे। फिर मास दो मास उपवास रखे तो कहना ही क्या ? फिर यदि आजकलके नेताओंके समान बाहरसे उपवास और अन्दर चुपकेसे पोषकतत्त्व ग्रहण करते रहते तो बात अलग थी। ये सत्यरक्षक ठहरे। मैंने अनेक जैन विद्यार्थियोंको काशीमें देखा। पदयात्रा और उपवाससे उनकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती थी। वे ग्रन्थाशय बराबर ग्रहण नहीं कर पाते थे। गृहस्थ तो अपने-अपने घन्धेमें लगे हैं। सेठ लोग ऐश-आराममें पड़े हैं या धनवर्धनमें लगे हुए हैं। ये लोग भला ग्रन्थ क्या लिखेंगे जिनको न संस्कृत भाषा आती है और न पाली आदि। जो लिखा है उसे पढ़ने समझनेकी ही उन्हें फुर्सत

नहीं और न जरूरी ही है। साधुओंको तो वही दुर्दशा है जो बतायी। जरा भी विषय ग्रहण कर लिया तो ये भोगी टीका टिप्पणी शुरू करते हैं। महावीरकी पचीसवीं शताब्दीसे पूर्व हिन्दू सेठ और जैन सेठमें कोई पहचान भी नहीं थी। अब ग्रन्थ लिखे तो कौन लिखे ? सनातन धर्ममें कुछ ब्राह्मण और कुछ साधु सन्त जिनपर इतना भारी अंकुश नहीं है ग्रन्थलेखन करते थे। यह परम्परा आज भी चालू है बल्कि ये ही ब्राह्मणादि आजकल जैनोंको उनके ग्रन्थ पढ़ाते हैं। ऐसी स्थितिमें दार्शनिक नवीन उन्मेष की कल्पता भी नहीं हो सकती है इनकी प्रगतिके अवरोधमें संभव है अन्य भी कोई हेतु हो।

जैन मत में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर तथा मोक्ष ऐसे सात पदार्थ माने गये हैं। इनमें प्रथम जीव न अणु है और न व्यापक। किन्तु माध्यम परिणाम अर्थात् घटने बढ़ने वाला है। हाथी के शरीर में बढ़ जाता है और चींटी के शरीरमें छोटा हो जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल ये पांच अजीव तत्त्व हैं। धर्म और अधर्म के भी अणु होते हैं। ऐसा वे मानते हैं। धर्माधर्म हेतु कर्मपुद्गलोंका जीवमें प्रवेश आस्रव है। रागद्वेषादिको भी कहीं-कहीं आस्रव माना है। इससे यह जीव संसारबन्धनमें पड़ता है। इसको बन्ध कहते हैं। रागद्वेषादिका निरोध संवर है। प्रविष्ट कर्मपुद्गलोंका निर्जरण (क्षपण) यही निर्जर है। इसमें जो लगे रहते हैं वे ही क्षपणक कहलाते हैं। इसके अनन्तर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तरायका नाश होने पर मोक्ष होता है।

जैनदर्शन में प्रमाण तथा नय ये दोनों ज्ञान के हेतु हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रयाण हैं। कुछ लोग औपम्य को भी प्रमाण मानते हैं। नय अनेकविध हैं। उनमें स्याद्वादनय प्रसिद्ध है। जिसको सप्तभङ्गीन्याय भी कहते हैं। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्याद्वक्तव्यम्, स्यादस्ति चावक्तव्यं च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च ये सप्तभङ्गी है। इसीको अनेकान्तवाद भी कहते हैं। वस्त्र वस्त्रदृष्टिसे शायद है। गृहदृष्टिसे नहीं। उसे गृहशब्दसे नहीं कह सकते। वस्त्र है पर गृहशब्दसे अवक्तव्य है। गृहदृष्टिसे न है और न वक्तव्य ही है। इत्यादि रीति मोटा उदाहरण समझा जाता है।

जैन धर्ममें बौद्धोंके समान ही "अहिंसा परमो धर्मः" यह महावाक्य है। इसके पीछे जैन सन्तोंने नाना प्रकारका आचरण बनाया। वे मार्जनी (झाड़ू) साथमें रखते हैं जिससे रास्तेमें सम्मुख आये जन्तुओंको हटाकर चलें। पानी

२

गरम करके पीते हैं जिससे पेटमें जाकर जन्तु न मरे। गरम करते समय जो जन्तु मरते हैं उसके लिये गरम करनेवाला जिम्मेदार होगा। वे गाड़ी आदि में नहीं बैठते, क्योंकि गाड़ी चलते समय अनेक प्राणियोंको रौंद डालती है। मुंहपर पट्टी बाँधते हैं क्योंकि मुंहसे निकली हुई गरम श्वाससे प्राणी मर सकते हैं। स्नान तथा दंतधावन साधुलोग नहीं करते। उसमें हेतु अस्पष्ट है। वे भिक्षा लेते समय यह पूछ लेते हैं कि हमारे लिये तो नहीं बनाया। यदि नहींसे उत्तर मिला तो भिक्षा लेते हैं, अन्यथा नहीं। जैनधर्म में प्राणिपोषणका भारी महत्त्व माना गया है। चील, कबूतर आदिको तो वे दाना डालते ही हैं। बल्कि जू, खटमल आदिके भी भोजनकी व्यवस्था के लिये वे चिन्तित रहते हैं। कलकत्तेमें खटमलसे भरे खटियोंमें पाँच मिनट लेटनेका पाँच रुपये वे देते हैं तो बहुतसे गरीबोंने इसे भी अपना धन्धा बनाया है। उनका यह सिद्धान्त यद्यपि देखा जाय तो महत्वपूर्ण है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी कीटाणु तकको आजतक उत्पन्न नहीं कर सके हैं। जब बना नहीं सकते तो बिगाड़नेका हमें क्या अधिकार ? किन्तु इसमें कठिनाई यही है कि व्यवहार पूर्णतया इसप्रकार शुद्ध करना असम्भव है। जैन साधुओंके अनशन, केशलुञ्चनादि जो तप है वह अतिकठोर है। शायद इन्हींको लक्ष्यकर गीतामें— "कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः। मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुर-निश्चयान्" ऐसा कहा है। प्रस्तुत ग्रन्थका मूल प्रायः तत्त्वार्थाधिगमसूत्र एवं उसकी व्याख्यायें हैं। शतश्लोकीरूप ग्रन्थमें अन्य ग्रन्थोंसे अधिक विषयोंका संग्रह करना सम्भव नहीं था। और हम ग्रन्थकलेवरको अधिक बढ़ाना नहीं चाहते थे। अत एव तत्त्वार्थसूत्रसे भी अत्यावश्यक अंशका ही संग्रह किया। जम्बूद्वीपप्लक्षद्वीपादिका तथा वहाँके निवासियोंकी स्थिति आदिका विस्तृत वर्णंत वैयासिक पुराणोंके अनुसार और कुछ विलक्षण रीतिसे भीं वहाँ किया है। परन्तु यह सब आधुनिक विज्ञानसे मेल नहीं खाते। अतएव उनको पूरा ही यहाँ छोड़ दिया। यद्यपि जैनियोंका कहना है कि उमास्वाती जैसे वीतराग महापुरुष जो सर्वज्ञ थे, वे कुछ गलत नहीं लिख सकते। अतः इसका आशयान्तर समझनेका प्रयास करना चाहिये। लेकिन बात यह है कि अभीतक किसीनें आशयान्तर ढूंढ निकाला नहीं है। जब तीन सौ वर्षसे प्रायः उनकी प्रौढ़ लेखनी ही बन्द हो गयी है तो आगे कोई निकालेगा इसपर प्रश्नचिह्न ही अब तक लगा है। यद्यपि व्यासकृत पुराणोंमें भी इसप्रकारका द्वीपादिवर्णन है। तथापि उसको दार्शनिकोंने अपने दर्शनोंमें प्रायः नहीं लिया है। लिया भी है तो उपासनाके लिये या योगशास्त्रीय संयमविषय के लिये ही।

(४) बौद्ध सामान्यदर्शन

महावीरस्वामी तथा बुद्ध भगवान् दोनों प्रायः समकालिक थे। दोनों मतोंमें 'अहिंसा परमो धर्मः' यह महावाक्य है। प्रारम्भिक समयमें दोनोंका प्रचार प्रायः समान था। किन्तु द्रुत गतिसे बौद्धधर्म आगे बढ़ गया। इसका मुख्य कारण शायद यही था कि जैनधर्मका आचारांश अतिकठिन था। बौद्धका सरल। "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" के अनुसार सबमें श्रद्धा छिपी हुई रहती है। जहाँ आकर्षण विशेषरूपसे हो उस ओर वह शीघ्र प्रस्फुटित होती है। अधिक कष्ट जहाँ है वहाँ वह जल्दी आगे नहीं मढ़ती। और सम्मुख सरल तरीका हो तो वहाँकी ओर मुड़ जाती है। जैनोंके उपवास, केशलुञ्चनादि कठोर आचारको देखकर उस ओर लोग अधिक बढ़े नहीं। उसकी अपेक्षा बौद्ध भिक्षु होनेमें सरलता मालुम पड़ी। दूसरी बात यह भी हुई कि बुद्ध प्रसिद्धतर राजपरिवारमें जनमे। लोगोंका उनके प्रति पहलेसे ही झुकाव था।

बुद्धका जन्म ईसा पूर्व ५६७ वर्ष, वैशाख शुक्ला पूर्णिमाको हुआ। कपिलवस्तु के समीप उनका जन्मस्थान है। इनके पिताका नाम शुद्धोदन और माताका नाम मायादेवी था। ऐसा कहा जाता है कि किसी ज्योतिषीने प्रथम ही कह दिया था कि प्राणियोंके दुःखसे कातर होकर उनकी दुःखनिवृत्तिके लिये यह सन्त बनेगा। तबसे शुद्धोदन प्राणियोंका दुःख देख ही न पावे इसके लिये बुद्धको महलसे बाहर निकलने ही नहीं देते थे। उनका विवाह यशोधरा नामकी राजकन्यासे हुआ। और एक पुत्र भी उससे उत्पन्न हुआ। एक दिन बाह्य समाचारोंको सुनकर बाहर परिभ्रमण करनेकी गौतमकी उत्कट इच्छा हुई। और कुछ साथियोंके साथ वाहर निकले। रास्तेमें कई रोगियोंको कराहते हुए देखा। भूखे भिखारियोंको देखा। शवयात्रा भी देखी। यह सब देखकर गौतमके हृदयमें दया उमड़ पड़ी। कैसे इन प्राणियोंको दुःखसे उबारें, यह विचार उनको सताने लगा। स्वयं की भी भावी ऐसी अवस्थाओंके आनेका विचारकर उद्विग्न होने लगे। मैं भी रोगी हो सकता हूँ और मर जाऊँगा भी। उनको रातमें नींद नहीं आयी। रातको ही अपनी पत्नी और पुत्रको छोड़कर राज्य छोड़कर वे निकल पड़े। इस ऐतिहासिक घटनासे विद्वान् लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बुद्ध यज्ञीय हिंसाको देखकर दयावान् हो सन्त नहीं बने, किन्तु प्राणियोंके और अपने दुःखको देखकर ही उससे मुक्ति पाने और दिलानेके लिये सन्त बने। इसके विपरीत बुद्धावतार माननेवाले सनातनी और बौद्धधर्मावलम्बी यह मानते हैं कि ब्राह्मण धर्ममें हिंसाबाहुल्यके आनेसे ही

बुद्ध अवतीर्ण हुए। अतएव "अहिंसा परमो धर्मः" यह नारा बुद्धने दिया। "कारुण्यमातन्वते" इत्यादि जयदेवोक्ति भी इसमें प्रमाण है। और यह भी असम्भावित नहीं है कि शुद्धोदन वैदिकधर्मावलम्बी होनेसे हिंसायुक्त यज्ञ करते रहे। उसमें गौतम भी शायिल होते रहे। वहीं उन्हें करुणा सताती रही। बाह्यपरिभ्रमण तो आगमें घी डालनेका काम कर गया।

उरुवेलाके जंगलोंमें छः वर्षतक तप करनेपर भी बुद्धको शान्ति नहीं मिली। वहाँ उन्हें सन्तोष न मिला तो वे बोधगयामें पहुँचे। एक पीपलके वृक्षके नीचे सात सप्ताह तक तप किया तो उन्हें बोधकी प्राप्ति हुई। उन्हें वहाँ चार आर्यसत्यों का दर्शन हुआ। दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्। ये चार आर्यसत्य हैं। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव ये क्रमशः कार्यकारणभावापन्न होकर दुःखसमुदय होता है। उसका परिणाम उत्तरजन्मीय कार्यकारणभावापन्न जाति, जरा और मरण दुःख है। दुःखसमुदयमें प्रथम तीन अविद्या, संस्कार और विज्ञान पूर्वजन्मीय और शेष वर्तमानजन्मीय हैं ऐसा भी विद्वान् लोग मानते हैं। परन्तु स्पर्शवेदना, तृष्णा, उपादान ये केवल दुःखसमुदय नहीं स्वयं दुःखरूप भी हैं यह समझना आवश्यक है। दुःखनिरोध चरम लक्ष्य है। तद्गामिनी प्रतिपत् अष्टांग मार्ग है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ये अष्टांग मार्ग हैं। इनके अभ्याससे मनुष्य क्रमशः श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व ऐसी तीन अवस्थाओंको प्राप्त करता है। फिर वह बुद्धत्वको प्राप्त होता है।

साधकके लिये कतिपय साधन सर्वथा अपेक्षित हैं। वे हैं—अहिंसा, अपरिग्रह ब्रह्मचर्य, सत्य, धर्ममें श्रद्धा, रात्रिभोजननिषेध, विलासविराग, सुगन्धिद्रव्यनिषेध, कोमलशय्यासनत्याग, सुवर्णादिपरित्याग। ये दस शील माने जाते हैं। साधुओंके लिये दसोंका पालन होना चाहिये। और गृहस्थोंके लिये इनमेंसे पाँच अनिवार्य हैं उसको पञ्चशील कहते हैं। इनकी साधना प्रथम आवश्यक है।

बुद्ध ने अपने शिष्योंको सम्बोधित किया यह बात निर्विवाद है। परन्तु किंवदन्ती ऐसी है कि आत्माके बारेमें जब कभी पूछा तो बुद्धने मौन ही धारण किया। इसका अर्थ भिन्न-भिन्न लोगोंने भिन्न-भिन्न ही लगाया। कुछ लोगोंने अर्थ लगाया कि तुम साधनाके द्वारा अधिकारी बनो। अधिकारी होनेपर तुमको मेरे समान स्वयमेव बोध होगा। साधन न हो तो कहने पर भी समझमें नहीं

आयेगा। फलतः अधिकारी तथा अनधिकारी दोनोंके लिये उपदेश व्यर्थ है अतः मौन धारण करता हूँ। दूसरे लोगोंने अर्थ लगाया—आत्मा शून्यरूप है। वह शुन्य सत्, असत्, सदसत्, अनिर्वचनीय और पंचम प्रकारसे भिन्न होनेसे वाणीका विषय नहीं है। अतः बुद्ध मौन रह गये। अन्य मनीषियोंका कहना है कि इसप्रकार वैकल्पिक अर्थमें रहना व्यर्थ है। बौद्धोंके ये चार महावाक्य प्रसिद्ध हैं—सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, सर्वं दुःखं दुःखं, सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं, सर्वं शून्यं शून्यम्। तब सर्वान्तर्गत आत्मा भी वस्तुतः शून्य है। संवृतिसत्तामें अर्थात् व्यवहारमें जो भी उसका रूप माना जा सकता है। क्षणिकविज्ञानरूप हो सकता है।

बौद्धोंमें तीन सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—महायान, हीनयान और वज्रयान। यद्यपि महायान और हीनयान सुननेपर ऐसा लगेगा कि महायानी अपने को उत्तम सिद्ध-कर दूसरे सम्प्रदायको हीन प्रसिद्ध कराना चाहते हैं। किन्तु वात ऐसी नहीं है। महायानी वे हैं जो बुद्धत्वकी प्राप्तिके बाद भी लोककल्याणार्थ केवल समाधिमग्नता को अनङ्गीकार कर लोककल्याणमें लग गये। हीनयानी लोककल्याणको आंशिक अभिमानरूप मानते हैं। क्योंकि शिष्यवर्ग उनका मान सम्मान करेंगे ही। अतः लोककल्याणप्रयत्नादिको छोड़कर समाधिमग्न रहना चाहिये यह उनका सिद्धान्त है। अर्थात् महायानी जनसमुदायमें प्रचारकार्य करते हैं। हीनयानी केवल गुफा आदिमें समाधि लगाते हैं। आज भी सनातनधर्मी संन्यासियोंमें भी इस प्रकारके दो विभाग देखनेको मिलते हैं। हीनका निकृष्ट अर्थ नहीं लेना चाहिये। 'ओहाक् त्यागे' धातुका यह रूप है। अर्थात् सर्वत्यागी हीनयानी है। तृतीय वज्रयानी है। वे उपासनापरायण होते हैं। जैसे सनातन धर्ममें तन्त्रविद्या प्रसिद्ध है वैसे बौद्धोंमें नाना प्रकारके यन्त्र मन्त्रादिरूप तन्त्र हैं। उन तन्त्रोंके अनुसार उपासनापरायण जो रहते हैं। ये ही वज्रयानी हैं। इनके चार सिद्धान्तोंके बारेमें हम आगे विचार करेंगे।

बुद्धने स्वयं किसी ग्रन्थकी रचना नहीं की। किन्तु समय समयपर उन्होंने शिष्योंको जो उपदेश किये उनके तीन ग्रन्थ बने जिनको पिटक कहते हैं। पाली-भाषामें ये ग्रन्थ हैं। ये हैं विनयपिटक, सुत्तपिटक, और अभिधम्मपिटक। इन तीनको मिलाकर त्रिपिटक कहते हैं। विनयपिटकमें बुद्धानुयायियोंके आचार-विचारका वर्णन है। इसीके आधारपर सुत्तविभंग, खन्धक, परिवार, पातिमोख ऐसे चार ग्रन्थ लिखे गये। उपालि नामका शिष्य विनयपिटकका विशेषज्ञ था सुत्तपिटकमें दृष्टान्तोंसे धम्मको बुद्धने जो समझाया था उसका संग्रह है। दीघ-

निकाय, मज्झिकनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, खुद्दकनिकाय ऐसे इसके पाँच विभाग हैं। बुद्धका शिष्य आनन्द इसका विशेषज्ञ था। अभिधम्मपिटकमें दार्शनिक विचारोंका संग्रह है। धम्मसंगणि, विभंग, कथावत्थु, पुग्गलपञ्जत्ति, धातुकथा, यमक, पट्ठान ऐसे इसके सात विभाग हैं। बुद्धका शिष्य काश्यप इसका विशेषज्ञ था। किन्तु कुछ लोग इसे बुद्धोपदेश नहीं मानते। क्योंकि अध्यात्म के बारेमें बुद्धने उपदेश नहीं दिया था। अतः यह परवर्ती है ऐसा उनका मानना है।

ईस्वी पूर्व पञ्चम शताव्दीसे लेकर ईस्वी उत्तर सप्तम शताव्दीपर्यन्त बुद्ध मतका वडा बोलवाला रहा। बारह सौ वर्ष तक खूब फला फूला। हर्षवर्धनके समयतक इसका वर्चस्व रहा। उसके बाद अष्टम शताब्दीमें कुमारिलभट्ट एवं आद्यशंकराचार्य जो वैदिक धर्मके अतिधुरन्धर वेत्ता हुए इन दो विद्वानोंने ही इस मतका सफाया किया। कुमारिलभट्टने अपनी दार्शनिक युक्तियोंसे बौद्धोंको पराजित किया। शंकराचार्यने दार्शनिक युक्ति, समान वेष, समानतायुक्त सिद्धान्त, तथा राजसहाय इसप्रकार चारों ओरसे घेरकर बौद्धोंको हिन्दू बनाकर बौद्धधर्मको प्रायः भारतमें समाप्त ही कर दिया। कुछ लोगोंका कहना है कि दीर्घकालसे बौद्धभिक्षुओं में प्रमाद तथा आचारहीनताके होनेके कारण बौद्धधर्मका पतन हुआ। किन्तु यह नितान्त भ्रामक युक्ति है। धर्मकीर्ति जैसे अतिधुरन्धर विद्वान् षष्ठ शताव्दीमें हो गये थे। उनके बाद में भी कतिपय श्रेष्ठ विद्वानोंके नाम आये हैं। वहाँ प्रमादादिकी कल्पना साहसमात्र है। यत्किंचित् दोषको लेकर यदि कहें तो सनातनधर्मी ही सर्वथा दूधमें धुले हुए कहाँ होते थे और हो सकते हैं। शंकरदिग्विजयोक्त कापालिकादिके आचारादिके बारेमें विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है। बल्कि शंकराचार्यके बाद भी उपासनाप्रधान वज्रयान काफी दिनोंतक रहा। शंकराचार्यजीने बुद्धको नारायणावतार कोटिमें रखकर बोधगया मन्दिरको भी अपने हाथमें लेकर, सनातनी वैदिक होनेपर भी तुम वज्रयानानुसार बुद्ध पूजा कर सकते हो, इस सिद्धान्तपर सबको वैदिक बनाया। तात्पर्य यही कि बौद्धोंकी शिथिलतासे नहीं वैदिकोंकी सजगतासे बौद्धधर्म समाप्त हुआ। बौद्धोंके चारों मतोंमें अन्तिम परिणाम शून्यता है यह हम उन सिद्धान्तोंके वर्णन समयमें दिखायेंगे। उस शून्यतामें अपनेको खो देना कहाँका पुरुषार्थ है? तुम शून्य नहीं हो, परिपूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म हो। पुरुषार्थ वस्तुतः यही है इस शांकर तर्कके सामने बौद्ध विचलित हो गये थे। और परमार्थ जिज्ञासासे वैदिकोंकी शरणमें आगये थे। सुना जाता है कि शंकराचार्यने बौद्धोंको मरवाया नहीं था। कनिष्क अशोकादिके समयसे सुदूर दक्षिणतकके उनके साम्राज्यमें फैले बौद्धोंका शंकराचार्यने शुद्धी–

करण किया। वह भी एक-एकको कहाँसे क्रियाकलापसे शुद्ध करते। वे शंख बजाते थे। जितनी दूरतक आवाज पहुँचती थी उतने शुद्ध माने जाते थे। फिर ब्राह्मणोंको आगे करके उनके नाना संस्कार कराये। जो भी हो बौद्ध धर्म जो तिव्वत चीन जापान आदिमें प्रथम फैल गया था बादमें वहींपर रहा, भारतसे विदा हो गया। फिर भी बुद्धके अनेक सिद्धान्त जो उपादेय थे उनका ग्रहण सनातनियोंने किया। आदिबुद्धको आदर दिया। उन्हें अवतार माना। आज भी हम यज्ञादि कर्म बौद्धावतारे ऐसा संकल्प कर करते हैं।

(५) वैभाषिक दर्शन

बौद्धदर्शनके चार विभाग हैं। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। चारों ही दर्शनोंका पर्यवसान शून्यात्मक मोक्ष में हो है। बाह्य प्रक्रियामें ही भेद है। यद्यपि कतिपय ग्रन्थों में केवलविज्ञानधारासन्तति को मोक्ष बताया है, और अन्यत्र आनन्दात्मक विज्ञानधाराको। किन्तु ये दोनों समाधिरूप जीवन्मुक्तिका ही स्वरूप है। सर्वकामनिर्मुक्तिरूप मोक्षमें आनन्द कामनाको रखना संभव नहीं है। कामना नहीं तो आनन्द रहे या न रहे क्या फरक पड़ता है और स्वयं भी रहे या न रहे क्या अन्तर आता है? अतः यदि क्वचित् विदेह मुक्तिमें इसका वर्णन किया है तो वह वेदान्तशास्त्रका प्रभावमात्र है। वेदान्तमें उसको उपपत्ति हम यथास्थान दिखायेंगे। बौद्धोंकी दृष्टिमें वैभाषिक मत स्थूल सिद्धान्त है। सौत्रान्तिक उसकी अपेक्षा सूक्ष्म और उससे अधिक सूक्ष्म योगाचार मत है। शून्यवाद तो अन्तिम है ही। बुद्धभगवानके निर्वाणोत्तर लगभग तीनसौ वर्ष बाद इस दर्शनका आविर्भाव हुआ। प्रथम रचयिताको कात्यायनीपुत्र कहा जाता है। उन्होंने ज्ञानप्रस्थान नामका एक ग्रन्थ लिखा। इसके छः भाग हैं जिनमें वैभाषिकसिद्धान्तानुसार तत्त्वोंका निरूपण किया। इस ग्रन्थपर एक विस्तृत ठोस व्याख्या लिखी गयी। जिसका नाम विभाषा है। इसीसे वैभाषिक नाम आ गया। विभाषया दीव्यन्तीति वैभाषिकाः। तृतीय चतुर्थ शताब्दीमें वसुबन्धुने अभिधर्मकोश नामका एक महान् ग्रन्थ बनाया। यह वैभाषिक सिद्धान्तका प्रतिपादक सर्वोत्तम ग्रन्थ है। सुनते हैं कि इनके बड़े भाई असंग योगाचारमतके थे। उनके प्रभावमें आकर बादमें वसुबन्धुने योगाचार मतको स्वीकारा और वैभाषिकमत-प्रतिपादन के लिये प्रायश्चित्त किया। क्योंकि मिथ्या जगतका सत्यतया पूर्वमें प्रतिपादन किया था।

वैभाषिक मतानुसार यह जगत् न शून्यरूप है और न मिथ्यारूप ही। आत्मा

विज्ञानसन्ततिरूप है और उस सन्तानका नाश ही मोक्ष है। वह शून्यरूप अवश्य है किन्तु दुःखात्मक संसार तथा उसका समुदय अर्थात् कारण अविद्या तथा जागतिक पदार्थ ये दोनों सत्य हैं। क्योंकि ये अर्थक्रियाकारी हैं। प्रतिकूलवेदनात्मक अर्थक्रियाको दुःख उत्पन्न करता है। जलाहरणादि अर्थक्रियाको घटादि उत्पन्न करते हैं। योगाचार मतमें जगत ज्ञानाकारमात्र होनेसे बाह्यार्थ मिथ्या है। और माध्यमिक मतमें शून्यरूप है। सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक इसे सत्य मानते हैं। अतएव जगतका निरूपण भी इन दोनों मतोंमें आवश्यक है।

वैभाषिक मतमें यह जगत् पंचस्कन्धात्मक है। बाह्य जगत् रूपस्कन्धात्मक है। और वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध ऐसे चार स्कन्ध जो और हैं इन चारोंको मिलाकर नामस्कन्ध कहते हैं। वेदना सुखाद्यनुभूतिको कहते हैं। संज्ञाका अर्थ है होश या पहचान। संस्कार प्रसिद्ध ही है। विज्ञान घटादिविज्ञानको कहते हैं।

यह समस्त जगत् धर्मोंसे बना हुआ है। धारयतीति धर्मः। धर्म क्षणिक एवं उत्तर धर्मके प्रति हेतु होते हैं। यद्यपि अणुओंसे बाह्य जगत् बना है। अतः अणुओं-से जगत् बना कहा जा सकता था। किन्तु आन्तर जगत्, विज्ञानसन्तति आदि अणुओंसे नहीं बना। अतः उभयसंग्राहक धर्मशब्दका प्रयोग किया जाता है, न कि वैभाषिक मतमें यहाँपर पुण्यपापादि विवक्षित हैं। विज्ञान भी क्षणभंगुर है। कोई नित्यविज्ञान नहीं है। बाह्य रूपस्कन्ध और आन्तर नामस्कन्धसे अतिरिक्त उभय-विप्रयुक्त भी एक तत्त्व है। उसको चित्तविप्रयुक्त भी कहते हैं। प्राप्ति, अप्राप्ति आदि वे चौदह हैं। जैसे सभी क्षणभंगुर हैं तो प्रथमक्षणका अश्व नष्ट हो गया, द्वितीय क्षणमें दूसरा अश्व हुआ। दूसरे क्षणमें नया ही बनता है तो गाय क्यों नहीं बना ? अश्व ही क्यों बना ? उत्तर है—प्राप्तिसंस्कारसे अश्व बना। अप्राप्तिसे गाय नहीं बना। ये प्राप्ति अप्राप्ति आदि न भौतिक हैं और न चैतसिक हैं। अतः उभय-विप्रयुक्त है। ये पूर्वोक्त सभी धर्म संस्कृत (सम्यक् कृत) उत्पत्त्यादिमान हैं। इनसे अतिरिक्त एक असंस्कृत धर्म भी है। वे तीन हैं। आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध। आकाश उत्पन्न या नष्ट नहीं होता। तत्त्वज्ञानसे रागमोहादिका जो सर्वथानिरोध है वह प्रतिसंख्यानिरोध है। प्रत्येक एक-एकका यहाँ निरोध होता है। और निर्वाण अप्रतिसंख्यानिरोध है। वहाँ सर्वनिरोध एक साथमें होता है। ऐसे रूपस्कन्ध, नामस्कन्ध चित्तविप्रयुक्त और असंस्कृत ये चार मुख्य विभाग हैं। कालको जोड़नेपर वह पाँचवाँ होगा। धातु, इन्द्रिय, आयतन आदि इन्हीं के अवान्तर भेद हैं। सबका पृथक् निरूपण ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है।

सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यं ये चार नारे बौद्ध दर्शनोंमें समान हैं। इनमें क्षणिकत्व वैभाषिक मतमें स्पष्ट है। शून्यत्व भविष्यद्वृत्तिसे होगा। क्योंकि क्षणिक होनेके कारण द्वितीय क्षणमें ध्वंस होगा ही। बौद्धोंके मतमें यह प्रश्न उठेगा कि क्षणिक है तो जिसको देखने जायेंगे उस क्षणमें उसका ध्वंस ही हो जाएगा तो कोई वस्तु दिखाई नहीं देनी चाहिये। इसका उत्तर बौद्ध यह देते हैं कि प्रदीपप्रभा सर्वमतमें क्षणिक है। फरक इतना ही है कि बौद्ध मत में एक ही क्षण उसका अस्तित्व है। न्यायवैशेषिकादि मतमें उत्पत्तिक्षण तथा स्थितिक्षण ऐसे दो क्षणमें अस्तित्व रहता है। परन्तु उत्पन्नक्षण-में चक्षुआदिका संयोग होगा नहीं। द्वितीय क्षणमें होगा। तब प्रत्यक्ष तृतीय क्षणमें होगा। तत्रतक प्रभा ही नहीं रहेगी तो प्रत्यक्ष किस प्रकार हो ? प्रभाधारा द्रव्यविशेष होता नहीं। और प्रत्यक्षके प्रति समकालीन द्रव्य आवश्यक है। अतः धारास्थलमें नियम अलग ही मानना होगा। वह क्षणभंगुरवादमें भी सुगम है। तीन क्षणतक वस्तुके (प्रभाके) रहनेकी कल्पना तो अपने कल्पित सिद्धान्तकी रक्षा मात्रके लिये की जा सकती है। पर वह निर्युक्तिक है। संसार परिवर्तित हो रहा है। एक वस्त्र सौ सालमें जर्जरित हुआ तो वह सौवें सालमें ही जर्जरित नहीं हुआ। प्रतिवर्ष थोड़ा थोड़ा जर्जरित हुआ। प्रतिवर्षमें भी दिसम्बरमें जर्जरित, अन्य मासोंमें नहीं, यह कहा नहीं जा सकता। प्रतिमास थोड़ा-थोड़ा जर्जरित हुआ। प्रतिमासमें भी तीसवीं तारीखको जर्जरित हुआ उनतीस दिनतक कुछ नहीं हुआ ऐसा नहीं होता। किन्तु प्रतिदिन अल्पमात्रामें जर्जरित हुआ। वैसे दिनमें भी प्रति-घण्टा, घण्टे में भो प्रतिमिनट, मिनिटमें भी प्रतिसेकेण्ड, सेकेण्डमें भी प्रतिक्षण जर्जरण सिद्ध होता है। उसमें तोन चार क्षणकी विलम्बकल्पना अयुक्त है। विज्ञानरूपी आत्मामें भी यह क्षणपरिवर्तन अनुभवसिद्ध है। कई दिनके बाद पूर्वानुभूतका विस्मरण होता है तो क्या एक ही दिनमें वह हुआ ? इत्यादि प्रश्न समान हैं। अस्तिकोंकी जटिलतर युक्ति यही है कि आत्मा यदि प्रतिक्षण बदलता हो तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि नहीं होना चाहिये। परन्तु प्रतिक्षण नाशवान् होनेपर भी घट दूसरे क्षणमें ईंट और तीसरे क्षणमें मकान की भीत नहीं बन जाता। उसमें कारण चित्तविप्रयुक्त धर्म है। उससे समानगुणाकारादियुक्त घट ही द्वितीय क्षणमें होगा वैसे विज्ञानमें भी समानगुणादियुक्त विज्ञान द्वितीय क्षणमें होगा। दृष्ट तत्तदर्थसंस्कारसमानाकारसंस्कारयुक्त विज्ञानसंततिके चलनेसे स्मरण प्रत्यभिज्ञा आदि सुगम है। अन्यथा न्याय-वैशेषिकादि मतमें 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा भी कैसे होगी ? पूर्वकालदृष्ट देवदत्तका अवयवोपचयापचयादिके

कारण नाश कभीका हो गया है।

जैन तथा बौद्ध दोनों ही वैदिकोंके समान पूर्वजन्म तथा परजन्म मानते हैं। देवताओंको भी मानते हैं। जैनादि मन्दिरोंमें परी, देवता आदि के चित्र अंकित मिलते हैं। कथायें भी मिलती है कि बुद्धके नाना जन्मके अवसरपर पूजा करने देवता आये थे इत्यादि। एक सर्वशक्त, सर्वज्ञ, जगत्कर्ता ईश्वरको नहीं मानते इतनी ही विशेषता है। इसप्रकार अस्ति 'परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः' इत्यादि वैयाकरणोक्त व्युत्पत्ति मानी जाये तो ये भी आस्तिक ही प्रतीत होते हैं। 'अस्तीश्वर इति मतिर्यस्य स आस्तिकः' यह व्युत्पत्ति मानेंगे तो सांख्यमीमांसकादिको भी आस्तिक मानना कठिन हो जाएगा। "नास्तिको वेदनिन्दकः" यह मनुप्रोक्त लक्षण माना जाये तो कई वैष्णवादि भी नास्तिक कोटिमें आ जायेंगे। क्योंकि पांचरात्रादि ग्रन्थोंके बारेमें उनकी मान्यता है कि वेदोंसे भी जब श्रेयकी प्राप्ति नहीं हुई तब पांचरात्रका आश्रयण लेकर नारदादिने श्रेय प्राप्त किया। ऐसा बताया है। यह तो वेदका निश्चित न्यक्करण है। इसी बातको शांकरभाष्यमें पांचरात्रमत-निराकरणावसरमें उठायी है। जिसके लिये परवर्ती वैष्णवोंको काफी लेपापोती करनी पड़ी है। सुनते हैं कि विश्वनाथ मन्दिरमें रामचरितमानसको सबसे नीचे रखा, और वेदोंको ऊपर रखा, परीक्षार्थ। दूसरे दिन प्रातःकाल देखा—वेद नीचे गये थे, रामचरितमानस ऊपर आ गया था। क्या यह वेदोंका न्यक्करण और निन्दा नहीं है? इसप्रकार ये सब नास्तिक नहीं होंगे? रामानुजादि वैष्णव और उनके चेले ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यमें मंगलाचरणका पृथक् श्लोक न देखकर कहते हैं कि ये नास्तिक हैं। भले ये ईश्वरको प्रकारान्तसे मानते हैं, किन्तु हमारे ढंगसे नहीं मानते, यह उनका तर्क है। इसप्रकार यह नास्तिक शब्द गाली देनेका एक शब्द मात्र रह गया है। नास्ति अलौकिकं तत्त्वं, सर्वान्ते किंचिन्नास्ति इत्यादि व्युत्पत्तिसे जब कोई मतलव नहीं रहा तब इस शब्दका अप्रयोग ही सभ्यसमाजके लिये उपयुक्त है। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थमें वैभाषिक मतका संग्रह किया गया है। अभिधर्मकोशमें वैभाषिक-मतका पर्याप्त वर्णन होनेसे हम अपनी दृष्टिसे उसे समुचित प्रामाणिक संग्रह ही मानते हैं। जैसे जैनमतसंग्रहमें हमने अपनी ओरसे कोई नयी बात या नयी युक्ति नहीं जोड़ी वैसे इसमें भी नहीं जोड़ी। क्योंकि अपनी बातोंको जोड़नेपर ग्रन्थका विस्तार होना अनिवार्य था। और हम उसे प्रस्तुत ग्रन्थमें नहीं चाहते थे। वैभाषिक मतका प्रथम आचार्य कात्यायनीपुत्र हुआ। कात्यायनीपुत्रका असली नाम क्या था यह ज्ञात नहीं है। ब्रह्मपुत्रा जैसे नदीका नाम है वैसे ही कात्यायनीपुत्र भी स्वतः

नाम है क्या ? यह विचार्य है। इनके ग्रन्थ अभिधर्मज्ञानप्रस्थानशास्त्रमें १५ हजार श्लोक बताये जाते हैं। मूलसंस्कृत प्राप्त नहीं है किन्तु चीनी भाषामें इसका अनुवाद उपलब्ध है। बुद्धनिर्वाणोत्तर तीन सौ वर्ष बाद इस ग्रन्थका निर्माण हुआ। कनिष्कके समयपर इसपर अभिधर्मविभाषाशास्त्र नामका एक भाष्य लिखा गया। इसका भी मूल संस्कृत अप्राप्त है। चीनी और तिब्बती भाषाओंमें अनुवाद अभी भी प्राप्य है। इसी विभाषाको लेकर वैभाषिक नाम पड़ा। इसके बाद वसुबन्धु (२८०–३६० ई०) ने वैभाषिक मतानुसारी अभिधर्मकोश लिखा जिसपर स्थिर मति, दिङ्नाग तथा यशोमित्रने अपनी बहुमूल्य टीकायें प्रस्तुत कीं। फ्रेंच भाषामें डा० पुर्सेंने अभिधर्मकोशकी चीनी व्याख्याका सुन्दर अनुवाद किया, जिसका हिन्दी अनुवाद आचार्य नरेन्द्रदेवने किया है। अभिधर्मकोशके अनुसन्धानमें उससे हमें काफी सहायता मिली। चतुर्थशतकका संघभद्र भी वैभाषिक मतावलम्बी बताते हैं। उनकी समयप्रदीपिका ग्रन्थमें १० हजार श्लोक है जिनका अनुवाद चीनी भाषामें प्राप्य है। इन सबके बाद वैभाषिकमतके ग्रन्थकर्ता हुए कि नहीं इस विषयमें कोई चर्चा उपलब्ध नहीं है। जबकि स्वयं वसुबन्धु बादमें इस मतको छोड़ते हैं, तो अन्य लोगोंका आकर्षण कैसे हो सकता था।

(६) सौत्रान्तिक दर्शन

"अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः" के अनुसार वैभाषिकमतके समान ही सौत्रान्तिकमतके भी पदार्थ हैं। विशेषता यही है कि वैभाषिक पदार्थोंको प्रत्यक्ष मानता है। और सौत्रान्तिक अनुमेय मानता है। प्रथम सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक ये दो विभाग नहीं थे। या होनेपर भी कोई विवाद विशेषरूपसे नहीं था। बादमें साहित्यके बढ़नेपर मतभेद विशेषरूपसे होने लगा और दोनों परस्पर पृथक् हो गये। सौत्रान्तिकका कहना है कि ये वैभाषिक उत्सूत्रगामी हो गये। हम केवल सूत्रान्त अर्थात् सूत्रसिद्धान्तको मानते हैं। सूत्रका मतलब बुद्धोपदेशसंग्रहात्मक त्रिपिटकके अन्तर्गत सूत्रपिटकसे है। जिसको पालिमें सुत्तपिटक कहते हैं। उस सूत्रपिटकमें अन्तरूपसे अर्थात् सिद्धान्तरूपसे जो बताया वही सूत्रान्त है। जैसे वेदान्तशब्द है वैसे सूत्रान्तशब्द है। सूत्रान्तेन दीव्यति इस अर्थमें "तेन दीव्यति चरति" इत्यादि सूत्रसे ठक् प्रत्यय करनेपर सौत्रान्तिक शब्द होता है। जिसका अर्थ है—सूत्रपिटक सिद्धान्तसे चलनेवाले। कहा जाता हैकि इसका प्रवर्तक कुमारलात था। जो ईसापूर्व द्वितीय शतकमें रहा। कुमारलातका शिष्य श्रीलात हुआ। इसके बाद धर्मत्रात, बुद्धदेव, यशोमित्र ये तीन आचार्य सौत्रान्तिकमतके

हुए। यशोमित्रने अभिधर्म कोश (वसुबन्धु २८३-३६३ का मुख्य ग्रन्थ) की स्फुटार्था नामकी विस्तृत टीका लिखी। इससे यह निश्चित है कि वैभाषिक और सौत्रान्तिक का भेद नगण्य ही था।

कुमारलातका एक ग्रन्थ 'कल्पनामण्डितिका' है। जिसमें अधिकतर धार्मिक कथाओंका वर्णन है। उसमें उन कथादृष्टान्तोंके द्वारा सौत्रान्तिक मत समझाया गया है। अतएव इसे दार्ष्टान्तिक सम्प्रदाय भी कहते हैं। कुछ लोग दार्ष्टान्तिक सम्प्रदाय को सौत्रान्तिककी अवान्तरशाखा मानते हैं। जो भी हो कुमारलात भी सूत्रपिटकानुसारी दृष्टान्तकथाओंसे ही वस्तु समझाते रहे इसमें सन्देह नहीं है। कुमारलातके शिष्य श्रीलातने विभाषाशास्त्र नामका ग्रन्थ लिखा ऐसा बताते हैं, परन्तु कहीं भी किसी भी रूपमें वह उपलब्ध नहीं है। नामके अनुसार यह वैभाषिक मतानुसारी ग्रन्थ प्रतीत होता हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिकमें अधिक मतभेद न होनेसे यह सम्भव भी है। यद्यपि कुमारलातके शिष्य हरिवर्मानें सत्यसिद्धिशास्त्र लिखा। परन्तु उसमें सर्वास्तिवादके विपरीत सर्वधर्मशून्यताका प्रतिपादन होनेसे वह सौत्रान्तिक न होकर शून्यवाद ग्रन्थ ही हो गया। अभिधर्मकोशकी यशोमित्रकृत स्फुटार्था व्याख्यामें सौत्रान्तिक मतका कुछ विश्लेषण मिलता है।

वैभाषिक निर्वाणको असंस्कृतधर्म मानते हैं। मिन्तु सौत्रान्तिक उसे धर्म माननेको तैयार नहीं। क्योंकि वह अभावरूप है। इसी प्रकार प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्यानिरोधकी भी बात है। सौत्रान्तिक केवल वर्तमानकालको ही मानता हैं। भूत और भविष्यत् को नहीं। भूत और भविष्यत् इस समय असत् है उसको कैसे सत् मानेंगे ? यह कहें कि भूत किसी समय सत् रहा और भविष्य भी किसी समय सत् होगा अतः वर्तमानमें असत् होनेपर भी कादाचित्क सत् तो हैं ही, तो इसका जवाब यह है कि भूत जब सत् रहा तब वह वर्तमान ही था और भविष्य भी वर्तमानमें आकर सत् होगा। तब वही घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्त है कि वर्तमान ही सत् है। क्योंकि वर्तमानावस्थापन्न वर्तमान ही माना जाएगा। भूत भविष्यत् नहीं।

परमाणुसंयोगजन्य द्वयणुकादि द्रव्योंका, जिनका नैयायिक वैशेषिकोंने उपपादन किया विशेष रूपसे खण्डन सौत्रान्तिकोंकी देन है। उनका कहना है कि पदार्थ निरवयव हो तो एकदेशसंयोग माना नहीं जा सकता। कृत्स्नसंयोग माना जाय तो चारों ओरसे उसे घेर लिया ऐसा मानना पड़ेगा तब एक परमाणुमें दूसरा घुस जायेगा। ऐसे हजारों परमाणुओंके घुसनेपर भी महत्त्व नहीं आ सकता। अतः

परमाणु संयोग और उससे उत्पन्न महत् द्रव्य दोनों असिद्ध हैं। असंयुक्त परमाणु-पुञ्जमें ही घटादिबुद्धि होती है। वैशेषिक यदि यह प्रश्न करें कि परमाणु अतीन्द्रिय होनेसे तत्समुदायरूपी घटादि भी अतीन्द्रिय होंगे तो उसका उत्तर है कि आपके मतमें अतीन्द्रिय परमाणुओंसे उत्पन्न घटादि प्रत्यक्ष कैसे होने लगे ? यदि ऐसा हो तो वायु भी चाक्षुष प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? वैशेषिकोंका उत्तर है कि हम असदुत्पत्ति मानते हैं। परमाणुओंमें प्रथम असद्रूप, किन्तु परमाणुओंसे पृथक्, घट नाम का अवयवी जो उत्पन्न हुआ वह प्रत्यक्ष है। इसपर सौत्रान्तिकोंका कहना है कि असत्की उत्पत्ति हम भी तो मान सकते हैं। परमाणुओंमें पूर्व असत् प्रात्यक्षिक रूपकी ही उत्पत्ति मान लीजिये। अतिरिक्त द्रव्योत्पत्ति क्यों मानना ? क्योंकि परमाणुसंयोग अनुपपन्न है।

मुख्य विशेषता इस बातको लेकर नहीं है। यह युक्ति तो वैभाषिकादिके सहायतार्थं ही है। क्योंकि सौत्रान्तिकमतमें वस्तु प्रत्यक्ष ही नहीं है। वह अनुमेय है। यही मुख्य विशेषता भी है। सौत्रान्तिकोंका कहना है कि सभी वस्तु क्षणभंगुर हैं यह सूत्रसिद्धान्त है तो जबतक इन्द्रिमसंयोग होगा तब तक वस्तु ही नहीं रहेगी तो प्रत्यक्ष कैसे होगा ? यद्यपि चक्षु और श्रोत्रको अप्राप्यकारी माना है। दूर आकाशमें स्थित पक्षी, सूर्य आदिके साथ चक्षुका भला क्या संयोग हो ? वैसे दूरस्थ नगाड़ा आदिमें उत्पन्न शब्दका श्रोत्रसे कैसे संयोग हो ? परन्तु सौत्रान्तिकका कहना है कि अप्राप्यकारी कहना कोई समाधान नहीं है। यदि अप्राप्यकारी है तो बीचमें दिवार आदिका व्यवधान होनेपर भी पक्षी आदि क्यों नहीं दीखते ? यदि यह कहें कि व्यवधान प्रत्यक्षका प्रतिबन्धक है तो कांच आदिका व्यवधान होनेपर भी दर्शन नहीं होना चाहिये। कांच आदिसे अतिरिक्त व्यवधान प्रतिबन्धक हैं कहें तो इस आदि पदमें क्या क्या समाविष्ट है ? इसकी गिनती करनी पड़ेगी। अत्यन्त मोटा या टेढ़ा कांच हो तो उससे भी नहीं दीखता। जलका व्यवधान होने पर थोड़ी गहराई हो तो दीखता है। अधिक गहराई हो तो नहीं दीखता। और थोड़ा जल भी हो तो भी नजदीकसे दीखेगा दूरसे देखो तो नहीं दीखेगा और जल न हो तो दीखेगा। इन सबका अनुगम कर कार्यकारणभावका स्वरूप बताना अशक्य ही है। यदि यह अनुगम किया जाय कि प्रकाशावरोधक व्यवधान प्रतिबन्धक है, अन्य नहीं, तो पूछेंगे कि यह प्रकाश बीचमें कहाँसे टपक पड़ा ? फिर चक्षु तैजस होनेसे प्रकाशात्मक होनेसे प्रकाशसंयोग मानकर प्राप्यकारी क्यों न माना जाय। अतः यह सब उत्तर नहीं है। वस्तुतः क्षणिक होनेसे उसके साथ संयोग ही सम्भव नहीं है। वस्तुका प्रतिबिम्ब आँखोंमें पड़ता है तो उसके ज्ञानसे वस्तुका

केवल अनुमान होता है। यदि ऐसा है तो केवल प्रतिबिम्ब ही मान लो, वस्तुको सत् क्यों मानना ? ऐसा पूर्वपक्ष उठ सकता है। किन्तु समाधान सरल है। वह यही कि वस्तु ही न हो तो प्रतिबिम्ब किसका हो ? दर्पणादिमें मुखादि वस्तुका प्रतिबिम्ब सर्वमान्य है। अतः वस्तु तथा प्रतिबिम्ब दोनों सिद्ध हैं।

परन्तु बुद्धिमें प्रतिबिम्बका संयोग कैसे हो जब कि दोनों क्षक्षिण हैं। इसका उत्तर यह है कि पानीमें या दर्पणादिमें प्रतिबिम्बका संयोग कैसे होता है जब कि दोनों क्षणिक हैं ? वस्तुतः पानीमें ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। वहाँ संयोगको सोचने-की क्या जरूरत ? वैसे चक्षुरादिके द्वारा बुद्धिमें ही प्रतिबिम्ब पड़ जायेगा यही "बुद्धयेति सौत्रान्तिकः" का अर्थ है। तत्तदर्थप्रतिबिम्बवान विज्ञान ही तत्तद्बुद्धि है। अतः उससे मूलद्रव्यानुमान भी सुगम है।

यह प्रक्रिया वर्तमान विज्ञानसे काफी मिलती जुलती है। आधुनिक विज्ञानमें भी स्वाकाराकारित प्रकाश ही जलादिपर्यन्त आगत प्रतिबिम्ब है। वही प्रकाशात्मक आकार जलादिसे अभिहत होकर चक्षुसे संयुक्त होता है। दोनोंमें फरक इतना ही है कि प्रतिबिम्बको सौत्रान्तिक प्रकाशसे अतिरिक्त ही झटसे जलादिमें पड़नेवाला समझते हैं। वैज्ञानिक स्वगति(प्रकाशगति) से आनेवाला वस्त्वाकारित प्रकाश ही प्रतिबिम्ब मानते हैं। वैशेषिकादि चक्षु आदिको प्राप्यकारो मानते हैं। चक्षु तैजस होनेसे उसका प्रकाश सम्मुखस्थ घटादिके साथ टकराता है तो घटादिज्ञान होता है। घट तक तो उनकी प्रक्रिया जच सकती है। किन्तु सूर्य या नक्षत्रोंके साथ चक्षुप्रकाशका झटसे संयोग कैसे होगा ? इनके मतमें तो "क्रिया ततो विभागः" इत्यादि क्रमसे एक अणु पार करनेमें चार पांच क्षण लगते हैं तो सूर्यतक चक्षुप्रकाशको पहुँचते कई वर्ष लगेंगे। और मान लिया जाय कि ये क्षण अतिसूक्ष्म होनेसे इतना समय नहीं लगेगा। फिर भी आँख खोलनेके बाद सूर्यको देखनेमें पांच सात मिनिट तो लगेगा ही। फिर ऐसे भी तारे हैं जिनका प्रकाशगतिसे पृथिवीतक प्रतिबिम्बागमन में कई वर्ष लगते हैं। यदि चक्षुको वहाँ पहुँचना हो तो भी वही बात है, उतने वर्ष लगेंगे। अर्थात् उन तारोंको देखनेके लिये आँख फाड़कर वर्षोंतक खड़े रहना पड़ेगा। इससे निश्चित है कि वैशेषिकोंकी वह प्रक्रिया असंगत है। उसकी अपेक्षा सौत्रान्तिक मत ही अधिक उपादेय है। इतना ही कसर है कि इनके प्रतिबिम्बोंको यहाँतक पहुँचनेमें वर्षों लग जाते हैं यह बात उनके दिमागमें नहीं आयी। जो सैकड़ों वर्षोंसे चलकर यहाँ पहुँच चुका है उसीको हम देखते हैं। अगर सौ वर्ष पहले वे तारे नष्ट हो गये हों तो भी प्रतिबिम्ब निःसृत हो चुका है। आज भी उनका दर्शन होगा। सौत्रान्तिक मतानुसार बाह्यार्थ सत्ता होनेपर भी उनके

आकारके वारेमें विवाद है। कुछ लोग आकार वास्तविक मानते हैं। दूसरे चित्त-कल्पित मानते हैं। तीसरे उभयात्मक मानते हैं। जैसा चश्मा वैसा वस्तुका आकार दीखता है। आँख भी तो एक चश्मा ही है। फिर भी चश्मेसे आकारका अन्यथा-कार होता है। अतः उभयाकारात्मक मानना चाहिये।

सौत्रान्तिक मतके स्वतन्त्र ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं। अन्यान्य ग्रन्थोंमें जो प्रसंगवश मतभेद दिखाया है वही उनके जाननेके लिये सहारा है। परन्तु संभव है कि उस समय इस मतके अनेक ग्रन्थ प्रकाशमें आये हों। अन्यथा एक पृथक् दर्शनके रूपमें सौत्रान्तिक नामसे इसकी प्रसिद्धि कदापि न होती। वैभाषिकोंका ही एक अवान्तर भेदमात्र समझा जाता। जैसे मीमांसामें कुमारिलमत और प्रभाकर मत। अथवा जैसे नैयायिकोंमें प्राचीनोंका परमाणुवाद और दीधितिकारादिका त्रसरेणुपर्यन्तवाद। पदार्थविवेचन प्रायः वैभाषिकोंके समान ही है। फिर भी जैसे सांख्यदर्शन और योगदर्शन भिन्न हैं वैसे वैभाषिक और सौत्रान्तिक भिन्न हो गये।

पदार्थविवेचन प्रायः वैभाषिकदर्शनवर्णनसे गतार्थ होनेसे हमने उसकी पुनरा-वृत्ति करना अनुपयुक्त समझकर यहाँ छोड़ दिया। जहाँ विशेष वैमत्य उपलब्ध हुआ उसीको यहाँ उपनिबद्ध किया। स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध न होनेसे विषय अधिक न रहा और शतक रूपसे लिखनेके संकल्पके अनुसार स्वतन्त्र विवेचन करनेका अवसर प्राप्त हुआ। तब स्वतन्त्ररूपसे सौत्रान्तिक मत पोषणार्थ युक्तियोंको प्रस्तुत करनेका स्थान मिला। फलतः यह अन्योक्त अर्थोंका संग्राहत्मक न होकर कुछ स्वतन्त्र-विचारात्मक बन गया।

(७) योगाचारदर्शन

मैत्रेयनाथकृत मध्यान्तविभंगसूत्रकारिकाओंपर असंग की व्याख्या है। दोनोंपर वसुबन्धुका भाष्य है। मैत्रेयके ही अभिसमयालंकार प्रज्ञापारमितोपदेश, सूत्रा-लंकार, महायान उत्तरतंत्र और धर्माधर्मताविभंग ये अन्य चार कृतियां हैं। मैत्रेय के शिष्य असंग समुद्रगुप्तके समय काश्मीरसे अयोध्या आकर रहने लगे थे। महायान संपरिग्रह, सप्तदश भूमिशास्त्र (योगाचार भूमिशास्त्र) इनके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। संभवतः इसी योगाचार भूमि शास्त्रसे इस मतका नाम योगाचार पड़ा हो। असंगके अनुज बसुबन्धु प्रथम वैभाषिक होनेपर भी बादमें योगाचार बन गये थे। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि आदि उनके विशिष्ट ग्रन्थ हैं। बसुबन्धुके शिष्य स्थिरमतिने पूर्वोक्त कई ग्रन्थोंपर उत्तम वृत्ति लिखी। वसुबन्धुके ही शिष्य

दिङ्नाग सचमुच दिङ्नाग (दिग्गज पण्डित) थे। प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश आल-म्बनपरीक्षा आदि इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। सप्तम शतक (६३४-६५०) के धर्मकीर्ति अपने समयके धुरंधर विद्वान् थे। इनके न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु तथा सम्बन्धपरीक्षा मुद्रित हैं। अन्य भी इनके अनेक प्रौढ़ ग्रन्थ हैं। धर्मकीर्त्ति कुमारिलभट्टके मामा थे ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं। कुमारिल भट्ट छिपकर वेष बदलकर बौद्ध सिद्धान्तको सीखा यह सनातनियोंमें भी प्रसिद्ध है। किन्तु बौद्ध कहते हैं कि असलमें कुमारिल भट्ट मामाके ऊपर श्रद्धा होनेसे बौद्धमतमें दीक्षित हुए। कालान्तरमें किसी झगड़ेसे बौद्ध धर्म छोड़कर बौद्धोंके कट्टर शत्रु बने। वैसी घटना आज भी होती हैं। परन्तु शंकराचार्यके साथ भेंट किस प्रकार ? यह चिन्त्य होगा। यह कल्पना करें कि धर्मकीर्त्ति ६३५ ई० से ७३० ई० तक रहे और कुमारिल ७१५ से ८०५ ई० तक रहे जब ७८८ ई० के जन्म वाले शंकराचार्य सत्रह वर्षके हो गयें थे तो संभव है। पर धर्मकीर्त्ति इतने दीर्घजीवी थे इसमें प्रमाण ढूँढना होगा। या शंकराचार्यको सौ वर्ष पीछे ले जाना होगा।

योगाचारदर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है। परन्तु उसका प्रादुर्भाव कुछ बादमें हुआ ऐसा लगता है। इतिहासवेत्ता मैत्रेयनाथको इस दर्शनके आदि प्रवर्त्तक मानते हैं। और असंगको स्वयं मैत्रेयनाथने हीं इसका शिक्षण दिया था। असंग वसुबन्धुका ज्येष्ठ भ्राता था। वसुबन्धुका समय २८३ ईस्वीसे ३६३ ईस्वीतक बताया जाता है। तब उनका ज्येष्ठ भ्राता अति दूर तो नहीं होंगे और असंगके गुरु भी दूरस्थ नहीं ही होंगे। फलतः तृतीय शतीमें योगाचार दर्शनका प्रादु-र्भाव माना जाना चाहिए।

सत्रह प्रकारकी योग भूमियोंको इस दर्शनमें स्वीकृत किया है। योगका आचरण यहां मुख्य होनेसे इसका नाम योगाचार पड़ा। पदार्थधर्मसंग्रहसेतुकार कहते हैं—"चित्तवृत्तिनिरोधो मुक्तिरिति योगाचारः" चित्तवृत्तिनिरोध योगका लक्षण है ही। महर्षि पातञ्जलिने भी "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यही लक्षण बताया। नीलपीताद्याकार वृत्तिनिरोध यहां अभिप्रेत है। नीलपीताद्याकार चित्त वृत्तिका होना ही संसार है। और उसका निरोध मोक्ष है। परन्तु यह जीवन्मुक्ति का ही लक्षण प्रतीत होता है। विदेहमुक्तिमें तो चित्तका ही निरोध अर्थात् नाश होता है और शून्यावस्था होती है। यह समस्त बौद्धोंका सामान्यसिद्धान्त है। अत एव पदार्थधर्मसंग्रहसेतुकारका "निर्विषयां चित्संतर्ति सौत्रान्तिका मुक्तिमाहुः" यह लक्षण भी जीवन्मुक्तिका ही है। विदेहमुक्तिका नहीं। अस्तु। पूर्वोक्त चित्तवृत्ति निरोधात्मक योगरूपी मुक्तिफलकी सिद्धिके लिए साधनाचरण करनेसे भी योगा-

चार नाम पड़ गया है।

योगाचार मतमें यद्यपि ज्ञानसे अधिक वस्तुकी सत्ता नहीं है। "योगाचार-मते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः" ऐसा उनका मत वर्णन किया है। तथापि जैसे वेदान्तमें ब्रह्मविवर्त होनेपर भी नाना पदार्थविभागवर्णन किया हैं वैसे योगाचार मत में भी पदार्थविवेचन किया है। इस मत में ६असंस्कृत धर्म, ११रूप, ८चित्तभेद, ५१ चैतसिक धर्म और २८ चित्तविप्रयुक्त धर्म ऐसे सौ पदार्थ हैं।

आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध, अचल, संज्ञावेदनानिरोध और तथता ये छः असंस्कृत धर्म हैं। शून्यरूप आकाश, प्रत्येकरागद्वेषादिनिरोधरूप प्रतिसंख्यानिरोध तथा ज्ञानप्रयुक्तसर्वनिरोधरूपी अप्रतिसंख्यानिरोध ये तीन वैभाषिकसमान ही हैं। अचल सुखदुःखानुत्पत्ति को कहते हैं। उपेक्षादि के अभ्यास से सुखदुःखादि की उत्पत्ति नहीं होगी, अर्थात् उनका प्रागभाव अन्तरहित होगा वही अचल है। निरोधसमापत्ति से संज्ञा और वेदना का निरोध होगा। यह पांचवाँ है। तथता छठा है। वही परमार्थ है। अनिमित्त भूतकोटि एवं धर्मधातु आदि शब्दों से उसको कहते हैं। सचाई की परमसीमा होने से भूतकोटि एवं समस्त धर्मों का मूल होने से धर्मधातु कहलाया। इसी तथता को लेकर बुद्ध का तथागत नाम हुआ। आखिर तथता क्या है? यह अतिरहस्यपूर्ण है। त्रैकालिक शून्य ही तथता है। प्रतिसंख्यानिरोधादि त्रैकालिक नहीं है। यद्यपि अचल त्रैकालिक है तथापि सप्रतियोगिक होने से परमार्थ नहीं है। आकाश भी त्रैकालिक है। तथापि धर्मधातु नहीं है। क्षणिक बुद्धियां शून्य से उत्पन्न होकर शून्य में लीन होती हैं। वह शून्य आकाश से पृथक् है। दूसरी बात आकाश सद्रूपेण प्रतीत होता है। शून्य ऐसा नहीं है। असंग ने "न सन्नासन्न सदसत्" इत्यादिरूप से वर्णन किया है। यह इस मत में एक खास विशेषता है। एकादश रूपादि तो अन्यत्र प्रसिद्ध तत्त्वों के आवापोद्वाप से गतार्थ हैं।

योगाचार मत में अत्यन्त विलक्षण बात उनका विज्ञानवाद है। दो प्रकार का विज्ञान माना गया है। एक आलय विज्ञान है, दूसरा प्रवृत्तिविज्ञान है। 'आलीयन्ते सर्वाणि कार्याणि यत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आलयविज्ञान वह है जिसमें समस्त कार्य लीन होकर रह सकते हैं। सुषुप्तिकाल में आलयविज्ञान विस्पष्ट है। आलय विज्ञान समुद्र के समान है। दूसरा प्रवृत्तिविज्ञान है। वह समुद्र की तरंगों के समान है। नीलपीत घटपघटादिविज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान है। नानाकारयुक्त ज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान है।

प्रश्न हुआ कि आलयविज्ञान क्यों मानना। सुषुप्ति आदिमें कोई ज्ञान ही नहीं रहता यही मानना उचित है। इसपर योगाचार अनेक हेतु देते हैं। (१) सुषुप्तिमें यदि ज्ञान न हो तो सांक्लेशिक धर्माधर्मका बीजधारण कौन करेगा? उसके अभावमें सोया मनुष्य फिर उठेगा ही नहीं। (४) कालान्तरमें कर्मफल सुखदु:खादि आलयविज्ञान हो तो ही संभव हैं। क्योंकि प्रवृत्ति विज्ञानकी कालान्तर पर्यन्त धारा नही चलती। (३) यह संसार (४) स्वर्गादिप्राप्ति (५) मानवादियोनिप्राप्ति ये सभी आलयविज्ञानके बिना संभव नहीं। (६) पूर्वशरीरत्याग तथा (७) शरीरान्तरप्रतिसन्धान आलयविज्ञान ही करता है। (८) निरोधसमाधिमें प्रवृत्तिविज्ञानका सर्वथा अभाव होनेसे आलयविज्ञान मानना पड़ता है। (९) प्रत्येक प्रवृत्तिविज्ञान पृथक्-पृथक् होनेसे 'देखकर मैंने छुआ' इत्यादि ऐक्यानुसन्धान आलयविज्ञानसे होता हैं। ऐसा संक्षेपत: कहा जा सकता है कि प्रवृत्तिविज्ञान आस्तिकोंके विषयज्ञानके स्थानापन्न है। और आलयविज्ञान आत्मस्थानापन्न है। फरक यह हैं कि आस्तिक आत्माको नित्य निर्विकार मानते हैं। और योगाचार क्षणिक विज्ञानसंततिरूप मानते हैं। दूसरा अन्तर यह है कि वेदान्त मतमें आत्मा और चित्तवृत्तिरूप ज्ञान जैसे अत्यन्त पृथक् है और वैशेषिकमें आत्मा द्रव्य और उससे अत्यन्त भिन्न गुणात्मक घटादिविज्ञान हैं वैसे योगाचार मतमें भेद नहीं है। समुद्र और तरंगके समान आलयविज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान है।

योगाचार मत में वैभाषिकादि की अपेक्षा विलक्षण एक यह बात हैं कि विज्ञन से अतिरिक्त बाह्यार्थ को ये नहीं मानते। "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" ऐसी धर्मकीर्तिकी कारिका है। नीलविज्ञान हो तभी नोलस्फुरण होता है। विज्ञान नहीं तो नीलादि स्फुरित नहीं होते। अत: दोनोंका अभेद है। विज्ञानका ही आकारविशेष नीलादि है। यदि विज्ञानसे अतिरिक्त कोई नीलादि नहीं तो पूर्वोक्त पदार्थनिरूपण करनेका क्या मनलव? उत्तर है विज्ञान का ही ये सब विवर्त हैं अतः संवृतिसत्यता पूर्वोक्त पदार्थोंकी मान्य है। योगाचार इसमें स्वप्नदृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। स्वप्नमें विज्ञानसे अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। वैसे जाग्रतमें भी नहीं है। इसीपर व्यासजीका सूत्र है—"वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।" शांकर वेदान्तवाले स्वप्नवत् मानते हुए भी वैधर्म्य यह कह देते हैं कि स्वप्नमें प्रतिभासिक सत्ता है। जाग्रत्पदार्थमें व्यावहारिक सत्ता है। यह भेद योगाचार मतमें नहीं हैं। नैयायिकादि विज्ञानातिरिक्त विषय न होने पर नीलपीतादिसांकर्य दोष देते हैं। विज्ञान एक होनेसे उसके विषय नीलपीत भी एक होने लगेंगे। विज्ञानवादीका कहना है कि ज्ञान एक होनेपर भी आकार अलग-

अलग होनेसे क्यों नीलपीतसांकर्य होने लगा ? जैसे नैयायिकमतमें वृक्ष एक होनेसे वृक्षका रूप भी एक है। तब फूल लाल, पत्तियां हरी इन नीलपीतादि का सांकर्य क्यों नहीं होता ? फूल हरे, पत्तियां लाल ऐसा क्यों नहीं ?

न्यायदर्शन वालोंसे जबर्दस्त टक्कर लेनेवाले विज्ञानवादी ही हुए। हर जगह वे न्यायदर्शनकी त्रुटियां निकालते रहे। दिङ्नाग धर्मकीर्ति आदिने तो न्यायशास्त्रको जर्जरित कर डाला था। दिङ्नाग के न्यायभाष्य पर प्रहार देखकर वार्तिककार उद्योत कर को लिखना पड़ा—"कुतार्किकाज्ञानवृत्ति हेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः"। किन्तु वे समकालीन धर्मकीर्तिका खण्डन नहीं कर सके और बादवालोंने वार्तिकपर भी भारी प्रहार किया जिसको लेकर वाचस्पति मिश्रको कहना पड़ा—"इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्। उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्"। नमूनेके रूपमें—धर्मकीर्तिने कहा ये बीस-पचीस निग्रस्थान क्या गिनाते हो ? विपरीत प्रतिपादन करना या प्रतिपादन बराबर न करना ये दो ही तो निग्रहस्थान हैं। प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर आदिमें ये ही दो बाते हैं। फिर यदि संख्या ही बढ़ाना है तो बाईस-तेईसमें ही क्यों रह गये ? हेतुहानि, हेत्वन्तरं, हेतुसंन्यासः; हेतुविरोधः एसा-ऐसा कहना था। नैयायिकोंने उत्तर दिया—प्रथम बात यथार्थ है। अत एव सूत्रकारने "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानं" ये दो बताये। विस्तार तो उपलक्षणार्थ है। दृष्टान्तवैलक्षण्यादि आवश्यक हुआ तो जोड़ सकते हैं। धर्मकीर्ति कहते हैं अनैकान्तिक, असिद्ध और विरुद्ध तीन ही हेत्वाभास हैं। पक्ष में हेत्वभाव असिद्धि है तो पक्ष में साध्याभाव भी असिद्धि क्यों नहीं ? उसके लिए नया नामकरण क्यों ? सत्प्रतिपक्ष साध्याभावव्याप्यवान् पक्ष है तो हेत्वभावव्याप्यवान् पक्षको पृथक् क्यों नहीं कहा ? नैयायिकों को कहना पड़ा "स्वतन्त्रेच्छेन मुनिना पृथगुपदेशात्" आप स्वतन्त्रेच्छ मुनिपर क्या अंकुश लगायेंगे। धर्मकीर्तिका कहना है कि पाँच अवयवोंकी क्या जरूरत है ? तीन ही पर्याप्त हैं। "पर्वतो वह्निमान् धूमाद्, यो धूमवान् स वह्निमान् यथा महानसं" इतना ही पर्याप्त है। बादके दो व्यर्थ हैं। अथवा जो धूमवान् है वह वह्निमान् है; जैसे महानस है वैसे ही यह पर्वत वह्निव्याप्यधूमवान् हैं; अतः वह्निमान् हैं; ये तीन हो बोलिए। अर्थात् प्रतिज्ञा और हेतु की ही पुनरावृत्ति उपनय और निगमन है। दूसरी बात इन पाँचमें एकाध कम बोलने पर न्यूननामका निग्रहस्थान कहना अनुचित है। आगे पीछे करके बोलनेमेंभी कोई दोष नहीं है। कुछ शब्द जुड़ जाय तो कोई हानि नहीं है। इसके बादमें रामानुजमाध्वादि कई आस्तिक दर्शनवालोंने भी इसका अनुकरण किया।

धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकादि तर्कप्रधान जटिल ग्रन्थोंका सारविवेचन प्रस्तुत ग्रन्थमें किया नहीं। कारण वह सब शास्त्रार्थमात्रकी बात है। बौद्ध सिद्धान्तों की जानकारीके लिए आवश्यक विषयोंका ही यहाँ संग्रह किया गया है। अब दो निग्रहस्थान मानो या चौबीस निग्रहस्थान मानो क्या फरक पड़ता है? क्योंकि प्रमाण तो अङ्गीकृत प्रमेय तत्त्वके निर्णयार्थ हैं। वह सर्वदर्शनाभिमत होनेसे यथोचित रीति प्रमाणादि को स्वीकार करना चाहिये यह भी सर्वानुमत है।

(८) माध्यमिक दर्शन

बौद्धदर्शनों में मुख्य माध्यमिक दर्शन माना जाता है। इसमें बुद्ध का चरम सिद्धान्त वर्णित हुआ है। सर्वं क्षणिकं क्षणिकं (वैभाषिक) यह प्रथम भावना है। अतएव शाश्वत वस्तु की अपेक्षा करना मूर्खता है। बोले यदि क्षणिक है तो भी सुखरूप होने पर ग्रहण किया जाता है। लोग थोड़ी देर के सुख के लिए भी तो प्रयत्न करते हैं। तब दूसरी भावना बतायी—सर्वं दुःखं दुःखम् (सौत्रान्तिक)। तब कहा दुःखसमय में भी सहारा मिल जाय तो दुःखशान्ति होती है। इस पर तीसरी भावना कही—सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम् (योगाचार)। कोई भी वस्तु किसी पर आश्रित या किसी का आश्रय नहीं है। सभी स्वलक्षण है। स्वेनैव स्वं लक्ष्यते। अतः सहारे की भ्रान्तिमात्र है। तब अनाथ अनाधार ही भटकें? लक्ष्यहीन बनें? नहीं—सर्वं शून्यं शून्यम् (माध्यमिक)। यही परम लक्ष्य है। जहाँ सर्वदुःखशमन है, सर्वविकल्पप्रशमन है, वही परमार्थ है। यह शून्यवाद ही माध्यमिक सिद्धान्त है। शाश्वतवाद भी नहीं, उच्छेदवाद भी नहीं। किन्तु मध्यममार्ग होने से यह शून्यवाद (माध्यमिक) कहलाता है। शून्यवाद का प्रतिपादक मुख्य ग्रन्थ आचार्य नागार्जुन की माध्यमिक कारिका है। जिस पर चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा नाम की यथा नाम तथा गुण भव्य टीका है। वहाँ शून्य का स्वरूप यही बताया है—"न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः"। सत् कहने पर शाश्वतवाद होगा। असत् कहते पर उच्छेदवाद होगा। क्योंकि सत्प्रतियोगिक अभाव ही असत् है। सत का अभाव उच्छेद से होता है। सत्-असत् उभयात्मक या उभयभिन्न दोनों विप्रतिषिद्ध हैं। अतः उसका विचार ही नहीं हो सकता। इस सत और असत का मध्यम शून्य है, उससे जो चलनेवाले हैं वे माध्यमिक हैं। कुछ लोग ऐसी भी व्याख्या करते हैं कि बुद्ध सर्वथा न जनसमूह में रहते थे और न सर्वथा एकान्त जङ्गल में ही रहते थे। किन्तु जनोपदेश करते हुए साधनपथ में रहते थे। अतः माध्यमिक थे। परन्तु यह एक कल्पनामात्र प्रतीत

होता है। क्योंकि माध्यमिकसिद्धान्त का पर्यायवाची के रूप में शून्यवाद शब्द का प्रयोग होता है। अन्यथा कोई यह भी अर्थ करेगा कि न वे भिक्षार्थ घर के अन्दर जाते थे और न बाहर ही खडे रह जाते थे। मध्य अर्थात् उमरे तक जाते थे अतः माध्यमिक थे इत्यादि। और जङ्गल में रहने वाले भी शून्यवादी माध्यमिक ही कहलाते हैं तथा घर में रहने वाले शून्यवादी भी माध्यमिक ही होते हैं। साथ ही अत्यन्त जनसमूह और अत्यन्त एकान्त से पृथक् रहने वाले अन्य उपदेष्टा भी सिद्धान्तानुसार वैभाषिकादि होते हैं।

माध्यमिक मत में दो सत्ताओं का आश्रयण किया है। एक परमार्थ सत्य और दूसरा संवृति सत्य। "द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना" परमार्थ सत्य तो शून्य ही है। यह जगत् संवृतिसत्य है। वेदान्तियों के समान प्रातिभासिक व्यवहारिक ऐसा भेद नहीं है। दोनों के स्थानापन्न संवृतिसत्य है। नागार्जुन का स्पष्ट कहना है कि "व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते। परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते"। परन्तु व्यवहारकाल में भी वास्तविकता शून्य ही है। क्योंकि कोई भी वस्तु सत् या असत् सिद्ध नहीं होती। बल्कि माध्यमिक शास्त्र में बौद्धस्वीकृत समस्त प्रक्रियाओं का भी समानरूप से खण्डन किया है। यहाँ तक कि बुद्ध तथा मोक्ष को भी शून्य ही माना है। फिर भी व्यवहारार्थ साधना, समाधि आदि को स्वीकारा है। "सत्या चेत् संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कुतः" इत्यादि रीति कुमारिलभट्टादि ने इसका काफी उपहास किया है। संवृतिसत्य ही असंगत चिन्तन है तो तदनुसारी साधना एवं समाधि आदि की आवश्यकता का उपपादन कैसे हो? वेदान्त में इनका उपपादन अनिर्वचनीयतावाद से किया है। उसके रहस्य का स्पष्टीकरण हम यथास्थान करेंगे। जैसा भी हो शून्यवादियों ने शून्य कह कर किसी को जर्जरित नहीं किया। उन्होंने साधनों पर जोर दिया। शून्य ही शून्य है तो साधना क्यों करना, वह भी तो शून्य है, इत्यादि कह कर लोग पथभ्रष्ट हो जाते। पर उसके लिए संवृतिसत्य को स्वीकार कर लोगों को पथ-भ्रंश से रोका। माध्यमिक शास्त्र में भी स्थान-स्थान पर इस पर पतनाशङ्का का निराकरण किया है।

कुछ समालोचक नागार्जुन के शून्यवाद में और शङ्कर के अद्वैतवाद में (केवल) शब्दमात्र का भेद कहते हैं। केवल समालोचक ही नहीं वैष्णववेदान्त वाले भी शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध तक कह बैठे हैं। परन्तु ये तब उनकी अल्पविचार के परिणामस्वरूप उत्पन्न भयंकर भ्रान्तिमात्र है। द्वैतवादियों की तो केवल अहिष्णुता से उत्पन्न विचारभ्रंश का परिणाम है। शङ्करमत में ब्रह्म सत् है, सत्भिन्न नहीं है।

'नासन्न सत्' ऐसा सन्निषेध नागार्जुन ने किया है। सत्त्वरूपी धर्म न होने से सत् किस प्रकार ? गोत्वधर्म न हो तो गौ किस रीति ? यह तार्किकों का एक कुतर्कमात्र है। हम कहेंगे जिस सत्त्व धर्म को आप कहते हैं उस सत्त्व पर दूसरा सत्त्व बैठा है? या स्वयं बैठा है ? या कोई सत्त्व नहीं बैठा ? प्रथम दो पक्षों में अनवस्था, आत्माश्रय, आदि होगा। तृतीय पक्षमें आपकी परिभाषाके अनुसार सत्त्वधर्म उसपर न होनेसे वह असत् होगा। तब असत् सत्त्वसे घटादि कैसे सत् होंगे ? अतः स्वरूपतः सत् होना ही सद्रूपताके लिए पर्याप्त है। उस पर किसी (सत्त्व) धर्मको रखने की कोई जरूरत नहीं, जैसे सत्त्वधर्म। शङ्करमत में ब्रह्म सत् है और चित् भी है। ज्ञानप्रकाशरूप है। नागार्जुन मत में शून्य कोई स्वयंप्रकाश चिद्रूप माना नहीं गया है। तथा शङ्करमत में आनन्दरूप है परमपुरुषार्थरूप है। नागार्जुनमत में वह आनन्दरूप भी नहीं है। वह शून्य ही है। शङ्करमत में ब्रह्म पूर्ण है। क्या पूर्ण और शून्य पर्याय-वाची हैं ? कहाँ आसमान और कहाँ पाताल ? कहाँ राजा भोज और कहाँ गांगी तेली ? लोगों को भ्रान्ति इसलिए हुई कि नागार्जुनने असत् का भी निषेध किया है—नासन्न सत्। परन्तु वह सत्प्रतियोगिक अभाव का ही निषेध है। न कि शून्यात्मक असत् का। ऐसा असत् अनिर्देश्य है। क्योंकि नैयायिकों ने शशशृङ्गादि को अनिर्देश्य ही माना है। 'शशशृङ्गं नास्तीति तु शशे शृङ्गं नास्तीत्यर्थः' ऐसा चिन्तामणिकारका कहना है। वेदान्तमें "यतो वाचो निवर्तन्ते" यह कथन, शब्द व्यवहार षष्ठी-जाति-गुण-क्रिया-सम्बन्ध-सव्यपेक्ष-होनेके कारण उन सबका ब्रह्ममें अभाव होनेसे बताया। इस बातका विशेष विवेचन हम शांङ्करवेदान्तको भूमिकामें ही करेंगे। यहाँ यह अप्रासंगिक है। फिर भी समालोचकोंके लिए यहींपर कुछ बताना उचित होनेसे थोड़ासा लिख दिया।

शून्यवादके बारेमें भ्रम उत्पन्न करनेवाला यह एक वाक्य भी है—"यः प्रतीत्य समुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे" घटादि प्रतीत्यसमुत्पाद है अतः शून्य है। किन्तु इसका स्पष्टीकरण—"प्रतिगत्य समुत्पादः स्कन्धानां यः परस्परं भवति। नासन्न सन्न सदसन्नानुभयः शून्यमेवातः" इस श्लोकके द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थमें ही किया है। प्रतीत्यसमुत्पाद सत् असत् आदि न होनेसे शून्य है यही उसका अर्थ है। यदि प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यताका लक्षण हो तो आकाश प्रतीत्यसमुत्पाद न होनेसे शून्य नहीं होगा। इसी प्रकार प्रतिसंख्यानिरोधादि भी शून्य नहीं होगा। सकल बौद्ध संप्रदायोंमें सर्वतन्त्रसिद्धान्तरूपसे निर्वाणको शून्य माना है। परन्तु वह प्रतीत्यसमुत्पाद न होनेसे शून्य नहीं होगा। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यताका लक्षण कथमपि नहीं हो सकता। प्रतीत्यसमुत्पादका अर्थ है स्कन्ध या परमाणु परस्पर

प्रतीत्य-प्रति + इत्य = प्रति गत्वा परस्परके प्रति गमनकर प्रतीत्य = प्रत्ययात्मक उत्पाद होना। प्रतीत्यमें दो प्रतीत्य का तन्त्रनिर्देश है। एक तो प्रतिगमन है दूसरा प्रतीतिरूप ज्ञान है। अणु परस्पर एक दूसरे के पास जाते हैं। तब उनमें प्रतीतिरूप घट भासने लगता है। प्रतिगमन के लिए भी प्रतीत्यशब्दका प्रयोग इसलिए किया कि क्षणिक होनेसे प्रतिगमन ही संभव नहीं है। गमन भी प्रत्ययात्मक है। धारारूप से गमनवत् नजदीक दो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं तब उसमें घटादि प्रत्यय होता है। जैसे दो दीप ज्वालाएँ मिलती है तो गमन सा लगता है। और मिलकर भारी उत्पन्न सी लगती है। बौद्धमतमें अणुद्वय संयोग होता नहीं अतः घटादिका प्रत्ययमात्र है। जैसे बादलोंमें रथ कुञ्जरादि का। जो भी हो प्रतीत्यसमुत्पाद तो शून्यका लक्षण नहीं ही।

शून्यवाद बुद्धसंमत है। आत्माके बारेमें पूछनेपर बुद्ध जो मौन होते थे उसका यही अर्थ विद्वान् लोग लगाते हैं कि शून्य होनेसे मौन रहते थे। परि-भाषिक शून्यशब्दका प्रयोग हम भले कर लें, किन्तु वह किसी शब्दका वाच्य नहीं है। वाच्यतारूपी धर्म उसमें सत् हो तो वह शून्य कैसे हो? अतः मौन व्याख्या ही शून्यकी यथार्थ व्याख्या है। शून्यताका स्पष्ट वर्णन सर्वप्रथम नागार्जुनके माध्यमिकशास्त्रमें मिलता है। नागार्जुनको कुछ लोग ईस्वीपूर्व डेढ शताब्दी कहते हैं और कुछ लोग डेढ शताब्दी बाद। माध्यमिक कारिका, युक्तिषष्टिका, शून्यता-सप्तति, विग्रहव्यावर्तनी, प्रज्ञापारमिता आदि नागार्जुनके ग्रन्थ हैं। शान्तिदेव (७वीं शताब्दी) ने शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चयादि ग्रन्थ लिखे। अष्टम सदीके शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह तथा माध्यमिकालंकारकारिका आदि लिखे।

इस ग्रन्थमें शून्यवादी ग्रन्थोंसे यथायोग्य स्वल्प संग्रह किया गया है। नाना ग्रन्थोंसे अधिक शास्त्रार्थसंग्रह करनेका गुंजाईश न होनेसे सिद्धान्तमात्रका यहाँपर प्रायः प्रतिपादन है।

शून्यवाद होनेपर भी सर्वं क्षणिकं क्षणिकं इत्यादि चार नारे यहाँपर भी हैं। क्योंकि संवृतिसत्वरूपी पदार्थ क्षणिक हैं। भले ही वह क्षणिकता भी केवल संवृतिसत्य क्यों न हो। और क्षणिक दुःख भी संवृतिसत्यात्मक है। चार आर्य सत्य सर्वबौद्धाङ्गीकृत होनेसे संवृतिसत्यात्मक दुःख भी अङ्गीकार्य है। क्षणिक होनेसे ही सभी स्वलक्षण हैं। इतर लक्षण इतरपर नहीं रह सकता। और परमार्थदृष्टिसे सभी शून्य है ही। इन चार नारोंमें सर्वं क्षणिकं यह वैभाषिकों का मुख्य नारा है। सर्वं दुःखं यह सौत्रान्तिकोंका मुख्यवाक्य है। सर्वं स्वलक्षणं यह योगाचारोंका मुख्यवाक्य है क्योंकि वस्तु ज्ञानाकार होनेसे स्वयं ही स्व का

लक्षण या ज्ञापक है। सर्वं शून्यं यह माध्यमिकोंका मुख्यवाक्य है। क्योंकि व्यवहारकालमें भी परमार्थतः जगत् शून्य ही है।

सर्वमतेन चरमलक्ष्य या निर्वाण शून्यरूप ही है। यद्यपि हीनयानी और महा-योनियोंके मुक्तिस्वरूपमें काफी अन्तर वर्णित हुआ है। परन्तु वह भेद जीवन्मुक्तिका ही है। जीवन्मुक्ति शव्दका प्रयोग न होनेसे लोगोंको केवल परस्पर भेदका भ्रममात्र हुआ। विदेह मुक्तिरूप परमनिर्वाण सर्वमतेन शून्य ही है। फिर भी सभी मतवाले व्यवहारकालमें अच्छे साधक थे। इसमें प्रमाण वर्तमानमें उपलभ्यमान बौद्ध गुफा आदि हैं। औरंगावादमें अजंता-इलोरा आदि स्थानोंमें बौद्ध गुफायें देखनेमें आती हैं, जहाँ बौद्ध साधक साधना किया करते थे। बम्बईमें भी कनेरी गुफा प्रसिद्ध है जहाँ प्रवेश स्थानमें ही विशाल बुद्धमूर्ति है। इससे लगता है कि यहाँतक भी बौद्धोंका पूरा वर्चस्व था। किन्तु इलोराके विशाल शिवमन्दिरसे यह भी प्रतीत होता है कि हिन्दुओंने मुकाबला भी अच्छा किया था। एलिफेंटाकी त्रिमूर्त्तिमन्दिरसे भी यही प्रतीत होता है। बौद्धपतनमें हेतु मुख्यतया हिन्दुओंका जागरण ही है जिसमें आद्य शङ्कराचार्यका बुद्धिपूर्वक प्रयत्न पूर्णतया कामयाब हुआ।

(९) वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शनके प्रवर्तक महर्षि कणाद थे। आस्तिक दर्शनोंमें यह प्रथम दर्शन है। यह हम अपनी विवेचनात्मक दृष्टिसे कह रहे हैं। कालदृष्टिसे इससे पूर्व भी आस्तिक दर्शनोंमें कोई प्रादुर्भुत हुआ हो सकता है। यह संभावना कापिल सांख्यको लेकर है। क्योंकि कपिलाचार्य अतिप्राचीन हैं इसमें संदेह नहीं है। परन्तु कपिल निर्मित ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। जो सांख्यसूत्र आज उपलब्ध है वह मूल कपिल का ही है इस विषयमें आज विवाद है। वैशेषिक सूत्रोंमें तथा कपिल सूत्रोंमें बौद्धमतका प्रत्यक्षतः खण्डन नहीं मिलता जैसे अन्य दर्शनों में मिलता है। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्यके प्रकटार्थ विवरणमें रावण भाष्य की चर्चा है, जिसका उद्धरण रत्नप्रभाकारने भी दिया है। (ब्र. २. २. ११)। जहां तक संभावना है यह लङ्कापति रावण ही होना चाहिए। क्योंकि रामायणके द्वारा रावणके बदनाम होनेके बाद किसी मातापिताने अपने लाडले बेटेका नाम रावण रखा हो ऐसी संभावना अतिक्षीण है। दूसरी बात दो द्वयणुक मिलकर चतुरणुक होता है यह बात आधुनिक किसी भी वैशेषिक ग्रन्थमें नहीं मिलती।

प्रकटार्थकारका कहना है कि यह अतिप्राचीन रावण भाष्यके अनुसार शंकराचार्यने लिखा है। यदि इस भाष्यका कर्ता लङ्केश्वर रावण ही है तो निश्चित ही कणाद सूत्र अत्यधिक प्राचीन हैं। पुराणानुसार त्रेतायुगसे भी पूर्वका है। "वैशेषिककटन्दीपण्डितो जगद्विजयमानः पर्यटामि" इस प्रकार अनर्घराघव नाटकमें मुरारिमिश्र रावणके मुखसे कहलवाते हैं यह भी उक्त बातका पोषक है। सुनते हैं कि इन सूत्रोंपर महर्षि भारद्वाजने भी एक वृत्ति लिखी थी जो आज उपलब्ध नहीं है। यह यथार्थ है तो भरद्वाज भी त्रेतायुगके प्रसिद्ध हैं।

महर्षि कणादके विषयमें सुना जाता है कि खेत कटनेपर वहां जो कण बिखरे रहते थे उनको चुगकर वे देह निर्वाह करते थे। इसलिए उनका कणाद, कणभक्ष आदि नाम पड़ा। तत्कालीन राजा यह सुनकर स्वयं उनकी सेवामें उपस्थित हुए और बोले आप जो भी सेवा फरमावें हम करनेके लिए तैयार हैं। महर्षिने कहा मेरी इस समाधिमें विघ्न न डालो, यही एक बड़ी सेवा होगी। राजाको अपना सा मुँह लेकर वापिस जाना पड़ा। एक सूक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है—"काणादं पाणिनीसं च सर्वशास्त्रमुखं स्मृतम्"। भाषा ज्ञानके लिए पाणिनीय व्याकरण प्रथम आवश्यक होनेसे वह मुख है ही। किन्तु सभी शास्त्रकार कणादोक्त द्रव्यगुणादि पदार्थोंके आधारपर ही अपने मन्तव्य पदार्थोंका न्यूनाधिक भावसे निरूपण करते हैं। द्रव्यसे गुण भिन्न है, अभिन्न है या भिन्नाभिन्न हैं इत्यादि विचार इस नींवके बादमें ही होता है। शब्द द्रव्य है या गुण है इत्यादि विषय भी ऐसा ही है। एवं सामान्यादि मानना है या नहीं इत्यादि भी। अतः काणादशास्त्र भी विचारकोंके लिए आधारस्तम्भ होनेसे सर्वशास्त्रमुख है। अतएव लघुकौमुदीके साथ तर्कसंग्रह भी आज बालकोंको पढ़ाया जाता है।

विशेष नामके पदार्थका आविष्कार इस शास्त्रने किया। अतः इसका नाम वैशेषिक पड़ा। दो घट परस्पर भिन्न क्यों है? दोनोंका कारण मृत्तिका पृथक्-पृथक् है। मृत्तिकाओंमें परस्पर भेद क्यों है? इसलिए कि उसके अवयव भिन्न हैं। इस प्रकार त्र्यणुक द्व्यणुक और परमाणुमें पहुँचनेके बाद परमाणु क्यों परस्पर भिन्न हैं इसका उत्तर तदवयवभेद कहा नहीं जाता। क्योंकि परमाणु निरवयव हैं। अतः विशेष नामका पदार्थ ही परमाणुद्वयभेदक है ऐसा वैशेषिकोंका कहना है। विशेषद्वय परस्पर भिन्न कैसे? यह प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह भेदक भिन्नत्वेन ही सिद्ध होता है। अन्यथा उसके भेदक कुछ और कहेंगे तो उसके भेदक कौन ऐसी अनवस्था होगी। अतः अन्तिम भेदक विशेष पदार्थ सिद्ध होता है। इसी बात के आविष्करणसे यह वैशेषिकशास्त्र कहलाया।

वैशेषिक सूत्रोंके आधारपर प्रशस्तपादने एक सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ लिखा। प्रथम मङ्गलाचरणगत "पदार्थधर्मसंग्रहः करिष्यते महोदयः" इस शब्दसे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थका नाम पदार्थधर्मसंग्रह है। इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बहुतसे लोग मानते हैं। किन्तु प्रामाणिक आचार्य इसे वैशेषिक सूत्रका भाष्य ही मानते हैं। यद्यपि संपूर्ण सूत्रोंपर आनुपूर्वी भाष्य नहीं है। तथापि सूत्रोंका स्थान-स्थानमें निर्देशकर लिखा है अतः भाष्य माननेमें कोई विशेष आपत्ति नहीं मानना चाहिए। वैसे तो पाणिनीय समस्त सूत्रोंपर महाभाष्य नहीं हैं तो भी वह भाष्य कहलाया। अजाभक्षित न्यायको लेकर पंडित उपपत्ति करनेकी कोशिश मात्र करते हैं।

प्रशस्तपादभाष्यपर नवमीं शती या उससे पूर्वके व्योमशिवाचार्यने एक सुन्दर व्याख्या लिखी है। उससे कितने पूर्व प्रशस्तपादभाष्यका निर्माण हुआ यह कहना कठिन है। क्योंकि इसमें भी बौद्धादि मतका निराकरण नहीं है। फिर भी जिन ग्रन्थोंमें इसका उद्धरण है तदनुसार विद्वान् लोग द्वितीय शताब्दीसे उत्तर ले जाना नहीं चाहते। व्योमशिवाचार्यके बाद उदयनाचार्यने प्रशस्तपाद भाष्यपर अत्यन्त प्रौढ़ एक व्याख्या दसवीं शताब्दीमें लिखी। जिसपर वर्ध-मानोपाध्यायकी प्रकाश नामकी टीका, उस टीकापर रघुनाथशिरोमणिकी दीधिति और दीधितिपर मथुरानाथतर्कवागीशका दीधितिरहस्य सुप्रसिद्ध है। मथुरानाथने प्रकाशपर भी स्वतन्त्र व्याख्या लिखी जिसका प्रकाशरहस्य नाम है। उदयनाचार्यके प्रायः समकालीन श्रीधराचार्यने प्रशस्तपाद भाष्यपर न्यायकन्दली नामकी टीका लिखी। जिसपर जैन पण्डित राजशेखरसूरिने पञ्जिका नामकी एक विशिष्ट टीका लिखी।

बारहवीं शती में वल्लभाचार्य नाम के एक महान् विद्वान् (पुष्टिमार्गीय वल्ल-भाचार्य से भिन्न) ने न्यायलीलावती नाम का वैशेषिक पदार्थावलम्बी एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा जिस पर अनेक प्रौढ व्याख्यायें भी हुईं। पन्द्रहवीं शती के मैथिल पण्डित शंकरमिश्र ने वैशेषिक सूत्रों पर उपस्कार नाम की एक व्याख्या लिखी जो सूत्रार्थ समझने के लिए परम उपयोगी है।

वैशेषिक दर्शन पर लिखे न्यायकन्दली और न्याय लीलावती के नाम में न्याय शब्द कैसे आया यह एक विचारणीय विषय है। लगता है कि न्यायवैशेषिक शास्त्रों के एकीकरण की प्रक्रिया यहीं से प्रारम्भ हुई हों जो बाद में जाकर स्पष्टतया एकीकृत हुए। तेरहवीं शती के काश्मिरीय केशवमिश्र, सोलहवीं शती के अन्नंभट्ट और उसी समय के विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने एकीकृत न्यायवैशेषिक

पर ही ग्रन्थ लिखे जो आजकल अध्ययनाध्यापन में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। केशव की तर्क भाषा पर प्रौढ व्याख्यायें उपलब्ध नहीं हैं। विश्वनाथ के भाषापरिच्छेद और उसकी स्वकृत व्याख्या मुक्तावली पर दिनकर रामरुद्र की प्रौढतर व्याख्या हुई। प्रभा एवं मञ्जूषा भी प्रौढ़ हैं। अन्नंभट्ट के तर्कसंग्रह पर और स्वकृत दीपिका टीका पर बहुत सारी टीकायें हुई हैं। मूल पर न्यायबोधिनी और पदकृत्यादि अति उत्तम व्याख्या है। और दीपिका पर नीलकन्ठी व्याख्या और उस पर भास्करोदय व्याख्या सुप्रसिद्ध हैं। रामरुद्र नृसिंहादि ने इस पर भी टीकायें लिखी हैं।

वैशेषिक मत में सात पदार्थ हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। यद्यपि सूत्रकार ने प्रथम षट् पदार्थों का ही नामोद्देश किया है। फिर भी अभावबोधक सूत्रों के होने से अभाव भी सूत्रसम्मत है। प्रशस्तपादभाष्यमें षट्पदार्थ का ही विवेचन किया है। फिरभी अभावपदार्थ अविरुद्ध है।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य वैशेषिकसम्मत हैं। रूप, रस, गन्धादि चौबीस गुणों को स्वीकार किया है। उत्क्षेपणादि पाँच कर्म बताए हैं। सत्तारूपी पर जाति, घटत्वादि अपर जाति तथा बीच के पृथिवीत्व द्रव्यत्वादि परापर जाति ऐसे तीन प्रकार की जाति मानी है। विशेष पूर्वोक्त है। गुण, गुणी आदि का परस्पर सम्बन्ध समवाय माना है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव ऐसे अभाव के चार भेद मान्य हैं। यही वैशेषिक पदार्थों का संक्षिप्त विवरण है।

यद्यपि सूत्र में द्रव्यगणना में आत्मा को बताया है किन्तु उससे आत्मा परमात्मा दोनों ग्राह्य हैं या केवल जीवात्मा यह एक विवादास्पद विषय है। बहुत से विद्वानों की मान्यता यह है कि यदि कणाद ईश्वर को मानते तो इतने महत्वपूर्ण तत्त्व के बारे में वे क्यों मौन रहते ? अतः लगता है कि वे अनीश्वरवादी थे. परन्तु यह बात सही प्रतीत नहीं होती। क्योंकि प्रशस्तपाद भाष्य में ईश्वर का सम्यक् वर्णन है। सृष्टि एवं संहार में महेश्वरेच्छा को ही वहाँ कारण बताया। अन्तिम मङ्गलाचरण में वे स्पष्ट कहते हैं—"योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम्। चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः"। योगाचारविभूति से या अन्य स्तुतिपाठादि से महेश्वरतोषण हुआ इस विकल्प की स्थिति में दृढ़ता के साथ 'योगाचारविभूत्या' यह कथन काल्पनिक महेश्वरतोषण का निश्चित व्यावर्तक है। भाष्यकार ने यह बात किसी सुदृढ़ प्रमाण के आधार पर ही लिखी होगी। बल्कि इस श्लोक के आधार पर और बीच-बीच में भाष्य में आये महेश्वर शब्दके आधार

पर विद्वान् लोग महर्षि कणाद को माहेश्वर संप्रदायानुगत या महेश्वरोपासक मानते हैं। ज्ञानेच्छाकृत्यधिकरणत्वरूपी लक्षण जीवात्मा परमात्मा दोनों में समान होने से पृथक् विवेचन नहीं हुआ। गुणपरिगणना में सत्रह गुणों को कण्ठतः पढ़कर शेष सात गुणों को चकार से ही संगृहीत किया। अनुक्त होने मात्र से ज्ञानेच्छादि शेष गुण कणाद को अमान्य थे ऐसा किसी ने भी नहीं माना। उपासना निरूपक ग्रन्थ न होने से विशेषरूपेण ईश्वरनिरूपण नहीं किया होगा। "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम्" इस सूत्र की ही व्याख्या "योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम्। चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं" यह प्रशस्तपादीय श्लोक है। अर्थात् धर्मविशेष योगाचार विभूति है। योग एवं आचार रूपी विभूति से। "अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनं" इस याज्ञवल्क्यवचन से योग धर्म है। तथा याग होमादि आचार हैं। इस विभूति-भस्म से महेश्वर प्रसन्न होने पर द्रव्यादि साधर्म्यवैधर्म्य ज्ञान हुआ तो वैशेषिक शास्त्र की रचना कणाद ने की। आचार से अभ्युदय सिद्धि और योग से निःश्रेयस सिद्धि होती है। उभय से ज्ञान होगा। हमें ऐसा लगता है कि त्रेतायुगीन या उससे पूर्वकालिक कणादसूत्रों में "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" इन दो सूत्रों के बाद योग एवं आचाररूपी धर्म का कथन कणाद ने किया होगा जो बाद में ग्रन्थान्तररूपेण प्रस्तुत किया होगा। किन्तु बाद में नष्ट हुआ होगा। उसी व्याख्यात धर्म को लेकर 'धर्मविशेषप्रसूतात्" इत्यादि सूत्र प्रवृत्त हुआ होगा। रावण ने उसी धर्मविशेष से शिवजी को प्रसन्न किया होगा। अन्यथा "धर्मं व्याख्यातुकामस्य द्रव्यादीनां निरूपणम् (षट्पदार्थोपवर्णनम्)। सागरं गन्तुकामस्य हिमवद्रोहणं यथा (हिमवद्गमनोपमं) इस परोक्त उपहासवचन की सार्थकता की संभावना होगी। यद्यपि इस आक्षेप का समाधान हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथम किया है। तथापि जो हमने अभी रास्ता दिखाया वह भी एक संभावनीय तथ्य है। हाँ, अभी तक किसी ने ऐसी संभावना व्यक्त नहीं की हैं। फिर भी जिस योगाचार विभूति से कणाद ने महेश्वरतोषण किया उसका अल्पमात्रा में भी वर्णन उपलब्ध न होने से ऐसी संभावना के लिए स्थान है ही।

(१०) न्यायदर्शन

वादी और प्रतिवादीका जहां विवाद चलता है वहाँ न्याय दिलानेवाला शास्त्र न्यायशास्त्र है। ऐसा अर्थ न्यायशास्त्र शब्दसे प्रतीत होता है। कई वकीलोंने मुझे कहा कि हमें गौतमका न्यायशास्त्र पढ़नेको इच्छा है, जिससे यह मालूम

हो सके कि प्राचीन समयमें किस प्रकार न्याय दिया जाता था। हमने मन-मनमें सोचा कि "साध्याभाववदवृत्तित्वं व्याप्तिः" "वह्न्यभाववति ह्रदादाववृत्तित्वं धूमस्येति वह्निव्याप्तिर्धूमस्य" इसको लेकर ही जहाँ दो चार ग्रन्थ लिखे गये और ऐसे ही अन्यान्य ग्रन्थ भी हैं, वहाँ प्राचीन समयकी न्यायपद्धतिको खोजना चट्टानों को पीसकर पानी निकालनेके बराबर होगा। और प्रगट रूपसे कहा कि अध्यात्मविषयोंमें वादविवाद किस तरीकेसे करना, उसमें गलत तरीका कौन सा ? निर्णय कैसे देना ? इत्यादिपर न्यायशास्त्रने विचार किया है। यह कोर्ट कचेरियोंमें किसी अंशमें कदाचित् उपयोगी हो जाय तो काकतालीयन्यायमात्र होगा। वकीलने कहा—नव्यन्यायमें कुछ नवीन विचार भी तो होगा। हमने कहा—वास्तविकता यह है कि प्राचीनन्यायमें कुछ विचार तो मिल भी सकता है। नव्यन्यायमें विशेषरूपेण प्रमाणोंपर विचार किया है। सो भी लक्षणोंपर ही गहरा विचार है। अस्तु।

पहले समयमें ऐसा रहा होगा कि ज़ोर-जोरसे जैसे-तैसे बोलकर वादीका मुख बन्द किया जाता था। साधारण जनताको हेत्वाभासोंसे ही वशमें कर लेते थे। उसे रोककर उचित मार्गसे विचार करनेके लिए न्यायशास्त्रका उद्गम हुआ। साथ ही इस पद्धतिके उपकार्य प्रमाण कितने और कैसे यह भी विचार इसमें हुआ और उन प्रमाणोंके अध्यात्मशास्त्रीय प्रमेय कितने एवं किंस्वरूप हैं यह भी बताया। "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः" ऐसा वात्स्यायन भाष्यमें बताया है। अर्थपरीक्षणसे सभी शास्त्रकार अपने अपने वर्णित अर्थका परीक्षण करे यह आशय विवक्षित है। हेतुविद्या, वादविद्या, तर्कविद्या, एवं प्रमाणशास्त्र आदि अन्य भी अन्वर्थक नाम इस शास्त्रके हैं। इसे "प्रदीपः सर्वविद्यानां" के अनुसार समस्त विद्याओंका मार्गदर्शक प्रदीप बताया। यद्यपि प्रमेय सबका अपना अपना अलग है। यहाँ निरूपित प्रमेय सर्वग्राह्य नहीं है। तथापि इतर अंश सर्वविद्यासाधारण हैं। स्वयं प्रमेयका वर्णनपद्धतिमात्र नहीं बताया अपितु वर्णन ही कर लिया, अतः यह परांगमात्र न होकर स्वतन्त्र शास्त्र भी हुआ।

इस शास्त्रके रचयिताका नाम गौतम बताया जाता है। परन्तु गौतम नामके बीसों व्यक्ति हुए। उनमें कौन गौतम न्यायशास्त्र रचयिता हुए इसका निर्णय कष्टसाध्य है। न्यायशास्त्रके भक्त अहल्यापति गौतमको न्यायशास्त्ररचयिता मानते हैं। उपनिषदोंमें कई गौतम आये हैं। नचिकेताने अपने पिताको गौतम कहा है "गौतमो माभिमृत्यो"। गौतम बुद्ध भी गौतम है। धर्मशास्त्रकार भी गौतम हुए। इनमें औपनिषद गौतमकी कोई संभावना नहीं है। अहल्यापति तो

त्रेतायुगमें हुए। उतने प्राचीन ये नहीं हैं। वस्तुतः इनका नाम अक्षपाद गौतम है। "अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्" इत्यादि सूत्रोंमें बौद्धवाद निराकरण देखनेमें आता है। अतः ये गौतम बुद्धके अनन्तरभावी कोई ऋषि हैं। अतएव ईसापूर्व पाँचवीं छठी शतीके आसपासके प्रतीत होते हैं। इनका एक ही ग्रन्थ न्यायसूत्र प्राप्त होता है। बौद्धोंके शून्यवाद एवं नैरात्म्यवादसे दिग्भ्रमित लोगोंको आस्तिकवादमें लानेका इसका मुख्य लक्ष्य था।

परन्तु इतनेसे बौद्ध न भागे और न मौन ही हुए। बड़े बड़े बौद्ध पण्डितोंने सूत्रोंका खण्डन किया। बल्कि 'तुम्हारी लाठी तुम्हारे ही सिरपर' इस न्यायसे न्यायशास्त्रकी पद्धतिको ही लेकर कुछ विशेषताओंको साथमें जोड़कर न्यायशास्त्रका खण्डन किया, जिसके उद्धारके लिए महर्षि वात्स्यायनने न्यायसूत्रोंपर भाष्य लिखा। वात्स्यायन ईस्वीपूर्वमें ही हुए ऐसा विद्वानोंका मत है। वात्स्यायनका एक ग्रन्थ कामसूत्र भी मिलता है। कुछ लोग कौटिल्यको भी वात्स्यायनसे अभिन्न मानते हैं। कौटिल्य या चाणक्य नन्दवंशको समाप्तकर गुप्तवंशको स्थापित करनेवाले हैं। अतः विक्रम से पूर्वके हैं।

वात्स्यायन भाष्यमें बौद्धकृत आक्षेपका परिहार, स्वमतका प्रतिपादन तथा सूत्रोंका मर्म सम्यक् प्रतिपादित किया है। किन्तु उसका भी खण्डन दिङ्नागप्रभृति धुरंधर बौद्ध पण्डितोंने किया। दिङ्नागकी स्थिति पञ्चम शतीमें थी। जो सचमुच दिङ्नाग अर्थात् दिग्गज ही थे। बाणभट्टके श्लेषोंमें यह भी शब्द आता है। दिङ्नागका निराकरण उद्योतकराचार्यने वात्स्यायन भाष्यपर वार्तिक लिखकर किया। "कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः" इस वार्तिकवाक्य पर वाचस्पति मिश्रने दिङ्नागादि करके व्याख्या की है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति उद्योतकरके बादमें हुए। वाचस्पति मिश्रने दिङ्नागादिके खण्डनके रूपमें वार्तिककार की उक्ति कई जगह दिखाई है। किन्तु धर्मकीर्तिका यह खण्डन है ऐसा कहीं भी नहीं लिखा है। धर्मकीर्ति तो बौद्धोंमें अति धुरंधुर पण्डित थे। यदि वार्तिककारके समयमें वे होते तो अवश्यमेव वार्तिककार उसपर कलम उठाते। और ऐसा भी नहीं कि वाचस्पति धर्मकीर्तिसे अपरिचित थे। सुपरिचित थे। ब्रह्मसूत्र भाष्य, भामती आदि में उनकी कारिकाओं का काफी उद्धरण वाचस्पतिने दिया है। वार्तिककार छठी शताब्दीमें हुए।

परन्तु वार्तिककारकृत उद्धार भी कुछ ही दिनोंतक कामयाब रहा। उसके बाद फिर बौद्ध पण्डितोंने सिर उठाया और वार्तिककारकी युक्तियोंको भी

जर्जरित किया। धर्मकीर्ति संभवतः उद्योतकरके समकालीन थे। अतः वार्तिक बहुप्रसरित नहीं था। फिर भी उनकी विवेचना शैली ही ऐसी थी कि वार्तिकका खण्डन हो जाता था। तथा शान्तदेव शान्तरक्षितादिने खूब मुकाबला किया। यह बात वाचस्पति के—'इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्। उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्' इस श्लोकसे प्रतीत होता है। उसका उद्धार न्यायवार्तिकपर तात्पर्यटीका लिखकर वाचस्पतिमिश्रने किया। तब तक बौद्ध समाप्त हो चुके थे। क्योंकि अष्टम शतीके बादका कोई प्रौढ़ ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। फिर बौद्धोंका पुनरुत्थान न हो एतदर्थं दशम शताब्दीमें न्यायशास्त्रके धुरंधुर विद्वान उदयनाचार्यने तात्पर्यटीकापर तात्पर्यपरिशुद्धि नामकी अतिविस्तृत व्याख्या लिखी। तात्पर्यपरिशुद्धिपर भी महामहोपाध्याय रुचिदत्त की व्याख्या है जिसका कुछ अंश मुद्रित हुआ था। पता नहीं आगे कितनी पीढ़ी चली। क्योंकि रुचिदत्त भी असाधारण पण्डित थे जिनकी चिन्तामणि व्याख्यापर वेदान्तपरिभाषा-कर्ता धर्मराजाध्वरीन्द्रकी तर्क चूड़ामणि नामकी टीका प्रसिद्ध है।

वाचस्पतिमिश्रने न्यायसूत्रों पर न्यायसूची निबन्ध लिखा है जिसमें सूत्रसंख्या, पदसंख्या, अक्षरसंख्या तक दी गयी है। लोगोंका कहना है कि न्यायसूत्रोंको नष्ट करनेके लिए बौद्धोंने उसमें कुछ जोड़ने और हटानेका प्रयत्न किया। परन्तु यह यथार्थ प्रतीत नहीं होता। भाष्य एवं वार्तिकके बाद प्रक्षेप आक्षेपके लिए गुंजाईश नहीं हो सकता। वास्तविक बात यह है कि भाष्यकारने स्वयं सूत्रात्मक बहुतर वाक्य लिखे हैं। उनमें संशय होता है कि यह सूत्रकारका वाक्य है या भाष्यकारक का। दूसरी बात अपने वाक्यके मध्यमें भाष्यकार सूत्रोंको समान विभक्तिसे प्रायः रखते हैं। तब सूत्र कहाँसे प्रारम्भ हुआ यह निर्णय करना कठिन पड़ जाता था। एतदर्थ न्यायसूचीनिबन्धकी आवश्यकता हुई। जैसे योगसूत्रमें 'दीर्घकालनैरन्तर्य' यहाँसे सूत्र प्रारम्भ होता है कि 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य' से ऐसा सन्देह होता है। वहाँ भी व्याख्यामें वाचस्पति सूत्रांशनिर्णय लिखते हैं।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान ये न्यायशास्त्रके षोडश पदार्थ हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण हैं। आत्मा, इन्द्रिय, अर्थ, शरीर, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ये बारह प्रमेय हैं। संशय प्रसिद्ध है। सुख एवं दुःखाभाव प्रयोजन है। दृष्टान्त प्रसिद्ध है। शास्त्रार्थमें निर्णीत अर्थ सिद्धान्त है। या स्व-स्वशास्त्रस्वीकृत अर्थ स्व-स्वसिद्धान्त है। पर्वतो वह्निमान्, धूमात् इत्यादि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण,

उपनय और निगमन पाँच अवयव हैं। यदि कारण असत् हो तो कार्य भी असत् होगा इत्यादि तर्क है। शास्त्रार्थमें विजयीका अवधारण निर्णय है। गुरुशिष्यादिका जिज्ञासात्मक प्रश्न-प्रतिवचन वाद है। जीतनेके लिए एक दूसरेका खण्डन-मण्डन करें तो जल्प है। प रखण्डन ही करे, स्वमत कुछ न हो तो वितण्डा है। गलत हेतु आदि हेत्वाभास है। अन्यार्थं कल्पनाकर दोष देना छल है। जैसे एकने कहा शब्द अनित्य है तो दूसरा कहता है घट भी तो अनित्य है इत्यादि। अपने पाँवपर कुल्हाड़ा मारने वाला उत्तर जाति उत्तर है। जैसे कोई कहे कि शब्द नित्य है यह विचारास्पद होनेसे आपका मत गलत है। तब दूसरा कहेगा विचारास्पद होनेसे शब्द अनित्य है यह आपका मत भी फिर गलत है। विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान है। उनकी संख्या बहुत हैं। प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर इत्यादि। ये न्यायशास्त्रके प्रतिपाद्य विषय हैं।

परवर्ती आचार्योंने न्याय और वैशेषिक दोनोंको मिलाकर ही ग्रन्थ लिखने लगे थे। जिसका वर्णन हमने वैशेषिक दर्शनकी भूमिकामें किया है। कुछ आचार्योंने न्यायशास्त्रपर लिखा भी तो न्यायशास्त्रके कतिपय सूत्र और कतिपय विषय लेकर ही लिखा है। जैसे जयन्त भट्ट (नवमीं शती) की न्यायमञ्जरी आदि। न्याय और वैशेषिकमें नाममात्रका ही भेद है। खास एक मतभेद यही है कि वैशेषिक प्रत्यक्ष अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं, किन्तु नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं। समवाय एक मतमें प्रत्यक्ष है, दूसरेमें अप्रत्यक्ष है, इत्यादि मामूली बात हैं। क्योंकि ऐसा विवाद एक ही दर्शनमें भी होता है। जैसे कुछ लोग बोलते हैं वायु प्रत्यक्ष है। दूसरे कहते हैं अप्रत्यक्ष है इत्यादि।

बारहवीं शताब्दीमें न्यायशास्त्र में एक बड़ी भारी क्रान्ति हुई। खण्डनखण्ड-खाद्यकार श्रीहर्षमिश्रने न्यायशास्त्रोक्त पूरे लक्षणोंको ध्वस्त किया। इसके उद्धारके लिए नवीन परिष्कारात्मक नव्यन्यायका उदय हुआ। इसके प्रथम प्रवर्तक मैथिल गंगेशोपाध्याय थे। कुछ लोग कहते हैं कि बौद्ध युक्तियोंका खण्डन करनेके लिए नव्यन्यायका उदय हुआ। परन्तु यह बात नितान्त गलत है। क्योंकि आठवीं शतीके बाद बौद्धोंका कोई ग्रन्थ ही नहीं बना तो खण्डनका क्या सवाल है? न्याय धुरंधुर उदयाचार्यका विशेष खण्डन वेदान्तपण्डित श्रीहर्षने किया था। उसके उद्धारके लिए नवीन रीतिसे लक्षणोंका परिष्कार चिन्तामणिकारने किया। जिस पर उन्हींके पुत्र वर्धमानकी, फिर १५वीं शतीमें पक्षधर मिश्रकी तथा रुचिदत्त, प्रगल्भमिश्रादिकी और सर्वातिशायी रघुनाथशिरोमणिको टीकायें हुईं। प्रस्तुत ग्रन्थमें नव्यन्यायका खास निरूपण नहीं है। उसके लिए हमने

न्यायसिद्धान्तरत्नमाला नामका पृथक् ग्रन्थ लिखा है। वहींपर एतद्विषयमें हमारी विस्तृत विवेचना द्रष्टव्य है। रघुनाथशिरोमणिकी दीधिति टीकापर दो व्याख्यायें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। एक जगदीशतर्कालंकारकृत है। उसे लोग जागदीशी कहते हैं और दूसरी गदाधरभट्टाचार्यकृत है। उसे लोग गादाधरी कहते हैं। इन दो विद्वानोंने तो नव्यन्यायको अथाह सागर बना दिया। नव्यन्यायके आचार्यपर्यन्त ग्रन्थ मुख्यतया इन्हीं दो के हैं। गादाधरीकी सामान्यनिरुक्तिपर गोलोकी व्याख्या बड़े-बड़े विद्वानोंकी भी पहुँचके परेकी बात है। आचार्यान्त परीक्षाग्रन्थपर महापण्डित शिवदात्तमिश्रजीकी गंगाव्याख्या और टिप्पणियाँ तो अतिदुर्गम दुर्गाटवी है। फिर बच्चाझाजीके गूढार्थतत्त्वालोकके विषयमें मौन रहना ही अच्छा है।

नव्यन्यायोद्गमोत्तर विरचित शायद ही कोई ऐसा दार्शनिक ग्रन्थ होगा जिसमें नव्यन्यायकी भाषा न घुसी हो। क्या व्याकरण, क्या मीमांसा, क्या वेदान्त सर्वत्र इस भाषाका प्रचुर प्रयोग हो गया।

(११) सांख्यदर्शन

सांख्यदर्शनके प्रथम प्रवर्तक कपिल भगवान् हुए। पुराणोंके अनुसार कपिलदेव भगवानके अवतार स्वरूप थे। ब्रह्मासे मनु और शतरूपा हुए। मनुकी तीन पुत्री देवहूति, आकूति और प्रसूतिमें ज्येष्ठ पुत्री देवहूतिसे कपिल हुए। सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिलसे ये भिन्न प्रतीत नहीं होते। क्योंकि कपिल भगवानने अपनी माता देवहूतिको जो तत्त्वोपदेश किया वह वर्तमान सांख्यसिद्धान्तसे कोई भेद नहीं रखता। भेद इतने ही अंशमें है कि सांप्रतिक प्रसिद्ध सांख्यमत निरीश्वरवादी है। और पुराणोक्त सांख्यसिद्धान्त सेश्वरवादी है। आजकल दो प्रकारके सांख्यसूत्र प्राप्त हैं। एक अतिसंक्षिप्त हैं। जिसे तत्त्वसमाससूत्र भी कहते हैं। दूसरा विस्तृत है। विस्तृत सांख्यसूत्र कपिलके नहीं ही हैं। संक्षिप्त भी कपिल-निर्मित है कि नहीं यह संशयास्पद है। प्रामाणिक आचार्योंने सांख्यमत प्रदर्शनार्थ ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकाको ही प्रस्तुत किया हैं। सांख्यसूत्रोंपर सोलहवीं शतीके विज्ञानभिक्षुका भाष्य है। तथा अनिरुद्धकी वृत्ति है। किन्तु सत्ययुगीन कपिलके इतने प्रसिद्ध सांख्यदर्शनपर इतने समय तक कोई व्याख्या नहीं हुई यह बात असंभावित है। जब कि कपिलकी कई पीढी बादके ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंपर अनेक भाष्य टीका आदि हुए।

सांख्यशब्दका संख्यान करना और संख्यान करनेवाला ये दोनों अर्थ हैं। पञ्चविंशति तत्त्वकी गणनाकर परस्पर अलग बताना ऐसे अर्थकी अपेक्षा सम्यक्

ख्याति-प्रकृति पुरुष विवेकख्याति करना अर्थ अधिक उपयुक्त है। "यस्मिन् पञ्च पञ्च-जना"—पांच पंचा पचीस ऐसी व्याख्याकर प्रथम अर्थ निकालनेवाला मत भी देखनेमें आता है। पहले समयमें वेदान्तको भी सांख्य कहते थे। यह बात गीतामें तदर्थक सांख्य शब्दोंके प्रयोगोंसे अवगत होता है। सांख्यशास्त्रके रचयिता कपिलको आदि विद्वान् बताया है। अतएव कपिलका अतिप्राचीनत्व स्पष्ट है।

परमर्षि कपिलके शिष्य आसुरि और उनके शिष्य पञ्चशिखाचार्य हुए। आसुरीका भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। पञ्चशिखाचार्यका एक षष्टितन्त्र नाम का ग्रन्थ सुननेमें आता है। ईश्वरकृष्णने अपनी कारिकामें उसका उल्लेख किया है। पञ्चशिखाचार्यके कुछ सूत्रात्मक वचनोंका उद्धरण योगसूत्रके व्यास भाष्यमें किया है। यद्यपि व्यासजीने पञ्चशिखका नाम तो नहीं लिया है फिर भी व्याख्याकार वाचस्पतिमिश्रने उन्हें पञ्चशिखाचार्यके बताया है। अवश्य ही वाचस्पति मिश्रने पञ्चशिखाचार्यका ग्रन्थ देखा होगा। वाचस्पतिने गुरुपरम्परया ये वचन पञ्चशिखके हैं ऐसा सुना होगा, यह भी कल्पना हो सकती है। द्वितीय पक्षका उत्थान इसलिए होता है कि इतने रहस्यपूर्ण गम्भीर पञ्चशिखके ग्रन्थपर वाचस्पति मिश्रने ही एक व्याख्या क्यों नहीं लिखी? दूसरी बात जहाँ भी भाष्यकारने 'यत्रेदमुक्तं' लिखा, वहीं 'पञ्चशिखेन' ऐसी पूर्ति आवश्यक स्थलमें वाचस्पतिने किया। प्रसिद्ध ग्रन्थकारके लिए वे ऐसा नही लिखते। यह इस लिए लिखा कि परम्परागत पञ्चशिखकर्तृत्वको लोग भूल न जाये। इसके बादमें जैगीषव्य, वार्षगण्य आदि का नाम आता है किन्तु ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। उद्धृत वचन शायद पुराणोंका है। जयमङ्गलामें शिष्यपरम्परयैतत् इस कारिकाकी व्याख्यामें कई आचार्योंके नाम लिए हैं। कुछ पाठमुद्रणादिमें त्रुटित भी हैं। माठरादि वृत्तिमें अन्य भी नाम लिखे हैं। किन्तु किसीका ग्रन्थ अप्राप्य होनेसे विचार व्यर्थ है। आज प्रामाणिक ग्रन्थके रूपमें प्राचीनतम ईश्वरकृष्णनिर्मित सांख्यसप्तति ही उपलब्ध है। जिसको सुवर्णसप्तति, कनकसप्तति आदि भी कहते हैं। ईश्वरकृष्णकी स्थिति ईस्वी पूर्व द्वितीय शतीसे लेकर उत्तर प्रथम शती तक किसी भी समयमें मानी जा सकती है। उत्तर प्रथम शतीके बाद की कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि द्वितीय शतीके जैन बौद्धादि ग्रन्थोंमें कारि-काओंका उद्धरण मिलता है। सुना जाता है इसपर द्वितीय शतीकी एक प्राचीन-तम वृत्ति माठरवृत्तिके नामसे प्रसिद्ध थी। वर्तमानमें एक माठरवृत्ति छपी है। वह उतनी पुरानी नहीं है। क्योंकि उसमें शंकराचार्य के शिष्य हस्तामलकाचार्यके एक श्लोकका उद्धरण है। हमारे ख्यालमें उपलभ्यमान व्याख्याओंमें प्राचीन-

तम व्याख्या गौडपाद भाष्य ही है। गौडपादाचार्य आद्यशंकराचार्यके परमगुरु थे। कुछ लोग विषयभेद तथा माण्डुक्यकारिकागत गांभीर्यका अभाव देखकर इन्हें प्रसिद्ध गौडपादसे पृथक् ही गौडपाद कहते हैं। किन्तु वेदान्ती सांख्यपर नहीं लिख सकते ऐसा कोई नियम नहीं है। विषयगाम्भीर्य सर्वत्र एक प्रकार होना चाहिए ऐसा भी कोई नियम नहीं है। कौमुदीमें भाष्यापेक्षया प्रौढता परवर्ती महाविद्वान् होनेसे स्वतः सिद्ध है। 'ऊहः शव्दोऽध्ययनं' इस श्लोकपर व्याख्या करते समय पूर्वाचार्यसे विलक्षण व्याख्या उपस्थितकर निरूपणार्थ विद्वानोंपर वाचस्पतिने छोड़ा है। यह संमाननीय दृष्टिका परिचायक है। सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रौढ व्याख्या है जो वाचस्पतिमिश्रकृत है। उसपर अनेक व्याख्यायें हैं। इससे पूर्व ही शंकराचार्यकी एक जयमङ्गला टीका हुई है। टीकाकार आद्यशंकराचार्य ही है या कोई और इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। कुछ लोग शंकरार्य कोई और ही था शंकराचार्य ऐसा नाम प्रमादमुद्रित है ऐसा मानते हैं।

सांख्यमत में बड़ा ही सूक्ष्म विचार किया है। न्याय वैशेषिक जहाँ परमाणुमें पहुँचकर रुके वहांसे आगे सांख्योंका विचार है। घटादिके समान परमाणु भी विनाशी हैं। केवल शक्तिविशेष रूपसे रहते हैं जिनको तन्मात्रा कहते हैं। परन्तु तन्मात्रा भी स्थायी नहीं। उसका कारण अहंकारतत्व है। वह भी कार्य है। उस का कारण महत्तत्त्व है। वह भी कार्यरूप है। उसका कारण मूल प्रकृति है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीन गुण हैं। इन्हीं का परिणाम संपूर्ण संसार है। सत्त्व सुखरूप है। रज दुःखरूप है। तम मोहरूप है। धनसे उसके मालिकको सुख होता है। उसके प्रतिस्पर्धीको दुःख होता है। चोरको मोह होता है। सुन्दर स्त्री है। उससे उसके पतिको सुख होता है। सौतोंको दुःख होता है। अन्य कामीको मोह होता है। इस प्रकार सारा जगत् त्रिगुणात्मक है। बोले कि यह तो उन व्यक्तियोंकी आन्तरिक भावनाप्रयुक्त है। मनोवृत्ति मात्र है। सांख्योंने कहा अध्यात्मसे ही तो अधिभूतका जन्म है। क्या महत्तत्त्व और अहंकार अध्यात्म नहीं है? उससे अधिभूत तन्मात्राओंका जन्म हो सकता है तो अध्यात्म सत्त्वादिगुण से त्रिगुणात्मक जगत् होनेमें क्या बाधा? समष्टि त्रैगुण्यसे जगत्का जन्म है। व्यष्टि से तत्तत्सुखदुःखादिकी अनुभूति है। इस प्रकार सांख्यों ने वेदान्तका ही अनुकरण किया। "विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं" इस वेदान्तसिद्धान्तको ही सांख्योंने अपनाया। वेदान्तमत वालोंने अन्ततः यह कहा कि यदि सांख्य आत्मनानात्व और जगत्सत्यत्व इन दो बातोंको छोड़ दें तो सांख्य और वेदान्तमें कोई फरक नहीं रहेगा। बल्कि आन्तर बुद्धितत्त्व और

अहंतत्त्वसे जगतका जन्म मानकर एक प्रकारसे दृष्टिसृष्टत्व ही सांख्योंने स्वीकारा है। अतः मिथ्यात्व भी स्वीकृतप्राय है। व्यर्थका आत्मनानात्वमात्रपर सांख्योंका अभिनिवेश रहा।

वेदान्तवालोंने बहुत जगह सांख्यकी ही पूरी प्रक्रियाको अपनाया है। "इतरेषां चानुपलब्धेः" में ही व्यासजीको निर्भर रहना पड़ रहा था। अर्थात् श्रुतियोंमें महत्तत्त्व अहंकारादि उपलब्ध नहीं होते। जब कि किसी किसी श्रुतिमें वे भी उपलब्ध हैं। "भूमिरापोऽनल" इत्यादि स्मृतिमें स्पष्टोक्त हैं। सांख्यमत तो पूरे इतिहास पुराणोंमें व्याप्त है। गीताने ज्ञानी और ज्ञानके लिए सांख्यशब्दको ही अधिक पसन्द किया जैसे "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" "ज्ञानयोगेन सांख्यानां" "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्" इत्यादि। सांख्यपदार्थ भी वहुधा वर्णित हुआ है।

सांख्यमत में पचीस तत्त्व हैं जिनको प्रकृति, विकृति, उभयात्मक और अनुभयात्मक ऐसे चार भागोंमें सिभक्त किया है। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है। उसकी विकृति महत्तत्त्व अहंकारकी प्रकृति है। इस प्रकार महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्रा भी प्रकृतिविकृति उभयात्मक है। अहंकारसे ही ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन ऐसे ग्यारह इन्द्रियाँ हुईं, ये केवल विकृति हैं। पञ्चमहाभूत भी केवल विकृति हैं। अर्थात् सोलह केवल विकृति हैं। पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है। पुरुषको वेदान्तमतके समान ही निर्लेप तथा स्वयंप्रकाशरूप माना। एक बात सांख्योंने यह मानी कि प्रकृति ही पुरुषके भोग एवं अपवर्गके लिए स्वयं प्रवृत्त होती है। इस बातका व्यासजीने जोरदार खण्डन किया है—"ईक्षतेर्नाशव्दम्" "तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि श्रुति चेतनको सृष्टिकर्ता मानती है। भोजनकर पुरुष सो गया, उसको कुछ खबर नहीं। अन्दर ही अन्दर शरीर-प्रकृति अन्नको पचाती है, रस बनाती है, रक्त-मांस-अस्थि-मज्जादि बनाती है। क्या आपको इन सबकी खबर है? यदि नहीं तो पुरुषको क्यों व्यर्थमें जोड़ते हैं? अनादिसिद्ध नियमसे ही सृष्टि, स्थिति, प्रलय प्रक्रिया चलती रहेगी। उसमें पुरुषको लानेकी क्या जरूरत है? यह सांख्योंका तर्क है।

न्यायवैशेषिकवाले असत्कार्यवादी हैं। किन्तु सांख्य सत्कार्यवादी हैं। दण्डकुलालव्यापारसे मृत्तिकामें पूर्वमें असत् घट सद्रूप हो जाता है यह असत्कार्यवाद है। मृत्तिकामें घट पहलेसे ही सूक्ष्मरूपेण था। दण्डकुलालादिव्यापारसे केवल वह अभिव्यक्त हुआ यह सत्कार्यवाद है। सांख्य कहते हैं—मृत्तिकामें घट भी असत् है और पट भी असत् है तो घटके बदले पट क्यों नहीं पैदा होता है? नैयायिक कहते हैं कि पटत्वावच्छिन्नं प्रति मृत्तिका कारण नहीं है। सांख्य बोले

एतन्मृत्तिकामें अपर घट क्यों नहीं होता ? नैयायिक कहने लगे एतद्धटं प्रति एतन्मृत्तिका कारणम् । परन्तु एतद्घट तो असत् है । उसका सम्बन्ध किस प्रकार हो ? कार्यकारणभावादि जो भी सम्बन्ध हो, द्विष्ठ होता है । इस सत्कार्य वाद का समर्थन "नासतो विद्यते भावः" इस गीताके श्लोक से भी मिलता है ।

सांख्यदर्शन निरीश्वरवादी है ऐसी मान्यता दार्शनिकोंकी है । यद्यपि सांख्यकारिकाओं में ईश्वरका स्पष्ट खण्डन तो नहीं किया है । तथापि "वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य" इस कारिकामें चेतन निरपेक्ष ही प्रकृति प्रवृत्त होती है ऐसा अर्थ निकलता हैं । इससे यह अन्दाजा होता है कि चेतनसापेक्षता नहीं है तो ईश्वर की आवश्यकता नितरां खण्डित हो जाती है । परन्तु मेरे ख्यालमें यह कल्पना निराधार लगती है । कोई भी पुरुष प्रवृत्तिके प्रति सांख्यमतमें कारण नहीं है तो क्या जीवात्माका भी इस युक्तिसे निराकरण हो जायेगा ? जीवात्मा भी प्रवृत्तिकारण नहीं है । जैसा कि हमने भोजनोत्तर प्रक्रिया में अनुपद बताया । आदमी सो जाता है । उसको कुछ पता नहीं । फिर पाचनक्रिया रसरक्तादि निर्माण प्रक्रिया चलती है । मरनेके बाद पाचन क्रिया क्यों नहीं होती ? इस प्रश्नका उत्तर वही प्रश्न है । पुरुष व्यापक है । अदृष्टविशेष को जोड़िये तो अदृष्ट भी प्रकृतिस्थ है । यदि भोक्तृत्वार्थं पुरुष मान्य है तो उपासनार्थ ध्यानाद्यर्थं ईश्वर भी मान्य क्यों नहीं ? क्योंकि प्रवृत्त्यर्थ चेतन नहीं यह आपने मान ही लिया । ईश्वरोपासनासे अदृष्ट विशेष होगा । सांख्यकारिका में भी प्रवृत्तिप्रयोजकतया ही ईश्वरास्तित्व का निराकरण किया है, उपास्यतया नहीं । इस बातको उपक्षेपरूपसे रखा गया है । यही मीमांसा में विचारणीय है ।

ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका ग्रन्थ सत्तर श्लोकों में ही पूर्ण हो जाता है । जिनमें भी कुछ अंश इतरत्र प्रतिपादित होनेसे छोड़ा जा सकता है । अतः स्वतंत्र विचार के लिए यहां अवसर मिला । कुछ टीकाग्रन्थोंसे संग्रह कर और कुछ स्वतन्त्र युक्तियोंको जोड़कर हमने सांख्यदर्शको इस संग्रह ग्रन्थमें प्रस्तुत किया है ।

(१२) योगदर्शन

भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मयमें निर्विवादरूपसे सर्वस्वीकृतदर्शन योगदर्शन है । यद्यपि योगदर्शनोक्त प्रकृति महत्तत्त्वादिके बारेमें विवाद हैं । किन्तु वह योगदर्शनका मुख्य विषय नहीं है । किसी दार्शनिक पदार्थतत्त्वनिरूपणकी आवश्यकता होनेसे वह सर्वप्राचीन सांख्योंसे लिया हुआ है । योगदर्शन योगके लक्षणादि से प्रारम्भ होता है । तत्तत् समाधिनिरूपणकी आवश्यकता हुई तो

महत्तत्त्वादिका निरूपण किया। किन्तु योगके यमनियमादि तथा समाधि एवं उनके साधनोंको सबने स्वीकार किया। आसन प्राणायामादिसे शरीरस्वास्थ्य वा समाधिसे शान्ति प्राप्त होती है। इसका निराकरण तो भोगवादी चार्वाक भी अनुभवसिद्ध होनेसे कर नहीं सकते। जैनधर्म और बौद्धधर्ममें समाधिको माना ही है। आस्तिक दर्शनोंके बारेमें कहना ही क्या? यद्यपि 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इस प्रकार ब्रह्मसूत्रमें योगनिराकरण किया है, किन्तु वहींपर भाष्यकारों ने स्पष्ट किया कि यह व्याससूत्र समाधियोगादिनिराकरणार्थ नहीं है। किन्तु सांख्यानुसारी पदार्थनिरूपणप्रक्रियाके निराकरणार्थ है। न्यायवैशेषिक वालोंने एक योगज संनिकर्ष ही माना है। इसी योगसे उन्होंने परमाणु आदिका दर्शन किया। योगज संनिकर्ष अतीन्द्रिय पदार्थोंका दर्शन कराता है। दर्शनोंका नाम दर्शन इसलिए पड़ा कि मूल प्रवक्ताको जैसा दर्शन हुआ वैसा उन्होंने लिखा। चार्वाकोंको केवल ऐन्द्रियक वस्तुओंका ही दर्शन हुआ। अतः उतना ही उनके दर्शनशास्त्रका विषय रहा। महावीर एवं बुद्धने समाधिमें जो देखा, वही लिखा। परन्तु योगके उत्कर्ष एवं अपकर्षसे तथा सहकारी कारणके भेदसे दर्शनोंमें फरक आ गया। सांख्याचार्य कपिल भी महान् योगी थे। वेदान्तमें प्रसिद्ध निदिध्यासन योग ही है जिससे आत्मदर्शन बताया है।

सुनते हैं कि योग के प्रथम वक्ता हिरण्यगर्भ हुए। "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" ऐसा वाक्य मिलता है। परन्तु हिरण्यगर्भने कोई ग्रन्थ नहीं बनाया। बनाया भी हो तो आज उपलब्ध नहीं है। उपनिषदोंमें योगकी चर्चा है। 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं" इत्यादि वचन श्वेताश्वतरमें हैं। योगपर अन्य भी कई उपनिषदें हैं। सनातन विश्वासके अनुसार तो वे अनादि अपौरुषेय हैं। आधुनिक गवेषकोंके अनुसार वे सब बहुत बादकी हैं। जैसा भी हो इतना निश्चित है कि पौरुषेय रचनाके रूपमें पातञ्जल योगसूत्र ही प्रथम योगग्रन्थ आज उपलब्ध है। गवेषकोंके अनुसार महर्षि पतञ्जलिका समय ईस्वीपूर्व द्वितीय शती ठहरता है। समयके निर्धारणमें कई पेचीदगियां हैं। पातञ्जलयोगसूत्र पर व्यासभाष्य है। ये व्यास कौन थे? ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास या महाभारतकार वेदव्यास या और कोई। व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि, चरकसंहिताकार पतञ्जलि और योग-सूत्रकार पतञ्जलि ये तीनों एक ही व्यक्ति रहे या भिन्न? महर्षि पाणिनि ने "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" ऐसा सूत्र लिखा है। यह पाराशर्य व्यास ही या और कोई? और भिक्षुसूत्र यही ब्रह्मसूत्र या और कोई? यदि ब्रह्मसूत्र ही भिक्षुसूत्र है और बादरायण ही पाराशर्य हैं तो उनके बाद पाणिनि हुए। उसके बाद

पतञ्जलि । तब पातञ्जलयोगसूत्रपर व्याख्या बः पूर्ववर्ती व्यासने कैसे की ? अतः व्यासोंमें भेद या पतञ्जलियोंमें भेद दोनोंमें से एक अवश्य मानना होगा । किन्तु "योगेन चित्तस्य, पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन । योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि" इस शङ्कराचार्यकृत श्लोकसे पतञ्जलि की एकता सिद्ध होती है । अतः व्यासोंमें ही भेद मानना उचित होगा । व्यासभेद अन्यत्र निरूपित हैं । फलतः बौद्धमतनिराकरण होनेसे बादरायण ब्रह्मसूत्रकार बुद्धानन्तर और तदनन्तर पाणिनि आदि क्रम रखें तो उक्त समय ई० पूर्व द्वितीय शती सिद्ध होता है। पाणिनि को व्यासोत्तर मानना उचित है । क्योंकि पाणिनि के गुरु उपवर्ष ने व्याससूत्रों पर वृत्ति लिखी है । यदि सनातनधर्मी पौराणिकों के अनुसार आप उत्तर पसंद करेंगे तो व्यास को भी एक मान सकते हैं । क्योंकि "सप्तैते चिरजीविनः" में व्यासजी भी आते हैं । वे द्वापरान्तमें रह कर महाभारत-कर्ता हुए । बौद्धोत्तरकालमें ब्रह्मसूत्रकर्ता हुए और पतञ्जलिके बाद ईस्वी द्वितीय तृतीय किसी भी शतकमें योगभाष्यकर्ता बने ऐसा मान सकते हैं ।

योगसूत्रों पर सबसे प्राचीन और प्रामाणिक व्यासभाष्य है । वाचस्पति ने मङ्गलाचरण में "वेदव्यासाय तायिने" इस प्रकार अत्यन्त समादार दिखाया है । अतः यह भाष्य काफी प्राचीन और आर्ष है । उसकी गम्भीरता देखने से ऐसा लगता है कि सचमुच चिरजीवी सत्यवतीसुत व्यास ने लिखा है । ऐसा लगेगा कि एक-एक सूत्र पर स्वतन्त्र एक-एक निबन्ध लिखा जा रहा हो । किन्तु उत्सूत्रता भी नहीं आती । वेदव्यासशब्द लिख कर वाचस्पतिने तो उन्हें आद्यवेदव्यास ही माना है, ऐसा लगता है । अतएव समयनिर्धारणका प्रयत्न व्यर्थ है ।

भाष्य पर तीन प्रखर व्याख्यायें हैं । एक शङ्कराचार्यकृत है । दूसरा वाचस्पति-कृत है और तीसरा विज्ञानभिक्षुकृत है । ये शङ्कराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्यकार शङ्करा-चार्य ही हैं या और कोई, इसपर विवाद है । मद्राससे यह छपा है । सम्पादकने विवरणमें एक जगह 'शास्त्रं निमित्तं'की 'अन्ये तु' करके जो व्याख्यान्तर किया वह वाचस्पतिकी या उनके मार्गप्रदर्शक किसी पूर्वाचार्यकी है ऐसा टिप्पणीमें लिखा है । इसके आधार पर अन्य अन्वेषक वाचस्पतिका ही वह मत मानना उचित है समझ कर वाचस्पति के अनन्तरभावी किसी शङ्कराचार्यको सिद्ध किया है । परन्तु ये दोनों भ्रान्त हैं । कारण वहाँ वाचस्पत्योक्त विषय ही उन पंक्तियों में नहीं है । केवल दो तीन शब्दों का सादृश्यमात्र है । हमने विवरण की व्याख्या प्रारम्भ कर रखी है जिसमें इसका सम्यक् निरूपण किया है । अन्तमें एक शङ्कराचार्यस्तुतिरूपी श्लोक है । स्वयं शङ्कराचार्य अपनी स्तुति कैसे करें ?

इसका समाधान टिप्पणीकारने दिया है। कहीं शिष्यकृत स्वनमस्कारको स्वग्रन्थ में निवेशित करते हैं जैसे भामतीमें है। अथवा अन्तमें प्रक्षिप्त श्लोकका जुड़ जाना कोई बड़ी बात नहीं है। वाचस्पतिके बाद इसलिए नहीं माना जा सकता कि विवरण में अनेक पाठभेद दिखाये हैं। परन्तु वाचस्पतिसम्मत कोई भी विमत पाठभेद वहाँ दिखाया नहीं है। और स्थान-स्थानमें वाचस्पतिसे भिन्न पाठ उसमें निविष्ट है। ग्रन्थकी प्रौढ़ता वाचस्पत्यसे बढ़ कर ही दीखती है। कोई भी अति प्रौढ़ ग्रन्थकार या व्याख्याकार अपना नाम न देकर दूसरेका नाम क्यों दें यह समझसे बाहर की बात है। दूसरी व्याख्या प्रसिद्ध वाचस्पतिमिश्रकी है। उनके वारे में कुछ नवीन बात कहने की आवश्यकता नहीं है। वे तो द्वादशदर्शन-काननपञ्चानन ही थे। तीसरी व्याख्या विज्ञानभिक्षुका वार्तिक है। वे सोलहवीं शताब्दीके महान पण्डित हुए। वार्तिकमें प्रायः वाचस्पतिका ही अनुकरण है। और बहुतर स्थानोंमें वाचस्पत्य का खण्डन भी किया है। योगसूत्रोंपर भोजवृत्ति आदि सात आठ वृत्तियां भी मुद्रित हैं। तथा स्वतन्त्र भी अनेक ग्रन्थ बने हैं। हिन्दी आदि भाषाओंमें भी उत्तम व्याख्यायें हैं।

हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता आदि अन्य योगग्रन्थ भी हैं। परन्तु वे क्रिया-मात्रपरक हैं। दर्शनरूप नहीं हैं। अतः उनका यह संग्रह नहीं है।

योग चित्तवृत्तिनिरोध को कहते हैं। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये चित्तकी पाँच भूमियां हैं। जिनमें अन्तिम दो योगपक्षीय हैं। प्रथम दो संसारियोंकी हैं। तृतीय साधनारंभकालीन है। चित्तवृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृतिरूपसे पाँच हैं, जिनके क्लिष्ट और अक्लिष्ट ऐसे दो विभाग हैं। इनमें क्लिष्ट वृत्तियां सर्वथा निरोधयोग्य हैं और अक्लिष्ट वृत्तियां समाधिकाल में निरोधनीय हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं, जिनसे युक्त ही क्लिष्ट वृत्तियां हैं। अन्य वृत्तियोंके निरोधार्थ प्रथम एकाग्रतारूपो संप्रज्ञात समाधि हो तब बादमें सर्ववृत्तिनिरोध असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधि होती है। संप्रज्ञात वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मि-तानुगत ऐसे चार हैं। इनमें स्थूल विषयमें एकाग्रता प्रथम है। सूक्ष्ममें एकाग्रता द्वितीय है। सूक्ष्मविषय तन्मात्रासे अलिङ्ग (अव्यक्त) पर्यन्त हैं। इसकेलिये मैत्री करुणा आदि परिकर्म भी अपेक्षित हैं। असंप्रज्ञातके भवप्रत्यय तथा उपाय-प्रत्यय ऐसे दो भेद हैं। पूर्वजन्ममें जो विदेह हुए या प्रकृतिलीन हुए वे जन्मतः समाधि सिद्ध होते हैं, वे भवप्रत्यय हैं। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा इनके अभ्याससे

उपायप्रत्यय समाधि होती है। एतदर्थ अष्ट योगाङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि ये आठ योगांग हैं। इनमें आठवाँ संप्रज्ञात समाधि है। उससे निर्बीज समाधिमें जाते समय चार भूमिकायें आती हैं। मधुमती, मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्त-भावनीया। इस समाधिभावनासे क्लेशकर्मनिवृत्ति होकर स्वरूप प्रतिष्ठारूपी मुक्ति होती है। यह योगदर्शनका संक्षिप्त मुख्य विषय है।

तत्त्व के बारे में प्रकृति महत्तत्त्वादि सभी प्रायः सांख्यसिद्धान्तके बराबर ही हैं। "विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि" इस सूत्रकी व्याख्यामें व्याख्याकारोंने थोड़ा भेद भी दिखाया है। किन्तु वह नगण्य है। सांख्यमतकी अपेक्षा भारी विशेषता है ईश्वरास्तित्वस्वीकार। "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" ऐसा सूत्र है। पुरुषविशेषका पुरुषोत्तम भी अर्थ हो सकता है। अन्य पुरुषोंके समान नहीं किन्तु क्लेशादिरहित विशेषपुरुष यह भी अर्थ हो सकता है। ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इत्यादि सूत्रोंमें भक्तिको भी स्थान दिया है। 'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्' इस सूत्रमें नष्ट भी अनष्ट कहकर स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व के किनारे भी लाकर प्रकृति को रखा। इस प्रकार यह दर्शन वेदान्त के अतिसंनिकट हुआ। अर्थात् "तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्" इस सांख्यकारिका के अनुसार "न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः" इत्यादि श्रौत सिद्धान्त पुरुष के लिए स्वीकार किया ही है। महत्तत्त्व अहंकार से जगत् पैदा होता है कहकर निजान्तर्गत ही बाहर लाकर देखते हैं ऐसा दृष्टिसृष्टिवाद भी स्वीकार किया है, "नष्टमप्यनष्टं" कहकर स्वाभावसामानाधिकरणत्वरूप मिथ्यात्वके किनारे भी पहुँचा दिया है; बस इतने का स्पष्टीकरण अपेक्षित है और पुरुषनानात्व का परित्याग भी आवश्यक है। तो यह वेदान्तसिद्धान्त ही हो जाता है। ये ही दो बातें सांख्य और वेदान्तके बीच की विभाजक रेखा है।

यद्यपि योगसूत्र एक अत्यन्त छोटा ग्रन्थ है। तथापि इसमें विषयोंका समावेश बहुत अधिक है। हेय (संसार) हेयहेतु (अविद्या) हान (मोक्ष) हानोपाय (विवेक-साक्षात्कार) इन चारका वर्णन द्वितीय पादमें किया है। बौद्धोंके दुःख दुःखसमुदय, निरोध और निरोधगामिनो प्रतिपत् इन चार आर्यसत्योंसे यह बहुत मिलता जुलता है। परन्तु बौद्धोपदेशोंका सम्यक् ग्रथन भी वस्तुतः ईशापूर्व द्वितीय शतक में होने से किसने किसका अनुकरण किया यह कहना कठिन है।

(१३) मीमांसा दर्शन

वेदों में दो विभाग हैं। एक पूर्वकाण्ड और दूसरा उत्तर काण्ड है। पूर्वकाण्ड में कर्म का विचार हुआ है। और उत्तरकाण्ड में ब्रह्म का। पूर्वकाण्डस्थ कर्म-वाक्यविचारात्मकदर्शन पूर्वमीमांसा है। और उत्तरकाण्डस्थ ब्रह्मवाक्यविचारात्मकदर्शन उत्तरमीमांसा, ब्रह्ममींमांसा, वेदान्त आदि शब्दों से कहा जाता है। अतएव इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध यथा नाम तथा गुण है। इन दोनों शास्त्रों का निकटतम सम्बन्ध होने के कारण ही भट्ट कुमारिल ने आत्मा के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिए वेदान्ताध्ययन की सिफारिस की—"इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या। दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन"। और यह उचित भी है। वेद ने कर्म को उसके अपने स्थानपर प्रतिपादित किया और आत्मा को उसके अपने स्थान पर। ऐसी अवस्था में विशिष्ट व्याख्या अस्थाने ही मानी जायेगी।

महर्षि जैमिनी ने पूर्वमीमांसा शास्त्र लिखा। उसमें बारह अध्याय होने से वह द्वादशलक्षणी कहलाया। किन्तु जैमिनि ने इसके बाद संकर्षणकाण्ड नाम से चार अध्याय और लिखे। पहले तो हम स्वयं संकर्षणकान्ड को उपासनावाक्यार्थ-विचारात्मक समझते थे। किन्तु एक वृत्ति के साथ बहुत वर्ष पहले मुद्रित ग्रन्थ पढ़ा तो मालूम हुआ कि यह भी कर्मकाण्डविचारात्मक ही है। इसका नाम संकर्षणकाण्ड क्यों पड़ा इत्यादि विचारणीय विषय है। क्या उपासनाकाण्डविचारात्मक अन्य भी कोई संकर्षणकाण्ड है ? यह भी प्रश्न उठ जाता है। अतः पूर्वमीमांसा को षोडशलक्षणी कहना ही उचित है।

इस षोडशलक्षणीमें प्रथमाध्यायके प्रथम पादमें थोड़ा सा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बारे में और शब्दनित्यत्व वेदप्रामाण्यादि के बारे में विवेचन है। शेष संपूर्ण ग्रन्थ वेदवाक्यार्थविचारात्मक ही है। भाष्यकार ने प्रसंगवशात् कहीं कहीं आत्मा, द्रव्य, गुण, कर्म आदि के बारे में थोड़ा बहुत वक्तव्य दिया है। व्याख्याकारोंने अर्थात् भट्ट, प्रभाकर आदि ने कुछ विशेष विचार किया। किन्तु वैशेषिकोक्त पदार्थोंको ही थोड़ा-बहुत आगे-पीछे करके विचार समाप्त किया। अतएव दार्शनिक विद्यार्थियोंने मीमांसाके दार्शनिक विचारोंपर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। और ऐसा भी नहीं था कि जैसे मध्वसंप्रदाय, रामानुजसंप्रदायादि के समान ये कोई संप्रदाय-प्रवर्तक रहे हो, जिससे उनके अनुयायी वर्ग गुरुकी भक्तिसे उनके विचारोंको पढें और विस्तार करें। केवल भट्टमत क्या है जाननेके लिए या खण्डन-मण्डन करनेके

लिए कुछ लोग इनके पदार्थोंका अध्ययन करते थे। इधर वेदवाक्योंपर जो विचार किया उसमें भी केवल सन्दिग्धार्थक वाक्योंपर ही विचार किया गया है। कोई मीमांसाग्रन्थोंको देख-देखकर कर्म नहीं करा सकता। कर्म करने-कराने आदिके लिए कल्पसूत्रादि अधिक सहायक हैं। बाकी तो दर्शपूर्णमासादि कैसे करना चाहिए इसके लिए पृथक् ही कर्मकाण्ड ग्रन्थ पढ़ना आवश्यक होगा। या मीमांसकोंके शब्द-में कहना हो तो याज्ञिक परम्परा ही कर्म करनेमें प्रमाण है। जैसे कोई पुस्तक पढ-पढकर रसोई नहीं बना सकता, किन्तु वह कैसे बनाई जाती है यह अन्यकृति देख-कर ही सीखी जाती है वैसी कर्मकाण्डकी भी स्थिति है। फलतः कर्मकाण्डी पन्डित भी इसके अध्येता नहीं रहे। प्रत्युत मीमांसक भी सूत्रकार और याज्ञिक संप्रदायका विरोध आनेपर याज्ञिक संप्रदायको ही महत्व देते हैं। तब कर्मकाण्डी मीमासाशास्त्र पढनेमें अपना अधिक समय व्यय क्यों करने लगे? वर्तमान समयमें, बल्कि कई सदियोंसे ही एक नवीन यह समस्या आ गई है कि श्रौत यज्ञ ही प्रायः लुप्त हो गये हैं। शतचण्डी, सहस्रचण्डी, लक्षचण्डी, कोटिचण्डी, महारुद्र, अतिरुद्र, विष्णुयाग आदि पौराणिक यज्ञोंकी प्रथा चली। श्रौतयज्ञ देखनेको भी नहीं मिलते। मीमांसा-प्राथमिक ग्रन्थ अर्थसंग्रह, आपोदेवी आदि पढते समय जहाँ 'सप्तदश प्राजापत्याः पशवोऽनुष्ठेया' इत्यादि आता है उनका उपाकरण, पर्यग्निकरण आदि बताया जाता है तो विद्यार्थी सोचते हैं कि यह सब क्या बला है। यह भी समझमें नहीं आता कि ये पशु गाय हैं कि भैंस हैं या बकरे-बकरी हैं। काशी हिन्दूविश्वविद्यालयके मीमांसाके अध्यापक सुब्रह्मण्यशास्त्री इधर-उधरसे विद्यार्थियोंको पकड़ ले जाते थे और परीक्षा दिलाते थे, जिनको मीमांसासे कुछ लेना-देना नहीं था। ऐसोंको न पढ़ावें तो गद्दीपर खाली बैठे-बैठे करते भी क्या? मीमांसाशास्त्रका वर्तमानमें यही उपयोग रह गया कि वेदान्तवाक्यविचारमें जहाँ-जहाँ पूर्वमीमांसाका बहुधा उदाहरण देते हैं उन्हें समझनेके लिए मूलग्रन्थाध्ययन की आवश्यकता रहती है। यह आव-श्यकता भी तत्रत्य व्याख्यासे गतार्थ हो जाय तो इसकी सार्थकता सूपपाद नहीं हो सकती। अस्तु।

मीमांसाशास्त्रके रचयिताका समय ईसा पूर्व चतुर्थ या पञ्चम शती हो सकती है। क्योंकि जैमिनीयमें बादरायणका नाम आता है और ब्रह्मसूत्रमें जैमिनिका नाम आता है। मतलब ये दोनों अनतिदूरमें अध्यापन करते रहे तो ग्रन्थरचनासे पूर्व ही परस्परके मतका ज्ञान हो गया था। अतएव दोनोंका आवासस्थान एक ही प्रदेश होना चाहिए यह भी सिद्ध होता है। इन दोनोंके ग्रन्थोंमें लिखे जैमिनि और बादरायण उनके पूर्ववर्ती अन्य ही दो व्यक्ति हों ऐसी कल्पना किसीने आज-

तक नहीं की है। यदि अतिरिक्त हैं तो उनके ग्रन्थ बादरि काष्र्णाजिनि आदि अन्य पूर्वाचार्योंके ग्रन्थके समान नष्ट हो गये यही मानना पड़ेगा।

उभयमीमांसासूत्रोंपर उपवर्ष एवं भवदास आदि अतिप्राचीन आचार्योंकी वृत्तियां बन गयीं थीं। संभव है कि ये वृत्तियां शंकराचार्यादिके समयतक भी उपलब्ध थीं। क्योंकि उन्होंने अपने भाष्यमें कईयोंके नाम लिए हैं। मीमांसासूत्रोंपर वर्तमानमें उपलब्ध प्राचीनतम भाष्य शाबर भाष्य है। शबरस्वामीने द्वितीय-तृतीय शताब्दी के करीब इस भाष्यकी रचना की। इनका नाम आदित्यदेव भी था। कुछ लोग कहते हैं कि जैनों के भयसे ये जङ्गलमें भाग गये और अपना नामपरिवर्तन किया। ये सब किंवदन्तियां कल्पनामात्र हैं। "अहिंसा परमो धर्मः" माननेवाले जैनोंसे भय, उससे जङ्गल भाग जाना, ऐसी घटनायें जैनियोंको बदनाम करने के लिए कल्पित हो सकती हैं। क्या उस समय कोई हिन्दू ही नहीं रहा जो इनको जैनियोंसे बचाता? और ऐसी घटनायें कई हो गयी हों तो अलग बात है। एक शबरस्वामी मात्रके लिए यह आपदा कल्पनासे अतिरिक्त कुछ भी प्रतीत नहीं होता। यह तो सुननेमें आता है कि इनको चार वर्णकी पत्नियां थीं जिनमें क्षत्रिय पत्नीसे भर्तृहरि हुआ। इसमें सत्यता कहाँतक है यह भी कहना मुश्किल है। शाबर भाष्यपर तीन व्याख्यायें प्रसिद्ध हुई। कुमारिल भट्टका वार्तिक, प्रभाकर मिश्रकी लघ्वी और बृहती व्याख्या और 'मुरारेस्तृतीयः पन्था' वाली मुरारिमिश्रकी व्याख्या। कुमारिल भट्टको कुमारिल स्वामी भी कहते हैं। उन्हें कोई मिथिलाके मानते हैं, कोई काशीके और स्वामी-स्वामी देखकर कुछलोग दाक्षिणात्य भी मानते हैं। "मलयाचलविन्ध्याचलनिवासिनौ" इस प्रकार प्रभाकर और शालिकानाथके लिये यथासंख्य विशेषण देखकर प्रभाकरको कोई मलयाचल—आजकलके 'मलयालं'के वासी बताते हैं और मिश्रनाम देखकर मिथलाके। इस झंझटमें न पड़ना ही यहाँ श्रेयस्कर दीखता है। मण्डनमिश्र, पार्थसारथि आदि कुमारिलानुयायी धुरंधर विद्वान् हुए जिन्होंने वार्तिकपर व्याख्या और स्वतन्त्रग्रन्थ भी लिखे। शालिकानाथादि विद्वानोंने प्रभाकरके ग्रन्थोंपर व्याख्या लिखी। प्रसिद्ध विद्वान् नव्यन्यायप्रवर्तक गंगेशोपाध्याय प्रभाकरमतके रहस्यज्ञ थे यह उन्होंने अपनी चिन्तामणि ग्रन्थके मङ्गलाचरण में लिखा है। विद्यारण्यस्वामीकी अधिकरणन्यायमाला, लोगाक्षिभास्कर का अर्थसंग्रह, आपोदेवका मीमांसान्यायप्रकाश मीमांसाप्रवेशार्थियोंके लिए अत्यधिक उपयोगी ग्रन्थ है। अर्थसंग्रहका ही विस्तार मीमांसान्यायप्रकाश है। प्रथम निर्माण अर्थसंग्रहका ही हुआ है। क्योंकि यदि न्यायप्रकाशका प्रथम निर्माण होता तो उनके पुत्रने ही उसपर विस्तृत व्याख्या लिखी थी तब उसीके संक्षिप्त ग्रन्थके लिए

रामेश्वरयतिका "टीकाविहीने तु कृता टीका" इसप्रकार अपनी कठिनाई बताना बेकार हो जाता।

भट्टमत में और प्रभाकर मत में समानरूप से द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य ये चार पदार्थ हैं। भट्टमत में अभाव पंचम पदार्थ है। और गुरुमत में शक्ति, सादृश्य, संख्या और समवाय को जोड़ कर आठ पदार्थ हैं। इनकी व्याख्या वैशेषिकवत् है। अग्नि आदि में दाहादि शक्ति पृथक् पदार्थ है। गुणादि में भी सादृश्य होने से सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण दोनों मतों में हैं। अभाव को अतिरिक्त मानने से भट्टमत में अनुपलब्धि छठा प्रमाण है। नैयायिकादि परतः प्रामाण्यवादी हैं। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। प्रभाकर मत में अप्रमा कोई है नहीं। शुक्ति में जहाँ रजत-ज्ञान है वहाँ शुक्ति प्रत्यक्ष है। रजतका स्मरण है। दोनों का सम्बन्ध नहीं है किन्तु उस असम्बन्ध का अज्ञानमात्र वहाँ है। उभय मतमें वेद ही परम प्रमाण है। यजेत, जुहुयात् इत्यादि विधिवाक्य है। उत्पत्तिविधि, अधिकारविधि, विनियोगविधि और प्रयोग विधि ऐसे विधि के चार भेद हैं। "अग्निहोत्रं जुहोति", "स्वर्गकामो यजेत", "दध्ना जुहोति", "वेदं कृत्वा वेदिं करोति" इत्यादि क्रमशः उदाहरण हैं। "इषे त्वोर्जे त्वा" इत्यादि मन्त्र कहलाते हैं। जो प्रयोगगत अर्थका स्मरण करावे। "ज्योतिष्टोमेन यजेत" इत्यादिमें ज्योतिष्टोमादि नामधेय हैं। "न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्यादि निषेधवाक्य है। "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि अर्थवाद वाक्य हैं। इस-प्रकार विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद ऐसे वेदके पाँच विभाग माने हैं। इनका प्रतिपादन करना ही मीमांसाका मूल्य लक्ष्य है। वेदोंको मीमांसक अपौरुषेय मानते हैं। क्योंकि पुरुषनिर्मित होते तो पौरुष दोष भी इसमें आ जाते। नैयायिकादिका कहना है कि ईश्वरप्रोक्त होनेसे पौरुष दोषोंकी वेदोंमें प्रसक्ति नहीं है। परन्तु मीमांसक ईश्वरपर निर्भर नहीं हैं। अतः अपौरुषेय मानना ही उनके लिए रास्ता रह जाता है।

कुमारिलभट्टने तन्त्रवार्तिकमें एक जगह ईश्वरका जोरदार खण्डन किया है। उनका कहना है कि ईश्वर यदि जगत्कर्ता है तो किसीको रूपवान्, विद्वान्, धनी आदि और किसीको कुरूप, मूर्ख, दरिद्र आदि क्यों बनाया? ऐसी विषमता ईश्वरमें क्यों है? उस दयालु ईश्वरने सबको सुखी क्यों नहीं बनाया? रोगी कराह रहा है, ईश्वरको पुकार रहा है, लेकिन होता कुछ नहीं। यदि पूर्वकर्मानुसार यह सब होता है तो उसी कर्मको रहने दो ईश्वरकी क्या जरूरत पड़ी? युक्तियोंकी तो झड़ी लगायी कुमारिलने। किन्तु वे वस्तुतः निरीश्वरवादी नहीं थे। तन्त्रवार्तिकमें ही

इतिहासपुराणादिको प्रमाण सिद्ध करते हुए भगवानको क्या भगवानके अवतारोंको भी प्रामाणिक ठहराया है। फिर उनके प्रथम मङ्गलाचरण ही देख लो। "विशुद्ध-ज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे। श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे"। यहाँ स्पष्ट शङ्करको प्रणाम किया है। इसका यज्ञपरक अर्थ भी जरन्मीमांसक लोग करते हैं। परन्तु यज्ञकर्मको नमस्कार करनेके लिए कहाँ बताया है? गुरु आदि चेतनको नमस्कार किया जाता है। न कि जडवर्गको। उस कर्मको क्या मालूम कि इसने प्रणाम किया है, इसको फल देना है इत्यादि? भट्टानुयायो सबने ईश्वरको माना है। ईश्वरनिराकरण कर्मप्रशंसामात्रार्थ है। जैसे "अपशवो वाह्यन्ये गवाश्वेभ्यः" इत्यादि में। अतः मीमांसक अनीश्वरवादी हमें नहीं लगा।

९ (१४) मीमांसादर्शनमें रामानुजसिद्धान्त

भारतीय दर्शनोंमें वेदवाक्यार्थविचारात्मक होनेसे मीमांसा बड़ा ही महत्त्व रखती है। किन्तु पूर्वमीमांसाका स्वरूपतः महत्त्व होनेपर भी वह जनसामान्यमें अपना स्थान नहीं रख सकी। उसमें कारण यह रहा कि नास्तिक जानताको इस मीमांसासे कुछ लेना-देना नहीं था। आस्तिकोंमें भी प्रायः पौराणिक यज्ञानुयायी हो गये। और पशुयागादिका भी उसमें निरूपण होनेसे आस्तिकोंमें भी बहुत लोग और भी दूर हट गये। किन्तु उत्तरमीमांसामें यह दोष नहीं आया। स्वरूपतः उसका महत्त्व था ही। जनस्वीकृत भी होनेसे इसका महत्त्व सर्वाधिक हो गया। जनताने इसे किसी न किसी रूपसे अपने जीवनका अंग बनाया। बादरायण आचार्यने उत्तर-मीमांसा सूत्र लिखा। इसको ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं। वैसे तो वेदान्त वेदका अन्तिम भाग होने से अनादि प्रचलित है। तथापि शारीरकसूत्ररचनोत्तर यह वेदान्तदर्शन कहलाया। जनमानसमें विशेष स्थान होनेसे ही इसपर अनेक भाष्योंका निर्माण-हुआ। जिनके द्वारा आचार्योंने जनताको अपने सिद्धान्तकी ओर मोड़ा।

ब्रह्मसूत्रपर प्रथम वृत्ति संभवतः उपवर्षने लिखी। जिनका बड़े आदरसे "भगवान् उपवर्षः" कहकर शबरस्वामी तथा शङ्कराचार्य दोनोंने नाम लिया। कहा जाता है कि इसपर बोधायनकी भी एक विस्तृत वृत्ति थी। रामानुजीयोंका मानना है कि रामानुजाचार्यने यह वृत्ति पढ़ी थी और उसीके आधारपर रामानुज-भाष्यका निर्माण किया। परन्तु यह विश्वसनीय नहीं है। रामानुजाचार्यने अपने भाष्यमें यही बताया है कि "बोधायनकृतां विस्तीर्णां वृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः" बोधायनकृत विस्तीर्ण वृत्तिको पूर्वाचार्योंने संक्षिप्त किया। तदनुसार मैं व्याख्या करता हूँ। बोधायनवृत्तिसंक्षेपानुसारी होनेसे भी बोधायनानुसारी माना जा सकता

है। यदि साक्षात् बोधायनवृत्त्यनुसारी होता तो 'संचिक्षिपुः' यह इतिहासकथन व्यर्थ होता। कमसे कम उनके साक्षात् गुरु यामुनाचार्य, यादवप्रकाश और पेरियनंबी आदिमें किसीने संक्षेप तो नहीं किया, जिससे कि उनके गौरवके लिए उक्त पंक्ति लिखी हो। क्योंकि ऐसी किसीकी वृत्ति उपलब्ध नहीं है और किंवदन्तीसे भी प्रसिद्ध नहीं है। अतः यह संक्षेपणकथन उस संक्षेपको ही बोधायनवाक्यत्वेन ग्रहण किये जानेका संकेत देता है। फिर इतने महत्त्वपूर्ण बोधायनवृत्तिकी रक्षा रामानुजाचार्यने और परवर्तियोंने क्यों नहीं की ? जबकि भाष्य एवं उसकी टीका आदिकी अक्षरशः रक्षा हुई। कुछ लोग कहते हैं कि रामानुजाचार्यके एक शिष्यको बोधायनवृत्ति कण्ठ थी उसकी सहायता से भाष्य लिखा। किन्तु उस शिष्यको कहाँसे बोधायनवृत्ति प्राप्त हुई ? फिर कण्ठस्थ थी तो उसे लिख रखनेमें क्या बाधा थी ? जबकि यह मालूम है कि मेरे मरनेके बाद यह नष्ट होनेवाली है। अतः यह सब कल्पनामात्र है। रामानुजाचार्यने स्वमतानुसारी कोई वृत्ति देखी होगी, जिसको बोधायनवृत्तिका संक्षेप मान लिया या उसीमें लिखा भी हो सकता है कि मैं बोधायनवृत्तिका संक्षेप कर रहा हूँ जिसकी रामानुजभाष्योत्तर उपयोगिता न रह जानेसे लोगोंने उपेक्षित किया। शङ्कराचार्यके समयमें भी बोधायनवृत्ति अनुपलब्ध रही होगी। यदि रामानुजोक्त सिद्धान्त ही उसमें होता तो भर्तृप्रपञ्चादिके खण्डनके साथ उसका भी खण्डन शङ्कराचार्य करते। अस्तु। इसके बाद भर्तृप्रपञ्चका कोई भाष्य या वृत्ति ब्रह्मसूत्रपर हुई। जो ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। इसके बाद शङ्कराचार्यने भाष्य लिखा। उसके अल्पसमय बादमें ही भास्कराचार्यने एक भाष्य लिखा। तदनन्तर क्रमशः रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य एवं वल्लभाचार्यने भाष्य किया। भास्कर मतका हमने पृथक् संग्रह नहीं किया। क्योंकि वह प्रायः निम्बार्क मत जैसा ही है। यद्यपि पूर्व होनेसे उसीका संग्रह यहाँ उचित था। तथापि निम्बार्क सम्प्रदाय नामसे एक अलग सम्प्रदाय प्रसिद्ध होनेसे उसीका संग्रह यहाँ किया गया।

नाथमुनि, यामुनाचार्य, मध्यवीथिभट्ट एवं कृष्णपाद नामके आचार्य इस विशिष्टाद्वैतमतके पूर्वाचार्य हुए।

सन् १०१७ में रामानुजका जन्म हुआ। इनके पिताका नाम केशव था जिनकी मृत्यु रामामुजके जन्मके थोड़े ही दिन बादमें हो गयी। बादमें रामानुज अपनी मौसीके पुत्र गोविन्दके साथ वेदाध्ययनार्थ कांचीमें यादवप्रकाशके पास आये। शांकरमतानुसारी होनेसे यादवप्रकाशका व्याख्यान रामानुजको रुचिकर नहीं लगा। और स्वयं उसपर भाष्य लिखनेकी प्रतिज्ञा की। वहाँसे वे श्रीरंगवासी

यामुनाचार्यके पास आ गये। किन्तु उनसे अध्ययन नहीं कर सके। उससे पहले उनका देहावसान हो गया था। वापिस कांची आकर पेरियनंबीसे उन्होंने संन्यासग्रहण किया। पुनः श्रीरंग जाकर सूत्रभाष्य एवं वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रहादि अनेक ग्रंथ लिखे। रामानुजानुयियोंमें लोकाचार्य, सुदर्शनसूरि, वेदान्तदेशिक एवं श्रीनिवासाचार्य आदि प्रसिद्ध हुए। तेरहवीं सदीके सुदर्शनसूरिने श्रीभाष्यपर एक प्रौढ व्याख्या लिखी जिसका नाम श्रुतप्रकाशिका है। तेरहवीं चौदहवीं सदीके वेदान्तदेशिकने गीताभाष्यादिपर पौढ व्याख्यायें लिखीं। एवं शतदूषणी आदि ग्रन्थ भी उन्होंने रचे। सोलहवीं सदीके श्रीनिवासाचार्यने रामानुजमतके पदार्थोंका संग्रह अपने यतीन्द्रमतदीपिकामें सुन्दर ढंगसे किया। इस संप्रदायमें रंगरामानुज नामके भी एक विद्वान हुए जिन्होंने उपनिषदोंपर भाष्य लिखा।

रामानुजीय मतमें चित्, अचित्, ईश्वर ऐसे तीन पदार्थ हैं। जीवात्मा चित् है। प्रकृति, महत्तत्त्वादि समस्त जड पदार्थ अचित् है। इन दोनोंका अन्तर्यामी ईश्वर है। जीव तीन प्रकारका है। बद्ध, मुक्त और नित्यमुक्त। ब्रह्मासे स्तम्ब-पर्यन्त सभी बद्ध जीव हैं। जो साधनाके द्वारा प्राकृत शरीरसे वियुक्त हुआ वह मुक्त है। अनन्त, गरुड, निष्वक्सेन आदि नित्यमुक्त हैं। जीव अणुरूप है। उसका प्रकाश गृहमध्यगत दीपप्रभाके समान फैलता है तो शरीरान्तर्गत तथा बाहर फैलनेपर बाह्य विषयोंका ग्रहण करता है। कर्मादिरूप प्रकृतिसे ज्ञानप्रकाश प्रतिबद्ध होनेसे संकुचित होता है। मोक्षकालमें वह विकसित होकर अनन्त हो जाता है तो जीवात्मामें सर्वज्ञत्वादि गुण आ जाते हैं। विष्वक्सेनादिका ज्ञान नित्य ही व्यापक है। अचित् तीन प्रकारका है। शुद्ध सत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य। वैकुण्ठादि विशुद्धसत्त्वात्मक हैं। उससे अतिरिक्त जगत् मिश्रसत्त्वात्मक है। काल सत्त्वशून्य है। ईश्वर अनन्तज्ञान अगणित दिव्यगुण आदिसे सम्पन्न है। चित् अचित् दोनों ईश्वरके शरीर हैं। प्रलयकालमें अचित्कारणावस्थापन्न होकर ईश्वर-शरीर होता है। सृष्टिकालमें वही कार्यावस्थापन्न होकर ईश्वरशरीर होता है। कारण और कार्य अभिन्न होनेसे कारणविशिष्ट ईश्वर और कार्यविशिष्ट ईश्वरकी एकता होती है। विशिष्टोंकी वह एकता ही विशिष्टाद्वैत है। ईश्वरके पांचरूप हैं। वे हैं पर, व्यूह विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। परब्रह्म नारायण पर है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध ये चार व्यूह हैं। मत्स्यकूर्मादि विभव हैं। अखिल नियन्ता अन्तर्यामी है। नारायणमूर्ति आदि अर्चावतार हैं। ज्ञानकर्मानुगृहीत उपासना भक्तिसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगमसे ज्ञान होता है। शास्त्रोक्त वर्णाश्रम धर्म कर्म है। इनका संपादन करते हुए भक्ति

करना चाहिये। उपासनाके भक्ति और प्रपत्ति ऐसे दो रूप हैं। अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग ये भक्तिके पांच अंग हैं। विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, अनवसाद, अनुद्धर्ष और कल्याणकार्यसे होनेवाला ज्ञानविशेष ही भक्ति है। इस भक्तिमें शूद्रको अधिकार नहीं है। केवल त्रैवर्णिक ही भक्ति कर सकता है। शूद्र प्रपत्ति कर सकता है। दीनभावसे भगवानके शरणागत होना प्रपत्ति है। इससे जीवात्मा प्रकृतिवियुक्तस्वरूप होकर मोक्ष पाता है। जीवन्मुक्ति नहीं होती। केवल विदेहमुक्ति ही स्वीकार्य है।

मोक्षमाणपुरुष अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण मार्गसे उनके अधिष्ठाता देवताओं से पूजित होकर सूर्यादिलोक जाता है। वहांसे सूर्य, चन्द्र, विद्युतादि पार करता है तो कोई अमानव पुरुष उसे ले जानेके लिये पहुँचता है। वह वैकुण्ठके द्वारतक पहुँचाता है। वहाँसे गरुडादि वैकुण्ठवासी ही उसे नारायण-तक पहुँचाते हैं। नारायणप्राप्ति ही मोक्ष है। वहाँ प्राकृत कोई वस्तु नहीं है। शब्दस्पर्शादि सभी दिव्यपदार्थ ही वहाँ हैं। वहाँ दिव्य पदार्थ खानेको मिलता है। खेलनेके लिये बहुत-सारे साथी मिलते हैं। दिव्य स्त्रियां भोगार्थ उपलब्ध हैं। दिव्ययानोंमें बैठकर विचरण किया जा सकता है। "जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है। और यह दिव्यभोग अनन्तकालतक बना रहता है। संसारभोगोंको भोगते रहनेसे नीरसता अन्तमें इसलिये आती है कि यहाँ इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। वैकुण्ठमें शुद्धसत्त्वमय होनेसे इन्द्रियाँ शिथिल नहीं होतीं। अतः नीरसता नहीं आती।

रामानुजीय मतमें ब्रह्म और जीवका शाश्वत भेद है। तथा जगत् सत्य है। उनके मतमें कोई भी पदार्थ मिथ्या नहीं है और मिथ्या ज्ञान भी नहीं होता। पंचीकरणके कारण शुक्तिमें भी रजतांश है। मरुमरीचिकामें भी जलांश है। दोषके कारण रजतादि अंश दीखता है। शुक्त्यंश छिप जाता है। स्वप्नमें जो पदार्थ दीखते हैं वे भी सत्य हैं। श्रुतियोंमें उसे परमेश्वरसृष्टि बताया है। "न तत्र रथा....अथ रथान्....सृजते"। फरक इतना ही है कि जाग्रतमें वे पदार्थ लीन हो जाते हैं। इस मतमें निर्विकल्पक और सविकल्पक ऐसे दो ज्ञान तो माने हैं। किन्तु 'निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकं' इस नैयायिक परिभाषाको वे नहीं मानते। सामान्यस्वरूप जहाँ प्रकार हो वह निर्विकल्पक है। और विशेषस्वरूप जहाँ प्रकार हो वह सविकल्पक है। वस्तुके साथ प्रथम संनिकर्षसे कोई चीज है ऐसा सामान्यप्रकारक ज्ञान प्रथम होता है। वही निर्विकल्पक ज्ञान है।

बल्लभाचार्य तो क्वचित् जगत्का मिथ्यात्वकथन वैराग्यार्थ बताते हैं। परन्तु

रामानुजीय मत है कि श्रुति स्मृति आदिमें कहीं भी जगन्मिथ्यात्वका वर्णन ही नहीं है। इसीलिए जहां कहीं भी मिथ्यात्ववाचक पद आता है तो रामानुजाचार्य उसका अर्थ दूसरा ही लगाते हैं। जगत्-मिथ्यात्व और जीवेश्वर-एकत्वके ये कट्टर विरोधी थे। तत्त्वमसि आदि महावाक्योंका भी ये अन्यथा अर्थ करते हैं। तत्त्वमसिका तदात्मकस्त्वमसि ऐसा अर्थ वे मानते हैं। परमात्मा तुम्हारो आत्मा है। अत एव कहीं भी जीवपरैक्य श्रुतिमें वर्णित नहीं हुआ है। रामानुज मतमें पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा मिलाकर एक ही शास्त्र होता है। संकर्षणकाण्डको भी जोड़नेपर बीस अध्यायका यह शास्त्र है। अत एव पूर्वमीमांसाध्ययनोत्तर ही उत्तरमीमांसाध्ययनका अधिकार प्राप्त होता है। यही अथशब्दका भी अर्थ है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा और एकादशेन्द्रिय, पंचीकरणजन्य पंचमहाभूत (क्वचित् सप्तीकरण हैं) उनसे ब्रह्माण्ड और तन्मध्यवर्ती भूर्भुवः स्वः आदि चतुर्दश लोक और उनमें अण्डजादि शरीर ये सब अचित्तत्त्व हैं। काल भी अचित् है। ये द्रव्य हुए। रूपरसादि गुण हैं। कर्मादि पृथक् नहीं है। ईश्वरके बारेमें पहले ही कहा जा चुका है। ये ही तत्त्व हैं। चिदचित्तत्त्वोंको परमेश्वरशरीर समझकर आश्रमकर्म करते हुए उपासना करनेवाला वैकुण्ठको प्राप्त होता है। यही मोक्ष है।

(१५) मीमांसादर्शनमें निम्बार्कमत

मीमांसादर्शनमें प्रथम रामानुजमत बताया। उसके बाद दूसरे नम्बरमें निम्बार्क वेदान्त है। इस सम्प्रदायको हंस सम्प्रदाय भी कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें हंसरूपमें आकर भगवानका सनकादिको उपदेश देनेकी बात आती है। सनकादिने नारदजीको वह रहस्य बताया और नारदजीसे निम्बार्काचार्यने उपदेश प्राप्त किया। इसलिये यह हंससम्प्रदाय कहलाया। इसी परम्पराके आधारपर निम्बार्कीय यह भी मानते हैं कि निम्बार्काचार्य द्वापरमें हुए। भविष्यपुराणमें निम्बार्कके बारेमें काफी चर्चा है यह भी इसमें प्रमाण है। तीसरी बात यह है कि निम्बार्काचार्यके भाष्यमें किसी भी पूर्वाचार्यका खण्डन नहीं है। यह सिद्ध करता है कि ये सबसे प्रथम हुए। परन्तु इस तथ्यको इतिहासवेत्ता माननेके लिये तैयार नहीं हैं। डाक्टर भंडारकरके मतका उल्लेख करते हुए विद्वानोंने उनकी मरणतिथि ११६२ ईसवी निश्चित किया है। अर्थात् निम्बार्काचार्य बारहवीं शतीके थे। जन्म ग्यारहवीं शतीके अन्तमें हुआ। यह बात सही है कि निम्बार्काचार्यने किसी पूर्वाचार्य एवं भाष्यकर्ताओंका खण्डन नहीं किया है। किन्तु उनका भाष्य भी केवल एक वृतिरूप

है। अतिसंक्षिप्त है। उसमें खण्डन-मण्डनके लिये अवसर ही कहाँ था। फिर खण्डन मण्डनके चक्करमें न पड़ना उनकी अपनी महत्ता भी तो हो सकती है। किन्तु उनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य जो अपनेको निम्बाकाचार्यसे भाष्य लिखनेका आदेश प्राप्त बताते हैं, जैसा कि भाष्यारम्भमें उन्होंने लिखा है, तदनुसार निम्बार्काचार्यके समकालीन ही श्रीनिवासाचार्य निश्चित होते हैं। उन्होंने तर्कपादमें शांकरभाष्य और वाचस्पत्यमें दिखाये गये बौद्ध पूर्वपक्षको ज्योंके त्यों रखा है उसमें दिङ्नाग धर्मकीर्ति आदिकी कारिकायें भी आती हैं। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदिका समय तीसरी शताब्दीसे शुरु होकर छठी शतीतक है। तब यह कैसे माना जा सकता है कि पूर्वाचार्योंका खण्डन न करनेसे वे द्वापर पहुँच जायेंगे? भविष्यपुराणपरिशिष्टादिमें उदयनाचार्यादिका भी नाम आया है तो क्या इनको भी द्वापरमें पहुँचायेंगे? अतः ये सारी बातें स्तुतिवाद मात्र है। एक सलाह हम दे सकते हैं कि द्वापरसे लेकर बारहवीं शतीतक निम्बार्काचार्य योगशक्तिसे जिन्दा रह गये। ऐसा प्रचार करो तो ये सभी गवेषक परास्त हो जायेंगे। सिर्फ इतना ही प्रश्न रहेगा कि इतने दिनोंतक किसी दार्शनिकने निम्बार्कका नामोल्लेख क्यों नहीं किया? दूसरा यह कि प्रतिसंख्यानिरोधादिका बादरायणने जो खण्डन किया जिसके कारण बादरायणको भी जो गवेषक बौद्धोत्तर मानते हैं उनको उक्त उत्तरसे संतोष नहीं होगा।

निम्वार्क तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनका पूर्व नाम नियमानन्द था। ऐसा कहा जाता है कि किसी संन्यासीको भोजनार्थ इन्होंने आमन्त्रण दिया। किसी कर्ममें लगे रहनेके कारण रात हो गयी। तव संन्यासीने सूर्यास्तके बाद भिक्षा लेनेके लिये मना किया। तब नियमानन्दने निम्ब (नीम)के पेड़पर अर्क (सूर्यका) रातको दर्शन कराया और कहा सूर्यास्त नहीं हुआ। इसीसे उनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य हुआ। परवर्ती कई धुरन्धर विद्वानोंने भी मूहर्तनिरूपणावसरमें निम्बार्काचार्यका आदरके साथ भगवान् निम्बादित्यः कहकर उद्धरण दिया है। किंवदन्तीकी सत्यताके बारेमें कुछ कहना मुश्किल है तथापि उनकी विद्वत्ताके बारेमें तो संशय नहीं है। भास्कराचार्यके भेदाभेद सिद्धान्तका जीर्णोद्धार यादवने किया, वह भी लुप्तप्राय हो गया, तब निम्बार्काचार्यने उसको पुनर्जीवित कर द्वैताद्वैतवादसे प्रतिष्ठापित किया। निम्बार्कसंम्प्रदायके कारण आज भी वह बचा हुआ है। इसमें भी भक्तिको प्रधानता होनेसे दार्शनिक अध्ययनाध्यापनकी प्रथा अत्यन्त न्यून है। यही स्थिति वल्लभीय मतकी भी है। फिर भी कोई न कोई पढने वाला तो निकल ही आता है। हां ग्रन्थसम्पत्ति इस मतमें अत्यल्प है।

नवमीं शतीके भास्कराचार्य और निम्बार्काचार्यके सिद्धातोंमें काफी समानता है यह हम बता चुके। भास्कराचार्यमतको भेदाभेदवादिमत कहते हैं। निम्बार्काचार्यके सिद्धान्तको द्वैताद्वैतवादीमत कहते हैं। केवल प्रतिपादनशैली पृथक् प्रतीत होती है। चित्, अचित्, ईश्वर ये तीन रामानुजवत् ही हैं। चित् अर्थात् जीवात्मा अणु है, अपने प्रकाशके द्वारा शरीरको व्याप्त करता है यह भी रामानुजवत् है। जीवके बद्ध, मुक्त, नित्यमुक्त ये भेद भी वैसे ही हैं। अचित् अर्थात् जडवस्तु भी अप्राकृत, प्राकृत और उभयभिन्न काल ऐसे तीन प्रकारका है यह भी रामानुजवत् ही है। और ईश्वरके स्वरूप एवं गुणके बारेमें भी समान ही हैं। इतनी विशेषता है कि रामानुजमतमें नारायण है, निम्बार्कमतमें श्रीकृष्ण है। रामानुज मतमें भक्ति प्रपत्ति अलग है, निम्बार्कमतमें भक्तिका पर्यवसान प्रपत्तिमें है।

मुख्यविशेषता यह है कि परमात्माका ही परिणाम जीव और जडप्रपञ्च है। परमात्मामें ये दोनों शक्तिरूपेण हमेशा रहते हैं। सृष्टिकालमें ये आविर्भूत होते हैं, प्रलयकालमें तिरोभूत होते हैं। सृष्टिकालमें जीवात्माकी आविर्भूति विशेषरूपसे शरीरादि उपाधिके कारण ही है। न कि चक्षुरादिगोचररूपसे। जैसे कटक कुण्डलादिरूपसे द्वैत है किन्तु सुवर्णरूपसे अद्वैत है वैसे परमात्मस्वरूपसे अद्वैत है; जीवत्व, पृथिवींत्व, जलत्वादिरूपसे द्वैत है। जीव और परमात्मामें भी शक्ति और शक्तिमानके रूपमें द्वैताद्वैत ही है। अतएव मोक्षोत्तर भी यह भेद रहेगा। फरक इतना है कि सृष्टिकालमें अभेद आवृत रहता है। जिससे जीवात्माको सुखदुःखादिका अनुभव होता है। विद्यमान भी अभेद प्रतीत नहीं होता। भेद ही प्रतीत होता है। वैसे मोक्षकालमें विपरीतरूपसे विद्यमान भी भेद प्रतीत नहीं होता या आवृतसा रहता है। और अभेद प्रगट होता है। मोक्षकालमें उपास्य एवं उपासकरूपसे परमात्मा और जीवात्माकी स्थिति होती है। गोपीभावको प्राप्तकर जीवात्मा श्रीकृष्णकी सेवा मोक्षकालमें करते हैं। तब फिर द्वैत ही हुआ, बीचमें अभेद किसलिये ला रहे हैं? इस प्रश्नका उत्तर है कि शक्ति और शक्तिमानमें भेद होनेपर भी अभेद है वैसे घटोत्पत्तिसे पूर्व भी घट ही शक्तिरूपसे स्थित है तो भेद और अभेद दोनों क्यों नहीं होंगे? मृत्सत्तारिक्त सत्ता न घटमें है और न घट शक्तिमें है। अतएव अभेद मानना अनिवार्य है। वैसे ही परमात्मसत्तातिरिक्त सत्ता न प्रकट जीवमें है और न मुक्तावस्थ शक्तिरूपापन्न जीवात्मामें है। रामानुजीय मतमें यह बात नहीं है। रामानुज परमात्मसत्तातिरिक्त सत्ता जीवात्मामें और जगतमें मानते हैं। शरीरशरीरिभाव अवश्य माना पर उपादानोपादेयभावपर्यन्त वे नहीं पहुँच सके। प्रश्न यही हो सकता है कि शरीरशरीरिभावसे काम चल जायेगा तो उपा-

दानोपादेयभाव तक जाने की क्या जरूरत है ? निम्वार्काचार्यका कहना है कि सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तत्त्वमसि इत्यादि वचन केवल शरीरशरिभावसे उपपन्न नहीं हो सकता। देवदत्तादि शरीर और आत्माकी एकता भ्रान्तिसे भले प्रतीत हो परन्तु वास्तविक एकता नहीं है, वैसे ही सर्वं खल्विदं ब्रह्म और तत्त्वमसि आदिमें प्रातीतिक एकतामात्र विवक्षित हो तो भ्रान्तार्थ की प्रतिपादकता भी माननी पड़ेगी और यह वात श्रुतिके लिये उचित नहीं है। फिर यह भी कहना पड़ेगा कि यह एकता भ्रान्ति किसको हुई ? जीवने परमात्माको नहीं देखा जो एकताभ्रान्ति करे। और जगत् क्या परमात्माको देखेगा ? अतः शरीरिभावेन एकताका भ्रम परमात्मको ही हुआ यह मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात कहाँतक उचित हो सकती है यह सामान्य जनता भी जान सकती है।

निम्बार्क मतसे तत्त्वमसि आदि महावाक्योंका अर्थानुसन्धान करते रहनेका भी आदेश है। तभी परमात्मसत्तानतिरिक्तसत्ताका साक्षात्कार हो सकता है जो मोक्षकालमें सतत रहता है।

निरवयव ब्रह्ममें परिणाम कैसे हो सकता है ? यदि पूरा ब्रह्म परिणत हो गया तो मुक्तोपसृप्य ब्रह्म नहीं रहेगा। यदि एकदेश परिणाम हुआ तो ब्रह्मको सावयव मानना होगा इस प्रश्नका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं कि निरवयव-सावयवत्वादि साधक या बाधक नही हैं। दूधसे दही होता है, पानीसे नहीं, जब कि दूध और पानी दोनों सावयव हैं। तब यही मानना पड़ेगा कि दूधमें दधिशक्ति है, पानीमें नहीं। शक्तिका ही परिणाम दही है। तब ब्रह्ममें भी जीवजगत्परिणामशक्ति है इतनेसे उपपत्ति क्यों नहीं होगी ? प्रश्न एक नया यह होगा कि दधिशक्ति प्रगट होती है तो दूध नहीं रह जाता। वैसे जगत् शक्ति प्रकटाकार होगी तो ब्रह्म भी फिर नहीं रहेगा। नहीं। ऐसी बात नहीं है। कुण्डल शक्ति प्रकटाकार होनेपर सुवर्ण कहाँ गायब होता है ? मकड़ीसे जाल होनेपर भी मकड़ी कहाँ मर जाती है ? आकाशसे वायु आदि होनेपर भी आकाश नष्ट कहाँ होता है ? इसप्रकार श्रुतियोंकी उपपत्ति होनेसे जगत्को मिथ्या माननेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। इन्हीं सब वातको प्रकारान्तरसे भास्करने भी कहा है।

निम्बार्क मतका एक भाग सखीसम्प्रदाय है। वे इस मनुष्यशरीरमें भगवत्सखीभाव प्रकट करते हैं। साड़ीं पहनकर स्त्रियों की तरह रहते हैं। महीनेमें तीन चार दिन 'हाथ चोखा नहीं'का ढोंग उनको करना पड़ता है। पुरुषप्रधान भारतीय समाजमें स्त्री यदि अपने महत्त्व दिखानेके लिये पौरुषभाव दिखावे तो झांसीकी

रानीके समान इतिहासके पन्नोंपर आ जाती। परन्तु यदि स्त्रीभाव दिखावे तो उसका क्या महत्त्व होगा यह सखीसम्प्रदायवाले बता सकते हैं। बताते भी हैं। वह यह कि उससे श्रीकृष्णकी प्रीति होती है और जल्दी गोलोकमें गोपीभाव प्राप्त होगा। मेरी समझमें आजकल स्त्रियोंको ऊपर लानेके लिये जो क्रान्ति प्रारम्भ हुई है उसमें भी यह सिद्धान्त सहायक संभवतः हो सकता है। परन्तु तकलीफ यह है कि कोई भी माँ अपने बेटेको लड़कीके समान बर्ताव करते हुए देखकर पसन्द नहीं करती। हाँ यदि लड़की वीरता दिखावे तो शाबाशी देती है। अस्तु।

निम्बार्काचार्यने वेदान्तसूत्रोंपर वेदान्तपारिजात नामका स्वसिद्धान्त प्रतिपादक भाष्य लिखा। वेदान्तपारिजातसौरभ नामसे वह जाना जाता है। दूसरा ग्रन्थ दशश्लोकी है। जो सिद्धान्तप्रतिपादक है, जिसपर हरिव्यासाचार्यकी प्राचीन टीका है और वनमाली ब्रह्मचारीकी नव्य टीका है। श्रीकृष्ण स्तवराज भी उनका ग्रन्थ है, जिसमें पचीस श्लोक हैं। निम्बार्कके साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्यने वेदान्त-सूत्रोंपर पारिजातसौरभानुसारी वैदान्तकौस्तुभनामक विस्तृत भाष्य लिखा है। केशवभट्ट काश्मीरी (१५वीं शती) ने वेदान्तकौस्तुभपर कौस्तुभप्रभा नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी। गीताकी तत्त्वप्रकाशिका टीका, भावगतान्तर्गत वेदस्तुतिपर तत्त्व-प्रकाशिका टीका तथा क्रमप्रदीपिका नामका पूजापद्धतिग्रन्थ ये भी इनकी कृतियाँ हैं। श्री पुरुषोत्तमाचार्यने दशश्लोकीकी सिद्धान्तरत्नमञ्जूषा नामकी व्याख्या तथा श्रीकृष्णस्तवराजकी व्याख्या श्रुत्यन्तकल्पद्रुम लिखा। ये दोनों निम्बार्क सिद्धान्त जाननेके लिये उपयोगी ग्रन्थ हैं। देवाचार्यकी सिद्धान्तजाह्नवी, अनन्तरामका वेदान्तत्त्वबोध आदि भी उत्तमकोटिकी रचना हैं।

(१६) मीमांसादर्शनमें माध्वमत

मध्वदेव नामके कर्णाटक ब्राह्मणका पुत्र वासुदेव संन्यासदीक्षाके बाद आनन्द-तीर्थ नामसे प्रसिद्ध हुए। इनको पूर्णप्रज्ञ भी कहते हैं। इनका जन्म ११९९ ई० बताते हैं। ये द्वैतवादी थे। श्रुतियोंका विलक्षण अर्थ जितना इन्होंने किया उतना और किसीने नहीं किया। उदाहरणार्थ "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत" यहाँ वसतीति वसः = सर्वजगद्वासी, तनोति इति तिः = जगद्विस्तारकारी, वसश्चासौ तिश्च छान्दसनकारागमाद् वसन्तिः = परमात्मा, तत्सम्बुद्धौ हे वसन्ते इसप्रकार व्युत्पत्ति कर सर्वजगतमें रहनेवाले, जगतको विस्तार करनेवाले हे परमात्मा यह अर्थ निकाला। आदरार्थ दो बार कहा। ज्योतिषाकी व्युत्पत्ति है—जायते इति जि = जगत् ओतिः = ओतं यत्र स ज्योतिः। 'षकारः प्राण आत्मा' ऐसी श्रुति है। अर्थात्

जगत् जिसमें ओतप्रोत है ऐसा आत्मा ज्योतिषका अर्थ है। सम्बोधनमें सुलोप हो गया। हे ज्योतिष! आयजेतः। तत्सम्बुद्धौ आयजेत। चारों ओरसे यज्ञादि कर्म करनेवालोंसे प्राप्त हे भगवन् ऐसा अर्थ है। इसप्रकार सब पदोंका परमात्मा अर्थ है। अब सोऽहमस्मिका अर्थ देखिये। अहंका अहेय अर्थ है। हीयत इति हः। न हः अहम्। नपुंसकप्रयोग वैदिक होनेसे हो गया। सः = वह परमात्मा अहं = अहेय है, अत्याज्य है। अस्मिमें अस् का अर्थ अस्तित्व है। मिका अर्थ मितं प्रमित-ज्ञात। जो नित्य अस्तित्वेन प्रमित है वह अस्मि है। अस्मिः ऐसा विसर्ग होना चाहिये किन्तु छान्दस होनेसे नपुंसक प्रयोग किया। मध्वाचार्यने ऐसी ऐसी शाखाओं का निर्देशकर श्रुतियोंका उद्धरण दिया है जो आजकल कहीं उपलब्ध नहीं। इस पर अप्पय दीक्षित (षोडश शताब्दी) का कहना है ये सब शाखायें स्मृति पुराणाद्यनाघ्रातगन्ध होनेसे अर्थात् स्मृति एवं पुराणादिमें इन नामोंकी गन्ध भी नहीं है अतः मध्वाचार्यके द्वारा स्वयं विरचित पद्य ही ये श्रुतियाँ हैं। माध्वानुयायियोंका कहना है कि अस्मदादिके अदृष्ट भी श्रुतियोंको स्मृतिकारोंने देखा है, वैसे हम-आपके अदृष्ट श्रुतियोंको माध्वाचार्यने देखा, इसमें कौनसा आश्चर्य है? उनका यह कथन ठीक है। परन्तु प्रतिवादी कहते हैं कि मध्याचार्यकी मठपरम्परा आजतक सुरक्षित है। उन मठोंमें ये श्रुतिग्रन्थ क्यों उपलब्ध नहीं हैं? क्या मध्वाचार्यने इन सब ग्रन्थोंको जला दिया? या फेंक दिया? यहाँ तक कि मध्वाचार्यके अदूरवर्ती उद्भट विद्वान् टीकाकार जयतीर्थ भी उन वचनोंका स्थलनिर्देश नहीं कर सके। अस्तु। इसपर हम अधिक कहना नहीं चाहेंगे। हमें इनके दर्शनपर विशेष ध्यान देना है।

मध्वाचार्यका ब्रह्मसूत्रपर, उपनिषदोंपर, गीतापर और कुछ वेदभागोंपर भाष्य है। बल्कि ब्रह्मसूत्रपर दो भाष्य लिखे। सुनते हैं कि इन सबपर १४वीं शतीके जयतीर्थजीकी टीका है। गीता भाष्यपर तथा कुछ उपनिषदोंपर टीका इस समय उपलब्ध है। राघवेन्द्रयतिने जयतीर्थकी टीकापर व्याख्या लिखी है। अद्वैतवादियों के साथ इनका एक बड़ा शास्त्रार्थ ग्रन्थ रूपमें हुआ। न्यायामृतकार व्यासतीर्थ (१५ श०) उद्भट विद्वान हुए। न्यायामृतका अद्वैतसिद्धिकारने, उसका खण्डन तरंगिणीकारने और उसका निराकरणके साथ अद्वैतप्रतिष्ठापन गौडब्रह्मानन्दने किया था। वनमाली मिश्रने गौडब्रह्मानन्दीका खण्डन करनेका प्रयास किया जिसका निराकरण विट्ठलेश आदिने किया। सोलहवीं शतीके रघूत्तमतीर्थने विष्णुतत्त्वनिर्णयादि ग्रन्थ लिखे। इन्हींके शिष्य रामाचार्य तरङ्गिणीकार हुए। इन्हींके समकाल वेदेश भिक्षु एवं विजयीन्द्र हुए। अभिनव तर्कताण्डवके रचयिता सत्यनाथ

यति वनमाली मिश्रके समकालीन थे।

माध्वमतमें दस पदार्थ हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव। (१) इनमें द्रव्यके बीस भेद हैं। नारायण, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। नारायण परमात्मामें लक्ष्मीकी अपेक्षा अनन्तगुण अधिक ज्ञानादि है। ब्रह्मा आदि सभी मुक्त जीव हैं। ये सब लक्ष्मीके पुत्र हैं। मुक्त मुक्तियोग्य, तमोयोग्ग तथा नित्यसंसारी ऐसे जीवके भेद हैं। अव्याकृत आकाश भूताकाशसे भिन्न हैं। इसीसे वैकुण्ठादिमें पूर्वादि दिशाओंका ज्ञान होता है। प्रकृति सर्व जडजगत्का कारण हैं। इसी मूल प्रकृतिसे सत्त्व, रज, तम ये गुणत्रय उत्पन्न होते हैं। "गुणाः प्रकृतिसंभवाः" ऐसा गीतामें कहा है। महत्तत्त्व बुद्धितत्त्वसे अलग है। "बुद्धेरात्मा महान् परः" ऐसा उपनिषदमें कहा है। महत्तत्त्वसे अहंकार तत्त्व होता है। उससे बुद्धितत्त्व होता है। "खं मनो बुद्धिरेव च अहंकार इतीयं" इस गीतावचनसे अहंकारके बाद बुद्धितत्त्व निश्चित होता है। इसके बाद मन है। इन्द्रियाँ दस प्रसिद्ध हैं। शब्दादि पांच तन्मात्रा प्रसिद्ध हैं। ये तत्त्वरूप हैं। अनुभूयमान शब्दादि गुणरूप हैं। आकाशादि पांच भूत हैं। ये सब प्रकृतिरूप पदार्थ हैं। ब्रह्माण्डतत्त्व इनकी विकृतिरूप है। यहाँतक परमात्माने बनाया। इसके बाद ब्रह्माने अविद्याकी सृष्टि की। मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र तथा तम ये अविद्या हैं। वर्णसे अकारादि क्षकारान्त वर्ण समझना चाहिये। न कि रंग अथवा जाति। अन्धकार भी द्रव्य है। वासना स्वप्नोपादान तत्त्व है। काल क्षणलवादिरूप प्रसिद्ध है। दर्पणादिमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब भी अलग द्रव्य है। वह बिम्बसे अलग तत्त्व है। नैयायिकादि मतमें जीवात्मा परमात्मा दो माननेपर दस द्रव्य होते हैं। यहाँ भूत एक ही द्रव्य माना। फलतः छः और अन्य चौदह द्रव्य और मिल गये तो बीस द्रव्य हो गये। नैयायिकोंके दिक्के स्थानापन्न यहाँ अव्याकृत आकाश है। जिससे वैकुण्ठादिमें भी पूर्वादि-दिशाबोध होता है यह पूर्वमें बताया गया। आठ तो सांख्यप्रसिद्ध तत्त्व हैं। दस इन्द्रियोंको एकमें गिनती की। वह भी सांख्योक्त है। ब्रह्माण्डको मानते हुए भी अतिरिक्त द्रव्य किसीने माना नहीं। उसे यहाँ एक द्रव्यके रूपमें माना। प्रकृतिसे गुणत्रयको और महत्तत्त्वसे बुद्धितत्त्वको यहाँ पृथक् माना। तथा तम और प्रतिबिम्बको अलग द्रव्य माना।

(२) गुणोंके बारेमें प्रायः नैयायिकोंकी ही शैली है। रूप रसादि चौबीस गुण वैशेषिक मत में बताया। लघुत्व, मृदुत्व, काठिन्य, आलोक, शम, दम, कृपा,

तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, धैर्य, गांभीर्य इत्यादि अन्य गुणोंको भी उनमें जोड़ दिया। निश्चित संख्याका निर्देश शायद नहीं है।

(३) कर्मका निरूपण वैशेषिकोंसे विलक्षण है। वैशेषिक उत्क्षेपण अपक्षेपणादिको कर्म कहते हैं। मध्वमतमें विहित कर्म, निषिद्ध कर्म और उदासीन कर्म ऐसा विभाग है। उदासीन कर्ममें उत्क्षेपणादि आ जाते हैं। भ्रमण, वमन, भोजन, विदारणादि भी उदासीनके अन्तर्गत हैं।

(४) जाति और उपाधिभेदसे सामान्य दो प्रकार है। और दोनों ही नित्य अनित्य भेदसे द्विविध हैं। द्रव्यत्वादि जाति नित्य है। ब्राह्मणत्वादि जाति अनित्य हैं। तथा ईश्वरादिमें सर्वज्ञत्वादि उपाधि नित्य है। प्रमेयत्वादि अनित्य है।

(५) विशेष वस्तुविभाजक है। सभी वस्तुओंमें वह रहता है। नित्य वस्तु ईश्वरादिमें वह नित्य है। अनित्य घटादिमें वह अनित्य है।

(६) विशिष्ट अतिरिक्त पदार्थ है। सर्वज्ञत्वविशिष्ट नित्य है और दण्डादिविशिष्ट अनित्य है।

(७) अंशी अवयवीको कहते हैं। ईश्वर भी हस्तपादादि होनेसे अंशी है। वह नित्य है। और वस्त्रादि भी अंशी है किन्तु अनित्य है।

(८) अचिन्त्य शक्ति, सहज शक्ति, आधेय शक्ति, तथा पदशक्ति इस प्रकार चार प्रकारकी शक्ति है। परमात्मामें अचिन्त्य शक्ति अनन्त है। लक्ष्मीमें अचिन्त्य शक्ति अनन्तांश न्यून है। ब्रह्माकी शक्ति उसके लक्षांश न्यून इत्यादि रीत्या समझना चाहिये। अग्नि आदिमें दाहादिके प्रति सहजशक्ति है। प्रतिमा आदिमें प्रतिष्ठासे आधेयशक्ति आती है। पदशक्ति पदार्थबोधनके प्रति हेतु है। यह नित्यमें नित्यशक्ति और अनित्यमें अनित्यशक्ति है।

(९) सादृश्य भी पदार्थान्तर है। गुणोंमें सादृश्य है, जातियोंमें सादृश्य है अत एव सादृश्य पदार्थान्तर माना गया। नित्यानित्यभेद पूर्ववत् है।

(१०) अभावनिरूपण प्रायः नैयायिकवत् है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव ऐसे चार अभाव हैं। शशशृंगादिका अभाव ही अत्यन्ताभाव है ऐसे कुछ लोगोंने व्याख्या की है। उस मतमें भूतलमें घटाभाव क्या होगा? अश्वमें गोत्वाभाव क्या होगा? यह विचारास्पद रहेगा।

प्रमाणके बारेमें माध्वमतमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ऐसे तीन प्रमाण माने हैं। उनको व्याख्या प्रायः नैयायिकवत् है। ये स्वतः प्रमाणवादी हैं। अप्रामाण्यको ये परतः मानते हैं।

माध्वमत में मत्स्य कूर्मादि दस मुख्यावतार हैं और व्यासादि भी अवतार ही

हैं। सृष्टिप्रक्रिया पुराणोक्त रीतिसे मानी गयी है। अवान्तर प्रलय और महाप्रलय ऐसा द्विविध प्रलय है। ब्रह्माजीका प्रतिदिन प्रलय दैनंदिन और मनुओंका अवसान मानव ये दोनों अवान्तर प्रलय हैं महर्लोकसे पूर्वके लोकोंका ही नाश इनमें है। महाप्रलयमें प्रकृतिके बादके समस्त कार्यवर्गका नाश होता है। ज्ञान ओर उपासनासे मोक्ष प्राप्त होता है। परमात्मादिका स्वरूपज्ञान, पाँच भेदोंका ज्ञान प्रकृति पुरुष विवेकादि ज्ञान है। अयोग्य निन्दा करनेके लिये भी माध्वाचार्यका उपदेश है। अयोग्यका अर्थ सीधा यही निकलेगा—जो स्वमतको न मानें। फलतः परनिन्दा ही तात्पर्यार्थ निकलेगा। यदि यही तात्पर्य है तो इसे माध्वके शिष्यवर्गसे अतिरिक्त कोई भी उचित नहीं मान सकता। क्या इसका ही परिणाम माध्वग्रन्थोंमें गालीगलौच है ? यदि और भी कुछ तात्पर्य है तो इस रवैयेको त्यागना ही होगा। अफसोसके साथ कहना पड़ता है कि दार्शनिक ग्रन्थोंमें इतनी अधिक असहिष्णुताका परिचय देते हुए अपनेको दिव्य सिद्ध करनेवाले अनेक व्यक्ति परवर्तीकालमें हो गये। जिससे भारतीयोंमें एकताके लिये स्थान ही नहीं रह गया। वाचस्पतिके समयतक भी दार्शनिकोंमें ईर्ष्या द्वेष देखनेमें नहीं आता था। स्वयं वाचस्पतिने छहों दर्शनोंपर निष्पक्षपात व्याख्या की। तबतक भारतवर्ष एक सूत्रमें आबद्ध रहा। उत्तर कालमें वैष्णव-शैवकलहादि प्रारम्भ हुए जो भारतको ले डूबा और भारत परतन्त्र हुआ। अब उबरते-उबरते लोगोंकी श्रद्धा ही दर्शनोंपरसे और सम्प्रदायोंसे उठ गयी। बचे खुचे दर्शनजिज्ञासुओंमें या तो वही रागद्वेष, ईर्ष्या, कालुष्य बना रहा; या फिर अश्रद्धा रह गयी, जो कोई शुभ लक्षण नहीं है। खण्डन-मण्डन यद्यपि आजकी दुनियामें निरर्थक हो चुका है। विज्ञानने इन समस्त वादविवादोंको चूर करके रख दिया है। फिर भी उससे दार्शनिक साहित्यसृजन बढ़ता है। दर्शनविभागके लिये वह उपयोगी भी है। किन्तु वह जब इर्ष्याद्वेषप्रयुक्त एवं ईर्ष्याद्वेपप्रयोजक होता है तो उभयतो भ्रष्ट होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें हमने माध्वमतमें स्वीकृत पदार्थोंका ही संक्षेपतः वर्णन किया है। खण्डनमण्डनादिमें नहीं उतरे। क्योंकि पूरे पदार्थोंका दिग्दर्शन भी इस अल्प ग्रन्थमें मुश्किलसे हो पाया है। शास्त्रार्थके लिये स्थान कहाँ रह जाता था।

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम्
अक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

यह संक्षिप्त वर्णन है।

(१७) मीमांसादर्शनमें वल्लभमत

शुद्धाद्वैत सिद्धान्तके प्रवर्तक वल्लभाचार्यका जन्म पन्द्रहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें १४७९ ई० हुआ। ये तैलंग ब्राह्मण थे। तथापि इनके पूर्वज मध्यप्रदेशके चंपारन नामके ग्राममें आकर बस गये थे। वही वल्लभकी जन्मभूमि है। वल्लभाचार्यने ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य लिखा। उसपर प्रकाश टीका है और प्रकाशपर रश्मि टीका है। उपनिषत् और गीताको प्रस्थान मानते हुए भी उन्होंने उनपर कोई व्याख्या नहीं लिखी। चतुर्थ प्रस्थानके रूपमें श्रीमद्भागवतको उन्होंने माना। वल्लभने प्रथम तीन स्कन्धोंपर विस्तृत टीका लिखी। फिर दशमस्कन्धपर विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी। एकादश स्कन्धके कुछ अध्यायोंपर भी उनकी व्याख्या मिलती है। सुबोधिनी नामसे यह व्याख्या प्रसिद्ध है। वल्लभसे पूर्व श्रीधर स्वामीने एक अत्युत्तम टीका भागवतपर लिखी थी। निष्पक्ष रूपसे उन्होंने संपूर्ण भागवत पर व्याख्या लिखी जो सबके लिये आदर्शरूप थी। गौडीयसंप्रदायवाले उसीको भाष्यस्थानीय एवं परम प्रमाण मानते हैं। तथापि वल्लभने स्थान-स्थानपर उनसे अपना मतभेद दिखाया है। तत्त्वार्थनिबन्ध नामके ग्रन्थमें विशेषरूपसे श्रीधरस्वामीका वल्लभने खण्डन किया है। किन्तु जहाँ खण्डन होता है वहाँ मण्डन करनेवाले भी होते हैं। अतः खण्डन-मण्डनमें कोई खास सार नहीं रहता। अत एव चैतन्य महाप्रभुने सुबोधिनीके प्रति प्रसन्नता अभिव्यक्त नहीं की जबकि वह विशिष्ट महत्त्व रखती है। वल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैत सिद्धान्त उनके अपने प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें झलकता है। किन्तु सुनते हैं कि अन्तमें उन्होंने नारायणेन्द्रसरस्वतीसे संन्यासग्रहण किया था। नारायणेन्द्रसरस्वती शांकरसंप्रदायके होनेके कारण अन्तमें वल्लभाचार्यने शांकसिद्धान्तको ग्रहण किया क्या? या अपने सिद्धान्तमें रहते हुए ही गुरुसे केवल संन्यासदीक्षा ही प्राप्त की? इस विषयपर कोई प्रकाश नहीं डाला जा सका है।

वल्लभीय मत में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। इस मतमें ब्रह्ममें विरुद्ध अनेक धर्मोंका समावेश माना है। 'तदेजति'' इत्यादि विरुद्धार्थप्रतिपादक श्रुतियोंमें खींचातानी करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सभी विरुद्धधर्म ब्रह्ममें हैं। यह जगत् ब्रह्मका ही अविकृत परिणाम है। दूधका दही विकृतपरिणाम है। सुवर्णका कुण्डल अविकृत परिणाम है। वस्तुतः ईश्वरेच्छावशात् तत्तद्धर्मकी अभिव्यक्ति और इतर धर्मका अभिभव ही सृष्टि या परिणाम है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' यह श्रुति स्पष्ट ही समस्त जगत्को ब्रह्म बताती है। अतएव घटपटादि सभी ब्रह्म हैं। ब्रह्ममें स्थित अनन्त विरुद्ध धर्म घटपटादिमें भी हैं। किन्तु ईश्वरेच्छावशाद् घटमें केवल घटत्वधर्म अभिव्यक्त हुआ और पटत्व गृहत्वादि धर्म अभिभूत हो गये। पृथिवीमें

पृथिवीत्व धर्म अभिव्यक्त हुआ, अन्यधर्म अभिभूत हुए । सकल धर्मका अभिभव होने पर प्रलय होता है । सर्वधर्मोंका तत्तत् स्थानोंमें उद्भव होनेपर सृष्टि है । "एकोऽहं वहु स्याम्" यही ईश्वरीय इच्छा है । "बहु स्याम्" का अर्थ है पृथिवीजलादि-घटपटादि सकलरूपः स्याम् । यह तब चरितार्थ होता है जब पृथिवीमें पृथिवीत्व धर्म अभिव्यक्त हो एवं अन्य धर्म अभिभूत हो एवं घटादि भी है ।इस वहुभवनेच्छाके आधारपर ही आगे पदार्थनिष्पत्ति और विभाग है ।

ब्रह्मकी तीन कोटियाँ है । स्वरूपकोटि, कारणकोटि कार्यकोटि । सत्, चित् आनन्द स्वरूपकोटिके हैं । कर्म, ज्ञान और भक्ति प्रकटरूप है । काल और अन्तर्यामीको भी कुछ लोग स्वरूपकोटिके मानते हैं ।

कारणकोटिमें ब्रह्मगत इच्छा, माया, कर्म, प्रवृत्ति, पुरुष और काल ये छः आते हैं । ये जगतकारण हैं और नित्य हैं ।

कार्यकोटिमें महत्तत्त्व,अहंकार पञ्चतन्मात्रा,एकादशेन्द्रिय, पञ्चभूत तथा तज्जन्य ब्रह्माण्ड एवं शरोर आते हैं । प्राणादि समस्त जडपदार्थ ब्रह्मके सदंशसे आविर्भूत हुए जो बन्धनकारी हैं । जीवात्मा ब्रह्मके चिदंशसे प्रकट है, जो बन्धनस्थ हैं । तथा सर्वनियामक अन्तर्यामी ब्रह्मके आनन्दांशसे प्रकट हुए । यह तीन कोटिका निरूपण है ।

अव हम सृष्टिक्रम देखें । जो ब्रह्म हैं वही श्रीकृष्ण है । सच्चिदानन्दपूर्ण है । उससे अक्षरब्रह्म हुआ । उसका एक व्यापक रूप हुआ, दूसरा हृदिस्थ रूप है । व्यापक अन्तर्यामी कहलाया । हृदिस्थ कूटस्थ कहलाया । इनका आनन्द ईषत् आवृत हैं । फिर एक दूसरा अक्षर हुआ । यही वैकुण्ठ है । उसमें अधिक आनन्दावरण है । वैकुण्ठ अपरिणामी है । अन्तर्यामी परिणामी है । अन्तर्यामीका ही परिणाम जगत् है । प्रकृति महत्तत्त्वादि समस्त जगत् जडरूप है । ब्रह्माण्ड एवं शरीरपर्यन्त अन्तर्यामीका परिणाम है । नैयायिकादिके समान प्रागभावादि पदार्थ मान्य नहीं हैं । क्योंकि आविर्भाव तिरोभावसे काम चलता है । अतः प्रागभाव ध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव मानना व्यर्थ है । सभी ब्रह्मस्वरूप है । धर्मोंका आविर्भाव तिरोभाव ही उत्पत्ति, ध्वंस, भेद आदिमें हेतु है । यदि सब ब्रह्म है तो दुःख, क्लेशादि कैसे ? क्या वह भी ब्रह्ममें है ? नहीं । मायासे सदृश पदार्थनिर्माण होता है उसीसे दुःखादि है । भगवत्परिणाम जगत् है । तत्सदृश मायापरिणाम संसार है । मोक्षमें संसारका लय होता है जगत्का नहीं । मायानिर्मित तत्समपदार्थका तादात्म्य विषयता कहलाता है । विषयता एक तो ब्रह्मको ढकती है । दूसरी दुःखमूल संसारको पैदा करती है । वही जन्म-मरणादि दुःखबीज है । ब्रह्मज्ञानसे दोनों निवर्त्य हैं यह जड जगत्का उत्पत्तिक्रम

हुआ। चिद्रूपी जीव तो अग्निसे चिनगारियोंके समान ब्रह्म से व्युच्चरित होते हैं। सद्रूप लोकादि भी उसीसे व्युच्चरित होते हैं। देह, इन्द्रिय, प्राण और मनके चार अध्यास और स्वरूपविस्मरण ये जीवकी पंचपर्वा अविद्या है। वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भक्ति ये पञ्चपर्वा विद्या है। विद्यासे मोक्ष होता है जीवनमुक्त, मुक्त और परममुक्त यह मुक्तोंका भेद है। सनकादि, गोलोकवासी और लीलासंगमी उदाहरण हैं। जीव अणु है। फिर भी चन्दनबिन्दु पूरे शरीरको शीयलता पहुँचाती है वैसे जीव पूरे देहमें चैतन्य पहुँचाता है।

वल्लभमतमें शब्द, प्रत्यक्ष और अनुमान ये तीन प्रमाण हैं। अर्थापत्ति और अनुपलब्धि केवल प्रमाणानुग्राहक हैं। ज्ञान जीवका गुण है या वृत्तिविशिष्ट चैतन्य जीव है। वृत्ति ज्ञान है। निश्चय. संशय, भ्रान्ति, स्मृति निद्रा ये ज्ञानके भेद हैं। शुक्तिसे अन्य रजत दीखता है। अतः अन्यख्याति है न कि अन्यथाख्याति आदि।

यह जगत् ब्रह्मरूप होनेसे सत्य है। यद्यपि शास्त्रोंमें कहीं कहीं जगत्को मिथ्या भी बताया है। परन्तु वह वैराग्यार्थं उपदेश मात्र है। संसारविशिष्टरूपसे जगत्को मिथ्या कह सकते हैं। जैसे पीतविशिष्ट शंख मिथ्या कहा जाता है।

प्रतिमादिमें विषयता नहीं है। हां, यह भगवान् नहीं है ऐसी विषयता नास्तिकोंको होगी।

वल्लभमतमें दो मार्ग माने गये हैं। मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग। मर्यादा-मार्गमें सेवापूजाके अलावा अनेक नियमोंका पालन करना होता है। जिसने कंठी नहीं ली हो उसके हाथका नहीं खाते। शिवका दर्शन नहीं करते। शिवका नाम भी नहीं लेते। यद्यपि ये सब नियम बाह्य विकृति मात्र प्रतीत होती है क्योंकि वलभाचार्यने इन सब बातोंको कहीं लिखा नहीं है। अनन्याश्रयताका उल्लेख जरूर किया है। इसका अर्थ यहाँ तक तो नहीं ही हो सकता। क्या बिल्ली, कुत्ता, चूहा आदि नाम बोल सकते हैं, सासू, ससुर, मूर्ख, बदमाश आदि बोल सकते हैं, उसमें अनन्याश्रयता नष्ट नहीं होती और 'शिव' शब्द मुंहसे निकला कि अनन्याश्रता समाप्त हो गयी ऐसा वल्लभाचार्य कह सकते हैं ? जबकि श्रीमद्भागवत में "वैष्णवानां यथा शम्भुः" बताया है। मर्यादामार्गीके लिये व्यवहारमें प्रामाणिकता आवश्यक कही गयी है। पुष्टिभक्तिमें भगवानके अनुग्रहपर सभी कार्य निर्भर किये जाते हैं। पुष्टिका भगवदनुग्रह तथा तत्प्रयुक्त भक्ति दोनों अर्थ हैं। प्रवाह-पुष्टि, मर्यादापुष्टि और पुष्टिपुष्टि ये पुष्टिके तीन भेद हैं। पुष्टिका वास्तविक रूप है सर्वसमर्पण, आत्मनिवेदन और प्रपत्ति। इसका परिणाम है प्रपञ्चविस्मृति-पूर्वक भगवदासक्तिरूप निरोध। यही भागवतके दशमस्कन्धका अर्थ है।

यद्यपि स्वार्थपरायण व्यक्तियोंने इस संम्प्रदायमें काफी विकृतियाँ पैदा कर दी हैं, जिनपर ही यदि प्राथमिक दृष्टि पड़ जाय तो पाखण्डवाद का मूर्तरूप दीखने लगता है, तथापि वल्लभाचार्यके मौलिक विचारोंमें ये दोष प्रतीत नहीं होते। क्या वल्लभाचार्यने दूसरोंको घृणित देखनेका उपदेश किया है? अधिकाधिक धन प्राप्त करनेके लिये हमारा भक्त दूसरोंको धन न दें ऐसी अनन्याश्रयताकी शिक्षा वल्लभाचार्यने दी? स्वयं अन्तमें संन्यासग्रहण करनेवाले वल्भाचार्यने क्या यह उपदेश दिया होगा कि संन्यासीका मुंह देखना पाप है, जो आजकल भी कट्टर वैष्णवाभिमानी कहते हैं? हम तो यही कहेंगे कि यदि वल्लभाचार्यसिद्धान्तके सच्चे अनुयायी होंगे उनको भी अन्तमें यही लगेगा कि पूर्णभक्तसंन्यासी वनना ही जीवनकी अन्तिम साधना है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें श्लोकोक्त विषयोंकी प्रामाणिकताको स्फुट करनेके लिये भागवतादि प्रमाणोंका प्रस्तुतीकरण व्याख्यामें आवश्यक था। किन्तु ग्रन्थविस्तारभयसे वैसा नहीं किया जा सका। कहीं कहीं स्वतन्त्र युक्तियोंका प्रयोग मूल श्लोकोंमें किया गया है। भक्तिविषयमें कुछ अधिक वक्तव्य परिशिष्टमें देना उचित समझा क्योंकि पूर्वनिश्चित मात्रासे अधिक ग्रन्थविस्तार करना ठीक नहीं था।

वल्लभके पुत्र विट्ठलने (१५१६-१५७३) सुबोधिनी आदिपर प्रौढ टिप्पणियाँ लिखीं। इनको श्रीटिप्पणी करके पुष्टिमार्गीय कहते हैं। निबन्धप्रकाश, विद्वमण्डन आदि ग्रन्थ भी लिखे। वल्लभाचार्य ब्रह्मसूत्रके ढाई अध्यायपर ही भाष्य लिख पाये थे। शेषपूर्ति विट्ठलजीने ही की। इनके शिष्य पुरुषोत्तमजीने अणुभाष्यपर प्रकाशटीका लिखी। सुबोधिनीप्रकाश, उपनिषद दीपिका, आवरणभंग, प्रस्थानरत्नाकर आदि इनके अन्य ग्रन्थ हैं। अष्टादश शतीके गोपेश्वरने प्रकाशपर रश्मि टीका लिखी। विट्ठलजीके पुत्र गिरधरमहाराजने शुद्धाद्वैतमार्तण्ड लिखा। बालकृष्ण भट्ट (लालू भट्ट नामसे प्रसिद्ध) का प्रमेयरत्नार्णव बड़ा ही उत्तम विवेचक ग्रन्थ है। हरिराय या हरिदासने ब्रह्मवाद, भक्तिरसवाद आदि लिखे। व्रजनाथभट्टकी अणुभाष्यानुसारी मरीचिका नामकी वृत्ति भी मुद्रित है।

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः॥

यह पद्मपुराणका श्लोक बताया जाता है। विष्णुस्वामीके अनुयायी वल्लभ कहा जाता है। एतदनुसार रामानुजका श्रीसंप्रदाय, मध्वका ब्रह्मसंप्रदाय, निम्बार्कका सनकसंप्रदाय और वल्लभका रुद्रसंप्रदाय है। आज वैष्णव रुद्रको नहीं मानते यह अलग बात है।

(१८) शैव एवं शाक्तोंका मत

यद्यपि वेदान्तदर्शनपर नीलकण्ठादि शैवाचार्योंने जो भाष्य लिखा है तदनुसारी यह ग्रन्थ नहीं है। क्योंकि शैव भाष्य विशिष्टाद्वैतका ही रूपान्तर है। वैष्णव जहां विष्णु बोलते हैं शैव वहीं शिव कहते हैं। यहां प्रतिपादित शैव तथा शाक्तसिद्धान्त काश्मीरशैवसिद्धान्तानुयायी है। किन्तु काश्मीरीय शैवोंने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य नहीं लिखा है। कुछ अर्वाचीनोंने शाक्तभाष्य लिखा है। पर वह भी अपने ढंगका ही है। फिर भी वेदान्तदर्शनके या मीमांसा दर्शनके अन्तर्गतरूपमें हमने यहाँ उसे प्रस्तुत किया है। क्योंकि एतदनुसारी व्याख्या भी ब्रह्मसूत्रकी संभव है। "पत्युरसामञ्जस्यात्" इत्यादिसे पाशुपतमतनिराकरण ब्रह्मसूत्रमें होनेसे पाशुपतानुसारी व्याख्या अयुक्त कहें तो "उत्पत्त्यसंभवात्" इत्यादिसे पाञ्चरात्रमतनिराकरण वहीं होनेसे पाञ्चरात्र वैष्णवानुसारी व्याख्याको भी अयुक्त मानना पड़ेगा। अर्थान्तरकरणादि दोनोंमें समान समाधान है।

शिव और शक्तिकी एकता शैव तथा शाक्त दोनोंको मान्य है। ऐसी स्थितिमें सिद्धान्तकी एकता भी स्वभावप्राप्त है। अतएव परस्पर आदान-प्रदान देखनेमें आता है। शाक्ततन्त्रोंकी व्याख्याओंमें सर्वत्र स्वच्छन्दतन्त्रादि शैव ग्रन्थोंके वाक्य उद्धरणरूपेण मिलते हैं। शैवग्रन्थोंमें भी शाक्तोदाहरण देखने में आता है। तत्त्वविषयमें दोनोंका मत एक होनेसे हमने दो दर्शनोंके रूपमें उसे प्रस्तुत करना अनुपयुक्त माना।

काश्मीरमें वसुगुप्त, कल्लट, सोमानन्द, उत्पलाचार्य एवं अभिनवगुप्तादि महान् विद्वान् शैवदर्शनके हुए। इनमें नवम शतीके अभिनवगुप्त विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अनन्तर भी भास्कर, क्षेमराज एवं जयरथादि विद्वान हुए। पदार्थतत्वोंका विशेष निरूपण इनके ग्रन्थोंमें है। शाक्तदर्शनमें पदार्थविवेचनके लिए विशेष प्रयास नहीं हुआ। उपासनोपयोगितया कुछ पदार्थोंका निरूपणमात्र हुआ। शिवप्रोक्त तन्त्रग्रन्थ उभयमूल है। वैसे तो शैव और शाक्त उपनिषदें हैं। उनमें शिवविषयमें तन्त्रवर्णितरूपसे निरूपण उपनिषदोंमें भले न हों किन्तु शाक्तोपनिषदोंमें तन्त्रसमानार्थक निरूपण भावनोपनिषत्, त्रिपुरोपनिषत् आदिमें स्पष्ट दीखता है। तथापि मन्त्रादिविषयमें ही निरूपण वहां भी है। तत्त्वविषयमें नहीं।

शैव ग्रन्थोंमें आचार्यके रूप में वसुगुप्त आदिको हमने ऊपर बताया। शाक्तग्रन्थोंमें शिवको छोड़कर सर्वप्रथम आचार्य शायद गौडपादाचार्य ही हैं। गौडपादाचार्यका सुभगोदय ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी कारणवश वह अन्धकारमें ही पड़ा रहा। किसी भी प्रसिद्ध आचार्यकी व्याख्या उसपर उपलब्ध नहीं है। यद्यपि लक्ष्मीधराचार्यने

उसपर शङ्कराचार्यकी व्याख्या होनेका ईशारा किया है और एक अर्ध श्लोकका उद्धरण भी दिया है। किन्तु आज वह अनुपलब्ध है। कुछ वर्ष पूर्व इदंप्रथमतया हमने ही एक विस्तृतव्याख्या उसपर लिखी। जो दो वर्ष पहले मुद्रित की गयी। इस ग्रन्थमें भी विशेषरूपसे शक्तिके स्वरूप एवं उपासनाके बारेमें ही लिखा है। तथापि पंचम श्लोकमें "पृथिव्यापस्तेजः" इत्यादि रीति तत्त्वनिरूपण भी किया है। परन्तु वहाँ पचीस तत्त्व तथा तत्त्वातीत शिवशक्तिसामरस्य मात्रको बताया है। मेरे ख्यालमें तत्वरूपमें इतनेकी ही आवश्यकता है। क्योंकि पञ्चकञ्चुक मायाके ही रूपभेद हैं। प्रकृति, महत्तत्त्व और अहंकारको मायासे पृथक नहीं माना। ब्रह्मसूत्र में इनको अङ्गीकार नहीं किया है। शक्तिको विद्याके अन्तर्गत किया। पुरुषको महेशका परिच्छिन्नरूप माना। सदाशिवको भी महेश्वरसे ही ग्रहण किया। इस प्रकार ग्यारह तत्त्व कम होनेसे षट्त्रिंशत् तत्त्ववादसे ग्यारह कम हो गये। फिर उक्त श्लोककी व्याख्यामें हमने छत्तीस तत्त्वको और मतान्तरसे पचास तत्त्वको दिखाया। सौन्दर्यलहरीकी व्याख्यामें लक्ष्मीधराचार्यने भी वैसी व्याख्या की है। अतः षट्त्रिशत्तत्त्ववादका यह संक्षिप्त स्वरूप होनेसे शैवसिद्धान्तसे कोई विरोध नहीं है। गौडपादाचार्यके बाद गोविन्दपादाचार्यका शाक्तग्रन्थ कोई उपलब्ध नहीं है। शंकराचार्यकी सौन्दर्यलहरी सुप्रसिद्ध है, जिसपर अतिगम्भीर आठ व्याख्यायें अभी कुछ दिन पहले दक्षिणसे मुद्रित हुई हैं। इससे अतिरिक्त भी व्याख्यायें वाराणसी आदि स्थानोंसे डिंडिमभाष्य आदि नामसे छपी हैं। आद्यशंकराचार्यका प्रसङ्गसार तन्त्र भी प्रसिद्ध है। जिसपर पद्मपादाचार्यकी टीका भी है। लक्ष्मणदेशिक नामके एक महान आचार्यने शारदातिलक नामका ग्रन्थ लिखा जिसमें भी पूर्वांशमें तत्त्वनिरूपण किया है। चतुःशतीपर (वामकेश्वरतन्त्रपर) दशम शतीके शिवानन्द की व्याख्या और अठारहवीं शतीके भासुरानन्द (भास्करराय)की व्याख्या भी उल्लेखनीय है।

शिवाद्वैत या शाक्ताद्वैत सिद्धान्त रूपसे यह मत प्रसिद्ध है। अद्वितीय परमार्थ स्वरूप शिवशक्ति सामरस्य है। इसे तत्त्वातीत कहते हैं। इसीको अनुत्तरमूर्ति भी कहते हैं। इसे 'अहार्णसमरसाकारः' पुण्यानन्दनाथने बताया है। यही अहं है ऐसा उनका मत है। परन्तु अन्य आचार्य उसे वाचामगोचर मानते हैं अतः 'अहं' यह उत्तरतत्त्व उनके मतमें है। परमशिव शब्दसे भी इसे लोग समझते हैं। स्वेच्छावशात् जगत्सर्जनार्थं उसमें जो प्रथम स्पन्द हुआ वही शिवशक्तिसंयुक्तरूप है। अहं, या अहमस्मि, यह उसका स्वरूप है। इसीको प्रकाश और विमर्श भी कहते हैं। उससे उत्पन्न प्रकाशबिन्दु, विमर्शबिन्दु और मिश्रबिन्दु सदाशिवतत्त्व है। "एकोऽहं बहु"

"अहं सः" इत्यादि उसका स्वरूप है। शक्ति वहां शुद्ध विद्यारूप होती है। उससे माया प्रकट होती है। जो अपने पांच कंचुकोंसे शिवरूपको आच्छादितकर जीवरूपमें परिणत करती है। तब वह माया प्रकृतिरूपिणी होती है। शिव जीव (पुरुष) रूप हो गया। पांच कंचुक हैं—कला, विद्या, राग, काल और नियति। कलासे पूर्णताका आच्छादन होता है। घटपटादि विद्यासे सर्वज्ञता आच्छादित होनेसे अल्पज्ञता आती है। राग आनन्दार्थं होता है। मतलव पूर्णानन्दरूपको आच्छादितकर तुच्छ आनन्दार्थं प्रेरित करता है। काल अनाद्यनन्तरूपको कालपरिच्छन्न कर जननमरणवान् बनाता है। नियतिसे नियमनमें आकर नियम्य बन जाता है। इसके बादके तत्त्व सांख्योक्त तत्त्वोंके समान ही हैं। जैसे महत्तत्व, अहंकार, पंच तन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय तथा पञ्च महाभूत। शाक्तमतमें नाद, बिन्दु, कलाका वर्णन है। परन्तु यह अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। शिवशक्तिसमवाय ही नाद है। बिन्दु पूर्वोक्त प्रकाशबिन्दु आदि है। और कला इसीका कार्य है। इनका मूलरूप परावाक् भी शक्तिरूप ही है। किन्तु एक पृथक् शब्दप्रपञ्चकी धारा मानी है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी यह शब्दप्रपञ्च है।

शैव या शाक्त मतमें कहीं भी जगतको मिथ्या नहीं बताया है। बल्कि कुछ आचार्योंका कहना है कि जगत्को मिथ्या माननेसे द्वैतापत्ति होती है। क्योंकि यह विसदृश हो गया। ब्रह्म मिथ्या नहीं, जगत् सत्य नहीं, तब दोनों परस्पर विरुद्ध-धर्माक्रान्त हो गये तो भेद अवश्यंभावी है। तब अद्वैत किस प्रकार? यह उनका तर्क है। मृत्तिका और घटकी एकता है। अतएव कार्यको लेकर द्वैतकी प्रसक्ति नहीं। यह उनकी स्वमतप्रतिपादनमें युक्ति है।

शैव तथा शाक्त दोनों ही, विशेषरूपसे शाक्त, तत्त्वनिरूपणकी अपेक्षा उपासनाका प्रतिपादन करनेमें ही रुचि रखते हैं। तदुपयोगी तत्त्वोंका क्वचित्-क्वचित् इशारामात्र वे करते हैं। जैसे सुभगोदयमें तत्त्वनिरूपणके लिए केवल एक हीं श्लोक है जब कि स्तोत्र ग्रन्थ बावन श्लोकका है। क्योंकि उपासनाकालमें ध्येय परमशिव नहीं है। क्योंकि वह मनका विषय ही नहीं है। ध्येय तो ध्यानश्लोकोक्त देवता-स्वरूप है। विधि पूर्वक ध्यान करनेपर उपासक उपासित उस रूप तक पहुँच जाते हैं। "यो यत्क्रतुर्भवति स तत्कर्म कुरुते स तदभिसम्पद्यते" उसकी अभिसम्पत्ति होनेपर यदि निष्कामभावसे उपासना की हो, तो आगेका मार्ग दिखाई देगा। और क्रमश. परमशिवपर्यन्त पहुँचेगा। सकाम भावसे किया तो उपासित स्वरूप को प्राप्त होकर वहांसे वापिस आएगा। उपासितस्वरूप तक पहुँचनेका मतलब केवल

मरणोत्तर पहुँचना नहीं, जीवितावस्थामें ही पहुँचेगा। इसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। फिर गुरुकृपा, शास्त्रकृपा एवं ईश्वरकृपासे "योगो हि योगस्य गुरुः" इस न्यायसे वह आगेको बढता है। और अन्तमें पूर्णता प्राप्त करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें शैव एवं शाक्त सिद्धान्तके अतिरिक्त शैवभेद पाशुपतमतका भी सिद्धान्त संक्षेपमें दिखाया है। थोड़ा-थोड़ा अन्तरमात्र होनेसे पृथक्-पृथक् दर्शनरूप में प्रस्तुत करना प्रायः पुनरुक्तिमात्र होती। पाशुपतमतमें कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त एसे पांच पदार्थ हैं। जो परमेश्वराधीन है वह कार्य है। विद्या कला और पशु ये तीन कार्य हैं। बन्धनहेतु, मोक्षहेतु दो प्रकारकी विद्या है। जड कला है। वह चाहे पचीस तत्त्वके अन्तर्गत हो या छत्तीस तत्त्वके। कोई फरक नहीं। पशु बद्ध जीवको कहते हैं। कारण पशुपति महेश्वर है। योग चित्तवृत्ति-निरोधरूपी प्रसिद्ध है। विधि पाशुपतसिद्धान्तानुसारी पूजाप्रभृति है। दुःखान्त मोक्षको कहते हैं। शैवोंमें भी द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शिवाद्वैत इत्यादि अनेक भेद हैं। वीर शैवोंका शक्तिविशिष्ट शिवाद्वैत है। समष्टिशक्तिविशिष्ट शिव है। व्यष्टि-शक्तिविशिष्ट जीव है। परिणामवादी होनेसे ये जगत्को सत्य मानते हैं। जीव और शिवमें ये भेदाभेद मानते हैं। शैवमतमें प्रत्यभिज्ञा दर्शन प्रसिद्ध है। इसे त्रिक दर्शन तथा षडध्वदर्शन भी कहते हैं। और ईश्वराद्वयवाद भी कहते हैं। चिद्रूप परमेश्वररूपी दर्पणमें जगत्का प्रतिविम्ब पड़ता है। यही वात शंकराचार्यने भी "विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं" से बताया। विम्ब कौन है? बिम्बके बिना भी परमेश्वरकी स्वातन्त्र्यशक्तिसे जगत्प्रतिविम्ब बनेगा। या यों कह सकते हैं कि परमेश्वरने अपने आपमें ही जगत् चित्रको बनाया। "निरुपादानसंरम्भमभित्तावेव तन्वते। जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने"। सर्वदर्शनसंग्रहमें एक रसेश्वर-दर्शन भी दिखाया है। गोविन्दपादने इसे अपने रसतन्त्रमें स्पष्ट किया है। महर्षि पतञ्जलिके तीन ग्रंथके तीन दर्शन हैं। स्फोटदर्शन व्याकरणानुसार, रसदर्शन वैद्यकानुसार और योगदर्शन। इनमें रसदर्शनका मतलब है पारदके द्वारा सिद्धि प्राप्त कर इसी शरीरको दिव्य एवं अमर बनाना। व्याकरणदर्शनमें मानसयोग-द्वारा स्वरूप प्रतिष्ठित होना। द्वादशदर्शनान्तर्गत करनेमें कठिनाई होनेसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन, व्याकरणदर्शन आदिको हमने यहां पृथक् नहीं किया।

(१९) वेदान्त दर्शन (शांकर)

गौडब्रह्मानन्दजी लिखते हैं "सर्वेषु दर्शनेषु दर्शनीयतमं दर्शनं वेदान्तदर्शनं" बादरायणीय शारीरक मीमांसाको ही वेदान्तदर्शन कहते हैं। वेदोंका अन्तिम

भाग या वेदोंके अन्तिमसिद्धान्तका प्रतिपादक वेदान्त कहलाता है। उपनिषद् भी इसका नामान्तर हैं। उसीके अर्थका ग्रथन करनेसे सूत्रोंको वेदान्त कहते हैं। इस दर्शनपर शताधिक भाष्य व्याख्यायें विद्यमान हैं। किन्तु इनमें आद्य शंकराचार्यकृत भाष्य ही सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है। और प्रामाणिक है।

द्वैतवादियोंका कहना है कि सूत्रकारने कहीं भी जगत्को मिथ्या नहीं बताया है। न उपनिषदोंमें ही कहीं पर जगन्मिथ्यात्वका स्पष्ट निर्देश है। जर्मन विद्वान्का उद्धरण देकर कतिपय विद्वान भी यह कहते हैं कि उपनिषद् यदि अधिकतर शंकरपक्षसमर्थक हैं तो ब्रह्मसूत्र रामानुजपक्षपाती प्रतीत होता है। वैष्णव कहते हैं कि यह जो उनका कहना है उपनिषदोंपर रामानुजीय भाष्यका अभाव ही इसमें हेतु है। काश! यदि उपनिषदोंपर भी रामानुजाचार्य भाष्य लिखते तो पूरा विश्वमत एकमत हो जाता। किन्तु एक विद्वान्के दृष्टिकोणके बदलने मात्रसे विश्व एकमत नहीं होता यह ध्यान देने योग्य है। शंकराचार्यका सिद्धान्त "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या" इसपर गहराईसे विचार करनेका किसी भी द्वैतवादीने कष्ट नहीं उठाया। केवल गौडड गीति गानेका ही प्रयास हुआ। एकने गा लिया। सबने उसका अनुगायन किया।

ब्रह्मसूत्रमें प्रथमसूत्र "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" है। यह अनुबन्धचतुष्टयनिरूपणार्थ है। समस्त दर्शनोंका प्रयोजन परमपुरुषार्थकी प्राप्ति होनेसे प्रयोजनका निर्देश प्रायः नहीं होता। परमपुरुषार्थ क्या है इस विषयमें मतभेद हो सकता है। किन्तु प्रयोजन दर्शनोंका वही है। पूर्वमीमांसामें "अथातो धर्मजिज्ञासा" सूत्र है। वहां विषयका स्पष्ट निर्देश है—धर्म। धर्म साध्य है। सिद्ध नहीं है। अतः तत्सिद्ध्यर्थ अनुष्ठान सूचित होता है। किन्तु 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें निर्दिष्ट विषय ब्रह्म साध्य नहीं है। किन्तु सिद्ध है। अतएव अनुष्ठानसापेक्षता यहां प्रतीत नहीं होती। जिज्ञासासे सूचित ज्ञान ही यहांपर प्राप्तव्य प्रतीत होता है। उस ज्ञानसे ही दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति सूचित होती है। किन्तु ज्ञानसे अनिवृत्त की निवृत्ति और अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं होती। स्वप्नमें देखा कि मैं रस्सीसे बांधा गया हूं, चोर मुझे लूट रहे हैं। जाग्रत ज्ञान होते ही बन्धन निवृत्त हुआ और चोर भी समाप्त हो गये। वहां ज्ञानसे निवृत्तकी ही निवृत्ति है। कण्ठचामीकर भूल गये और बोलने लगे गुम हो गया। ढूढने लगे। किन्तु स्मरण आ गया प्रत्यभिज्ञा हो गयी, मेरे गलेमें ही वह है तो ढूंढना बंद हो गया। किसीने पूछा—मिल गया? उत्तर मिला, हां मिल गया, गलेमें ही था। यहां ज्ञानसे प्राप्तकी ही प्राप्ति है। इसीके अनुरूप प्रकृतमें विचार करे तो ब्रह्मजिज्ञासा परमपुरुषार्थ—दुःखात्यन्तनिवृत्ति तथा परमसुखप्राप्तिके लिये है तो उस जिज्ञासासे

होनेवाले ज्ञानसे निवृत्तकी ही निवृत्ति और प्राप्तकी ही प्राप्ति माननी होगी। फलतः स्वाप्नबन्धनवत् संसारबन्धनका मिथ्यात्व और ब्रह्मानन्दका नित्यप्राप्तत्व सिद्ध होता है। रज्जुज्ञानसे रज्जुगत सर्पकी निवृत्ति होगी, न कि शुक्तिगत रजतादिकी। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मगत दुःखकी निवृत्ति भले हो, अस्मदादिगत दुःखकी निवृत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर यह है कि गगनगत मालिन्य-निवृत्तिसे अन्तरिक्षगत मालिन्यनिवृत्ति होगी कि नहीं? होगी। क्यों? गगन और अन्तरिक्ष एक ही है। बस यही यहां भी उत्तर है। जीव और ब्रह्मकी एकता है। जीवको ब्रह्मरूपेण समझना ही ज्ञान है। उससे जीवगत दुःखकी निवृत्ति होती है। इससे दुःखप्रपञ्चका ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्व ब्रह्मात्मैक्य दोनों ही सूत्रकार सूचित करते हैं। सूचनाद्धि सूत्रम्। बोले कि इससे दुःखमें मिथ्यात्व सिद्ध होगा, पूरे प्रपञ्चमें कैसे? उत्तर है "द्वितीयाद्वै भयं भवति" इस श्रुतिसे पूरा द्वैतप्रपञ्च भयहेतु होनेसे दुःखरूप है। केवल दुःखध्वंस पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि नैयायिकादि मतमें भी दुःख क्षणिक है, स्वयं नष्ट होगा। किन्तु दुःखनिदानकी निवृत्ति ही पुरुषार्थ है। अतः समस्त द्वैतप्रपञ्चका मिथ्यात्व सिद्ध होता है।

द्वैतवादी इसपर पूर्वपक्ष करते हैं कि यदि द्वैतप्रपञ्च मिथ्या है, भ्रान्तिमात्र है तो दूसरे सूत्रमें "जन्माद्यस्य यतः" ऐसा न कहकर "भ्रान्तिरस्य यतः" ऐसा सूत्र लिखना चाहिये था। श्रुतियोंमें भी "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि वर्णन असंगत होता। न ब्रह्मसूत्रमें और न कहीं श्रुतियोंमें जगन्मिथ्यात्ववर्णन है। इसके उत्तरमें प्रथम यह समझिये कि अद्वैतवादमें मिथ्यावस्तु शुक्तिरजतादिकी उत्पत्ति मानी है। इसकी प्रक्रिया वेदान्तपरिभाषा आदि ग्रन्थोंमें वर्णित हुई है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं" यहां मृद्घट दृष्टान्त देकर कारण ही सत्य होता है, विकार सत्य नहीं होता यह स्पष्ट बताया है। तथा १०८ उपनिषदोंमें अनेक उपनिषदोंमें शब्दोंसे ही जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया है। "न निरोधो न चोत्पत्तिः" इत्यादि हजारों वचन वहां देखे जा सकते हैं।

यह एक सामान्य उत्तर है। कुछ गहराईके साथ हम विचार करें तो बात स्पष्ट होगी। व्यावहारिक जगतमें रहकर यदि हम मिथ्याशब्दका प्रयोग करते हैं तो सीधा शुक्तिरजत, रज्जुसर्प, मरुमरीचिका एवं स्वाप्नप्रपञ्चादिकी ही उपस्थिति होती है। वहां अनिर्वचनीयत्व या ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपी मिथ्यात्वकी उपस्थिति नहीं होती। और यह बात वेदान्तमें भी स्वीकारी है कि यह जगत् रज्जुसर्पादिके समान सत्तासादृश्येन मिथ्या नहीं है। रज्जुसर्पादिमें प्रातिभासिक सत्ता है। घट-गृहादिमें व्यावहारिक सत्ता है। व्यवहारकालमें व्यावहारिकसत्ताको ही लोग

सत्य समझते हैं। व्यवहारमें घट उत्पन्न हो गया यही बोलते हैं। न कि अब घटभ्रम शुरू हो गया। अतः सूत्र और श्रुतिमें जन्मादिका वर्णन व्यवहारानुरूप ठीक ही किया है। मिथ्यात्वका असली लक्षण है—सदसद्भ्यामनिर्वचनीयत्वम्। भगवान् शंकराचार्यके प्रथम शिष्य पद्मपादाचार्यका ही यह वचन है कि—'तत्र मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः'' । अब द्वैतवादियोंसे ही कहा जायेगा कि थोडा निर्वचन करके बताइये। निर्वचनमें लगे अति धुरन्धर नैयायिक भी निर्वचन नहीं कर सके तो उनके उच्छिष्टोपजीवी दूसरे द्वैतवादी क्या निर्वचन कर पायेंगे? गन्धका क्या निर्वचन? क्या लक्षण? घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। हां जी, अब बताईये घ्राणका निर्वचन क्या है? गन्धग्राहकमिन्द्रियं घ्राणः। क्या इसमें अन्योन्याश्रय नहीं हुआ? आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, अनवस्था आदिसे कोई भी निर्वचन छूटा नहीं है। खण्डनकारका खण्डन करनेवाले अपनेको द्वितीय वाचस्पति कहलानेवालोंकी थोतो युक्तियां गालियोंसे ही अनुयायियोंको संतुष्ट कर सकी हैं। श्रीहर्षके लिये जड, मूर्ख जैसे शब्दोंका प्रयोग आज कोई भी सभ्य समाज उचित नहीं मान सकता। क्या नैषधचरित, संदृब्धार्णववर्णन जैसे ग्रन्थोंको ये महानुभाव पचास जन्म लेनेपर भी बना सकते हैं? ''उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः'' जैसी उक्तियां जिनके लिये प्रसिद्ध हैं उनकी लेखनीका रहस्य वही समझ सकता है जिनको उन्होंने स्वयं 'श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढ़ग्रन्थिः' से कहा है। न कि 'मास्मिन् खलः खेलतु' का विषय। खण्डनका रहस्य समझना है तो देखिये नैयायिकचूडामणि रघुनाथशिरोमणिकृत खण्डनभूषामणि टीका शंकरचैतन्य-भारतीकी शारदाटीका आदि। अस्तु। हम यही कह रहे थे कि मिथ्याशब्दका व्यवहार जगत्में रहनेवालेके लिये प्रसिद्ध मिथ्यात्व अर्थ नहीं है। अनिर्वचनीयत्व ज्ञाननिवर्त्यत्वादिसाम्यसे मिथ्याशब्दप्रयोग वैराग्योपयोगी है। एतदर्थ ही तो हिन्दी कवियोंने भी 'झूठी माया झूठी काया' इत्यादि लिखा। समाधान न मिलनेपर ही द्वैतवादियोंने भगवानकी लीला कहकर जगह-जगह समाधान किया। भगवानकी लीला अपरंपार है ।अर्थात् अनिर्वचनीय है। अन्यथा निर्वचनीय न होनेसे ही वल्लभाचार्यने विरुद्ध धर्मोंका एकत्र समावेश माना। उसका यह भाषान्तर है कि विरुद्ध धर्मका एकत्र समावेश लोकमें देखा नहीं गया। अतः यह अलौकिक समावेश लौकिक उभयभिन्नत्वरूपी अनिर्वचनीय है। रामानुजाचार्य कहते हैं यह दृश्यमान जगत् सत्य है। शुक्तिमें रजत भी पंचीकरणके कारण सत्य है। स्वप्नजगत् भी परमेश्वरनिर्मित होनेके कारण सत्य है। इस मतमें ''वैधर्म्याच्च न स्वप्नवत्'' इस सूत्रका अर्थ कैसे लगेगा? स्वप्न सत्य है तब जाग्रत तद्वत् सत्य क्यों नहीं? तब स्वप्न समान ही यह जगत् है कहनेवालोंका आप निषेध क्यों करते हैं? स्वाप्ना-

र्थको सारी दुनिया मिथ्या कहती है और आप सत्य कहते हैं मतलब लोगोंका मिथ्यात्व ही आपका सत्यत्व है। ऐसा मिथ्यात्वरूपी सत्यत्व आप जाग्रतमें भी मान लीजिये अद्वैतियोंको इसमें कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि यह शब्दभेदमात्र है। तब इस प्रकारका ही सत्यत्व ईश्वरमें भी मानते हैं तो ईश्वर भी मिथ्या है क्या ? यह आप ही जानें। और वस्तुतः सोपाधिक ईश्वरको आप मानते हैं वह भी मिथ्या है ही। स्वप्न जगत् ज्ञाननिवर्त्य है। फिर भी सत्य है तो मिथ्याका ही पर्याय सत्यशब्द हुआ। यही उत्तर माध्वके लिये भी है।

एक जटिल प्रश्न संमुख उपस्थित होता है कि अनिर्वचनीय होनेपर भी घटादि ज्ञाननिवर्त्य नहीं है। मृत्तिकासे घट क्या भिन्न है? भिन्न दीखता नहीं है। कार्यकारणकी एकता होती है। तो क्या वे अभिन्न हैं? यदि अभिन्न है तो घडा खरीद लानेके लिए बेटेको भेजा और उसने सस्ती मुफ्तकी मिट्टी लाकर दे दिया तो आप संतुष्ट हो जायेंगे ? क्या जलाहरणरूपी घटकार्य मिट्टीसे होगा ? नहीं। तब अभिन्न नहीं है। भिन्नाभिन्न तो विप्रतिषिद्ध है। अतः अनिर्वचनीय है। किन्तु मृत्तिकामें घट अनिर्वचनीय होनेपर भी मृत्तिकाज्ञानसे घटकी निवृत्ति कहाँ होती है ? इसपर अब समाधान देखिये जो वेदान्तकी गहराईमें ले जायेगा। एक अतिसुन्दर बालिका है। अप्सरा जैसी दीखती है। किन्तु सूक्ष्मदर्शी कांच (माईक्रोस्कोप) से अगर देखें तो यह भयानक राक्षसी दीखती है। अब बताओ कि सुन्दरीरूप सत्य है कि राक्षसीरूप सत्य है ? यह कहें कि माईक्रोस्कोपसे मिथ्यारूप दीखता है तो माईक्रोस्कोपसे जो खून आदिमें अणुओंको (सेल्सको) देखते हैं वह भी फिर मिथ्या होगा। यदि मिथ्या नहीं तो राक्षसीरूप भी मिथ्या नहीं, सत्य है। वैज्ञानिकोंने इस क्रमसे आगे बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक देख लिया है कि ठोस कोई पदार्थ है ही नहीं। दूर-दूर एक-एक अणु है। अधिकतर आकाश है। उन अणुओंकी गतिसे ही ठोस पदार्थ दीख रहे हैं। इस क्रमसे दृश्यमान सभी रूप मिथ्या है अर्थात् यन्त्रसहायतासे यथार्थ दर्शन होनेपर रूप बाधित हो गया। यदि यह कहें कि फिर भी वे अणु तो सत्य हैं ? वैज्ञानिकोंने उनको भी तोड़-कर देखा। अणु भी प्राटान इलेक्ट्रान आदिसे बना है। चाहे कितने भी आगे चलें कोई तत्त्व अन्तमें रहेगा ? निश्चित। उसको हम सर्वशेष ब्रह्म कहते हैं। "तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्"। उस ब्रह्ममें अनन्तशक्ति है। उन शक्तियोंसे ही यह जगत् इस प्रकार दीखता है। आखिर शक्ति तो है। पर शक्ति और शक्तिमानकी पृथक् गणना नहीं होती। विद्यारण्यस्वामीजो कहते हैं—"न लोके चैत्रतच्छक्त्यो-र्जीवितं गण्यते पृथक्" जैसे माईकोस्क्रोपकी सहायतासे दूर-दूर स्थित मृत्तिकाके

अणुओंका दर्शन होनेपर घटरूप वाधित हुआ, फिर भी माईक्रोस्कोपके अभावमें घट-रूप दीखता है, व्यवहार भी चलता है। वैसे निदिध्यासनरूपी समाधिकी सहायतासे शुद्ध वुद्ध ब्रह्मका साक्षात्कार होता है तव पूरेका पूरा जगत् वाधित होता है और समाधीतरकालमें जगत दीखता भी है और व्यवहार चलता भी है इस स्वीकृतिमें आपको क्या अनुपपत्ति दीखती है ? शरीरपात होनेपर और द्वितीय जन्मके हेतु कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जानेपर हमेशाके लिए उस समाधिकालीन दर्शनके समान ब्रह्म-दर्शन होता है तो "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" के अनुसार सर्वजगतनिवृत्ति हो जाती है। यही मोक्ष है। वह स्वरूप वाणी और मनका अविषय बताया है। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"। अतएव उस समय इच्छा है या नहीं, यदि है तो कैसा वह मोक्ष, यदि नहीं तो आत्मा रहे या न रहे क्या फरक? यह बौद्धाक्षेप भी निराधार हो जाता है। क्योंकि श्रुति स्वयं उसे पुरुषार्थ भी कहती है ओर वाणीमनका अविषय भी। (पुरुषार्थ माने पुरुषेण अर्थ्यमान। उस अर्थनाका स्वरूप वाचामगोचर है जिसे परमप्रेम भो कहते हैं) उसमें शुष्क तर्क करना व्यर्थ है। अतएव शङ्कराचार्यको इस जगह अफसोसके साथ कहना पड़ा—"अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः। आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः"। जो तर्कविषय है उसमें उनका तर्क ठीक था। परन्तु तर्कके अविषयमें भी वे तर्क करने लगे। तर्क-गम्यस्थलमें किंचित्समानता देखकर ही लोगों को भ्रान्ति हुई कि बौद्धमत से यह वेदान्त मिलता जुलता है। किन्तु परमतात्पर्य विषय तो ब्रह्म है। वहाँ बौद्ध शून्य है। वेदान्त पूर्ण है। कहाँ पूर्ण और कहाँ शून्य ? इस गहराईमें प्रवेश न कर सकनेके कारण ही द्वैतवादी कहीं प्रच्छन्न बौद्ध कहकर गाली देना चाहते हैं। कहीं नास्तिक कहनेका साहस करते हैं। पूर्वनिरूपित ज्ञानवाध्यत्व तक न पहुँचनेके कारण ही शैव शाक्त तन्त्रवाले भी एक सोढ़ी नीचे रह गये। सांख्य उससे भी एक सीढ़ी नीचे रह गये। शाक्तादि जीवपरैक्य मानते हैं। वहाँ तक भी सांख्य नहीं पहुँच सके। उससे भी नीचे वैशेषिकादि रहे जो आत्माको आनन्द चैतन्यैकरसतक भी पहुँचा नहीं सके। आत्माणुवादी बल्कि उनसे भी नीचे स्तरके हैं। नास्तिक तो उससे भी नीचे रह गये। अतः वेदान्तदर्शन ही दर्शनीयतम दर्शन है यह सिद्ध होता है।

यद्यपि यह सिद्धान्त औपनिषद है, अनादिकालीन है। "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति"। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्"। "तत्त्व-मसि" आदि श्रुतियाँ स्पष्टार्थक हैं। इसके उपदेशक गौड़पादाचार्यपर्यन्त सभी सिद्ध सन्त हुए। विशेषरूपसे इसका विस्तारण आचार्य शङ्करभगवत्पादने किया। ईस्वी सन् ७८८ में आचार्यका प्रादुर्भाव केरल प्रान्तमें कालटी नामक ग्राममें हुआ। उनके बारेमें "अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्। षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे

मुनिरभ्यगात्" ॥ यह श्लोक प्रसिद्ध है। पाँच वर्षसे आठके आसपासतक गुरुकुलमें रहकर वे चतुर्वेदी बने। आठवें वर्षमें संन्यास लेकर गोविन्दभगवत्पादाचार्यसे सर्वशास्त्रग्रहण चार वर्ष तक किया। बारह वर्षमें वे काशी पहुँचे और वहाँसे बदरीनाथ जाकर चार वर्ष तक ब्रह्मसूत्रादिपर भाष्य लिखा। तदनन्तर भारतमें अनेक वार परिभ्रमण कर समस्त बौद्धधर्मावलम्बियों को सनातनी बनाया। चार मठोंकी प्रतिष्ठा की। और अंतमें बत्तीस वर्ष उमरमें कृतकृत्य होकर केदारनाथमें स्वरूपस्थ हुए। इसका विस्तार अस्मत्कृत या विद्यारण्यस्वामी आदि कृत शङ्कर-दिग्विजयमें देखा जा सकता है।

तत्त्वके बारेमें वेदान्तमें ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थतत्त्व है। अनादि मायाके कारण उसीसे जगत् उत्पन्न हुआ। जगत्तत्त्वमें कुछ लोग सांख्यमतानुसार चलते हैं। परन्तु अधिकतर मत है—ब्रह्मसे आकाश, उससे वायु, उससे तेज, उससे जल. उससे पृथ्वी सूक्ष्मरूपेण अर्थात् तन्मात्रारूपसे उत्पन्न हुआ। इनके पंचीकरणसे स्थूल आकाशादि हुए। सूक्ष्म आकाशादिसे ही इन्द्रिय प्राणादिकी उत्पत्ति है, सांख्यवत् अहङ्कारसे नहीं। विवेकादि साधनचतुष्टयसम्पन्न गुरुके पास जाकर, आत्माका श्रवण-मनन निदिध्यासन कर आत्मदर्शन करता है तो सर्वसंसारबाध होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है। व्यवहारमें प्रायः भट्टनय स्वीकार किया है। समाधिविधि या निदिध्यासनविधि आचार्यने पंचीकरणमें बताया है। "ॐ पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि" इत्यादिसे आरम्भ किया। ॐ का अ-उ-म-अर्धमात्रा ये स्वरूप हैं। पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतादि अकारका अर्थ है। अकारको उकारमें और स्थूल प्रपञ्च सूक्ष्ममें विलय करो। उका सूक्ष्म जगत अर्थ है। जैसे माईक्रोस्कोपसे घटको दूरस्थ अणुओंमें विलीन करते हैं। फिर उकारार्थ सूक्ष्मको कारणरूप मकारार्थ अविद्यारूपी प्रकृतिमें विलय करो। जैसे अणुओंको भी केवल गतिरूप समझते हैं। उसके बाद मकारार्थ प्रकृतिको अहमर्थ शुद्ध चैतन्यमें विलय करो। तब शुद्ध चैतन्यरूपी ब्रह्मसाक्षात्कार होगा। एतत्समाधिसहकृत ॐकाररूपी या तत्त्वमसि आदि महावाक्यसे ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर ब्रह्मरूपेण अवस्थान मोक्ष है।

(२०) परिशिष्ट; भक्तितत्त्वनिरूपण

भक्तितत्त्वको दर्शनके रूपमें कहीं उल्लेख नहीं किया है। वैशेषिक-सांख्य आदि के समान पृथिव्यादितत्त्वप्रतिपादन इसका विषय नहीं है। फिर भी यदि दृश्यतेऽनेन इस व्युत्पत्तिके अनुसार परमार्थदर्शनसाधन होनेसे इसे दर्शन कहा जाय तो कोई अपराध भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि भक्तिसे भी परमार्थदर्शन होता ही है

और इसमें भी भगवानके स्वरूपका और भगवात्लीलारूपेण जगत्का वर्णन आता ही है। वस्तुतः यह समस्त दर्शनोंमें ओतप्रोत है। वैशेषिक महेश्वरभक्ति करते थे तो गौतम शिव भक्ति। सांख्ययोगवाले पुरुषविशेष या पुरुषोत्तमकी भक्ति करते थे। अन्ततः कपिलको ही भगवान्के रूपमें सांख्यवाले पूजते थे। बौद्ध बुद्धको भगवान कहते हैं, जैन महावीर आदिको। एक चार्वाकको भक्तिशून्य कह सकते हैं। किन्तु वे भी अपने आचार्य बृहस्पतिके प्रति श्रद्धाभक्ति रखते ही थे। फलतः यह सिद्ध है कि भक्ति एक विवादरहित तत्त्व है। विचारणीय है कि भक्ति शेष है या शेषी। अथवा परस्पर शेषशेषिभाव है। शेषशेषिभावका मतलब अङ्गाङ्गिभाव। इस विषयमें शैववैष्णवादिका दर्शन भक्तिको अङ्गी और ज्ञानको अङ्ग मानता है। रामानुजाचार्य गीताभाष्यमें लिखते हैं—"ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगमवतारयामास"। शैवभाष्यकार नीलकण्ठाचार्यका भी प्रायः यही मत है। कुछ आचार्य अङ्गाङ्गिभाव न मानकर साधनसाध्यभाव मानते हैं। "तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके"। इस मतमें भक्ति होनेपर, भक्तिप्राप्तिके बाद ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होगी। भोजन तैयार हो गया तो आग जलाकर रखनेका कोई उपयोग नहीं है। घट बन जानेके बाद चक्रदण्डादिका क्या प्रयोजन ? "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इत्यादि वचन इस बातका समर्थक भी है। इसी वचनको पूरा प्रामाणिक माना जाय तो अङ्गाङ्गिभाव पक्षका भी कोई महत्त्व नहीं रहेगा। "ते नाधीतश्रुतिगणाः" इत्यादिमें यह बात और स्पष्ट हो जाती है। ज्ञानकी कारणतामें अनैकान्तिकता आ जाती है तो वह अङ्ग बन नहीं सकता। इसके विपरीत सांख्ययोगादि दार्शनिकोंका कहना है कि भक्ति साधन है। ज्ञान ही अङ्गी मोक्षसाधन है। ज्ञानसे ही मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिके द्वारा मोक्ष होता है। "तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" इत्यादि वचन द्रष्टव्य हैं। "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" "ज्ञानादेव तु कैवल्यं" इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं। उक्त श्रुतिमें विदित्वाका अर्थ रामानुजीयसंप्रदायवाले 'उपास्य' करते हैं। "य एवं वेद" इत्यादिमें विदका उपासना अर्थ प्रसिद्ध है। परन्तु यह बात सही नहीं है। शब्दशक्तिका ज्ञान व्यवहारादिसे होता है। इसमें ऐसे अर्थमें कदाचित्क श्रुति प्रमाण नहीं मानी जाती। कहीं श्रुतिमें पुण्य पाप दोनों अर्थमें पाप शब्दका प्रयोग किया है तो क्या यज्ञदानादि करते समय 'अयं पापं करोति' ऐसा प्रयोग होगा ? दूसरी बात 'य एवं वेद' इत्यादिमें भी उपासनाजनित साक्षात्कारात्मक ज्ञानपर्यन्त अर्थ विवक्षित है। अन्यथा दो मिनटकी उपासना या जीवनभरकी उपासना फलदायक ? इसका निर्णय करना संभव नहीं होगा। खैर, इसपर विचार अन्यत्र हमने किया है.

यहां विस्तरण अनावश्यक है। इतना ही बताना है कि श्रुति ज्ञानसे मोक्ष कहती हैं। ज्ञानके अङ्गके रूपमें कुछ लोग भक्तिको मानते हैं और कुछ लोग साधनके रूपमें। "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इस श्रुतिमें ज्ञानसाधनके रूपमें स्पष्ट बताया। जो भी मत हो, मतान्तर हो, भक्तिकी आवश्यकता को कोई इनकार नहीं कर सकता है।

भक्ति दो प्रकारकी है। एक साधनभक्ति है, दूसरी साध्यभक्ति है। श्रवण, कीर्तन, पूजापाठादि साधनभक्ति है। और प्रेमलक्षणा भक्ति साध्यभक्ति है। दोनों का वर्णन पुष्कलरूपसे पुराणोंमें और महाभारतादि इतिहासोंमें देखनेमें आता है। इन दो भक्तियोंके बीचमें एक भावात्मक भक्ति भी मानी जाती है। "सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः। भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते" इस वचनके पर्यायिलोचनसे उक्त बात सामने आती है। साधन भक्तिके विभाजक भेदकी संख्यामें ऐकमत्य नहीं है। श्रवणं कीर्तनं इत्यादि श्रीमद्भागवतीय श्लोक और शिवपुराणस्थश्लोकसे नवधा भक्ति प्रतीत होती है। "प्रथम भगति सन्तन कर संगा' इत्यादि वचनपर विचार करनेपर कुछ और भी साधन जुड जाते हैं। "प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः" इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती भी प्रकारान्तरसे परिगणना करते हैं। भावभक्ति पांच बतायी जाती हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। ये भावभक्तिके पांच भेद हैं। नवधा भक्तिमें दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आता है और भावभक्तिमें भी दास्य और सख्य आता है। अतः साधनभक्ति और भावभक्ति भी अत्यन्त व्यावृत्तप्रकारक नहीं है। वल्लभाचार्यने दशमस्कन्धादिकी व्याख्यामें तथा षोडशग्रन्थादिमें भक्तिकी भूमिकाओंका वर्णन और ही ढंगसे किया है। जिसे आप इस प्रस्तुत ग्रन्थमें भी देख सकेंगे। भक्तिसूत्रकी व्याख्यामें नारायणतीर्थजीने कुछ नया ही प्रकार अपनाया है। हमने दिव्यरसतरङ्गिणी नामके अपने ग्रन्थमें प्रथम लहरीमें भक्तिकी अष्टादश भूमिकायें दिखायीं। फिर द्वितीय लहरीमें सैकड़ों भूमिकाओंके अवसरको दिखाया। अतएव द्रव्यादयः सप्त पदार्थाः; प्रमाणादयः षोडश पदार्थाः; इस रीति इदमित्थंरूपेण निश्चयरूपसे विभाजन करना संभव नहीं है। किसी भी क्रमसे आगे बढ़ते हुए परमप्रेमात्मक भक्ति प्राप्त करना चाहिए इतनेमें सबका तात्पर्य है।

षोढा शरणागतिको भी भक्तिके लिए आवश्यक बताया है। आनुकूल्यसंकल्प, प्रातिकूल्यपरित्याग, रक्षाविश्वास, रक्षणार्थ भगवद्वरण, आत्मनिक्षेप और कार्पण्य ये छः प्रकारकी शरणागति हैं। प्रथम दोकी व्याख्यामें फरक है। भगवदनुकूलसत्पथमें चलनेका संकल्प आनुकूल्य संकल्प है। भगवत्प्रतिकूल-हिंसानृतादिपरित्याग

प्रातिकूल्यविवर्जन है। इसप्रकार कुछ लोगोंकी व्याख्या है। परन्तु हमने दिव्यरस-तरङ्गिणीमें भगवानको सदैव अपने अनुकूल ही समझना और परमेश्वर प्रतिकूल भी होता है इस मतिको त्यागना दोनोंका अर्थ स्वीकारा है। पूर्वोक्त व्याख्या भी संभव होनेसे इस ग्रन्थमें वही अर्थ दिखाया है। श्रीमन्मधुसूदन सरस्वतीने शृंगार, करुण आदि नवरसोंको भी भगवद्विषयक बनाकर भक्तिके अन्दर बताया है। भक्तिरसामृत-सिन्धु और गौडीय सम्प्रदायानुसारी ग्रन्थोंमें इसके लिए प्रपोषण मिला है। इस रीति नाना ग्रन्थोंमें नाना प्रकारोंके उपलब्ध होनेसे हमने कहीं-कहीं नवीनरूपसे प्रस्तुति की है।

भक्तिशास्त्रके मुख्य दो सूत्रग्रन्थ हैं। एक देवर्षि नारदजीका है और दूसरा शाण्डिल्य ऋषिका है। इनमें शाण्डिल्यसूत्रमें गीताप्रभृति मूलग्रन्थोंके वाक्योंपर विशेषरूपसे चर्चा की है। अतः उसे भक्तिमीमांसा भी कहते हैं। नारदीय भक्तिसूत्रोंमें वाक्यार्थ विचार नहीं किया है। वहां केवल भक्तिके स्वरूप, साधन, फलादिपर ही विचार है। शाण्डिल्यसूत्रकी अपेक्षा नारदीय सूत्रोंमें सूक्ष्मतत्त्वनिरूपणकी विशेषता है। हमने सूत्रोंपर एक विस्तृत व्याख्या वार्तिक नामसे किया है। भक्तिसूत्रोंकी गहनता जाननेके लिए उसका अवलोकन उपयोगी है। उसीकी भूमिकामें भी तत्त-त्स्थलविशेषका विशेष निर्देश किया है।

शाण्डिल्यसूत्रोंपर स्वप्नेश्वरका भाष्य महत्वपूर्ण है। तथा श्रीमन्नारायणतीर्थ-की भक्तिचन्द्रिका भी स्वतन्त्र महत्त्व रखती है। नारदीय भक्तिसूत्रोंपर कोई भी प्राचीन व्याख्या प्राप्य नहीं है। किसीने भी व्याख्या नहीं की, अथवा लिखित व्याख्या लुप्त हुई, इस विषयमें प्रथम कोटि ही सत्य ठहरती है। क्योंकि टीका यदि हुई होती तो कहीं न कहीं उसका उद्धरण मिलता। कमसे कम लोगोंमें उसकी किंव-दन्ती रहती। इसी आधारपर आधुनिकोंका कहना है कि नारदीय भक्तिसूत्र अत्यन्त अर्वाचीन है। परन्तु इतनीसी बातको लेकर उसे अर्वाचीन कहना साहसमात्र है। यदि यह देवर्षि नारदजीकी रचना नहीं है तो "य इदं नारदप्रोक्तं श्रद्धत्ते" इत्यादि अन्तिमसूत्रका अर्थ कैसे लगेगा? यदि कहें कि नारद नामके किसी अर्वाचीन पंडित की रचना है तो इससे पूर्वसूत्रमें भक्ताचार्योंकी परिगणनामें देवर्षि नारदकी गणना क्यों नहीं की? उसमें अपरिगणित होनेसे ही स्वयंका नाम अन्तिमसूत्रमें कहा यह स्पष्ट है। यदि कहे कि देवर्षि नारदरचितका यह एक संग्रह है, 'य इदं नारदप्रोक्तं' यह परनिर्देश है, स्वनिर्देश नहीं, तो भी पूर्वसूत्रमें नारदका नाम आना चाहिए था। और सबने भक्तिविषयमें कुछ न कुछ कहा है। जैसे "पूजादावनुराग इति पाराशर्यः" इत्यादि। तब यह केवल नारदप्रोक्त कैसा? यदि ऐसा ही कोई ग्रन्थ

नारदका रहा हो और उसको "य इदं नारदप्रोक्तं" से किसी पण्डितने संग्रह किया तो वह नारदप्रोक्त मूल कहां है ? फिर वही यह नारप्रोक्त है तो देवर्षिनारदप्रोक्त ही सिद्ध हुआ। भेदमें कोई प्रमाण नहीं रहा। देवर्षिका नाम लिखकर किसी पंडित ने अपने ग्रन्थका प्रचार करना चाहा, इत्यादि कल्पना तो अपने चश्मेसे देखनेवालों-की ही बात है। जब कि सूत्रोंमें ही अहिंसासत्यादीनि परिपालनीयानि" बताया क्या वे ही सूत्रकार सत्यको त्यागेंगे। अतः मेरी दृष्टिमें तो देवर्षि नारद प्रणीत ही यह ग्रन्थ है। अति सरल होनेसे भाष्यादि नहीं लिखा गया ऐसा हो सकता है। जो भी हो हमने इसपर एक विस्तृत वार्तिक लिख ही दिया है। नारदीय सूत्रोंपर हिन्दीमें अनुवाद एवं व्याख्यायें वर्तमानमें कई हो चुकी हैं। सबने इसे देवर्षि नारद प्रोक्त ही माना है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें पूर्वोक्त भक्तिभूमिका नवधाभक्ति, नवरस आदिका ही संग्रह है। विशेषरूपसे भागवतका ही आधार लिया गया है। वैसे शैवसिद्धान्तोक्त भक्ति रहस्यका भी समावेश करना चाहिए था। परन्तु प्रेमलक्षण भक्तिमें कोई मतभेद नहीं है। अन्यत्र भी नाममात्रका तत्तद्भेद है और पूजा पद्धतिका यहां वर्णन है नहीं। ऐसी स्थितिमें इतने ही से सब गतार्थ हो जाते हैं अतः पृथक् मतान्तर नहीं दिखाया।

उपसंहार

विंशति शतकात्मक इस ग्रन्थमें अवैदिक षड्दर्शन वैदिकोंके विरुद्धमें प्रस्तुत नहीं किया है। बात यह है कि वैज्ञानिक प्रगतिने भौतिकवादको इतना आगे बढ़ा दिया है कि नवीन लोग यहाँ तक कहने लगे हैं कि पुराने जमानेके तर्कहीन रूढ़िवादी मस्तिष्क की ही उपज धर्मवाद वा ईश्वरवाद है। उनके लिये ही जवाब चार्वाक दर्शन है। यह वैदेशिक भौतिकवादके उच्छिष्ट भोजियोंपर करारी चोट है। यह भौतिकवाद भारतीय स्वतन्त्र मस्तिष्ककी उपजके रूपमें प्रथम ही था, जिसे चार्वाक दर्शन कहते हैं। उसमें अयथार्थता, अव्यवस्था एवं अनैतिकताका अनुभव करके ही तीक्ष्णमति ऋषियोंने आस्तिकदर्शन चलाया। आज भी भौतिकवादी कितना ही आगे बढ़ें किन्तु अन्तमें उनको अस्तिक मतमें ही आना पड़ेगा। तर्कहीन रूढ़िवादिता का जवाब बौद्धदर्शन है। अतितर्क का परिणाम ही शून्यवाद या नैरात्म्यवादमें पतन और निराशावाद है। अतः अनुभवात्मक वेद ही परमशरण है। वैदिक दर्शनोंमें क्रमिक उद्गमन होनेसे वैशेषिकादि सभी ग्राह्य हैं। इनसे विचार शक्तिकी स्थिरता प्राप्त होती है। जो वास्ततिक

वेदार्थ बोधमें उपयोगी है। रामानुजादिसिद्धान्तोंका विशेषतया भक्तिमें ही उपयोग है। वे "अथातो धर्मजिज्ञासा"का ही शेष ब्रह्मजिज्ञासको मानते हैं। अतएव वे कर्ममीमांसक ही हैं। उसीके विषय सगुण ब्रह्मका भी वर्णन विश्वतोमुख सूत्रों (ब्रह्मसूत्रों) में मानना भूषण ही है। परन्तु वेदान्त तो कर्मोंसे असंस्पृष्ट विशुद्ध ज्ञान ही है। अतः वेदान्तदर्शन तो शांकर वेदान्त ही है। वेदनों में अन्तिम वेदन ही वेदान्त है। "य एवं वेद" इत्यादिमें वेदनका, उपासना अर्थ देखकर सर्वत्र वही अर्थ नहीं किया जाता। क्योंकि शब्दार्थसम्बन्धज्ञान लोकव्यवहारायत्त है। अन्यथा 'मौंनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इस निर्वचनके अनुसार अब्रह्मदर्शी सभी अब्राह्मण ही होने लगेंगे। इसका विश्लेषण हमने पूर्व भी किया है। वेदान्त विचार तथा पूर्णभक्ति हो तभी अपरोक्षबोध संभव है—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इस श्रुतिमें इसका स्पष्ट निर्देश है। अतः वेदान्तविचारके साथ अन्तमें भक्तिपर भी विचार किया। उसमें भी आत्मानुसन्धान प्रयुक्त परात्मप्रेम ही पराभक्ति है जो भगवत्पादसिद्धान्तके रूपमें अन्तमें दिखाया। परमप्रेमात्मक होनेसे पुरुषार्थरूप सच्चिदानन्द को अन्तमें उपसंहृत किया।

इस पुस्तक मुद्रणमें धनसाहाय्य देनेवाले डा० पालीवाल तथा श्रीमती कान्तादेवी कपूर दोनोंको वेदभगवनकी प्रसन्नता ही आशीर्वादरूप होगी।

द्वादशदर्शनसंग्रह विषयसूची

वेदार्थपरिचयः १–२५
चतुर्वेदमङ्गलाचरणम् १
वेदापौरुषेयत्वम् २
वेदस्वरूपम् ३
प्रवृत्तिनिवृत्ती धर्मौ ४
देहाद्यतिरिक्त आत्मा ५
धर्मसामान्यम् ७
ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रधर्माः ८
आश्रमधर्मे ब्रह्मचर्यम् ९
गृहस्थधर्माः १०
वानप्रस्थधर्माः १७
संन्यासधर्माः १८
वेदतात्पर्यम् २४
द्वादशदर्शनोपक्रमः २७
(१)चार्वाकदर्शनम् ३१–६०
धर्माधर्मयोः स्वरूपम् ३१
वेदप्रामाण्यनिराकरणम् ३३
आत्मा न नित्यः ३६
भूतचतुष्टयम् ३७
ततश्चैतन्योत्पत्तिः ३८
चार्वाकनानामतानि ३९
आकाशस्वीकारः ४२
नास्ति परमात्मादिः ४३
प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् ४४
नृपतिरेवेश्वरः ४८
दण्डनीतिरेव विद्या ४९
अर्थकामौ पुरुषार्थौ ४९
जन्मान्तरखण्डनम् ५१
चार्वाकशास्त्रस्य सर्वादरः ५५
(२) जैनदर्शनम् ६१–८६
सप्तपदार्था जैनानाम् ६१
प्रमाणनयौ। प्रत्यक्षं च ६२
स्वार्थपरार्थे अनुमाने ६३
पञ्चावयवा दशावयवा वा ६४
उपमानं, शब्दः, मतिश्रुत्यादिः ६५
नयः ६७
स्याद्वादः ६८
जीवस्वरूपम् ६९
भावाः ७०
अजीवस्वरूपम् ७२
आस्रवः ७६
बन्धः ७७
संवरः ७८
निर्जरः ८२
मोक्षः ८३
बौद्धसामान्यदर्शनम् ८७–११०
आर्यसत्यानि चत्वारि ८७
दुःखं, दुःखसमुदयः ८८
दुःखनिरोधः ९३
मध्यमा प्रतिपत् ९४
शीलं, समाधिः, प्रज्ञा ९७
पञ्च स्कन्धाः १००
यानत्रयम् १०४
निर्वाणम् १०९

(३) वैभाषिकदर्शनम् १११–१३१
भूतादिहेतुधर्माः ११२
स्कन्धा, आयतनानि, धातवः ११३
रूपम् ११५
चित्तं ११८
चैतसिकाः ११९
चित्तविप्रयुक्ताः १२३
संस्कृता असंस्कृताश्च धर्माः १२५
कालः १२७
निर्वाणम् १३०

(४) सौत्रान्तिकदर्शनम् १३२–१५२
सौत्रान्तिकपदार्थः १३२
संस्कृताऽसंस्कृतौ स्कन्धाश्च १३३
अवयविखण्डनम् १३४
बाह्यार्थानुमेयत्वम् १३५
रूपस्कन्धनामस्कन्धौ १३८
आयतनधातुः १४०
कामभूमिः १४१
रूपधातुभूमिः १४४
आरूप्यधातुभूमिः १५०
निर्वाणम् १५१

(५) योगाचारदर्शनम् १५३–१७५
सप्तदश योगभूमयः १५३
असंस्कृतधर्माः १५६
रूपम् १५८
प्रमाणम् १५९
चित्तं (विज्ञानं) १६६
प्रवृत्तिः १६३
क्लिष्टमनोविज्ञानम् १६४
चैतसिकधर्माः १६६
चित्तविप्रयुक्ताः १६९
त्रिसत्यम् १७०
विज्ञानमात्रसत्ता १७१

(६) माध्यमिकदर्शनम् १७६–१९७
माध्यमिकत्वं, प्रतीत्यसमुत्पादः १७६
संवृतिसत्यं परमार्थसत्यं च १७७
हेतवः १७९
प्रत्ययाः १८०
हेत्वालम्बनसमनन्तराधिपतेयाः १८२
पञ्चस्कन्धाः १८३
अष्टाङ्गमार्गः चेतना चेतयित्वा १८५
मानसादि त्रिविधकर्म १८६
सप्त चेतना अविज्ञप्त्यादयः १८६
सर्वखण्डनम् १८७

(७) वैशेषिकदर्शनम् १९९–२२०
धर्मो द्विविधः १९९
उद्देशग्रन्थः २०२
साधर्म्यवैधर्म्ये २०३
नवद्रव्याणि २०४
चतुर्विंशतिगुणाः २०९
कर्म, सामान्यं विशेषाः २१७
समवायः अभावश्च २१८

(८) न्यायदर्शनम् २२१–२४१
पदार्थसामान्यनिरूपणम् २२१
प्रमाणानि २२१
प्रत्यक्षम् २२२
अनुमानमुपमानम् २२४
शब्दः २२५
प्रमेयम् २२६
संशयः प्रयोजनम् २३१
दृष्टान्तः, सिद्धान्तः २३२

अवयवः २३४
तर्कः निर्णयः २३५
वाद, जल्प, वितन्डा, हेत्वाभासाः २३७
छलम् २३७
निग्रहस्थानानि २३९
निःश्रेयसम् २४०

(९) सांख्यदर्शनम् २४२–२६१
शास्त्रारम्भसार्थक्यम् २४२
प्रकृतिपुरुषौ २४४
भोगः २४८
त्रिगुणा प्रकृतिः २४९
महत्तत्त्वाहंकाराद्याः २५२
प्रत्ययसर्गः २५६
पुरुषः २५८
कैवल्यम् २६०

(१०) योगदर्शनम् २६२–२८१
चित्तभूमयः पञ्च २६२
संप्रज्ञातचातुर्विध्यम् २६३
मधुमत्यादिभूमिकाचतुष्टयम् २६३
असंप्रज्ञातः २६४
ईश्वरः २६५
विशेषाविशेषलिङ्गालिङ्गानि २६६
गुणाः भोगापवर्गौ च २६७
जीवाः क्लेशाश्च २६९
वृत्तिपञ्चकतन्निरोधौ २७०
सविकल्पकनिर्विकल्पकसमाधी २७२
परिकर्म २७४
योगाङ्गनिरूपणम् २७५
विभूतिः २७७
कैवल्यक्रमः २७८

(११) मीमांसादर्शनम् २८२–३०१
धर्माधर्मौ पदार्थाश्च २८२
प्रामाण्यं, प्रत्यक्षम् २८३
अनुमानं शब्दः २८४
अन्वयः, लिङ्गाद्यर्थः २८४
वेदपाञ्चविध्यं, विधित्रयम् २८७
उत्पत्त्यादिविधिचतुष्टयम् २८८
मन्त्रः, नामधेयम् २९४
निषेधः २९५
अर्थवादः २९६
उपमानम् २९७
प्रमेयं-द्रव्यनिरूपणम् २९८
गुणादिनिरूपणम् ३००

रामानुजसिद्धान्तः ३०२–३२२
द्रव्यगुणौ तत्त्वे ३०२
ईश्वरस्वरूपं चतुर्व्यूहादिः ३०२
जीवः ३०५
नित्यविभूतिः ३०८
प्रत्यक्षम् ३०९
अनुमानम् ३११
शब्दः ३११
जडनिरूपणे प्रकृत्याद्याः ३१३
कालः गुणाश्च ३१६
सर्वं सत्यं, सत्वज्ञानप्रयोजनं च ३२०
मुक्तिस्वरूपं तत्साधनानि च ३२१

निम्बार्कसिद्धान्तः ३२३–३४१
चित्, अचित्, ईश्वरः, तत्र चित् ३२३
अचित् प्राकृताप्राकृतकालाः ३२७
भजनीयपरमेश्वरस्वरूपम् ३३०
चतुर्व्यूहः ३३३
जीवेश्वरद्वैताद्वैतम् ३३४

ईश्वरजगद्द्वैताद्वैतम् ३३५
प्रमाणनिरूपणम् ३३७
कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तयः ३३८
पञ्च संस्काराः ३४०

माध्वसिद्धान्तः ३४२–३६२
भेदपञ्चकंपदार्थदशकं विंशतिद्रव्यं ३४२
विंशतिद्रव्यनिरूपणम् ३४३
गुणकर्मणोर्निरूपणम् ३५४
सामान्यम् ३५५
विशेषः विशिष्टः अंशी च ३५६
शक्तिचातुर्विध्यम् ३५७
सादृश्यम् अभावश्च ३५८
प्रमाणाष्टकं प्रत्यक्षमनुमानं च ३५९
शब्दः जाग्रदादिषडवस्थाः ३६०
साधननिरूपणम् ३६१

वल्लभसिद्धान्तः ३६३–३८२
जगद् ब्रह्मणोऽविकृतपरिणामः ३६३
कृष्णस्वरूपम् ३६३
तत्स्वरूपकारणकार्यकोटयः ३६४
ब्रह्मस्वरूपादिस्फुटवर्णनम् ३६९
अन्तर्यामी कूटस्थः अक्षरम् ३६९
अप्राकृतसत्त्वादि प्रकृतिमहदाद्याः ३७१
अभावनिराकरणम् ३७१
जगत्संसारयोर्भेदः विषयता च ३७४
पञ्चपर्वणी विद्याऽविद्ये ३७५
जीवभेदः शब्दादीनि प्रमाणानि ३७६
मर्यादा, पुष्टिः पुष्टिभेदाश्च ३७९
भक्तिभूमिकाः ३८०

शैवशाक्तसिद्धान्तः ३८१–४०१
षट्त्रिंशत्तत्त्वानि तत्त्वातीतश्च ३८३
स्पन्दः, शिवशक्ती ३८४
नादः विन्दुत्रयं, सदाशिवः ३८५
ब्रह्मादयः वाण्यादयश्च ३८५
मायादिषट्कनिरूपणम् ३८६
पुरुषः प्रकृतिः ३८७
महदादि ब्रह्माण्डान्तसृष्टिः ३८७
कुण्डलिनी परापश्यन्त्याद्याः ३८९
ॐकारः पञ्चाक्षरविद्या च ३९०
पाशुपते विशेषः ३९१
प्रत्यभिज्ञायां विशेषः ३९३
शाक्ते कुण्डलिन्युद्बोधः षट्चक्राणि च ३९४
योगमते भेदः ३९६
श्रीचक्रषट्चक्रैक्यम् ३९७
मूलादिचक्रैक्यं चतुर्धैक्यं च ३९८
षट्त्रिंशत्पञ्चाशद्वा तत्त्वानि ३९९
सर्वैक्यं सहस्रारे ३९९
शक्तिः शिवेऽङ्कुरशक्तिवद्बीजे ४००

(१२) वेदान्तदर्शनं (शांकरम्) ४०२–४२५
मङ्गलम् ४०२
अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्राथपदार्थः ४०३
साधनचतुष्टयम् ४०४
अतःशब्दार्थः ४०६
श्रवणं षड्लिङ्गनिरूपणं च ४०७
मननम् ४०८
निदिध्यासनं ब्रह्मजिज्ञासाफलं च ४०९
जगन्मिथ्यात्वनिरूपणम् ४०९
प्रमाणानि षट् तत्र प्रत्यक्षम् ४१२
अनुमानमुपमानं च ४१३
शब्दः ४१४
अर्थापत्तिरनुपलब्धिश्च ४१५

प्रमेयनिरूपणम्	४१६
विक्षेपः आवरणं, प्राज्ञः ईश्वरः	४१६
आकाशाद्युत्पत्तिः सूक्ष्मस्थूलसृष्टिः	४१७
हिरण्यगर्भतैजसविराडादिश्च	४१७
भ्रान्तिनिरूपणम्	४१९
अध्यासनिरूपणम्	४२०
पञ्चकोशाः देहत्रयम्	४२०
आत्मसाक्षात्कारे सहकारिणः	४२३
मुक्तिस्वरूपनिरूपणम्	४२४
सर्वविमर्शः	४२६
परिशिष्टं—भक्तिनिरूपणम्	४२७–४४८
श्रीधरस्वामिमतं, भक्तिस्वरूपम्	४२७
नानाभक्तिभूमिकाः	४२९
अष्टादशभूमिकाविवरणम्	४३०
सालोक्यादि	४३३
वल्लभाचार्यमतं मर्यादा पुष्टिश्च	४३४
मिश्रापुष्टित्रैविध्यम्	४३५
निरोधः तद्भेदश्च	४३६
दशमस्कन्धसूचितनिरोधरूपम्	४३७
गौडीयादौ नवधाभक्तिः	४४०
शान्तादयः पञ्च भावाः	४४२
मिश्राशुद्धेति भक्तिद्वैविध्यम्	४४४
षोढा शरणागतिः	४४५
नव रसाः	४४७
भगवत्पादसिद्धान्तः	४४७
मङ्गलं समाप्तिश्च	४४८

ॐ

श्रीजयमङ्गलाचार्य (महामण्डलेश्वर काशिकानन्दयति) विरचितः

द्वादशदर्शनसंग्रहः

वेदार्थपरिचयः

सकलज्ञाननिधानं वेदात्मानं भजे परात्मानम् ।
उपजीव्य दर्शनानि प्रववृतिरे यं हि सकलानि ।। १ ।।

संपूर्ण ज्ञानों की निधि वेदरूपी परमात्मा का हम भजन करते हैं; जिन वेदों को ही आश्रय कर आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शन प्रवृत्त हुए। नास्तिक दर्शन वेदोक्त ईश्वरवाद शाश्वतवादादि को पूर्वपक्ष बनाकर प्रवृत्त हुए। आस्तिक दर्शन ईश्वरादि का समर्थन करते हुए प्रवृत्त हुए। सर्वथापि मूल तो वेद ही है ॥१॥

अग्नि यज्ञस्य पुरोहितमीडे रत्नधातमं देवम् ।
होतारमृत्विजं स च सर्वेश्च इहावहतु देवान् ।। २ ।।

उस अग्निदेव की हम स्तुति करते हैं जो यज्ञ का पुरोहित है (आगे स्थित है) जो परमगति प्रदायक है होता तथा ऋत्विक् स्वरूप भी है। प्राचीन तथा नवीन सभी ऋषियों का स्तुत्य वह अग्नि हमारे इस यज्ञकर्म में (स्वाध्याय यज्ञ में) देवताओं को उपस्थित करे जो देवता विघ्ननिवारणादि द्वारा हम पर अनुग्रह करें ॥२॥

ते चोपेताः शन्नस्तन्वन्तु सुपूजिता महीयांसः ।
यत्कृपया वेदानामर्थं परिचाययिष्यामः ।। ३ ।।

मन वाणी से सुपूजित अति महान् वे देवता उपस्थित होकर हमारा मंगल करें, जिन की कृपा से हम आप (अध्येता) को वेदार्थपरिचय देंगे ॥३॥

पीतय आयाह्यग्ने त्वमपीह ज्ञानयज्ञकर्मणि नः ।
वाग्रूपो होता त्वं विश्वेषां चासि हितकारी ।। ४ ।।

केवल देवताओं को हमारे पास उपस्थित करना मात्र नहीं। अपितु हे अग्ने! तुम स्वयं भी हमारे इस ज्ञानयज्ञकर्म में वीति के लिये (वि-इति-विशिष्ट गति, विशिष्टज्ञान के लिये) उपस्थित हो। क्योंकि ज्ञानयज्ञ में वागिन्द्रिय ही होता है। अग्नि वागिन्द्रिय का देवता होने से अग्नि होता है। और हे अग्ने तुम विश्वहितकारो हो ।।४।।

परियन्ति ये त्रिसप्ता विश्वान्यपि बिभ्रतो हि रूपाणि ।
तेषां बलान्यसौ मयि वाचस्पतिरद्य विदधातु ।। ५ ।।

देवत्रय शक्तित्रयादि रूप से तथा ऋषिसप्तक रविसोममङ्गलादिसप्तक लोकसप्तकादि रूप से परिवर्त्तमान परिभ्रमणशील समग्ररूपधारो जो त्रिसप्त प्रसिद्ध हैं उनके ज्ञान-क्रियादि समस्त शक्ति का आधान वाचस्पति-वेदपति परमात्मा मुझ में आज करें ।।५।।

अग्ने नय सुपथाऽस्मान् राये विद्वानशेषवयुनानि ।
अपनय कुटिलं दुरितं भूयांसि नमांसि ते ब्रूमः ।। ६ ।।

हे अग्निदेव सुफल प्राप्त्यर्थ हमें सुमार्ग से ले चलो। सकल ज्ञान एवं कर्म के तुम जानकार हो। उनमें हमारे कुटिल पाप को तुम निरस्त करो। बार-बार हम तुम को प्रणामवचन कहते हैं ।।६।।

मानान्तरानधिगतं धर्मं वा ब्रह्म वा निबोधयताम् ।
वेदानां प्रामाण्यं धर्मे च ब्रह्मणि च सिद्धम् ।। ७ ।।

अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनधिगत धर्म या ब्रह्म क बोधन कराने वाले वेदों की अनधिगतार्थविबोधक होने से धर्म और ब्रह्म में प्रमाणता सिद्ध होती है ।।७।।

चक्षुरिव रूपबोधे श्रोत्रादिरिव स्वरादिबोधे च ।
धर्मब्रह्मनिबोधे मानमनादिः श्रुतिर्भवति ।। ८ ।।

जिस प्रकार रूपबोधन में चक्षु प्रमाण है, शब्द-स्पर्शादिबोधन में श्रोत्रत्वगादि प्रमाण है वैसे धर्म और ब्रह्म के बोधन में भी प्रमाण होना

चाहिये। वह अनादिसिद्ध वेद ही है ॥८॥

पूर्णा खलु सृष्टिरियं न हि मेयं मानमन्तरा भवति ।
मेयस्यानादित्वान्मानस्यानादिता नियता ॥ ९ ॥

अशनाया यद्यशनं यदि चोदन्योदकं यथा नियतम् ।
कथमिव मेये मानं नेति वदेत् को नियतिवादी ॥ १० ॥

यह सृष्टि पूर्ण है। अतएव मान के विना मेय नहीं हो सकता। मेय अनादि है तो मान भी निश्चित अनादि होगा। यदि अशनाया (भूख) है तो पूर्णता के लिये अन्न भी सृष्टि में है। यदि उदन्या (प्यास) है तो उदक भी निश्चित है। स्त्री है तो पुरुष है। हिमालय में ठंढी है तो वहाँ के प्राणियों के शरीर में गरम रोम है इस प्रकार सर्वत्र पूरक देखने में आता है। अत एव सृष्टि पूर्ण है। तब मेय रहा और मान नहीं रहा ऐसा कौन नियतिवादि कहने का साहस करेगा ? अतः धर्म और ब्रह्म अनादि है तो उस मेय का मान भी अनादि सिद्ध मानना ही पड़ेगा ॥९-१०॥

नियतं धर्मब्रह्मस्वरूपमिति तत्प्रमाणमपि तादृक् ।
भेदे प्रमाणविरहादनादि चापौरुषेयं च ॥ ११ ॥

धर्म का स्वरूप निश्चित है। सत्य अहिंसा आदि किसी समय धर्म रहा, किसी समय अधर्म हो गया ऐसा नहीं होता। तथा ब्रह्म का स्वरूप भी निश्चित है। कभी ब्रह्म ज्ञानरूप रहा और कभी जडरूप हो गया ऐसा नहीं हो सकता। तब प्रमाण भी नियत ही होगा। "सत्यं वद" "मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इत्यादि धर्मप्रमाणवचन तथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि ब्रह्मप्रमाणवचन एकाकार ही होगा। कल्पभेद होने पर भी धर्मादिस्वरूप में भेद नहीं है तो तद्बोधक प्रमाणवचन की आनुपूर्वी में भेद मानने की आवश्यकता नहीं है, भेद में प्रमाण भी नहीं है, आनुपूर्वी का भेद मानने में गौरवदोष मात्र शिष्ट रहेगा। अतः वेद जैसे अब है इसी रूप में अनादि सिद्ध है अत एव अपौरुषेय भी है ॥११॥

धाताऽकल्पयदखिलं द्युप्रभृतीदं जगद्यथापूर्वम् ।
तस्मात्तदर्थबोधकवाक्यमपि यथानुपूर्वीकम् ॥ १२ ॥

धाता ने पूर्वकल्पानुसार ही इस कल्प में भी सृष्टि की। पूर्वकल्प में पानी ठंढा था। इस कल्प में भी वैसा ही है। अग्नि गरम थी। इस कल्प में भी वैसा ही है। आकाश से ही वायु होता है। वायु से ही अग्नि। अतः तत्तदर्थबोधक वेद वाक्य भी समानानुपूर्वीक अनादि ही मान्य है। अतएव वेदों की ईश्वररचना मानने वाले भी उन्हें पौरुषेय सिद्ध नहीं कर पायेंगे। पुरुषबुद्धिसापेक्षनिर्माणता ही पौरुषेयता है ॥१२॥

मन्त्रब्राह्मणरूपा वेदा एते भवन्ति चत्वारः।
सर्वार्थवेदनत्वाद् वेदा इत्येवमुच्यन्ते ॥ १३ ॥

मन्त्र और ब्राह्मण रूप वाक्य समुदाय ही वेद हैं। वे चार माने जाते हैं। वेद नाम इसलिये पडा कि वे सर्वार्थवेदनकारी हैं। "अनन्ता वे वेदाः" इस शतपथ श्रुति के अनुसार पदार्थ भी अनन्त हैं तद्बोधक वेद भी अनन्त हैं। आज उपलब्ध नहीं यह बात अलग है ॥१३॥

ते चर्ग्वेदश्च यजुर्वेदोऽपि च सामवेद एवापि।
तुर्यस्त्वथर्ववेदश्चत्वारो ब्राह्मणैः सहिताः ॥ १४ ॥

वे हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद। ये चार अपने अपने ब्राह्मणों के साथ वेद कहलाते हैं ॥१४॥

साध्यार्थशासनात्ते शास्त्रं सिद्धार्थशंसनाद्वापि।
साध्यो धर्मः प्रोक्तः सिद्धं तु पुनः परं ब्रह्म ॥ १५ ॥

शासन या शंसन से शास्त्र कहलाता है। वेद साध्यार्थ का शासन करता है—ऐसा करो। और सिद्धार्थ का शंसन करता है—यह ऐसा है। साध्यार्थ धर्म है। सिद्धार्थ ब्रह्म है। यह सामान्य कथन मात्र है। ऐसा न करो इस प्रकार असाध्यार्थ शासन करने से भी शास्त्र है ॥१५॥

इति वेदस्वरूपनिरूणम्

द्विविधस्तु धर्म उक्तो वेदेष्वखिलेषु मुख्यरूपेण।
एकः प्रवृत्तिलक्ष्मा व्याख्यायि निवृत्तिलक्ष्माऽन्यः ॥ १६ ॥

वेदों में मुख्य रूप से द्विविध धर्म का प्रतिपादन है 'एक प्रवृत्ति धर्म है। दूसरा निवृत्ति धर्म है ॥१६॥

द्विविधः प्रवृत्तिधर्मः स्याद्बाह्याभ्यन्तरप्रभेदेन ।
बाह्यप्रायं यागाद्युपास्तिराभ्यन्तरप्राया ॥ १७ ॥

प्रवृत्ति धर्म दो प्रकार का है। एक बाह्यक्रियात्मक है। दूसरा आन्तर-क्रियात्मक है। यागादि में बाह्यक्रिया प्रायः रहती है। और उपासना में आन्तर क्रिया अधिकतर रहती है। अत एव उपासनाकाण्ड प्रवृत्तिधर्म के अन्तर्गत होने से तृतीय नहीं है ॥१७॥

इच्छन्ति महीयांसो द्विविधं केचिन्निवृत्तिधर्ममपि ।
ज्ञानं तथैव भक्तिर्या भक्तिः प्रेमलक्ष्मोक्ता ॥ १८ ॥

कुछ महापुरुष निवृत्ति धर्म की भी द्विप्रकारता मानते हैं। एक ज्ञान है। दूसरी भक्ति है जो प्रेमलक्षणा है। "तावत्कर्माणि कुर्वीत" इत्यादि भागवत वाक्य में भक्ति में भी सर्वकर्मत्याग बताया है। तब यह विवेचना करनी चाहिए कि उपासनारूपी साधनभक्ति प्रवृत्तिधर्म का एक भेद है। तथा साध्य प्रेमलक्षणा भक्ति निवृत्तिधर्म का एक भेद है। सर्वथापि धर्म तो द्विप्रकार ही सिद्ध होता है ॥१८॥

विधिवाक्यैस्तद्योगिभिरपि धर्मः प्रायशः श्रुतावुक्तः ।
तत्राधर्मोऽप्युक्तो निषेधवाक्यैर्निषेध्यार्थः ॥ १९ ॥

कहीं अर्थवाद से भी धर्मकथन भले हो, पर प्रायः विधि वाक्यों से ही धर्मकथन श्रुति में हुआ है। और विधि से एकवाक्यतापन्न वाक्यान्तर भी धर्मप्रतिपादक ही माना गया है। वेदों में अधर्म का भी निरूपण है। निषेध वाक्यों से अवगत निषेध्य अर्थ अधर्म माना जाता है ॥१९॥

इह वा परत्र वा सुखतत्साधनलाभ एव धर्मफलम् ।
दुर्गतिदुःखाद्याप्तिः प्रोक्तं प्राज्ञैरधर्मफलम् ॥ २० ॥

इस लोक में या परलोक में सुख एवं सुखसाधक की प्राप्ति धर्म का फल है। नरक, दुःख एवं तत्साधन की प्राप्ति अधर्म का फल है ॥२०॥

ननु च शरीरमनित्यं स्वर्गं यायात्कथं तु नरकं वा ।
जन्मान्तरमस्य कथं व्यभिचरितं चेह कर्मफलम् ॥ २१ ॥

प्रश्न होगा कि यह शरीर अनित्य है, विनाशी है। यह स्वर्ग या नरक कैसे जायेगा ? 'परत्र' का जन्मान्तर भी अर्थ है। पर, जन्मान्तर भी असिद्ध है। मृत दग्ध शरीर जन्मान्तर नहीं पा सकता। यदि कहें कि इसी जन्म में धर्म और अधर्म का फल मिलता है तो यह कथन अयुक्त है। कारण यहां धर्म और अधर्म का फल विपरीत भी देखने में आता है। वञ्चक अपार धन कमा कर सुखी हो रहा है और ईमानदार मारा जा रहा है। अतः पूर्वोक्त फल अनैकान्तिक है—व्यभिचरित है ॥२१॥

अत्रोच्यते न देहो याति स्वर्गादिलक्षणे लोके।
नित्यस्त्वात्मा सोऽयं गमनागमनादिमान् भवति ॥ २२ ॥

ब्रह्ममीमांसा से पूर्व पूर्वोक्त प्रश्न का सामान्य उत्तर यह है कि यह शरीर स्वर्गनरकादि में नहीं जाता, इसका जन्मान्तर भी नहीं होता; आत्मा नित्य है, वही स्वर्गादि में गमनागमन करता है और जन्मान्तर लेता है ॥२२॥

ननु विप्रादिर्देहस्तेनाधिकृतं निगद्यते कर्म।
कथमात्मा तत्फलभाक् कर्मणि फलवैयधिकरण्यात् ॥२३ ॥

इस पर पूर्वपक्ष यह है कि ब्राह्मणादि कर्माधिकारी है, पशु आदि नहीं। ब्राह्मणादि तो देह ही होता है। जो ब्राह्मणकुलोत्पन्न है वह ब्राह्मण है। आत्मा उत्पन्न ही नही होता तो ब्राह्मण क्यों होगा ? शरीर उत्पन्न होता है अतः वही ब्राह्मणादि है। वही कर्माधिकारी है। तब शरीर कर्म करे और आत्मा को स्वर्गादि फल मिले। इस में कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व में वैयधिकरण्य होगा जो अस्वीकार्य है ॥२३॥

मैवं तत्तत्तनुभागात्मा कर्त्ता स चाधिकार्युक्तः।
यद्यत्कर्म करोति स तत्तत्फलमश्नुते लोके ॥ २४ ॥

उत्तर यह है कि ब्राह्मणादिशरीरविशिष्ट आत्मा कर्माधिकारी है। मृत शरीर को लक्ष्य कर कोई कर्म करने का शासन नहीं करता। वह शरीरविशिष्ट आत्मा जो जो कर्म करेगा उन उन कर्मों का फल इहलोक में या परलोक में पाता है। वञ्चक को जो धनप्राप्ति हुई वह यद्यपि एतत्कर्म

फल प्रतीत होता है। किन्तु पूर्वकर्मसहित एतत्कर्म का फल है। वंचना का फल तो बाद में प्राप्त होगा ॥२४॥

मन्त्रिपदविशिष्टेन हि विहितस्याप्येव कर्मणः स्वफलम् ।
लभ्येत वेतनाद्यं स्वपदत्यागेऽपि तद्वदिह ॥ २५ ॥

यदि ब्राह्मणशरीरविशिष्ट कर्म करेगा तो फल भी ब्राह्मणशरीर-विशिष्ट को ही होगा जन्मान्तरशरीरादिविशिष्ट को क्यों होगा ? इसमें भी कर्त्तृभोक्तृवैयधिकरण्य दोष क्यों नहीं ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है कि विशेषण भेद को लेकर वैयधिकरण्य नहीं माना जाता। जैसे किसी राजा या सरकार के यहां मन्त्री होकर कोई काम करता है। मन्त्री पद के बिना हुकुम नहीं निकाल सकता। मन्त्रिपदविशिष्ट हो कर वह कर्माधिकृत है। किन्तु मन्त्री पद छोड़ने पर भी किये कर्म का वेतन आदि फल उसे मिलता है। वैसे ब्राह्मणादिशरीरविशिष्ट भले कर्माधिकृत हो। पर फल उसे ब्राह्मणादि शरीर न होने पर भी मिलेगा ॥२५॥

इति नित्यात्मनिरूपणम्

धर्मानुष्ठातारो विप्राद्या वर्णिनस्तथाश्रमिणः ।
विप्रक्षत्रियवैश्याः शूद्राश्च भवन्ति वर्णयुताः ॥ २६ ॥

ब्राह्मणादि वर्ण वाले तथा ब्रह्मचर्यादि आश्रम वाले धर्मानुष्ठाता होते हैं। अधर्म भी इन्हीं का होता है। पशु आदि को नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्णयुत हैं ॥२६॥

सत्यमहिंसा शौचं धृतिरस्तेयं दमः क्षमा त्यागः ।
संतोषः स्वाध्यायो मौनं च ब्रह्मचर्यं च ॥ २७ ॥
अन्नादिसंविभागः करुणा समदर्शिता तपो विद्या ।
सेवाऽऽर्जवमित्याद्याः प्रोक्ताः सामान्यधर्मास्तु ॥ २८ ॥

सत्य, अहिंसा, शुचिता, धैर्य, अचौर्य, इन्द्रियदमन, क्षमा, त्याग, संतोष, स्वाध्यायाध्ययन, मौन, ब्रह्मचर्य, अन्नवस्त्रादि को बांट कर ग्रहण करना; दया, समदर्शिता, तप, विद्या, सेवा, सरलता, इत्यादि सभी वर्णाश्रमियों के लिए सामान्य धर्म हैं ॥२७-२८॥

यजनं याजनमपि चाध्ययनं चाध्यापनं च विद्यायाः ।
दानं चादानं च प्रोक्ता धर्मास्तु विप्राणाम् ।। २६ ।।

ब्राह्मणों के लिए यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और आदान ये छः विशेष कर्म हैं ।। २९।।

अध्ययनयजनदानान्युक्तानि यथाश्रुतीतरेषां तु ।
जगतीरक्षाद्या अपि कृष्याद्याश्चापि निजनियतम् ।। ३० ।।

अध्ययन, यजन ओर दान शास्त्रानुसार अन्यों के लिए भी हैं, शूद्र के लिए भी पुराणाध्ययन, निषादस्थपतियजनादि तथा दान धर्म हैं। क्षत्रियों के लिए पृथिवीरक्षण युद्धादि निज विशेष धर्म है। वैश्यों के लिए कृषि एवं गोरक्षादि निज विशेष धर्म है। शूद्र के लिए परिचर्यादि निज विशेष धर्म हैं ।।३०।।

शमदमतपस्तितिक्षासंतोषक्षान्तिसत्यशौचानि ।
ज्ञानं विज्ञानमपि च विप्राणां लक्षणं प्रायः ।। ३१ ।।

शम, दम, तप, तितिक्षा, संतोष, क्षमा, सत्य, शुचिता, ज्ञान तथा विज्ञान ब्राह्मणों के प्रायः विशेष लक्षण हैं ।।३१।।

त्यागो रक्षाऽऽत्मजयः शौर्यं वीर्यं धृतिः प्रसादश्च ।
ब्रह्मण्यतातितेजः क्षत्राणां लक्षणं प्रायः ।। ३२ ।।

त्याग, जनरक्षा, आत्मजय, शूरता, वीरता, धैर्य, प्रसाद, ब्रह्मण्यता, अतितेजस्विता इत्यादि प्रायः क्षत्रिय के लक्षण हैं ।।३२।।

आस्तिक्यमुद्यमोऽपि च कृषिगौरक्ष्यादितोऽर्थसंचयनम् ।
लक्ष्माणि विशां सेवासंनत्याद्यं च शूद्राणाम् ।। ३३ ।।

तर्करहित आस्तिकता, कृषि गौरक्षा आदि के लिए नित्य उद्यम; अर्थ संचयन इत्यादि वैश्यलक्षण है। सेवा नम्रता आदि शूद्रलक्षण है ।।३३।।

यल्लक्ष्म यस्य कथितं वर्णाभिव्यञ्जकं तदन्यत्र ।
यदि दृश्येत तदा स स्यात्स इति मतं पुराणादौ ।। ३४ ।।

जो लक्षण जिस वर्ण के अभिव्यञ्जक के रूप में बताया वह अन्यत्र दिखाई पड़े तो उस वर्ण का निर्देशनीय है ऐसा मत भागवत में तथा महाभारतीय सर्पयुधिष्ठिरसंवाद आदि में दिखाया है। किन्तु 'अन्यत्र' इस पद के स्वारस्य से भागवतादि का अभिप्राय संभवतः यही प्रतीत होता है कि जिसके वर्ण का पता नहीं है (जैसे चीन अमेरिका यूरोप आदि के व्यक्ति के] जब कि पूरी मानव सृष्टि वेदानुसार प्रायः चातुर्वर्ण्यविभक्त है, उसके लिए निर्णायक वर्णाभिव्यञ्जक लक्षण मानना चाहिये। जैसे जबालासुत सत्यकाम के लिए ऋषि ने निर्णय दिया। जिनका वर्ण निश्चित है उनके लिए यह आवश्यक नहीं है। अप्रत्यक्ष अर्थ ही लिङ्गगम्य होता है। ब्राह्मणत्वादि सकृदाख्यातनिर्ग्राह्य होने से प्रत्यक्ष है ऐसा तन्त्रवार्त्तिकादि में स्थापित किया है। अधिक विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है ॥३४॥

पुरुषस्य मुखाद् ब्रह्म क्षत्रं बाह्वोर्विशस्तदूरुभ्याम् ।
पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ते च मुखादिस्वरूपा वा ॥ ३५ ॥

विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और पाद से शूद्र उत्पन्न हुए। अथवा विराट्पुरुष के मुखादि रूप ही ब्राह्मणादि हैं। "ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' इत्यादि में सामानाधिकरण्यनिर्देश है। 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' यहां कार्यकारणभाव का निर्देश है। अतः उभयत्र उभय विवक्षित है ॥३५॥

इति वर्णधर्मनिरूपणम्

गुरुकुलवासी सततं सेवेत गुरुं श्रुतीरधीयानः ।
व्रतमनुतिष्ठन् परया भक्त्या यो ब्रह्मचार्येषः ॥ ३६ ॥

जो गुरुकुल में रहकर व्रतानुष्ठान करते हुए श्रुतियों का अध्ययन करे और परम भक्ति से गुरु सेवा भी करे वह ब्रह्मचारी कहलाता है ॥३६॥

भिक्षा गुरुशुश्रूषा स्वाध्यायाध्ययनमग्निकार्यं च ।
अस्कन्दयता वीर्यं कर्त्तव्यं वर्णिना नियतम् ॥

भिक्षाटन, गुरुशुश्रूषा, वेदाध्ययन तथा अग्निकार्य (जिसमें समिदानयनादि सब हैं) ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य हैं। वीर्यपात न हो यह उसका विशेष धर्म है ॥

वेदानाधीत्य वेदौ वेदं वा स्वं तथाऽपरा विद्याः ।
प्रियधनमाहृत्य गुरोः स समावर्त्तेत च स्नात्वा ।। ३७ ।।

चार या तीन वेदों का अध्ययन कर अथवा दो वेद या अपनी शाखा का ही अध्ययन कर तथा अपरा विद्याओं को भी ग्रहण कर गुरु को प्रिय धन दक्षिणा दी जाती है। फिर स्नान तथा समावर्त्तन संस्कार होता है ।।३७।। ॐइति ब्रह्मचर्यम्ॐ ।।

कन्यामुद्वाह्य ततः सदृशीं तन्वन्नसौ प्रजातन्तुम् ।
प्रायश्च पञ्चविंशतिवर्षोऽग्नीनादधीत सुधीः ।। ३८ ।।

समावर्त्तनोत्तर प्रजातन्तु वितानार्थं समान कुलशीलादिसंपन्न कन्या से विवाह कर लगभग पचीस वर्ष ऊमर में अग्न्याधान करें। "जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत" ऐसा वचन है। वह वयोविशेषोपलक्षक है ऐसा सिद्धान्त किया है ।।३८।।

यज्ञो दानं च तपः स्वाध्यायाध्ययनमेव चाहरहः ।
सन्ध्योपास्त्यादिकमपि कथितं गृहमेधिनां कर्म ।। ३९ ।।

यज्ञ, दान, तप, स्वाध्यायाध्ययन, नित्यसन्ध्या ये सब गृहस्थों के लिये अवश्य कर्त्तव्य कर्म हैं ।।३९।।

आजीवमग्निहोत्रं स्यात्तद्वद्दर्शपूर्णमासौ च ।
चातुर्मास्यानि पशुः सोम इति हि पञ्चधा यज्ञः ।।
सायं प्रातश्चाग्निः पक्षान्ते दर्शपूर्णमासौ च ।
चातुर्मास्यानि पुनस्त्रीणि सतुर्याणि पर्वाणि ।। ४० ।।

यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत इत्यादि वचनानुसार संपूर्ण जीवन में अग्निहोत्र किया जाता है। दर्शपूर्णमास किया जाता है। चातुर्मास्यकर्म पशुकर्म तथा सोमयाग भी किया जाता है। ये ही पांच प्रकार के यज्ञ है।

अग्निहोत्र सायंकाल और प्रातःकाल होता हे। पक्षान्त में अमावास्या और पूर्णिमा को दर्शपूर्णमास होता है। चातुर्मास्य चार चार महीने के तीन पर्व और चतुर्थ एक पर्व ऐसे चार कर्म हैं ।।४०।।

फाल्गुन्या आषाढ्याः कार्त्तिक्याः पूर्णिमात आरभ्य ।
स्याद्वैश्वदेववरुणप्रघाससत्साकमेधानि ॥ ४१ ॥

इनमें तीन चातुर्मासिक कर्म फाल्गुन पूर्णिमा, आषाढ पूर्णिमा और कार्त्तिक पूर्णिमा से आरंभ होते हैं। उनका नाम वैश्वदेव, वरुणप्रघास और साकमेध हैं। इनके अनेक विकल्प हैं कोई चैत्री पूर्णिमा श्रावणी पूर्णिमा और आग्रहायणी पूर्णिमा से शुरू करते हैं और कई अन्य प्रकार से भी। हाँ चातुर्मास्य चार महीने के बराबर हैं ॥४१॥

फाल्गुनशुक्ले तु शुनासीरीयः प्रतिपदस्तुरीयः स्यात् ।
तत्पक्षान्ते सकलं पूर्ववदावर्त्तते कर्म ॥ ४२ ॥

फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा से चतुर्थ शुनासिरीय कर्म शुरू होता है फिर उस पक्ष के अन्त में अर्थात् फाल्गुन पूर्णिमा में पुनः वैश्वदेवादि पूर्वक्रम से चातुर्मास्य प्रारंभ होता है। कार्त्तिक पूर्णिमा से साढे तीन महीने तक ही साकमेध चलेगा। अमावस्या एक दिन अधिक। इतने से भी चातुर्मास्य संज्ञा है। अन्तिम शुनासीरिय तो चौदह दिन ही चलेगा। छत्रिन्याय से उसमें चातुर्मास्य संज्ञा है। विकल्पान्तर में वरुणप्रघास पूरे चार महीने तक ही है। उसके बीच फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को एक दिन शुनासिरीय है ॥४२॥

अग्नीषोमीयादिः पशुयागः कीर्त्तितस्तथा सोमः ।
ज्योतिष्टोमादिः स्यादेवं यज्ञाः श्रुताः पञ्च ॥ ४३ ॥

अग्नीषोमीयादि पशुयाग तथा ज्योतिष्टोमादि सोमयाग है। इस प्रकार श्रुतियों में पांच यज्ञ बताये गये हैं ॥४३॥

अन्नधनमहीवासःप्रभृति यथाकालभाजनं देयम् ।
तच्छ्रद्धया श्रियापि ह्रिया भिया संविदा देयम् ॥ ४४ ॥

अन्न धन वस्त्र पृथिवी आदि देशकाल पात्रानुसार दान में देना चाहिये। श्रद्धा से दो, श्री से दो, ह्री (लज्जा) से दो, भय से, समझदारी आदि से दो; देना ही चाहिये ॥४४॥

कृच्छ्रादिकं तपः स्यात् पूजाध्ययनादिकं च तप एव ।
कायिकवाचिकमानसभेदात्तद्धि त्रिधा भवति ।। ४५ ।।

कृच्छ्रादि तप है, पूजा अध्ययनादि भी तप है । क्योंकि कायिक वाचिक और मानसिक भेद से तप त्रिविध बताया गया है ।।४५।।

शास्त्राध्ययनं नित्यं कर्त्तव्यं सर्वथा विपश्चिद्भिः ।
येन हि मानवभावं प्राणजुषः प्रत्यपद्यन्त ।। ४६ ।।

"ज्ञानं नराणामधिकं" । अतः शास्त्राध्ययन तो नित्य कर्त्तव्य है । इसी से प्राणधारी मानव कहलाये ।।४६।।

नित्यं सन्ध्यादिकमपि कर्त्तव्यं प्रत्यवायपरिहृत्यै ।
नैमित्तिकं च तद्वत् काम्यं स्वर्गादिसंप्राप्त्यै ।। ४७ ।।

प्रत्यवाय-परिहारार्थं नित्य सन्ध्यावन्दनादि तथा निमित्तानुसार नैमित्तिक ग्रहणश्राद्धादि करना चाहिए । स्वर्गादि प्राप्ति के लिए काम्य कर्म हैं ।।४७।।

सर्वाश्रमिणां नित्यं नैमित्तिकमप्युपेयते योग्यम् ।
कृतकिल्विषापहृत्यै प्रायश्चित्तं तथाऽऽस्थेयम् ।। ४८ ।।

सर्वाश्रमियों के लिये योग्य नित्य तथा नैमित्तिक होता है । जैसे संन्यासी के लिये प्रणव जप नित्य है । गुरु आदि के आने पर वन्दनादि नैमित्तिक है । तथा यथायोग्य प्रायश्चित भी सब को कर्त्तव्य है । जैसे—अह्ना रात्र्या च यान् जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः । तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् इत्यादि । गृहस्थ के लिये तदर्थं पञ्चमहायज्ञ हैं यही विशेषता है ।।४८।।

निरवर्णि पाकयज्ञैः सहविर्यज्ञैः ससोमयज्ञोऽन्यैः ।
औपासनहोमादिः पाकयुतः पाकयज्ञोऽत्र ।। ४९ ।।

अन्य ऋषियों ने प्रकारान्तर से यज्ञ वर्णन किया है । पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ ऐसे यज्ञ त्रिविध है । ऐसा उनका कहना है । पहले मत में पंचविधयज्ञ बताया था । इन तीन यज्ञों में पाकयज्ञ का पाकसहित यज्ञ अर्थ है ।।४९।।

हविषा क्रियमाणो यः स हविर्यज्ञोऽग्निहोत्रहोमादिः ।
अग्निष्टोमप्रभृतिर्व्याख्यातः सोमयज्ञोऽपि ॥ ५० ॥

हविष से जो अग्निहोत्रादि होम होता है वह हविर्यज्ञ है। अग्नि-ष्टोमादि सोमयज्ञ है ॥५०॥

सायं प्रातश्चौपासनहोमस्तण्डुलादिभिर्भवति ।
अथ वैश्वदेव उक्तः पञ्चमहायज्ञसंज्ञाकः ॥ ५१ ॥
पार्वणमुक्तममायामष्टस्यां चैवमष्टकाश्राद्धम् ।
मासिश्राद्धं श्रवणाकर्माथ च शूलगवमपि च ॥ ५२ ॥

सायंकाल तथा प्रातःकाल औपासन होम तण्डुलादि से होता है। यद्यपि अक्षत तण्डुल एवं दधि आदि का वर्णन आया है। वह पाकयुत नहीं है। तथापि छत्रिन्याय से पाकयज्ञ समझना चाहिये। आगे मनु स्मृति का मत भी द्रष्टव्य है। दूसरा पाकयज्ञ वैश्वदेव है जो पंचमहायज्ञ से प्रसिद्ध है। इस विषय में मनुमत द्रष्टव्य है। अमावस्या में पार्वणश्राद्ध होता है। अष्टकाश्राद्ध हेमन्त तथा शिशिर में कृष्णाष्टमियों में होता है। महीने महीने में किया जाने वाला मासिश्राद्ध है। श्रावण पूर्णिमा में सर्पों के लिये सन्ध्या समय किया गया बलिकर्म श्रवणाकर्म है। गौ से होने वाला कर्म शूलगव है। इनमें कई कर्मों का बाद में लोप भी हो गया। कुछ कर्म मांसादि से भी होते हैं जो आगे कहे जाने वाले जैनादि दार्शनिकों के लिये पूर्वपक्षरूप बन गये हैं ॥५१-५२॥

एतांश्च पाकयज्ञान् सप्त निजगदुर्बहुश्रुता मुनयः ।
त्रीनेव हुतान् प्रहुतान् ब्रह्महुतानाश्वलायनिनः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार औपासन होमादि सात पाकयज्ञों को बहुश्रुत मुनियों ने बताया। आश्वालायन सूत्रानुसार, हुत, प्रहुत और ब्रह्मणि हुत ऐसे तीन पाकयज्ञ हैं ॥५३॥

बहुवचनाद्बहुकर्माण्यूचुर्नारायणादयो विवृतौ ।
पाकपदं श्रेष्ठपरं मेनिर इतरे महात्मानः ॥ ५४ ॥

हुताः प्रहुताः ब्रह्मणि हुता इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग होने से नारायणादि ने वृत्ति में हुतादि को अनेक कर्म माना है। और कुछ महा पुरुष लोगों ने पाकयज्ञ शब्द में पाकशब्द को ही सीधे श्रेष्ठार्थक मान कर अनेक कर्मों का संग्रह किया, जो आगे दिखाया जायेगा ।।५४।।

सेकः पुंसवनमथो सीमन्तश्चैव जातकर्मापि ।
नामप्राशनचैलोपनया अपि पाकयज्ञार्थाः ।। ५५ ।।
वेदव्रतानि चत्वार्यथ च स्नानं विवाह एवापि ।
पञ्चमहायज्ञा अपि किं चाष्टकपार्वणश्राद्धम् ।। ५६ ।।
अपि चात्रैव निगदिता श्रावण्यप्याग्रहायणी चैत्री ।
आश्वयुजी चैव बुधैः सर्वेऽपि च पाकयज्ञास्ते ।। ५७ ।।

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चैल कर्म और उपनयन ये सभी बालक के लिये गृहस्थ कर्त्तव्य कर्म पाकयज्ञ है। यह प्रथम वर्ग हुआ। चार वेद व्रत द्वितीय वर्ग है। स्नान तृतीय हैं। परन्तु इन दो में गृहस्थकर्त्तव्यता नहीं दीखती है। ये ब्रह्मचारी के हैं। विवाह स्त्रीपुंससंयोगादि चतुर्थवर्ग है, पंचमहायज्ञ पञ्चमवर्ग है। अष्टका पार्वणश्राद्ध षष्ठवर्ग है। श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री और आश्वयुजी ये चार सप्तम वर्ग है। इस प्रकार सात पाकयज्ञ इनके मत में हैं ।।५५-५७।।

पाकयुतं मन्यन्ते मन्वाद्याः पाकयज्ञसंज्ञं तु ।
ते ब्रह्मयज्ञवर्जांश्चतुरः प्राहुर्महायज्ञान् ।। ५८ ।।

पाक सहित यज्ञ पाकयज्ञ है ऐसा मनु आदि मानते हैं। ब्रह्मयज्ञ को छोड कर अन्य चार महायज्ञ पाकसहित होने से वे ही पाकयज्ञ हैं। ब्रह्मयज्ञ वेदाध्ययनाध्यापनादि है। उसमें पाक नहीं होता ।।५८।।

देवानां भूतानामपि च पितॄणां तथा मनुष्याणाम् ।
होमबलिपिण्डदानाऽऽतिथ्यानि भवन्ति तानि किल ।। ५९ ।।

देवताओं के लिए होम, भूतों के लिए (गाय कुत्ता कौआ आदि के लिए) बलि, पितरों के लिए, पिण्डदान एवं अतिथियों के लिए भोजनदानादिरूप अतिथ्य ये चार पाक साध्य होने से पाकयज्ञ हैं ।।५९।।

आधानमग्निहोत्रं चाग्रयणं दर्शपूर्णमासौ च।
चातुर्मास्यानि पशुः सौत्रामण्या हविर्यज्ञाः ॥ ६० ॥

अग्न्याधान, अग्निहोत्र, आग्रयण, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग ये सौत्रामणि के साथ सात हविर्यज्ञ होते हैं ॥६०॥;

शरदि नवान्नं व्रीहिं श्रपयित्वैवं यवं वसन्ते च।
पयसि तथा हुत्वैव च नूतनान्नादस्तदाग्रयणम् ॥ ६१ ॥

शरद् ऋतु में नवान्न व्रीहि होने पर तथा वसन्त में नवान्न यव होने पर उसे दूध में श्रपण कर (पकाकर) हवन किया जाता है। उसके बाद नवान्न खाया जाता है। नवान्नभोजी का यह आग्रयण कर्म है। अग्रे-नवान्नोत्पत्त्यनन्तरमयनमाचरणमाग्रयणम् ॥६१॥

सौत्रामण्यां पशवो ह्याश्विनसारस्वतैन्द्रलक्ष्माणः।
एवं पयोग्रहाः स्युः सुराग्रहाश्चैव तत्रैव ॥ ६२ ॥

सौत्रामणि में तीन पशु होते हैं। अश्विनिकुमारदेवताक, सरस्वतीदेवताक और इन्द्रदेवताक। इसी प्रकार अश्विदेवताक आदि तीन पयोग्रह (होमीय दुग्धकलश) तथा तीन सुराग्रह होते हैं ॥६२॥

अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोमश्चोक्थ्यश्च षोडशी चैव।
वाजोऽतिरात्र आप्तोर्यामोऽपि च सोमसंस्थाः स्युः ॥ ६३ ॥

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम ये सात सोमसंस्थ (सोम याग हैं) ॥६३॥

अत्र द्वितीयपञ्चमसप्तमवर्जास्तु सामभेदान्ताः।
ज्योतिष्टोमास्तत्राऽऽवापोद्वापाहितास्तिस्रः ॥ ६४ ॥

इनमें द्वितीय (अत्यग्निष्टोम) पञ्चम (वाजपेय) और सप्तम (आप्तोर्याम) को छोड़ कर शेष चार भिन्न भिन्न सामान्त ज्योतिष्टोम ही हैं। जैसे यज्ञायज्ञीयसाम अग्निष्टोम के अन्त में, उक्थसाम उक्थ के अन्त में स्तुति आदि रूप में गाया जाता है। उन्हीं में कुछ सामों को घटाने बढ़ाने से अत्यग्निष्टोमादि तीन संस्थायें होती हैं ॥६४॥

विश्वं सप्तान्नात्मकमखिलमिदं स्याच्चराचरं यच्च ।
तपसा च मेधया चाजोजनदात्मा पिता नाम ।। ६५ ।।

यह समस्त विश्व सप्तान्नात्मक है। चर-अचर सभी प्राणी इसी के अन्तर्गत है। तप तथा मेधा (कर्म और उपासना) से आत्मा रूपी पिता ने इसे सृष्ट किया ।।६५।।

कर्मानुरूपमेव च सुखदुःखकरं तु भवति जगदखिलम् ।
पिबतो जीवनहेतुः सलिलं मग्नस्य मृतिहेतुः ।। ६६ ।।

कर्मानुरूप ही सभी सुख-दुःखदायी होते हैं यह निश्चित है, तब उस वस्तु की उत्पत्ति में स्वकर्म निमित्त सिद्ध होता है। जल पीने वालों को जीवन प्रदान करता है, डूबने वालों का जीवनहरण करता है। ये दोनों बातें तत्तद् व्यक्तियों के कर्म का ही परिणाम है ।।६६।।

विधिवदधोत्याम्नायान् पुत्रानुत्पाद्य देवताश्चेष्ट्वा ।
ऋषिपितृदेवर्णानि त्रीणि किलापाकरोति नरः ।। ६७ ।।

विधिवत् वेदाध्ययन, पुत्रोत्पादन तथा देवतायजन कर मनुष्य क्रमशः ऋषि ऋण, पितृ ऋण और देव ऋण इन तीन ऋणों से मुक्त होता है। ऋषियों ने विद्या प्रसार कर हमें मानव बनाया अतः हम ऋषियों के ऋणी हैं। उससे हम तब मुक्त होते हैं जब हम भो विद्या का अध्ययन और प्रसार करें। माता पिता ने मानव शरीर दिया। अतः उनके हम ऋणी हैं। उससे हम मुक्त तब होते हैं यदि हम भी किसी को शरीर प्रदान करें अर्थात् पुत्रोत्पादन करें। देवता ही पर्जन्य द्वारा अन्न उत्पन्न करते हैं। सूर्यादि प्रकाशादि प्रदाता हैं इस प्रकार हम देवताओं के ऋणी हैं। देवताओं को हविदानादि करने से उस ऋण से भी हम मुक्त होते हैं ।।६७।।

सामर्थ्येऽप्यनपाकृतसकलर्णस्तु व्रजत्यधः पुरुषः ।
प्रतिषिद्धाचरणाच्च व्रजति स दुःखालयं नरकम् ।। ६८ ।।

सामर्थ्य होते हुए ऋणों का अपाकरण न किया तो मनुष्य का अधः-पतन होता है। तथा प्रतिषिद्ध आचरण से दुःखालय नरक में गिरता है ।।६८।।

अपि च कपूयाचरणाः प्रतिपद्येरन् कपूययोनिममी ।
कृमिकीटसूकरान्त्यजयोनिषु मुहुरेव जायन्ते ।। ६९ ।।

और जो दुराचारी हैं वे किसी पुण्यकर्म से स्वर्गादिलोक भले जाये, फिर भी उस दुराचरण के परिणामस्वरूप दुर्योनि को प्राप्त होते हैं। अर्थात् कृमि-कीट-कूकर-सूकर-चाण्डालादियोनि में बार-बार पैदा होते हैं ।।६९।।

विहितानुष्ठातारः प्रतिपद्यन्ते सुखालयं स्वर्गम् ।
ब्रह्मक्षत्राद्यासु च योनिषु पुण्यासु जायन्ते ।। ७० ।।

विहित कर्मानुष्ठान करने वाले सदाचारी सुखालय स्वर्ग को प्राप्त होते हैं तथा ब्राह्मणक्षत्रियादि पुण्ययोनियों में जन्म लेते हैं ।।७०।।

कर्माण्युपासनाद्यैर्जायन्ते वीर्यवत्तराणि ततः ।
तरतमभावेन भवेत् फलमखिलानां यथायोग्यम् ।। ७१ ।।

कर्म श्रद्धा उपासनादि से वीर्यवत्तर होते हैं ऐसा श्रुति में बताया है। अत एव यह बात सिद्ध होती है कि कर्मों का फल तारतम्येन होता है अर्थात् न्यूनाधिक भी होता है ।।७१।।

विद्याकर्मसमुच्चयकारी तु ब्रह्मलोकपर्यन्तान् ।
प्रेत्योपयाति लोकान् नानाभोगानपि च भुङ्क्ते ।। ७२ ।।

कर्मोपासनासमुच्चयकारी ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों को प्राप्त होता है और नाना भोगों का उपभोग करता है ।।७२।। ॐगृहस्थाश्रमॐ।

तत्र च हिरण्यगर्भोपास्तिर्मुख्या प्रकृत्युपास्तिरपि ।
एते विद्ये कर्मणि कुर्वाते वीर्यवत्तरताम् ।।

इन में हिरण्यगर्भोपासना और प्रकृति-उपासना ये दो विद्यायें मुख्य हैं। ये कर्म को वीर्यवान् भी बनाती हैं।

मुहुरावर्त्ती लोकः सकलोऽप्येषोऽत एव मोक्षार्थी ।
तपसे प्रतिष्ठते वनमाम्नायाध्यायरत एव ।। ७३ ।।

परन्तु ये ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक इसी कल्प में बार बार पुनरा-

वर्त्तन युक्त है। अत एव मोक्षार्थी वेदाध्ययनतत्पर हो कर वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करता है ॥७३॥

स्वाध्यामधीयानोऽभ्यर्चन्नतिथीन् यजंस्तथा देवान् ।
तपसि स्थितो वनस्थः शुद्धि महतीं पुमांल्लभते ॥ ७४ ॥

स्वाध्यायाध्ययन, अतिथि पूजन तथा देवार्चन में संलग्न वानप्रस्थ तप करते हुए अत्यन्त पवित्र बन जाता है ॥७४॥

ये चारण्ये श्रद्धा तप इति चोपासतेऽर्चिरादिसृतिम् ।
अभिसंभवतो गमयति तान् ब्रह्माऽमानवः पुरुषः ॥ ७५ ॥

जो वनस्थ श्रद्धा एवं तप से उपासना करता है वह अर्चिरादि मार्ग से ऊपर जाता है और विद्युत लोक पहुँच जाता है। वहां से फिर अमानव पुरुष उसे ब्रह्मलोक पहुँचाता है ॥७५॥

विद्या सगुणविषयिणी निर्गुणगा चोपकारिणी ज्ञाने ।
ब्रह्मण उक्ता तद्वन्नाना पञ्चाग्निविद्यादिः ॥

उपासना चाहे सगुणविषयक हो या निर्गुणविषयक, ब्रह्मज्ञान में उपकारी है। पञ्चाग्निविद्या आदि वे नाना हैं॥

आवर्त्तन्ते प्रायस्तेऽपि ततो ब्रह्मलोकतो महतः ।
नेमं त्वावर्त्तन्ते लोकं कल्पान्तवर्त्तित्वात् ॥ ७६ ॥

यद्यपि ब्रह्मलोकगामी ये वानप्रस्थ भी प्रायः उस महान् ब्रह्म लोक से पुनरावर्त्तित होते हैं। तब प्रश्न होगा कि गार्हस्थ्य छोड़कर वानप्रस्थ बनने की क्या जरूरत थी? उत्तर यह है कि इस मानव लोक में वे नहीं लौटते। क्योंकि पूरे कल्पपर्यन्त वे ब्रह्मलोक में रहते हैं। 'इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते' ऐसी श्रुति है। कल्पान्तर में उनकी पुनरावृत्ति होगी। बार-बार आने जाने से वह निर्विण्ण होता है। यही 'अग्ने नय सुपथा राये' यहाँ भी बताया है ॥७६॥ ॐवानप्रस्थाश्रमॐ।

तस्मादपि वैराग्यात् संन्यस्यन्त्यखिलकर्म निर्विण्णाः ।
पुनरावर्त्तनरहितं मोक्षं किल येऽभिकाङ्क्षन्ति ॥ ७७ ॥

ब्रह्मलोक पर्यन्त सब से वैराग्य होने पर अति निर्विण्ण होकर वे सर्व कर्म संन्यास करते हैं जो पुनरावृत्ति रहित मोक्षाभिकाङ्क्षा रखते हैं ॥७७॥

द्विविधः स विविदिषूणां विदुषां चैव न्यरूपि संन्यासः ।
आश्रमकर्म प्रणवजपादि त्वत्रादिमानां स्यात् ॥ ७८ ॥

वह सन्यास दो प्रकार का होता है। एक विविदिषासंन्यास है। दूसरा विद्वत्संन्यास है। प्रथम में सर्वथा सर्वकर्मसंन्यास नहीं होता। गृहस्थ या वनस्थ के कर्मों का ही संन्यास होता है। संन्यासाश्रम कर्म प्रणवजपादि तो उसको करना ही होगा ॥७८॥

विदुषां तु नैव विहितं प्रतिषिद्धं वापि किमपि कर्म भवेत् ।
त्यक्ताखिलैषणास्ते भिक्षाचर्यां चरन्ति बुधाः ॥ ७९ ॥

विद्वत् संन्यासी के लिये विहित या प्रतिषिद्ध कोई कर्म ही नहीं। वे सर्व एषणा त्याग कर भिक्षा चर्या करते हैं अर्थात् संन्यासी होते हैं। भिक्षाटनादि कर्तृत्वादि-अभिमान पुरःसर न होने से वह भी वस्तुतः उसके लिये कर्म नहीं है ॥७९॥

ननु नित्याद्यकरणतः कथमिव न प्रत्यवाय एतेषाम् ।
मैवं नात्मा कर्त्ता नापि च देहः कथंचिदपि ॥ ८० ॥

पूर्व पक्ष वादी का कहना है कि नित्य नैमित्तिकादि कर्म न करने पर तत्त्वज्ञानी संन्यासी को भी प्रत्यवाय क्यों नहीं लगेगा। इसका उत्तर यह है कि न आत्मा कर्ता है और न शरीर ही। तब प्रत्यवाय किसको ? यह बताना होगा ॥८०॥

नात्मा स्याद्विप्रादिर्विप्रादिकुले तदुद्भवाभावात् ।
तत्तत्कर्मसु तत्तद्विप्रादेरेव चाधिकृतिः ॥ ८१ ॥

आत्मा कर्त्ता क्यों नहीं। सुनो! ब्राह्मणो यजेत इत्यादि वाक्यों में ब्राह्मणादि को कर्माधिकार बताया है। आत्मा ब्राह्मणादि नहीं है। क्यों कि वह ब्राह्मणादिकुल में पैदा नहीं होता। वह पैदा ही नहीं होता तो ब्राह्मणादिकुल में पैदा होने का क्या सवाल है। शरीर ब्राह्मणादि कुल में पैदा

हुआ इतने मात्र से आत्मा में ब्रह्मणत्वादि जाति मानें तो शूद्र पशु पक्षी आदि कुल में पैदा होने से शूद्रत्व पशुत्वादि जाति भी होगी तब जातिसांकार्य होगा। या फिर जाति को अनित्य मानना पड़ेगा। और जाति अन्यकृत होती भी नहीं है। और इधर तत्तत् कर्मो में ब्राह्मणादि को ही अधिकार श्रुतियों में कहा है ॥८१॥

नापि च देहः कर्त्ता कर्त्तुस्तर्ह्यन्य एव भोक्ता स्यात् ।
स्वर्गादिषु नैवायं देहो यातीति सर्वसम्मतम् ॥ ८२ ॥

देह को कर्त्ता इस लिये नहीं मान सकते हैं कि ऐसी स्थिति में कर्त्ता अलग और भोक्ता अलग होगा। क्योंकि यह शरीर स्वर्ग नरकादि एवं जन्मान्तर में नहीं ही रहेगा यह सर्वसम्मत है ॥८२॥

आत्मन्यध्यासोऽतो यस्य स्याद् ब्राह्मणोऽहमस्मीति ।
सोऽधिकृतः स्यात्कर्मसु नापर इत्येष सिद्धान्तः ॥ ८३ ॥

इसलिये सिद्धान्त यही है कि मैं ब्राह्मण हूँ इत्यादि रीति आत्मा में जिसकी ब्राह्मणादि का अध्यास है वही कर्माधिकारी है, अन्य नहीं ॥८३॥

ननु यस्य भ्रान्तिः स्याच्छूद्रस्याहं भवामि विप्र इति ।
तस्याप्यधिकारः स्यादाध्यासिकविप्रतासत्त्वात् ॥ ८४ ॥

पूर्व पक्ष यह होगा कि जिस शूद्र को मैं ब्राह्मण हूँ ऐसी भ्रान्ति हो वह भी यागादि में अधिकृत होगा। क्यों कि अध्यासिक ब्राह्मणता उसमें है ॥८४॥

मैवं द्विविधोऽध्यासो ह्येकस्मिन् व्यावहारिकी सत्ता ।
स्यात् प्रतिभासिकी पुनरपरस्मिन्नीरिताऽध्यासे ॥ ८५ ॥

उत्तर यह है कि अध्यास दो प्रकार का है। एक में व्यावहारिक सत्ता होती है। दूसरे में प्रातिभासिक सत्ता ॥८५॥

कर्मप्रयोजकः स्यात् सर्वत्र व्यावहारिकाध्यासः ।
शूद्रस्य नाधिकारो द्विज इत्यध्यस्यतस्तस्मात् ॥ ८६ ॥

कर्म में प्रयोजक व्यावहारिक अध्यास है या व्यावहारिक का अध्यास है। मैं द्विज हूँ इस प्रकार प्रातिभासिक अध्यास या प्रातिभासिक द्विजत्व का आत्मा में अध्यास शूद्र को होने मात्र से वह कर्माधिकृत नहीं हो सकता ॥८६॥

एतेन क्षत्रोऽस्म्यहमित्यध्यासेन राजसूयादौ ।
विप्रादेरधिकारः प्राप्नोतीत्यप्यपास्ता गीः ॥ ८७ ॥

इससे इस आरोप का भी निरास हो जाता है कि मैं क्षत्रिय हूँ ऐसे अध्यास से ब्राह्मणादि भी राजसूयादि में अधिकारी होगा ॥८७॥

द्विजदेहावच्छिन्ने स्यादात्मनि कर्तृतेति चेन्नैवम् ।
तद्देहावच्छिन्ने भोक्तृत्वं चापतेद् भवतः ॥ ८८ ॥

श्रुति में ब्राह्मणादि पद का ब्राह्मणशरीरावच्छिन्न आत्मा अर्थ है और वही कर्त्ता है ऐसा क्यों न माना जाय ? अध्यास क्यों मानना ? उत्तर है— तब भोक्ता भी ब्राह्मणदेहावच्छिन्न आत्मा ही होगा ॥८८॥

नैवाऽऽहतस्य पादे कस्यापि हि शिरसि वेदना भवति ।
शाखाक्षतवृक्षे किमु मूले निर्याति निर्यासः ॥ ८९ ॥

किसी को पाँव में चोट लगी तो सिर में दर्द नहीं होता। क्योंकि पादावच्छिन्न आत्मा में चोट है। शिरोवच्छिन्न आत्मा में नहीं। शाखा-वच्छेदेन वृक्ष को काटने पर मूलावच्छेदेन रसनिर्गमन नहीं होता। तब ब्राह्मणशरीरावच्छेदेन कर्मकर्तृता से देवशरीरजन्मान्तरशरीराद्य-वच्छेदेन फल कैसे होगा। पूर्व में मन्त्री का उदाहरण दिया था। परन्तु मन्त्रित्वादि व्यवहारार्थं कल्पित है। कर्म करने में वहाँ शरीरादि ही कारण है। और वहाँ भी आध्यासिक मन्त्रित्व कर्म प्रयोजक होने से कालान्तर में फल संभव है ॥८९॥

ज्ञानेनाध्यासेऽस्मिन् विनिवृत्ते नाधिकारिता विदुषः ।
न प्रत्यवाय एवं न पुण्यपापप्रसक्तिरिति ॥ ९० ॥

तत्त्वज्ञान से जब अध्यास की निवृत्ति हो जाती है तब ब्राह्मणाद्यध्यास युक्त आत्मा रूपी अधिकारो के न होने से प्रत्यवाय एवं पुण्यपापादि ज्ञानी

को नहीं लगते। नैनं कृताकृते तपतः इत्यादि श्रुतियों में यही बात बतायी गयी है ॥९०॥

सालावृकेभ्य इन्द्रः प्रायच्छद्‌रुन्तुदान् यतीन् बहुशः ।
विदुषस्तथापि तस्य हि लोमापि न मीयते स्म यतः ॥ ९१ ॥

इन्द्र ने दुःखदायी बहुत सारे यतियों को भेड़ियों के हवाले किया ? फिर भी ज्ञानी होने से उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ ॥९१॥

व्यवहारदृष्टितोऽयं कर्त्ता भोक्ता सुखी च दुःखी च ।
विप्रः पूर्वे जन्मनि शूद्रः सोऽद्येति चैक्यमपि ॥ ९२ ॥

व्यवहार सत्ता में ही आत्मा कर्त्ता, भोक्ता, सुखी दुःखी है। यह कहें कि ब्राह्मणशरीराध्यासविषय आत्मा यदि कर्त्ता है तो वही भोक्ता भी होना चाहिये। जन्मान्तर में शूद्राध्यासविषय आत्मा क्यों भोक्ता होगा ? तो उत्तर यह है कि वही ब्राह्मण आज शूद्र हुआ ऐसा ऐक्याध्यास भी तो है। यही उत्तर ब्राह्मणादिशरीरावच्छिन्न आत्मा कर्त्ता है इस मत में भी क्यों नहीं ? पूर्व ब्राह्मणशरीरावच्छिन्न कर्त्ता आज शूद्रशरीरावच्छिन्न होकर भोक्ता बना। वही यह है। नहीं। यह उत्तर नहीं हो सकता। 'वही यह' यहाँ पर भागत्याग लक्षणा है। क्योंकि विशेषणों की एकता नहीं है। उपलक्षण मानेंगे तो शूद्र भी कदाचित् ब्राह्मण रहा है इसलिये ब्राह्मणशरीरोपलक्षित होने से शूद्र भी कर्माधिकृत होगा। अध्यासपक्ष में भागत्याग की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आध्यासिक अर्थ स्वतः नहीं है तो त्यागना क्या है ? और आध्यासिक एकता भी अनुपद दिखाई ही गयी। विशिष्टों का आध्यासिक ऐक्य मेरे मत में भी है कहें तो मैं पूर्व जन्म का वसिष्ठ हूँ इस अध्यास से भी फल होना चाहिये। क्यों कि आप के मत में व्यावहारिक अध्यास, प्रतिभासिक अध्यास यह भेद नहीं है। यह भी अगर मान लिया तो वेदान्त मत प्रवेश ही क्रमशः होगा। यदि विशिष्ट कर्त्तृत्व का फल शुद्ध में भी मानेंगे तो आत्मव्यापक पक्ष में जगदवच्छेदेन सुखादि होना चाहिये। अंगीकार करे तो प्रतीति भी माननी पड़ेगी। क्योंकि अज्ञात सुखादि में प्रमाण नहीं है। आत्मा के अणुत्व पक्ष में शरीर अवच्छेदक न होकर कर्त्ता ही होगा। तब कृतहानि आदि दोष होंगे। इत्यादि अन्यत्र अनुसन्धेय है ॥९२॥

नाहं चैत्रो मैत्रस्त्वहमिति तु व्यवहारिको भेदः ।
तेन न चैत्रकृतिफलं मैत्रस्यात्मैक्यसत्त्वेऽपि ॥ ९३ ॥

मैं चैत्र नहीं हूँ मैत्र हूँ यह भेद व्यावहारिक है। अतः आत्मैक्य वस्तुतः होने पर भी चैत्रकर्म का फल मैत्र को नहीं मिलता। पूर्वजन्मीय ब्राह्मण अधुना शूद्र है यहाँ व्यावहारिक एकता है तो चैत्र मैत्र नहीं ऐसा भी व्यावहारिक ही है ॥९३॥

नन्वात्मज्ञेऽप्यस्ति हि सुखदुःखादिप्रकाश इति चेद्भोः ।
देहमनःप्रभृतौ सति नैतानि कथं प्रकाशेरन् ॥ ९४ ॥

संशय यह है कि आत्मज्ञानी को भी आत्मज्ञान से अध्यास निवृत्त होने पर भी सुख दुःखादि का प्रकाशन होता है। वह कैसा ? अजी इसमें कौन सी बात है ? शरीर अन्तःकरणादि जब हैं तो सुखादि भी होंगे तो वे क्यों नहीं प्रकाशित होंगे।

तत्तादात्म्यं बाधितमप्यनुवर्त्तेत सकलमाऽऽरब्धम् ।
कर्त्तृत्वाद्यमबाधितमेव निमित्तं तु कर्मादौ ॥ ९५ ॥

सुखादि एवं उनका तादात्म्य ये सभी बाधित होने पर भी प्रारब्ध कर्म पर्यन्त बाधितानुवर्त्तन होगा। किन्तु बाधित कर्त्तृत्वादि प्रयोजक न होने से तज्जन्यफलभोक्तृत्व नहीं होगा। बाधित मरुजल की प्रतीति होने पर भी उसमें पिपासु की प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव दृढ़ परोक्ष बोध होने पर भी कर्मसंन्यास इष्ट है ॥९५॥

परमार्थतो हि नायं कर्त्ता भोक्ता न चाप्यसौ नाना ।
इति बोधेऽनधिकारः स्पष्टं प्रतिभासते विदुषाम् ॥ ९६ ॥

परमार्थतः यह कर्त्ता भोक्ता नहीं, नाना नहीं ऐसा बोध होने पर मैं शरीरादि नहीं जैसे मैं अधिकारी नहीं यह भी स्पष्ट भासेगा ॥९६॥

परमार्थरूप एव द्रष्टव्यो मोक्षकारणायात्मा ।
श्रोतव्यो मन्तव्यः सततनिदिध्यासितव्यश्च ॥ ९७ ॥

मोक्षार्थ परमार्थ स्वरूप आत्मा का ही दर्शन करना चाहिये जिसके लिये श्रवण मनन और नित्य निदिध्यासन करना चाहिये ॥९७॥

भक्त्या चोपास्त्यापि च योगेन च दर्शनं भवेत्तस्य ।
सोऽयं परमो धर्मो व्याख्यायि निवृत्तिधर्म इति ।। ९८ ।।

भक्ति, उपासना एवं योग से आत्मा का दर्शन होता हैं। यही "अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनं" इत्यादि में परम धर्म बताया है। इसी को निवृत्ति धर्म भो बताया गया है ।।९८।।

प्रतिबन्धकसद्भावे तद्धानायैव निर्गुणोपास्तिः ।
प्रतिबन्धकानिवृत्तौ यतयस्तु ब्रह्मलोकमियुः ।। ९९ ।।

कोई प्रतिबन्धक यदि हो तो उसकी निवृत्ति के लिए निर्गुणोपासना करनी चाहिये। फिर भी यदि प्रतिबन्धक निवृत्त नहीं हुआ तो सम्यक् आत्मदर्शन न होने से यति ब्रह्मलोक में पहुंचेंगे ।।९९।।

तत्रोद्भूतज्ञानाः परिमुच्यन्ते परान्तकाले ते ।
केचिज्जन्मान्तरतस्ते तु यथा वामदेवाद्याः ।। १०० ।।

ब्रह्मलोक में उन को ज्ञान उद्भूत होगा। क्योंकि श्रवणादि संन्यासकाल में ही हो चुका था। और कल्पान्त में मुक्त होंगे। कुछ लोग अत्यल्प प्रतिबन्धक रहने से यहीं एकाध जन्म लेकर प्रतिबन्धक की निवृत्ति से ज्ञान एवं मोक्ष के भागी होते हैं, जैसे **वामदेवादि** ।।१००।।

इति संन्यासनिरूपणम्

एवं प्रवृत्तिरूपो निवृत्तिरूपश्च दर्शितो धर्मः ।
कर्मोपास्ती प्रथमे ज्ञानं संन्यासरूपमतः ।। १०१ ।।

इस प्रकार प्रवृत्तिरूप तथा निवृत्तिरूप धर्म बताया। कर्म एवं उपासना प्रवृत्तिधर्म है। संन्यासात्मक ज्ञान निवृत्तिधर्म है ।।१०१।।

सर्वेषां तात्पर्यं वेदानां ब्रह्मबोधनेऽभिमतम् ।
तत्र च कर्माणि स्युश्चित्तविशुद्ध्यै मलनिवृत्तेः ।। १०२ ।।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' के अनुसार समग्र वेदों का ब्रह्मबोधन में ही तात्पर्य है। मलनिवृत्ति से चित्त शुद्ध होने पर ब्रह्मज्ञान होगा। अतः

तदर्थं कर्मकथन है। सकाम कर्म भी प्रतिषिद्ध कर्म से हटा कर क्रमशः काम पूर्ति के द्वारा सत्कर्म में लगाने के लिये ही हैं ॥१०२॥

अनुपहतमना हि भवेद् यज्ञेनोतापि दर्विहोमेन।
धर्मेणैनोऽपनुदेद्धर्मं परमं वदन्ति ततः ॥ १०३ ॥

एक मन्त्र में बताया है कि किसी भी यज्ञ से बल्कि दर्विहोम से भी मनुष्य अनुपहतमना होता है। दूसरी श्रुति कहती है—धर्म से पाप का अपनोदन होता है। अतः धर्म श्रेष्ठ है ॥१०३॥

विक्षेपनिवृत्तेः स्याच्चित्तैकाग्र्यं ह्युपासितुस्तद्वत्।
आवरणनिवर्त्तनतो ज्ञानं ब्रह्मप्रकाशकरम् ॥ १०४ ॥

उपासना करने से विक्षेप निवृत्ति होगी और ब्रह्मज्ञानोपयोगी चित्तैकाग्रता प्राप्त होगी। ज्ञान से आवरणनिवृत्ति होने पर ब्रह्म का प्रकाशन होगा। इस प्रकार ब्रह्मबोधार्थ तीनों काण्ड हैं ॥१०४॥

ज्योतिश्चक्रादीनां वर्णनमपि चात्र कर्महेतुत्वात्।
वपुरपि च धर्मसाधनमित्यौषध्यादिकथनमिह ॥ १०५ ॥

कर्मोपयोगी होने से वेदों में ज्योतिषादि वर्णन है। अथर्व वेद में आयुर्वेदादि का वर्णन आया है। शरीर स्वस्थ हो तभी तो धर्म किया जा सकेगा ॥१०५॥

सृष्ट्यादिनिरूपणमप्यद्वैतब्रह्मतत्त्वसिद्ध्यर्थम्।
तस्मादाकाशः स्याद्वायुरतोऽग्न्यम्बुमह्य इति ॥ १०६ ॥

परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु उस से अग्नि इत्यादि सृष्टिकथन भी कारणातिरिक्त कार्य न होने से अद्वैत ब्रह्मतत्त्व समझाने के लिये है ॥१०६॥

इदमखिलमेकमेव सदेव तथैवाद्वितीयमभवत् प्राक्।
तस्मात् सद्विधयाखिलयुदपद्यत कार्यजातमिदम् ॥ १०७ ॥

सृष्टि से पूर्व यह जगत् एक अद्वितीय सद्रूप ब्रह्मात्मक ही था। उस से उत्पन्न होने से पूरा जगत् सद्रूप प्रतीत होता है ॥१०७॥

असदिदमासीदिति तु न युक्तं नैवासतः सदुत्पत्तिः ।
नास्तीत्यनुवर्त्तेताप्यसदुद्भूतेर्वियत्प्रभृतौ ॥ १०८ ॥

पहले असत था उस से सत हुआ यह मत अयुक्त है। क्योंकि असत् से सत् नहीं होता। वैसे फिर सर्वत्र असत् सुलभ होने से सर्वत्र सर्वोत्पत्ति होने लगेगी। दूसरी बात सुवर्णनिर्मित कुण्डल में सुवर्णानुवृत्ति के समान असन्निर्मित जगत् में असदनुवृत्ति होने लगेगी। तब प्रत्यक्ष नर गृह घटादि में नर नहीं, गृह नहीं, घट नहीं ऐसी प्रतीति होती ॥१०८॥

तस्मात्सदेव पूर्वं तत्सत्यं सर्वमैतदात्म्यमिदम् ।
आत्मा स तत्त्वमसि भो तदिदं श्रुतिराह तात्पर्यात् ॥ १०९ ॥

इसलिये सृष्टि पूर्व सत् ही था। वही सत्य है। उस सत् से पैदा होने के कारण यह सारा जगत सदात्मक ही है। वही सत् आत्मा है। वही तू है। यही बात तात्पर्यतः श्रुति बतलाती है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता ।
विज्ञाय वेदशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥ ११० ॥

सर्वेषामुपजीव्यो वेदो व्याख्यायि लेशतोऽत्र मया ।
तेन प्रसीदतान्मयि वेदात्मा सैष परमात्मा ॥ १११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशकानन्दयतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे वेदार्थपरिचयो नामोपक्रमः

✲

अथ द्वादशदर्शनोपक्रमः

सत्कर्मनिर्मलान्तःकरणैर्ध्येयं विशुद्धभक्तियुतैः ।
तत्त्वविवेचनपटुभिर्ज्ञेयं वन्दे शिवममेयम् ॥ १ ॥

सत्कर्मों से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया उन निर्मल भक्तिसंपन्न महापुरुषों के ध्येय तथा तत्त्वविवेचन करने में समर्थ महात्माओं के ज्ञेय अथ च अप्रमेय परमकल्याणस्वरूप परमात्माकी हम वन्दना करते हैं ॥ १ ॥

आबार्हस्पत्यमतादिह खल्वाबादरायणीयनयम् ।
सिद्धान्तान् दार्शनिकान् संगृह्णीमोऽतिसंक्षेपात् ॥ २ ॥

चार्वाक से लेकर बादरायणपर्यन्त आचार्यों के अभिमत दार्शनिक सिद्धान्तों का यहाँ अतिसंक्षेप से हम संग्रह करते हैं ॥ २ ॥

सम्यग् विविच्य सकलं मतमादेयं यदेव योग्यं स्यात् ।
मा भूदन्धन्यायो मा परनिन्दापरायणता ॥ ३ ॥

सभी मतों का सम्यक् विवेचन कर जो योग्य हो उसका ग्रहण करना चाहिये। "अन्धस्येवान्धलग्नस्य" वाली बात न होनी चाहिये। और किसी एक मत के अभिनिवेश से परनिन्दापरायणता नहीं होनी चाहिये ॥ ३ ॥

ननु बादरायणोक्तं मतमेकं ग्राह्यमीश्वरोक्तत्वात् ।
स्यात् सत्यं किन्तु गुणो नान्यत्रेति त्वसद्ग्राहः ॥ ४ ॥

कुछ लोगों की मान्यता है कि बादरायण ईश्वरावतार होने से उन का ही एकमात्र मत ग्राह्य है। यह बात सत्य हो सकती है। किन्तु अन्य दर्शनों में ग्राह्य गुण कोई है नहीं ऐसा मानना तो असद्ग्राहिता है ॥ ४ ॥

विवरीतृभिस्तु विवृतं तन्मतमपि चेतरेतरविरुद्धम् ।
तत्रैकमात्रसत्त्वं केन निमित्तेन साध्येत ॥ ५ ॥

फिर बादरायण का भी व्याख्याताओं ने परस्पर विरुद्ध विवरण दिया है। उन में एक मात्र सत्य है इस बात को किस हेतु से सिद्ध करेंगे? हमारे आचार्य ईश्वरावतार हैं यह तो सभी कहेंगे ॥ ५ ॥

ननु गोक्षीरं श्वदृतौ धृतमिव तत्त्वं बृहस्पतिप्रभृतेः ।
न ग्राह्यं वाचि गतं मैवं बहुभिर्गृहीतमिदम् ॥ ६ ॥
किं नार्थकामहेतोर्दुर्योधनमाश्रयन्त मतिमन्तः ।
किं चार्थकाममुख्याः प्रायोऽद्य जना विगतवेदाः ॥ ७ ॥

माना कि अन्यत्र न्यायशास्त्रादि में गुण हैं, ग्राह्य भी हैं, किन्तु नास्तिक बृहस्पति आदि के वचन में से गुण ग्रहण करना ठीक नहीं है। जैसे कुत्ते की चमड़ी से निर्मित पात्र में रखा हुआ गाय का दूध ग्राह्य नहीं है। परंतु ऐसे कहने वाले प्रायः "मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत्" वाले होते हैं। पहले जमाने में भी अर्थकाम के पीछे भीष्म पितामह जैसे मतिमान् धर्म को तिलांजलि देकर विराटनगर में गाय चुराने गये। क्या यह अर्थ-काम-प्रधान चार्वाकमत नहीं हुआ? आज तो वेदों का केवल नाम ही रह गया है। वेदों को छोड़कर प्रायः सभी अर्थ-काम-शास्त्र के पीछे ही लगे हैं। बोलने में व्यास जी से भी आगे बढ़ जाते हैं और आचरण में चार्वाक को भी मात कर देते हैं। चार्वाक के मन वाणी कर्म प्रायः एक है। और आधुनिक तथा कथित धार्मिकों में वह बात भी नहीं रह गयी है ॥ ६-७॥

निपुणं विभाव्य वचनं हेयमुपादेयमेव वापि शिशोः ।
गुणगृह्या वचने खलु विपश्चितो नैव सासूयाः ॥ ८ ॥

वास्तविकता यह है कि असूया करने और गाली देने की बात छोड़कर किसी की भी बात अच्छी तरह समझकर, परिशीलन कर ग्रहण करो या त्याग करो; खण्डन-मण्डन जो भी करो, समझकर करो, भले वह बालक की ही बात क्यों न हो। बुद्धिमान् विचारशील गुणग्राही होते हैं ॥ ८॥

सर्वैः पराकृतत्वात्त्यक्तत्वात्सर्वपूर्वपक्षत्वात् ।
चार्वाकमतं प्रथमं ब्रूमः सर्वस्थवीयस्त्वात् ॥ ९ ॥

जैनं बौद्धचतुष्टयमथ खलु वैशेषिकादिपञ्चतयम् ।
अन्ते वेदान्तनयं नानाभेदं प्रवक्ष्यामः ॥ १० ॥

प्रथम हम चार्वाक मत दिखाते हैं क्यों कि सब के लिये वह पूर्व पक्ष रहा। सब ने उसका निराकरण किया तथा सब से स्थूल मत वही है। इसके बाद जैन मत तथा चार बौद्ध मत बतायेंगे। तदनन्तर वैशेषिकादि पांच अस्तिक मत कहेंगे। और अन्त में वेदान्त मत का निरूपण करेंगे जो अद्वैत द्वैताद्वैतादि नाना भेद युक्त है ॥ ९-१० ॥

—:०:—

अथ चार्वाकदर्शनम्

यस्य समनुसन्धानादर्थयतामर्थकामयोः सिद्धिः।
श्रेयः परं यतः स्याच्चार्वाकमतं तदाचक्षे ॥ १ ॥

उस तत्त्व की व्याख्या हम यहाँ करने जा रहे हैं जिसके सम्यक् अनुसन्धान से अर्थ और कामरूपी पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं और परमश्रेय होता है। [चार्वाक मत के अनुसार अर्थ और काम दो ही पुरुषार्थ हैं। उससे सुखी जीवन प्राप्त करना ही परमश्रेय है। इन तीन की चाह रखने वाला ही वास्तविक मानव है, न कि निरुद्योगी। इस आशय से श्लोक में "अर्थयतां" पद है] ॥ १ ॥

नैकस्य सुखनिमित्तं धर्मोऽधर्मश्च दुःखबीजं वा।
बहुजनसुखहेतुः स्याद्धर्मोऽधर्मश्च विपरीतः ॥ २ ॥

अकेले एक का सुखसाधन धर्म नहीं, अकेले एक का दुःखकारण अधर्म भी नहीं। जो बहुजनसुखहेतु हो वही धर्म है और जो बहुजनदुःख-हेतु हो वही अधर्म है। अर्थात् प्रत्यक्ष सुखादि के निमित्त को ही धर्मादि कहते हैं ॥ २ ॥

लोकेषु यदायतमुत लोकानामायतिर्यदस्त्यस्मिन्।
लोकायतमिति तस्मान्मतमिदमाचक्षते लोकाः ॥ ३ ॥

लोक में यह मत चूंकि फैला हुआ है या लोगों की आयति, उत्तम भविष्य चूंकि इस मत में निहित है अतः इसे लोग लोकायत मत कहते हैं। 'लोकायतिरस्त्यस्मिन्' इस अर्थ में मत्वर्थीय अच् प्रत्ययान्त शब्द है ॥ ३ ॥

सत्यमहिंसा शौचं धृतिरस्तेयं दमः क्षमाऽक्रोधः।
ह्रीर्धीः परोपकारप्रभृतिः सामान्यधर्मः स्यात् ॥ ४ ॥

सत्य, अहिंसा, शुचिता, धैर्य, इमानदारी, संयम, सहिष्णुता, शान्त भाव, लज्जा, विचारशीलता एवं परोपकारादि सामान्यधर्म हैं। विरोच-

नादि असुर चार्वाक थे। फिर भी उनमें ये सारी बातें थी यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है। विरोचनपुत्र राजा बलि में तो अति प्रसिद्ध है ॥४॥

शमदममुखा द्विजानां क्षत्राणां युद्धरक्षणाद्याश्च ।
कृष्यादयो विशामथ सेवाद्याश्चापि शूद्राणाम् ॥ ५ ॥

शमदमादि ब्राह्मणों का, युद्धादि क्षत्रियों का, कृषि आदि वैश्यों का और सेवा आदि शूद्रों का धर्म है। राजा बलि वामन भगवान् को ब्राह्मण बटुक के रूप में पूजन किया था। यद्यपि राजा बलि यज्ञ भी करते थे। तथापि स्वर्ग को वे लड़कर जीत गये तो स्वार्गार्थं यज्ञ नहीं ही किया होगा। फिर असुरों के गुरु शुक्राचार्य ही थे। अतः वर्णाश्रम की प्रथा उनमें रही ही होगी ॥५॥

सोऽयं सामयिकः स्याद्धर्मो नैकान्तिकस्तु कश्चिदपि ।
सत्यादयोऽपि हिंसाप्रभृतिफलाश्चेद्यतोऽधर्माः ॥ ६ ॥

यह बात निश्चित है कि सत्यादि धर्म सामयिक है, ऐकान्तिक नहीं। क्योंकि हिंसा आदि परिणाम निकलता है तो सत्य धर्म नहीं है इत्यादि स्वयं शुक्राचार्य ने ही राजा बलि को बताया था ॥६॥

वैशेष्याद्धर्मत्वं सत्यादेरुच्यते न वस्तुतया ।
विद्याविषयो धर्मो विद्या स्याद्दण्डनीतिरिह ॥ ७ ॥

प्रायः सत्य आदि धर्म है अर्थात् सत्यादि की धर्मता प्रायिक है वास्तविक नहीं। धर्म का लक्षण है—जो विद्या का विषय हो। विद्या भी वेद विद्या को नहीं कहते। किन्तु दण्डनीति विद्या है। "दण्डनीतिरेव विद्या" ऐसा चार्वाकाचार्य बृहस्पति का सूत्र है। दण्डनीति राजनीति का पर्याय है। शूद्र को मारने का और मेंढक को मारने का प्रायश्चित्त स्मृतिकार भले एक ही कहें। परन्तु वह राजनीति का विषय नहीं हो सकता। यज्ञार्थं शूद्रधन को लूटना स्मृतिसिद्ध भले हो पर शासन उसे स्वीकार नहीं कर सकता ॥७॥

ब्राह्मण्यप्रभृतिरपि च धर्मोऽयं दण्डनीतिविषयत्वे ।
अपलपनीयः सोऽपि च धीरं विद्याविरोधित्वे ॥ ८ ॥

ब्राह्मणादि के कर्त्तव्य रूप से प्रतिपादित शमादि एवं युद्धादि दण्डनीति का विषय हो अर्थात् उससे राष्ट्र को कोई लाभ होता हो तो ही धर्म है। यदि लाभ के बदले नुकसान होता हो तो धैर्य के साथ उसका भी अपलाप कर लेना चाहिये। अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था को मिटाना चाहिये।

न स्वर्गो नापवर्गोऽपि नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥ ऐसा बृहस्पतिवचन है ॥८॥

वेदेन ननु विरोधो धर्मप्रतिपादकेन चेन्मैवम्।
प्रलपितबहुलो वेदः स्वर्गोत्पादादि यत्रोक्तम्॥ ९॥

वर्णाश्रम विभागादि नहीं मानेंगे तो वेदों के साथ विरोध होगा। इस शंका का समाधान यह है कि वेद प्रमाण ही कहां है? वेदों में बहुत सारे प्रलाप हैं। बृहस्पति का सूत्र है—"धूर्त्तप्रलापस्त्रयी" "त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त्तनिशाचराः। जर्भरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः कुतः"। मीमांसाकार भी 'हुं फट्' आदि वैदिक शब्दों को अर्थहीन ही मानते हैं ॥९॥

दृष्टं प्रयोजनं भुवि धर्मस्य हि बहुललोकसुखरूपम्।
परलोकस्तत्सुखमपि न भवति परलोकिनोऽभावात्॥ १०॥

धर्म को जानने के लिये वेदों की जरूरत नहीं है। उस का प्रत्यक्ष ही फल है। मतलब अधिक लोगों को सुख पहुँचे तो वही धर्म है। परलोक में अदृष्टफल होता है इत्यादि निरर्थक है। क्योंकि परलोक जाने वाला कोई नहीं है। बृहस्पति का सूत्र है—"परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः ॥१०॥

परलोकस्य श्रुतिरपि सांशयिकत्वं ब्रवीत्यतो हेयः।
रूप्यं वरं सुवर्णात् सांशयिकात्खल्वसांशयिकम्॥ ११॥

"को वा वेदामुत्र भवति न वा" इस प्रकार श्रुति ने स्वयमेव परलोक को संशयास्पद बताया है। अतः वह हेय है। यह सोना है या पीतल ऐसे संशयापन्न सोने से चांदी भली जिसमें संशय नहीं। बृहस्पति का सूत्र है—"वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापणः" ॥११॥

ननु च जगत्यामस्यां न सुखं कस्यापि दुःखनिर्मुक्तम् ।
ऐहिकमतो विहेयं विषसंपृक्तं यथैवान्नम् ॥ १२ ॥
इच्छन्ति हि प्रकृत्या सर्वेऽपि च दुःखमुक्तमेव सुखम् ।
तदनस्तित्वे क्वचिदपि नैव तदिच्छा प्रकृतितः स्यात् ॥ १३ ॥

पूर्वपक्ष—इस जगत् में दुःख से रहित सुख है ही नहीं। अतः विष-संपृक्त अन्न के समान दुःखमिश्र सुख हेय है। सभी निर्दुःख सुख स्वभावतः चाहते हैं। यदि वैसा सुख न होता तो स्वाभाविक इच्छा ही न होती। अतः स्वर्ग अवश्य है ॥१२-१३॥

मैवं कण्टकसहितं मत्स्यादी मत्स्यमाददीत यथा ।
धान्यार्थी सपलालं धान्यं क्रीणाति यद्वच्च ॥ १४ ॥
हेयं तु कण्टकादिवदुज्झित्वा ग्राह्यमेव गृह्णीयात् ।
गृह्णीयात् सुखमेवं लोको दुःखांशमुज्झित्वा ॥ १५ ॥

उत्तर :—मछली खाने वाला सकण्टक सशल्क मछली खरीदता है, धान्यार्थी भूसी सहित धान्य खरीदता है और हेय कंटकादि को छोड़ कर ग्राह्य को ग्रहण कर लेता है वैसे दुःखांश को छोड़कर सुखांश स्वीकारे तो इसमें क्या हानि ? ॥१४-१५॥

न हि दुःखभयेन सुखं जह्यान्मृगभीतितो न नोप्यन्ते ।
शालय इह भिक्षुभयान्नाधिश्रीयेत न स्थाली ॥ १६ ॥

दुःख के भय से सुख छोड़ना वैसा ही है जैसे मृग के भय से धान ही न बोना, भिखारी के भय से रोटी ही न बनाना ॥१६॥

इच्छाविषयत्ववशाद्यदि सत् खसुमं च संभवेत्सत्ते ।
विषयसुखत्याज्यत्वं मूढानां तेन सिद्धान्तः ॥ १७ ॥

इच्छा होती है। अतः सत् है। प्रकृति का स्वभाव है कि सत् की इच्छा होती है। ऐसी युक्ति अपनायें तो हमारे आकाश में फूल खिले ऐसी इच्छा से आकाशपुष्प भी सत मानना होगा ॥१७॥

स्वर्गस्थः पिण्डाद्यदि तृप्येत्तृप्येत्पथिस्थितोऽप्येव ।
पाथेयं पथि कस्मान्नेयं लोकैर्वृथा यत्नात् ॥ १८ ॥

पिण्डदान से यदि स्वर्ग में स्थित पितर तृप्त हो सकते हैं तो प्रवास में निकले पिता आदि घर में पिण्डदान करने से तृप्त हो जायेंगे। रास्ते में खाने के लिए खाना क्यों साथ में ले जाय ? ॥१८॥

ज्योतिष्टोमे निहतः स्वर्गं गच्छेत्पशुस्तदा स्वपिता ।
यजमानेन न कस्मान्निहन्यते स्वर्गमापयितुम् ॥ १९ ॥

कहते हैं कि ज्योतिष्टोभ में मारा गया पशु स्वर्ग जाता है, अतः वह हिंसा नहीं है। तो यजमान अपने पिता को भी ज्योतिष्टोम में मार कर स्वर्ग क्यों नहीं पहुँचाता ? कहते हैं—दक्ष को विशंसन विधि से वीर भद्र ने कुण्ड में होमा था ॥१९॥

स्वर्गं चेत्स्वर्गेच्छुर्याति पुमान् दर्शपूर्णमासाभ्याम् ।
पुत्रादिदर्शनेच्छुः कस्मान्नावर्त्तते स्वगृहम् ॥ २० ॥

स्वर्ग की कामना वाला दर्शपूर्णमास से यदि स्वर्ग जा सकता है तो पुत्रादि सुखेच्छा से दर्शपूर्णमास करके मरणोत्तर वापिस अपना घर क्यों नहीं आता है ? "सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ" ऐसा वेद वचन है।' कुछ आस्तिकों का कहना है कि वापिस उसी घर में जन्म ले सकते हैं। किन्तु आज तक ऐसा उदाहरण नहीं मिला है। फिर उसी घर में जन्म भी ले तो अपने पूर्वजन्मीय पुत्र को पुत्र भावना से वह नहीं देखेगा ॥२०॥

जीवन्न पश्यति स्वर्नावृत्तो न स्मरेददृष्टमहो ।
बालिश एवाभिलषेत् स्वर्गं स्वधनं मुधा वीय ॥ २१ ॥

जीवित समय में स्वर्ग दीखेगा नहीं यह निश्चित है। कहावत भी है— मरे बिना स्वर्ग नहीं दीखता। फिर मर कर मान लो स्वर्ग भोगा। पर, वापिस आने पर उसका स्मरण भी नहीं रहता। विदेशयात्रा करने वाला वापिस आकर स्मरण करता है तो उसको खुशी होती है। वह भी यहाँ नहीं। तब बीच में स्वर्ग का भोगना न भोगना एक बराबर हुआ। या एक कल्पना मात्र हुआ। क्योंकि स्वर्ग को मीमांसक भी अदृष्ट सुख मानते हैं। ऐसे बिना

मतलब के स्वर्ग की कामना से मूर्ख ही अपने हाथ में आया धन खर्च करेगा। दक्षिणा देगा। "को ह्यबालिशो हस्तगतं परगतं कुर्यात्" ऐसा बृहस्पति का कहना है ॥२१॥

निजजीविकावितत्यै पौरुषहीनाः प्रवर्त्तयन्ति जनान् ।
दानेऽध्ययने यजने विचरन्ति च साधुवेषेण ॥ २२ ॥

अपनी जीविका चलाने के लिये पुरुषार्थहीन ब्राह्मणों ने, दान, अध्ययन एवं ज्योतिष्टोम एवं अग्निहोत्रादि में लोगों को प्रवृत्त किया। बृहस्पति का कहना है—अग्निहोत्रं त्रयी विद्या त्रिदण्डं भस्मधारणं बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता। मनु ने भी इन्हें ब्राह्मणों की जीविका बतायी है। जीविकार्थ नाग्न बन कर तपस्वी रहने वालों के लिये बताया है—"नग्न श्रमण दुर्बुद्धे कायक्लेशपरायण। जीविकार्थे विचारस्ते केन त्वमसि शिक्षितः" ॥ २२ ॥

परसुखमधिकृतमनतिक्रम्य खलु पुमान्निजाधिकारस्थः ।
भुञ्जीत सौख्यमैहिकमिति धर्मं वाक्पतिः प्राह ॥ २३ ॥

दूसरे के अधिकार को न छीन कर अपने अधिकार में रहकर ऐहिक सुख भोगो यही धर्म बृहस्पति के मत में है ॥ २३ ॥

जीव स्वयं, परोऽपि च जीवतु बोधोऽस्तु ते परस्यापि ।
सुखमपि तथोभयोस्तद् ब्रह्म स वा सच्चिदानन्दः ॥ २४ ॥

स्वयं जियो, दूसरे को जीने दो। स्वयं मूढ न बनो, दूसरे को मूढ न बनाओ, स्वयं सुख भोगो, दूसरे को भोगने दो यही सच्चिदानन्द ब्रह्म है ॥ २४ ॥

नन्वात्मा नित्योऽयं तस्माद्यज्ञादयोऽपि धर्माः स्युः ।
सत्यादीनामैकान्तिकधर्मत्वं च युक्तमिति ॥ २५ ॥

परलोकी नहीं अतः परलोक नहीं यह कथन अयुक्त है। क्योंकि आत्मा नित्य है। अत एव यज्ञादि भी धर्म है और सत्य आदि ऐकान्तिक धर्म है। इस पूर्वपक्ष में :—॥ २५ ॥

मैवं तत्त्वसमुत्थो नात्मा नित्यो न चैव परलोकी ।
भूतान्यनुनश्यति स प्रेत्य न संज्ञास्ति लेशापि ।। २६ ।।

उत्तर यह है कि तत्त्वों से उत्पन्न आत्मा नित्य नहीं और परलोकगामी भो नहीं। भूतों के नाश के साथ आत्मा का भी नाश होता है। मरणोत्तर कोई संज्ञा नहीं रहती ।।२६।।

पृथिवी सलिलं ज्वलनः पवनश्चत्वार्यमूनि तत्त्वानि ।
तत्त्वान्तराणि सुधियां सत्यपरोक्षेऽविरुद्धानि ।। २७ ।।

तत्त्व कौन कौन है ? पृथिवी, जल तेज, और वायु ये चार। यदि किसी अन्य की भी प्रत्यक्षतः सिद्धि हो तो वे भो मान्य हैं इसी आशय से "पृथिव्यप्तेजोवायवस्तत्त्वानि" ऐसा न कहकर "पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि" ऐसा बृहस्पति ने कहा। इति पद प्रकारार्थक है। इस तरह की चीजें तत्त्व हैं ।।२७।।

नित्यपरोक्षात्मानो नोपेयन्तेऽणवस्तु विफलत्वात् ।
सततपरिवर्त्तमानैरुपपत्तेः कार्यनिकरस्य ।। २८ ।।

नित्य परोक्षात्मक परमाणुओं को हम स्वीकार नहीं करते। क्योंकि व्यर्थ है। निरन्तर परिवर्त्तनशील दृश्य कारणों से ही कार्य हो सकता है ।।२८।।

भिन्नो नैवायवी संस्थानविशेषतो विशेषाः स्युः ।
तेनैवानन्तविधाः पशुपक्षितृणद्रुमादीनाम् ।। २९ ।।

अवयवों से भिन्न कोई अवयवी, जैसे कि नैयायिक मानते हैं, नहीं है। अलग-अलग प्रकार से अवयवों के जुट जाने से पशु-पक्षी आदि नाना रूप होते हैं ।।२९।।

संस्थानविशेषवशात् त्रिविधानि भवन्ति तानि तत्त्वानि ।
ते कायेन्द्रियविषयाख्यानाः प्रोक्तास्त्रयो भेदाः ।। ३० ।।

भिन्न तरीकों से अवयवों के जुट जाने से वे तत्त्व शरीर, इन्द्रिय और विषय रूप बन जाते हैं। "तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा" इस बृहस्पति-

सूत्र से अवयवी का अस्वीकार और समुदाय का शरीरादिरूपता सिद्ध है ॥३०॥

किण्वादिभ्यो यद्वन्मदशक्तिर्जायते तथात्रापि ।
कायादिसमुदयेभ्यश्चैतन्यं जायते त्रिभ्यः ॥ ३१ ॥

सर्जत्वक्, त्रिफला, शुण्ठी इत्यादि छब्बीस द्रव्यों से बना हुआ सुराबीज किण्व है। उस का एक भाग और वैरेचनिक मूलों के क्वाथ में भावित उडद आदि से विधिवत् उत्पादित पिष्ट के तीन भाग इन सब को कलश में मांड में क्वाथ देने पर उस में मदशक्ति आ जाती है। त्रिफला आदि प्रत्येक में कोई नशा नहीं होता। और सब को मिला कर खाने से भी नहीं। विधिवत् बनाने पर ही नशा होगा। वैसे सर्वावयवपूर्ण शरीर इन्द्रिय और विषय रूपी तीन समुदयों के विशेष मिलन होने पर चैतन्य उत्पन्न होता है। "किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्" ऐसा बृहस्पति का सूत्र है। "तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा" "तेभ्यश्चैतन्यम्" ये पूर्व के दो सूत्र हैं ॥३६॥

सानलसलिलमरुदयोयन्त्रकशकटे यथा क्रियाशक्तिः ।
सूक्ष्मचतुस्तत्त्व[1]वपुषि भवति तथा ज्ञानशक्तिश्च ॥ ३२ ॥

गाडी के इंजिन में अग्नि जल वायु और लोहे ये चार तत्त्व रहते हैं। इनके विलक्षण संयोग में क्रियाशक्ति पैदा होती है। वैसे सूक्ष्म चार तत्त्वों के विलक्षण संयोग से उत्पन्न शरीर में ज्ञान शक्ति भी उत्पन्न होती है ॥३२॥

नष्टे लघुकीलादावपि गतिशक्तिर्विहन्यते शकटे ।
विहते हृन्नाडयादौ व्येति तथा ज्ञानशक्तिश्च ॥ ३३ ॥

गाडी की एकाध कील भी निकल जाती है या टूट जाती है तो गाड़ी रुक जाती है। इसी प्रकार हृदयनाडी आदि पर घात होने पर शरीर की ज्ञानशक्ति भी नष्ट हो जाती है। अत एव "मृतेषु व्यभिचारतः" इत्यादि निर्युक्तिक आरोप मात्र है ॥३३॥

सूक्ष्मवपुःसंस्थानं दुष्करमिति जीव्यते पुनर्न मृतः ।
सुबुधस्तु जीवयेदपि लक्ष्मणमिव मारुतिर्निहतम् ॥ ३४ ॥

---

१. तत्त्वतनौ पाठान्तर।

गाड़ी में नयी कील आदि डालने पर फिर चल पड़ती है। वैसे मृत व्यक्ति में नयी नाड़ी जोड़ने पर फिर क्यों नहीं जीवित होता है? इसलिये कि शरीररचना अति सूक्ष्म है। मरने पर पूरी शरीररचना गड़बड़ा जाती है। रक्तसंचार बंद होने से यदि शीघ्र उपचार हो तो जीवित किया जा सकता है। जैसे मृत लक्ष्मण को सात घड़ी के अंदर संजीवनी बूटी लाकर हनूमान जी ने जीवित किया। आधुनिक वैज्ञानिक तो नये जीवात्मा के ही निर्माणार्थ खोज कर रहे हैं ॥३४॥

जलबुद्बुदवज्जीवा जायन्ते सुस्थितेषु भूतेषु।
तेषु पुनरपगतेषु च भूतानि स्युर्यथापूर्वम् ॥ ३५ ॥

जल के संस्थान भेद से जैसे बुद्बुद् पैदा होते है और नष्ट होने पर जल यथापूर्व होता है वैसे शरीर संस्थान में चैतन्य होता है नष्ट होने पर चार तत्त्व बचते हैं। अत एव बृहस्पति ने कहा—"जलबुद्बुदवज्जीवाः" ॥३५॥

स्वप्ने त्वन्तर्यन्त्रप्रोद्भवहेतोर्विशेषचैतन्यम्।
तत्रैव न तु स्थूले भवति तु सामान्यचैतन्यम् ॥ ३६ ॥

यदि शरीर में चैतन्य है तो स्वप्नादिकाल में बाह्यानुभव क्यों नहीं होता? इसलिए कि उस समय अंदर के शरीरयन्त्र काम करने लगते हैं। तब स्थूल शरीर में सामान्य चैतन्य मात्र रहता है। गाड़ी आदि में अलग-अलग भाग समयानुसार काम करते हैं ॥३६॥

अथ मतभेदेन वयं चार्वाकोक्तं प्रचक्ष्महे जीवम्।
जलबुद्बुदवत् क्षणिकं सर्वेषु मतेषु चैतन्यम् ॥ ३७ ॥

अब हम मतभेद से चार्वाकोक्त जीव का विवरण करते हैं। इतना स्मरण अवश्य रखें कि सर्वमत में बुद्बुदसमान वह क्षणिक हैं "जलबुद्बुदवज्जीवाः" ऐसा सूत्र है ॥३७॥

भूतानि चेतयन्ते न त्वतिरिक्तोऽस्ति जीवनामासौ।
इत्यप्यशेषसम्मतमाश्रयविषये तु मतभेदः ॥ ३८ ॥

"भूतान्येव चेतयन्ते" इस बृहस्पति सूत्र के अनुसार अतिरिक्त जीव नहीं यह भी सर्वसम्मत है। मतभेद केवल चैतन्य के आश्रम के बारे में है ॥३८॥

अन्नमये चैतन्यं श्यामोऽहमहं कृशो मनुष्योऽहम् ।
इत्याद्यहंप्रतीतिः स्थूले परिलोक्यते यस्मात् ॥ ३९ ॥

अन्न मय कोश (स्थूल शरीर) में चैतन्य है ऐसा एक मत है। मैं सांवला हूँ, कृश हूँ, मनुष्य हूँ इत्यादि रीति 'अहं' (मैं) की प्रतीति स्थूल में ही देखी जाती है ॥३९॥

प्राणमये चैतन्यं पर आहुः प्राणिमीति यामीति ।
तदुपादायैवेष्टो मुख्योऽहंप्रत्ययो यस्मात् ॥ ४० ॥

अन्य मनीषी प्राणमय में चैतन्य मानते हैं। मैं जी रहा हूँ, चल रहा हूँ इत्यादि प्राणमय को लेकर होता है ॥४०॥

ऊचुर्मनोमयं पुनरितरे यस्माद् भवेत्तदन्तःस्थम् ।
स्वप्नादावपि दृष्टं स्मृतिरप्यत्र स्मरामीति ॥ ४१ ॥

तृतीय मत है—मनोमय में चैतन्य है। मन हो तो ही अन्दर से 'मैं हूँ' ऐसा होता है। सपने में भी मन ही काम करता है। स्मरण भी मन से ही होता है ॥४१॥

अन्नमयादिकमखिलं समुदितमात्मेति परमसिद्धान्तः ।
एकतराभावेऽपि च चैतन्यं नेक्ष्यते यस्मात् ॥ ४२ ॥

परम सिद्धान्त यह है कि अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों के मिलित रूप में ही चैतन्य होता है। अतएव बृहस्पति ने "तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा" कह कर "तेभ्यश्चैतन्यं" बताया। शरीर, इन्द्रिय, विषय इन तीन से चैतन्य होता है यह सूत्रार्थ है। यद्यपि विषयों में चैतन्य नहीं होता। तथापि भोजनादि विषयों के बिना शरीरादि टिक नहीं सकते। अतः विषयों को भी चैतन्य प्रयोजक कोटि में डाला ॥४२॥

नन्वेकस्मिन् वृक्णे हस्तादौ ते मृतो भवेदात्मा ।
तन्नैकस्मिस्तन्तौ नष्टे वस्त्रं विनष्टं किम् ? ॥ ४३ ।
नष्टं वस्त्रं प्रथमं खण्डं जातं द्वितीयमिति चेन्न ।
तत्र कुविन्दाभावाल्लोकानुभवप्रतीपत्वात् ॥ ४४ ॥

खण्डवसनवत् कार्यं खण्डात्मा वा करोतु का हानिः ।
चैतन्यकार्यकरणान्नार्धोऽस्मीति प्रतीतिस्तु ॥ ४५ ॥

यदि समुदाय आत्मा है तो हस्तादि के कटने पर आत्मा का मरण होना चाहिये ऐसी शंका वृथा है। क्या दो-एक तन्तु नष्ट हो गये तो कपड़ा ही नहीं रह जायेगा ? नैयायिक कहते हैं—दो-एक तन्तु निकल जाय तो महापट नाश होगा और खण्डपट की उत्पत्ति होगी। किन्तु पट सामान्य के प्रति कारण जुलाहा वहाँ कहाँ है ? जो खण्ड पट उत्पन्न करे। खण्डपटेतर-पटत्व को कार्यतावच्छेदक मानने में गौरव है। फिर लोकानुभव से यह बात विरुद्ध भी है। एक तन्तु निकल गया तो क्या कोई कहता है महापट नष्ट हुआ ? पुनः खण्डपट अपना आवरणकार्यकारी जेसे खण्डात्मा को कार्य कारी मान लीजिये। शंका होगी कि "मैं आधा हूँ" ऐसी प्रतीत होने लगेगी। पर ऐसा इसलिये नहीं होता कि चैतन्य का पूरा कार्य जो करे वही अहंपदार्थ है। पूरा कार्य हो रहा है तो मैं आधा हुँ क्यों बोलने लगे ? ॥४३-४५॥

वस्तुच्छायाग्रहणात् सच्छायाक्षानुजातपरिणामात् ।
उपपद्यते स्मृतिस्तन्नात्मा नित्योऽनुमन्तव्यः ॥ ४६ ॥

चैतन्य विशिष्ट मन आदि रूप आत्मा भी नित्य नहीं है। क्षणपरिणामी है। यदि यह प्रश्न करे कि प्रथम क्षण में अनुभव करने वाला द्वितीयादि क्षण में बदल जाता है तो स्मरण कैसे होगा ? तो समाधान यह है कि वस्तु की छाया इन्द्रियादि पर पड़ती है। उस छाया से सहित आत्मा का हो समानाकार परिणाम होगा। जैसे चित्र विशिष्ट भीत का परिणाम होता है तो परिणत में भी चित्र रहता है। इसी बात को दूसरे श्लोक में देखिये ॥४६॥

क्षणपरिणामिष्वपि किल कुडचेष्वनुवर्त्तते यथा चित्रम् ।
सदृशसमुद्भवहेतोस्तद्वदिह च चेतने क्षणिके ॥ ४७ ॥

सदृश परिणाम होने से स्मृति उपपन्न है ॥४७॥

प्राणाख्यामपि शक्तिं मेनिर इतरे बृहस्पतेः शिष्याः ।
यस्या एव च हस्तप्रभृतिषु संजायते कर्म ॥ ४८ ॥

चैतन्य शक्ति के समान प्राण शक्ति भी मानते हैं। जिससे हाथ पांव आदि में क्रिया होती है। "कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठिताद्युक्तं जायते" इस बृहस्पति सूत्र में प्राणादि शक्ति युक्त काय में ज्ञानोत्पत्ति बतायी है ॥४८॥

इच्छाशक्तिर्न पृथङ् नास्याः किंचिद्विलक्षणं कार्यम् ।
किन्तु ज्ञानसमुद्भवभावविशेषो भयादिरिव ॥ ४९ ॥

भय आदि के समान इच्छा ज्ञानोत्पन्न भाव विशेष मात्र है। कोई तृतीय शक्ति नहीं ॥४९॥

नन्विच्छया कृतिश्चेन्नैवं द्वेषादिनापि तद्दृष्टेः ।
न द्वेषशक्तिरिष्टा पृथगिव यस्मात्तथेच्छापि ॥ ५० ॥

इच्छा से कृति होती है अतः इच्छाशक्ति पृथक् है यह युक्ति ठीक नहीं। द्वेष से भी कृति होती है तो द्वेष शक्ति को भी अलग शक्ति क्यों नहीं मानते ॥५०॥

आकाशमपि च केचिन्मन्यन्ते तत्त्वमत्र चार्वाकाः ।
पञ्चेन्द्रियाणि पञ्च च विषयास्तेनोपपद्यन्ते ॥ ५१ ॥

कुछ चार्वाक आकाश को तत्वान्तर मानते हैं। अत एव चार्वाक मतनिराकरण प्रसङ्ग में "न भूमिर्नतोयं न तेजो न वायुर्नखं" इस प्रकार श्री शंकराचार्य ने आकाश का भी निषेध किया। इस प्रकार पाँच इन्द्रियाँ और उनके पाँच विषय उपपन्न होते हैं। "पश्यामि शृणोमीत्यादि-प्रतीत्या मरणपर्यन्तं यावन्तीन्द्रियाणि तिष्ठन्ति तान्येवात्मा" "इतरेन्द्रियाद्य-भावे सत्त्वान्मन एवात्मा" "प्राण एवात्मा" ऐसे तीन सूत्र बृहस्पति ने क्रमशः पढे हैं ॥५१॥

प्रत्येकस्मात्तत्त्वात्प्रत्येकं त्विन्द्रियं समुद्भवति ।
मिलितेभ्यो भूतेभ्यो मिलितं सम्पद्यते चित्तम् ॥ ५२ ॥

प्रत्येक तत्त्व से प्रत्येक इन्द्रिय होती है। पांचों मिलित तत्त्व से चित्त होता है ॥५२॥

श्रोत्रेन्द्रियहेतुरयं नैवाकाशोऽनुमन्यते नित्यः ।
श्रोत्रस्यानित्यत्वान्नात्मा नित्यस्ततः शङ्क्यः ।। ५३ ।।

श्रोत्रेन्द्रियहेतुरूप आकाश भले मानो पर वह नित्य नहीं है। क्यों कि श्रोत्रेन्द्रिय स्वयं अनित्य है। अतः आत्मा की नित्यता अमान्य है ।।५३।।

परमात्मा तु न कश्चित् पृथगस्त्यस्य प्रयोजनाभावात् ।
अत एव निराकारि स बहुभिर्बहुधास्तिकंमन्यैः ।। ५४ ।।

परमात्मा कोई अलग है ही नहीं। क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है। इसी कारण बहुत सारे आस्तिकमानियों ने भी उसका अनेक प्रकार से निराकरण किया ।।५४।।

यत्कण्टकेषु तैक्ष्ण्यं निम्बे कटुता तथेक्षुमाधुर्यम् ।
सर्वं स्वभावमात्रं न तत्र हेतुः परः कश्चित् ।। ५५ ।।

कांटों में तीक्ष्णता, नीम में कडुआस, गन्ने में मीठास यह सब किसने बनाया ? स्वभाव मात्र ही वह है। उसमें परमात्मा हेतु नहीं है ।।५५।।

तत्तत्स्वरूपमेव प्रकृतिर्नामोच्यते स्वभावश्च ।
त्रिगुणात्मिका न काचित् प्रकृतिर्नैवास्ति महदादिः ।। ५६ ।।

यह स्वभाव क्या है ? तत्तद् वस्तु स्वरूप ही है। वही प्रकृति भी है। त्रिगुणात्मक सांख्यसंमत प्रकृति महत्तत्त्वादि सभी अप्रामाणिक है ।।५६।।

कालदिगाद्याः सर्वे व्यवहृतये कल्पिता जनैर्विषयाः ।
एवं गुणादयोऽपि न पृथगर्थास्तत्त्वतो भिन्नाः ।। ५७ ।।

काल दिशा आदि सभी विषय व्यवहारार्थ लोककल्पित हैं। इसी प्रकार रूप रसादि गुण भी तत्व से भिन्न अलग कोई पदार्थ नहीं है ।।५७।।

क्षणपरिणामयुतानां संस्थानविशेषरूपपरिवृत्तेः ।
रूपरसाद्याः सर्वेऽप्यनुभूयन्ते यथातत्त्वम् ।। ५८ ।।

सभी वस्तु क्षण परिणामी हैं। उनका संस्थानविशेष रूप से परावर्तन ही रूपरसादि है। तत्त्वों के अनुसार उनकी अनुभूति होती है ।।५८।।

स्वस्थाने स्वपरिणतौ स्थिरमित्येवं निगद्यते वस्तु ।
स्थानान्तरपरिणामे चलतीति तथोच्यते तच्च ।। ५९ ।।

अपने पूर्वस्थान में परिणाम होने पर वस्तु में स्थिरता का व्यवहार और स्थानान्तर में परिणाम होने पर चलन का व्यवहार होता है ।।५९।।

तस्मात् क्रियापि नान्यत्तत्त्वं किन्तु प्रतीतिमात्रमिदम् ।
सामान्यमपि च लोकैः सादृश्यात् कल्पितं भवति ।। ६० ।।

इसलिये क्रिया भी तत्त्वान्तर नहीं हैं किन्तु प्रतीति मात्र है। सामान्य भी सादृश्य को लेकर कल्पित तत्त्व है ।।६०।।

समवायविशेषौ पुनरखिलजनानां प्रतीत्यसिद्धत्वात् ।
तदभावोऽभावत्वादेव च तत्त्वानि नेष्यन्ते ।। ६१ ।।

समवाय और विशेष तो कोरी नैयायिककल्पनामात्र है और इन भाव पदार्थों का अभाव तो अभाव ही ठहरा अतः तत्त्व नहीं है ।।६१।।

इति प्रमेयनिरूपणम्

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमुररीकृतं बृहस्पतिना ।
षोढा च प्रत्यक्षं चक्षुःश्रोत्रादिसंभूतम् ।। ६२ ।।

बृहस्पति ने एकमात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण माना है। "प्रत्यक्षमेव प्रमाणं" ऐसा बृहस्पतिसूत्र है। चाक्षुष रासन आदि भेद से प्रत्यक्ष छः प्रकार का है ।।६२।।

अणवश्चतुर्विधाः किल गन्धरसस्पर्शरूपसंज्ञाकाः ।
तत्तदणुग्रहणं स्याद् घ्राणादिभिरिन्द्रियैः क्रमशः ।। ६३ ।।

गन्ध रसादि चार प्रकार के अणु हैं। उन्हीं का घ्राणादि इन्द्रियों से ग्रहण होता है ।।६३।।

गन्धाणुनिर्गमेऽपि च निर्गन्धं वीक्ष्यते सरूपरसम् ।
तस्मान्न ह्येकस्मिन् गन्धरसाद्या अणौ सकलाः ।। ६४ ।।

पुष्पादि में से गन्धाणु के निकलने पर भी रूपरसादि देखने में आते हैं। अतः एक ही अणु में रूप-रस-गन्ध-स्पर्श चारों हैं यह मत अयुक्त है। एक ही अणु में गन्ध नष्ट न हुआ रूपादि रह गये यह भी अयुक्त है। क्यों कि अणु से अतिरिक्त कोई गन्धादि नहीं है ॥६४॥

विषया इन्द्रियमियूति न तु विषयानिन्द्रियाणि गच्छन्ति ।
रूपाणवो हि सूक्ष्मा यान्ति दृशं खान्तरेषु तथा ॥ ६५ ॥

विषय इन्द्रिय के पास आते हैं। न कि इन्द्रियाँ विषयों के पास। सूक्ष्म रूपाणु आँखों में आते हैं। सूक्ष्म गन्धाणु घ्राण में इत्यादि ॥६५॥

आदर्शाभिहिताणुभिरादर्शीयाणवः प्रयान्ति दृशम् ।
तदिदं प्रतिबिम्बं स्यात् सत्यं तन्नैव तु मृषार्थः ॥ ६६ ॥

आदर्श (दर्पण) में अभिहत मुखादि रूपाणुओं के साथ आदर्श के रूपाणु ओखों में आते हैं। यही प्रतिबिम्ब है। वह सत्यार्थ है। मिथ्या नहीं ॥६६॥

आहात्मानं किल तत् सकलहितैषी प्रजापतिः पूर्वम् ।
सत्यं विरोचनस्तज्जग्राह ततः स बिम्बं च ॥ ६७ ॥

आत्मजिज्ञासु इन्द्र और विरोचन को आदर्शादि में स्वरूप देखने के लिये प्रजापति ने कहा। सकल हितैषी प्रजापति झूठ क्यों बोलते। विरोचन ने उसका ग्रहण किया। प्रतिबिम्ब द्वारा बिम्ब शरीर को आत्मा समझा। इन्द्र को समझ में न आने के कारण दूसरे प्रकार से बताया यह अलग बात है ॥६७॥

सदृशं मानेन तु यत्तद्ध्यनुमानं न हि प्रमाणं तत् ।
सर्वस्यानैकान्त्याद् व्याप्तिज्ञानाद्यसंभवतः ॥ ६८ ॥

मान सदृश ही अनुमान है। वह प्रमाण नहीं है। क्यों कि सर्वत्र व्यभिचार है। और व्याप्ति का ज्ञान यूँ भी संभव नहीं है ॥६८॥

संभाव्यैव हि वृष्टिं कृषको विदधाति बीजवपनादिम् ।
तद्वत्संभावनया पावककामी गिरिं व्रजति ॥ ६९ ॥

अनुमान प्रमाण न हो तो धूम से अनुमान कर वह्नि-अर्थी पर्वत में क्यों जायेगा ? संभावना से। कृषक खेती करता है तो बारिष की संभावना से ही करता है। बारिष होगी ही ऐसा निश्चय नहीं है। प्रमात्वज्ञान प्रवृत्ति में अप्रयोजक है ॥६९॥

अनुमानान्न ज्ञानं निवार्यते किन्तु तस्य परगदितम् ।
प्रामाण्यं न ह्यनुमाप्रामाण्यं क्वापि वा नियतम् ॥ ७० ॥

अनुमान से ज्ञान ही नहीं होता ऐसा हम नहीं मानते। किं तु प्रतिवादी उसका प्रामाण्य जो मानते हैं उसका हम निषेध करते हैं ॥७०॥

दृष्टं महानसादौ वह्निं शैलेऽनुमानतः स्मरति ।
यातो गिरिं तु चिन्तितविसदृशवह्निं प्रपश्यति सः ॥ ७१ ॥

धूम देखने से महानसादि में दृष्ट वह्निका स्मरण होता है। उसका फिर पर्वत में आरोप किया जाता है। यही कारण है कि अनुमान काल में दिमाग में जैसा वह्नि का आकर आता है उस से भिन्न आकार ही पर्वत जाने पर दीखता है ॥७१॥

शब्दादपि दृष्टसमं स्मरति नरो न त्वपूर्वबोधोऽतः ।
श्रुतनगरीमक्ष्णा किल वीक्षेत विलक्षणाकाराम् ॥ ७२ ॥

शब्द से भी दृष्टसदृश का स्मरण होता है। किसी अपूर्व का बोध नहीं होता। किसी नगरी का वर्णन सुना तो अपने मन में दृष्टसदृश एक नगरी में कुछ नये आकारों की कल्पना करने लगते हैं। किन्तु उस नगरी में जाकर देखने पर उस कल्पित आकार से विलक्षण ही आकार दीख पडता है। अष्टावक्र पंडित आ रहे हैं सुनकर पण्डित सभावालों ने कल्पना की कि ऊँचा मोटा गोरा पगडीवाला कोई होगा। पर प्रत्यक्ष देखा तो हंस पडे ॥७२॥

तस्मादनुमानाद्यैर्वीक्षितसदृशं प्रकल्पयेन्माता ।
न हि कल्पितवस्तुविषयबोधः प्रामाणिको भवति ॥ ७३ ॥

इस लिये अनुमानादि से पूर्वदृष्ट वस्तु के सदृश वस्तु की कल्पना मात्र होती है। भला ! कल्पित वस्तु के ज्ञान को कोई भी प्रमाण स्वीकार करेगा ? ॥७३॥

प्रत्यक्षिताद्विलक्षणमीक्ष्यं यन्त्रेण तत्कथं सत्यम् ।
अधिकावयवेक्षणतो वैलक्षण्यं प्रतीयेत ॥ ७४ ॥

संशय होगा कि माईस्क्राप आदि यन्त्र से वस्तु का विलक्षण आकार दीखता है। अतः सामान्यतः प्रत्यक्ष भी मिथ्या क्यों नहीं ? उत्तर है कि यन्त्र से अधिक अवयवों के दीखने से विलक्षण दीखता है। पूर्वज्ञान मिथ्या नहीं है। जितने अवयव दीखें उतने में प्रमाण तो है ही ॥७४॥

नन्वनुमानादिकमपि सामान्यांशे प्रमाणमस्त्विति चेत् ।
मैवं सामान्यमपि ज्ञातचरं यद्धचसद्वस्तु ॥ ७५ ॥

तब अनुमानादि में भी सामान्यांश में प्रमाणता क्यों नहीं मानते ? इसलिये कि सामान्य पूर्व ज्ञात है। उसकी स्मृतिमात्र है। और सामान्य नाम का तत्त्व है भी नहीं। स्मृत की संभावना मात्र की जाती है यह पहले कहा जा चुका ॥७५॥

तस्मात्सत्यविषयकं विश्वसनीयं प्रमाणमेकमिदम् ।
प्रत्यक्षमतोऽन्यानि तु मानाभासानि सर्वाणि ॥ ७६ ॥

अतः विश्वसनीय सत्यार्थ केवल प्रत्यक्ष ही है। अन्य सब प्रमाणाभास हैं ॥७६॥

ननु रज्जौ सर्पोऽपि प्रत्यक्षेणैव वीक्ष्यते तस्मात् ।
न भवति विश्वसनीयं प्रत्यक्षं नापि सद्विषयम् ॥ ७७ ॥
अत्रोच्यते सदोषैरक्षैरुत्पद्यते क्वचिद् भ्रान्तिः ।
दोषापगमे नैव भ्रान्तिस्तस्मात्क्षतिर्नो नः ॥ ७८ ॥

पूर्वपक्ष होगा कि प्रत्यक्ष से रज्जु में सर्पभ्रम होता है। अतः प्रत्यक्ष भी विश्वसनीय नहीं है और निश्चित सद्विषयक नहीं है। इसका उत्तर है—दोष के कारण क्वचित भ्रान्ति होती है। दोष न होने पर भ्रान्ति नहीं होती अतः कोई क्षति नहीं है ॥७७-७८॥

प्रत्यक्षाऽप्रामाण्ये शब्दादिरपि प्रमाणतां जह्यात् ।
दृष्टं श्रुतमपि किमिदं किमुतान्यद्वेति संशयतः ॥ ७९ ॥

प्रत्यक्ष यदि प्रमाण न हो तो मतान्तरवाले अनुमानादि को प्रमाण सोच भी नहीं सकेंगे। पर्वत में धूम ही दीख रहा है या कुछ अन्य। यह घट को बोल रहा है कि पट को इत्यादि हर जगह संशय कर सकते हैं ।।७९।।

प्रत्यक्षमूलका ये शब्दास्तस्यार्थसत्यता यदपि ।
तदपि श्रोता स्पष्टमदृष्टार्थो नैव बुध्यति तम् ।। ८० ।।

यद्यपि वस्तु देख कर कोई कहता है तो उसका अर्थ सत्य ही होता हैं। तथापि जिसने अर्थ देखा नहीं उसको वैसा बोध होगा नहीं यह हम पहले बता चुके ।।८०।।

प्रत्यक्षपूर्वकत्वं वेदानां नोपगम्यते तस्मात् ।
प्रामाण्यं तेषां किल कथमिव संभावनीयमपि ।। ८१ ।।

मान भी लीजिये—प्रत्यक्षपूर्वक जो बोलता है उसमें अर्थ की सत्यता है। पर वेदों को आप प्रत्यक्षपूर्वक भी नहीं मान रहे हैं। अपौरुषेय कह रहे हैं। फिर उसमें प्रामाण्य की संभावना भी कैसे की जाय ? ।।८१।।

नृपतेः खल्वतिरिक्तो नैवेशो दण्डकारिणस्तस्मात् ।
तद्दृष्टार्थत्वेन न सत्यत्वं शक्यते वदितुम् ।। ८२ ।।

नैयायिक कहते हैं—ईश्वरप्रत्यक्षपूर्वक वेद है। पर दण्डनीतिकारी राजा ही ईश्वर है। अतिरिक्त नहीं। वह हमारे समान होने से उसको कहाँ से प्रत्यक्ष होगा ? ।।८२।।

नन्वीशोऽभ्युपगम्यो यस्मात्सर्वाः प्रजाः प्रजायन्ते ।
मैवं कारणमेकं प्रत्यक्षं प्राणिनां कामः ।। ८३ ।।

अतिरिक्त ईश्वर को क्यों नहीं मानेंगे जिससे समस्त प्रजा उत्पन्न हुई ? सुनो; प्रत्यक्ष है कि काम से ही प्राणियों का जन्म होता है। बृहस्पति का सूत्र है—"काम एव प्रणिनां कारणम्" ।।८३।।

न प्रत्यक्षः स्वर्गो मोक्षो वा तेन कल्पितं सकलम् ।
अपवर्गो नाम नृणां मरणं नान्यत् स्थिरं किंचित् ।। ८४ ।।

स्वर्ग या मोक्ष कल्पनामात्र हैं। क्यों कि प्रत्यक्ष नहीं हैं। असल में मरण ही मोक्ष या अपवर्ग है॥ "मरणमेवापवर्गः" ऐसा बृहस्पति का सूत्र है ॥८४॥

इति प्रमाणनिरूपणम्

कर्त्तव्यं सावहितैः राष्ट्रोन्नमनं परोपकरणं च।
विद्या हि दण्डनीतिः राष्ट्रस्य यथा स्थितिर्भवति ॥ ८५ ॥

श्रेयो यात परस्परभावनयेति प्रजापतिः प्राह।
नैवान्तरा परेषामुन्नतिमात्मोन्नतिर्घटते ॥ ८६ ॥

सावधानी से राष्ट्रोन्नति तथा परोपकार कर्त्तव्य है। क्योंकि दण्डनीति से ही राष्ट्र की स्थिति है। वही विद्या है। विरोचन के गुरु प्रजापति का कहना है कि "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ" अतः परोपकार भी कर्त्तव्य है ॥८५-८६॥

द्वावेव च पुरुषार्थावर्थः कामश्च नापरः कश्चित्।
धर्मस्यानैकान्त्यान्मोक्षस्य मृतिस्वरूपत्वात् ॥ ८७ ॥

अर्थ और काम दो पुरुषार्थ हैं। धर्म और मोक्ष नहीं। क्योंकि धर्म निश्चित रूप नहीं है और मोक्ष मरण रूप है। यद्यपि "काम एवैकः पुरुषार्थः" इस प्रकार एक सूत्र में बृहस्पति ने काम मात्र को पुरुषार्थ माना। क्योंकि अर्थ तो विषयोपभोग का साधन मात्र है। तथापि उपभोग हो या न हो तो भी अर्थ से भी प्रसन्नता होती है। कार्य होते हैं। इस आशय से बृहस्पति ने ही दूसरे सूत्र में "अर्थकामौ तुरुषार्थौ" इस प्रकार दोनों को पुरुषार्थ कहा ॥८७॥

अर्थः संचयनीयो विनियोगश्चापि तस्य कर्त्तव्यः।
नाविनियुक्तस्त्वर्थो मृतवत्पुरुषार्थतां व्रजति ॥ ८८ ॥

अर्थ का संचय तथा यथास्थान विनिगोग दोनों करना चाहिये। विनियोग के अभाव में मृतवत् अर्थ पुरुषार्थशून्य होगा ॥८८॥

दाराद्युपभोगोऽयं कामो नाम प्रकीर्त्तितो विबुधैः ।
तत्सामर्थ्यायैव क्वचिदिष्टं ब्रह्मचर्यादि ।। ८९ ।।

दार-धन एवं शब्द-स्पर्शादि का उपभोग काम है। "आम्रवनानि सेवयेत्" "मांसानि च" "मत्तकामिन्यः सेव्याः" इत्यादि सूत्रों में बृहस्पति ने इसका विशेष वर्णन किया है। उपभोगार्थ सामर्थ्य संपादन करने के लिये ब्रह्मचर्यादि भी इष्ट है ।।८९।।

आजीवनमाचेरुर्गुरुकुलवासादिकं पुनर्ये तु ।
तेषां जीवनमफलं नैव यतो ब्रह्मलोकादिः ।। ९० ।।

कुछ लोग पूरा जीवन गुरुकुल में बिताते रहे। इस आशा से कि "ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येण विन्दन्ति" ब्रह्मलोक प्राप्त होगा। उनका जीवन वृथा ही गया। क्योंकि ब्रह्मलोक इत्यादि है नहीं ।।९०।।

परदारामर्शादिर्लोकस्थित्येषिणा न कर्त्तव्यः ।
न तु नरकभिया यस्यान्नरकोऽयं कल्पनामात्रम् ।। ९१ ।।

पर दार गमनादि अकर्त्तव्य है। क्योंकि उससे मनुष्यों में पशुवत् युद्ध होगा जो लोक स्थिति में बाधक है। हाँ, नरक के भय से इससे निवृत्त होने की जरूरत नहीं है। क्योंकि नरक केवल कल्पनामात्र है ।।९१।।

लोकस्थितिहेतुत्वाद्विद्याया दण्डनीतिरत्रोक्ता ।
तत्रैवान्तर्भावं वार्त्ताया मन्वते विबुधाः ।। ९२ ।।

दण्डनीति (राजनीति) रूपी जो विद्या लोकस्थिति का हेतु है उसी में वार्त्ता (वाणिज्य विद्या) का अन्तर्भाव है। "दण्डनीतिरेव विद्या" "अत्रैव वार्त्ताऽन्तर्भवावः" ऐसे बृहस्पति के सूत्र हैं ।।९२।।

राजादिपरिगृहीता समाजपरिरक्षणप्रधाना च ।
शुक्रबृहस्पतिविदुराद्युपदिष्टा राजनीतिः स्यात् ।। ९३ ।।

जिसे राजा मन्त्री जननेता आदि ने अपनाया, जनसमाजरक्षा जिसमें प्रधान है शुक्र, बृहस्पति एवं विदुरादि के उपदिष्ट वही राजनीति है ।।९३।।

व्यक्तिप्रधानभावा समाजशुभदा विशां परिग्राह्या ।
सर्वाधिकारविषया कौटिल्पादीरिता वार्त्ता ।। ९४ ।।

व्यापारादि वार्त्ता का फल व्यक्ति अपने लिये ही चाहता है। फिर वह समाज के लिये आवश्यक और शुभदायी है। व्यापारी वर्ग उसे अपनाते हैं। वैसे तो उसमें सबको अधिकार है ही। कौटल्यादि ने उस अर्थ नीति का वर्णन किया है ।।९४।।

राजनियन्त्रणविरहे विश एते स्युः समाजशोषकराः ।
दण्डनयान्तर्भावं तत एव बृहस्पतिः प्राह ।। ९५ ।।

राजनियन्त्रण के अभाव में व्यापारी समाजशोषण करने लगेंगे। अतएव बृहस्पति ने उसे दण्डनीति के अन्तर्भाव बताया—"अत्रैव वार्त्तान्तर्भवति" ।।९५।।

असमर्थानां भिक्षा जीवनमुक्तं परं विनिन्द्यमिदम् ।
न ब्रह्मलोकनामा भिक्षोर्जय्योऽस्ति कोऽपि यतः ।। ९६ ।।

असमर्थों के लिये भिक्षावृत्ति है। पर वह निन्दनीय है। उससे प्राप्य कोई ब्रह्मलोकादि है नहीं ।।९६।।

शमदमसंतोषवतः कर्मकुशलिनः परार्थयुक्तस्य ।
स्वत्वत्यागो न्यासो न तु भिक्षावृत्तिरेवैषा ।। ९७ ।।

यद्यपि संन्यास बहुप्रशंसित है। तथापि वह भिक्षावृत्ति को नहीं कहते। शम दम संतोष आदि हो और कार्य करने में कुशलता हो, परार्थ कर्म किया जा रहा हो फलस्वाम्यत्याग हो तो वही संन्यास है ।।९७।।

जन्मान्तरमतिरसती भस्मीभूतस्य पुनरनागमनात् ।
देहव्यतिरिक्तस्याभावान्नित्यस्य जीवस्य ।। ९८ ।।

संन्यास से जन्मान्तर अच्छा होगा इत्यादि असत् मति है। भस्म बना शरीर भला कहाँ से वापिस आयेगा। देह से अतिरिक्त नित्य कोई आत्मा है नहीं ।।९८।।

ननु वैचित्र्ये हेतुर्भवति सुखादेः स्वकर्मवैचित्र्यम् ।
तत् पूर्वजन्म सिद्धं सिद्धं परजन्मसत्त्वं च ।। ९९ ।।

पूर्वपक्षः—कोई जनमते ही सुखी, कोई दूःखी, कोई सुन्दर, कोई कुरूप यह विचित्रता पूर्व कर्म का ही फल है। कारण के विना कार्य नहीं होता। तब परजन्म भी सिद्ध होगा। क्यों कि इस समय कर्म हो रहा है ।।९९।।

मैवं गृहनिर्माणे काश्चिदुपरि काश्चिदिष्टिका नीचैः ।
एतद्वैचित्र्येऽपि किं-मासां कर्मैव पूर्वकृतम् ।। १०० ।।

उत्तरः—घर बनाते समय कोई ईंट ऊपर, कोई नीचे और कोई मध्य में आ जाती हैं तो क्या इन ईंटों का भी पूर्व कर्म रहा ? कारण विना कार्य नहीं होना चाहिये ।।१००।।

तत्र यदृच्छा हेतुर्भवतु तदा सैव जीववैचित्र्ये ।
हेतुं कालमिहैके स्वभावमपरे परे नियतिम् ।। १०१ ।।

ईंटों के ऊपर नीचे होने में यदृच्छा (आकस्मिकता) ही हेतु कहें तो जीव वैचित्र्य में भी वही हेतु मान लो। काल, स्वभाव, नियति आदि को भी हेतु मानते हैं ।।१०१।।

ननु पक्षसमत्वमिह च जीवादृष्टेन हीष्टिकाविषमः ।
मैवमदृष्टाधीनं सर्वं चेत् का नु पुरुषकृतिः ।। १०२ ।।

यदि कहें कि ईंटों की विषम स्थिति में भी जीवों का अदृष्ट कारण होने से पक्षसमता है तो सीधा उत्तर है कि ईंटें ऊपर नीचे होने मात्र से सुख दुःख में क्या फरक पड़ता है ? फिर इस प्रकार सभी अदृष्टाधीन हो तो पुरुषकार (पुरुषार्थ) क्या होगा ।।१०२।।

चिन्तयति हसति गच्छति सकलोऽदृष्टेन भवति कार्यचयः ।
अपि चादृष्टेनैवादृष्टमिति विडम्बना महती ।। १०३ ।।

सोचना, हंसना, चलना सभी कार्य अदृष्ट से ही होता है। और पुण्य क्यों किया पाप क्यों किया ? बोलो अदृष्ट से। यह तो भारी विडम्बना होगी ।।१०३।।

अपराधश्च कथं स्यात् कस्य च यददृष्टजन्म कर्म तव ।
सकलापि दण्डनीतिः समुपप्लवते ह्यदृष्टनये ॥ १०४ ॥

और अपराधी कौन और कैसे होगा ? जब कि अदृष्ट से ही अपराध भी हुआ । इस प्रकार सारी दण्ड नीति ही उथल पुथल हो जायेगी ॥१०४॥

अपि चादृष्टे सति ते न खलु निवृत्तिर्भवस्य संभवति ।
असति स्वतो निवृत्तेर्ज्ञानाद्यर्थो वृथा यत्नः ॥ १०५ ॥

फिर अदृष्ट के कारण संसार निवृत्त नहीं होगा । अदृष्ट न हो तो अपने आप संसार निवृत्त होगा तो ज्ञानादि के लिये प्रयत्न वृथा होगा ॥१०५॥

ज्ञानेनादृष्टं चेन्नश्यति तज्ज्ञानमप्यदृष्टभवम् ।
तददृष्टेनादृष्टं नश्यत्वन्तर्गडु ज्ञानम् ॥ १०६ ॥

यदि कहो कि ज्ञान से अदृष्ट नष्ट होगा, तब संसारनिवृत्ति होगी, अतः ज्ञान आवश्यक है, तो यह बतावो कि वह ज्ञान किस से हुआ ? अदृष्ट से । तो वह अदृष्ट ही अदृष्ट को नष्ट कर लेगा, बीच में निरर्थक ज्ञान को क्यों जोड रहे हो ? ॥१०६॥

तस्मात् त्यक्त्वाऽदृष्टं लोकसृतिं समनुसृत्य जीवन्तः ।
राष्ट्रं चोन्नमयन्तो मोदन्ते ये त एव नराः ॥ १०७ ॥

इसलिये इस अदृष्ट के फंदे से मुक्त होकर लौकिक मार्ग का अनुसरण करते हुए राष्ट्रोन्नतिकरण के साथ स्वयं दार-धनादि से जो आनन्द से जीते हैं वे ही मनुष्य कहने योग्य हैं। अतएव बृहस्पति ने सूत्र लिखाः—"लौकिको मार्गोऽनुसर्त्तव्यः" ॥१०७॥

राष्ट्रस्य दण्डनीतेर्वार्त्तायाश्चापि रक्षणेन विना ।
नैवास्ति किंचनेति हि शास्त्रं प्रोक्तं बृहस्पतिना ॥ १०८ ॥

राष्ट्र, दण्डनीति और वार्त्ता इन तीनों की रक्षा के विना कुछ भी नहीं हो सकता । इसलिये बृहस्पति ने यह शास्त्र बनाया । "लोकायतमेव शास्त्रम्" ऐसा बृहस्पति का सूत्र है । लोकव्याप्तमार्गानुसारो या लोक की आयति का साधन यही लोकायत है ॥१०८॥

शिष्यपरम्परयैतच्चिरकालमवस्थितं च जानकलितम् ।
उत्तरतो निन्दितमथ खण्डितमन्ते हतप्रायम् ।। १०९ ।।

शिष्य परम्परा से यह शास्त्र बहुत समय तक रहा और लोगों ने भी अपनाया। बाद में इसकी निंदा हुई। दार्शनिकों ने इसका खण्डन किया ओर अन्त में नष्टप्राय हो गया ।।१०९।।

मङ्गलयतिना कृतिना सारोद्धारः कृतोऽस्य शास्त्रस्य ।
राष्ट्रादिरक्षणैकप्रयोजनांशानुसंहित्यै ।। ११० ।।

निन्दा करते समय कुछ अतिरिक्तोक्ति और कुछ अतिशयोक्ति जोड़ दी गयी। "यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः" की जगह "यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्" पढने लगे। सोचने की बात है कि दण्डनीति को मुख्य विद्या मानी तो उसके अनुसार परधन हड़प करना संभव है ? अत एव इसका वास्तविक स्वरूप क्या था यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। अतएव कृती मंगलयति ने इसका सारोद्धार किया। परंतु इतने अंश के लिये कि राष्ट्र एवं दण्डनीति आदि की रक्षा हो। उतने अंश के लिये यह अनुसंधान योग्य है। इसके अभाव से ही भारतवर्ष में ठग परदेशियों की जीत हुई ।।११०।।

शास्त्रान्तरार्थतत्त्वप्रबोधसंपत्तिहेतुरपि चेदम् ।
यत्नो न सर्वथापि व्यर्थोऽयं पूर्वचिन्तनतः ।। १११ ।।

दूसरी बात यह है कि वेदान्तादि शास्त्रों में चार्वाकमत को पूर्वपक्ष रख कर खण्डन किया है। वहाँ पूर्वपक्ष का आशय समझे विना खण्डन का आशय कैसे समझ में आ सकता है ? इसलिये पूर्वपक्षचिन्तनरूप से यह प्रयास सार्थक है, व्यर्थ नहीं ।।१११।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकार्य श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे प्रथमं चार्वाकदर्शनम्

प्रोक्तं विरोचनाय प्रथमं संक्षेपतः प्रजापतिना।
तत्त्वं येन हि वैभवमतुलं प्राह्लादिरुपबुभुजे ॥ १ ॥
किंचिद्विस्तरतः पुनरगदीत् किंचित्प्रकारभेदेन।
हैरण्यगर्भमिति तत् प्रथितं प्राणात्मवादाख्यम् ॥ २ ॥
असुरानहेडयन्त स्वार्थं सम्पाद्य देवताः सुधया।
तत्र बृहस्पतिरेतद् विपुलीकृत्याभ्यधात्ताभ्यः ॥ ३ ॥
तर्हि समर्थितमङ्गीकृतमपि नारायणादिभिः शास्त्रम्।
बलिहनने तच्छलने सामयिकमिदं ततः सिद्धम् ॥ ४ ॥

इस शास्त्र को प्रथम प्रजापति ने विरोचन को बताया। प्रह्लादपुत्र विरोचन ने उस से अर्थ काम का विस्तार कर सुख भोगा। संक्षेप में यह बात छान्दोग्य में आयी है। इसी सफलता को देख कर हिरण्यगर्भसंज्ञक प्रजापति ने इसे कुछ विस्तार से एवं कुछ प्रकारभेद से पुनः बताया। वही प्राणात्मवाद है। उसे सब लोग हैरण्यगर्भ-दर्शन मानते हैं। प्राणोपासना का मतलब है प्राणरक्षण कर दीर्घायु बनना। प्राण ही सब कुछ है अतः उसे ब्रह्म कहा।

समुद्रमन्थन के समय इसीदर्शन को बृहस्पति ने विस्तार कर इन्द्रादि देवताओं को बताया। भगवान् नारायण ने उसका समर्थन भी किया। तदनुसार असुरों से मेहनत कराकर देवता अमृत पी गये। यद्यपि परवंचन करना धर्म नहीं है, और चार्वाक सिद्धान्त भी नहीं है। परंतु राजनीति में परवंचन की आवश्यकता होने पर उसको अधर्म भी नहीं माना है। अत एव चार्वाक सिद्धान्त के रहस्यवेत्ता देवताओं ने असुरों का वञ्चन किया "क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः" यह नारायण की सलाह विचार योग्य है।

चार्वाक मत में स्वर्ग या स्वर्गस्थित देवता आदि नहीं है। ऐसी स्थिति में देव और दानव के मिलित प्रयत्न से अमृतमन्थन करना इत्यादि का क्या

मतलब है ? इसका समाधान यह है कि देवता देवजाति के मनुष्य थे। असुर भी असुरजाति के मनुष्य थे। यदि ये स्वर्गस्थित देवता होते तो उनको अमृत पीने की क्या जरूरत थी ? असुरों के आक्रमण से देवता मरते थे ऐसी बात आती है और उसी से बचने के लिये अमृत नाम की औषधि तैयार की गयी थी। देवता होने पर मृत्युभय किस प्रकार का ?। उनका नाम ही "अमरा निर्जरा देवा" इत्यादि हैं। और मर भी गये तो मर कर स्वर्ग ही में वे जाते। क्योंकि यज्ञों का फल समाप्त होने तक उनको स्वर्ग में रहना है। यदि देवताओं को मृत्युभय न होता तो बृहस्पति के पुत्र कच को संजीवनी विद्या सीखने के लिये शुक्राचार्य के पास क्यों भेजा गया था। जालंधर की कथा के प्रसंग में बताया है कि देवता मरने लगे तो बृहस्पति मंदराचल जाकर वहाँ से संजीवनी बूटी ला देवताओं को जिलाने लगे। तब जालंधर ने मंदराचल को ही उखाड कर समुद्र में फेंका। अब देवता बेहिसाब मारे जाने लगे और जिलाने वाला कोई न रहा तो सब के सब भाग खड़े हो गये। अस्तु।

समुद्र मंथन के समय बृहस्पति ने जो दर्शन देवताओं को सिखाया वही यह चार्वाक दर्शन है। यह दर्शन नारायण को भी जचा। इसलिये मोहिनी रूप धारण कर असुरों को ठगा और अमृत हथियाया। बाद में राजनीति के ही अनुसार उन्हीं असुरों को जिन्होंने अमृत मंथन में महान योगदान देकर उपकार किया था, बुरी तरह से मारा और पछाड़ा। उसके बाद की कथा भी देखो—राजा बलि आदि ने परास्त होने के बाद उपायान्तर से पुनः बल जुटाया। अपने बल से फिर से देवताओं को गिराया। तब विष्णु ने वामन रूप धारण कर बलि को छला और नीचे गिराया। उस समय विष्णु ने चार्वाक दर्शन का पूरा सहारा लिया और विजय प्राप्त की। इधर त्रिलोकी को दान में देने वाले बलि को उलटा यह कह कर पापी सिद्ध किया कि तुमने तीन पग जमीन देने की प्रतिज्ञा कर उसे पूरी नहीं की। उसे नागपाश से बांधा। क्या क्या उसकी दुर्दशा करायी। "राजन् ! मुझे अधिक जमीन नहीं चाहिये, लोभ बड़ा बुरा होता है, तीन पग जमीन से सन्तोष न होने पर पूरे द्वीप से भी सन्तोष नहीं हो सकेगा" इत्यादि वचनं सुनने वाले को वामन के तीन पग की ही प्रतीति होती है। अन्यथा 'द्वीप से भी सन्तोष नहीं हो सकेगा' इसका अर्थ क्या होगा ? उसी तीन पग की जमीन के लिये प्रतिज्ञा बलि ने की थी। शाब्द

बोध में तात्पर्य ज्ञान कारण होता है। बलि का तात्पर्य वामनीय तीन पग जमीन से था। न कि विराट् के तीन पग जमीन से। तब बलि पर प्रतिज्ञा भंग का आरोप कैसे लग सकता है? फिर जादू आदि से विराट् रूप दिखा कर प्रतिज्ञा भंग की बात कहना आस्तिक मत तो नहीं हो सकता है। शुक्राचार्य ने उस समय बलि को चार्वाक सिद्धान्त समझाने की कोशिश की थी। उन्होंने प्रतिज्ञा भंग करने में दोष नहीं है, यह बात दुहरायी थी। किन्तु उस समय बलि की बुद्धि पलट गयी थी। वे स्वर्ग-नरक के चक्कर में आ गये थे। राजनीतिविद्या से शून्य होने के कारण बलि पराभूत हो गये।

इस प्रसंग में वामन के वचन बड़े विलक्षण है। वामन जी कहते हैं कि तुम धन से गर्वी हो जाओगे, अतः तुम्हारे उद्धार के लिये मैंने सारी संपत्ति छीनी। फिर कहने लगे—स्वर्ग से भी अधिक वैभव-शाली सुतल लोक तुम्हें मैं देता हूँ और अगले मन्वन्तर में तुम इन्द्र बनोगे। वैभव से अभिमान न हो ऐसा बलि के लिये वामन जी को फिकर हुआ और अपने सगे भाई इन्द्र को वैभव देते समय उनको अभिमान कहीं हो जाय यह फिकर नहीं हुआ यह कैसा आश्चर्य है? फिर सुतल लोक में स्वर्गाधिक वैभव है तो उससे बलि को अभिमान क्यों नहीं होगा? फिर दूसरे मन्वन्तर में बलि इन्द्र बनेंगे तो तब अभिमान क्यों नहीं होगा?। अपने सर्वस्व तक देने में जो हिचकिचा नहीं रहे उस बलि में अभिमान की कल्पना किस प्रकार? क्या यह सब लेपापोती मात्र नहीं? असल बात यह है कि "सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च हिंसा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या। नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा" इस रहस्य को जिसने समझा और अपनाया वही संसार में सफल हुआ। वामन जी ने यह नीति अपनायी। इसके विपरीत पृथ्वीराज जैसे चार्वाकदर्शन के अनभिज्ञों ने भारतवर्ष को डुबोया। उसकी अनपेक्षित उदार नीति ने उसी को डुबोया और हजारों वर्ष तक भारत को गुलाम बनाया। अन्ततः भारत को विखण्डित किया। अतः इतना तो सुनिश्चित है कि धर्मनीति में चाहे जो भी हो किन्तु राजनीति में चार्वाक दर्शन ही काम आयेगा और आज वही काम में लाया भी जा रहा है। कोई बोले कि मैं पूर्वजन्म में अमुक सेठ था तो कानूनन उसको पूर्वजन्म की संपत्ति नहीं मिलेगी। पूर्वजन्म परजन्म ईश्वरादि राजनीति में नहीं है। लोग भी अपने स्वार्थ के अनति-

क्रमण तक ही इन सबको मानते हैं। स्वार्थातिक्रमण होते देख सब कुछ सिद्धान्त छोड़ देते हैं। इस पर लोकनीति में भी ईश्वरादि का कोई स्थान नहीं है। फलतः प्रायः सभी चार्वाक सिद्धान्त के ही अनुयायी हैं। दिखाने मात्र के लिये आस्तिक है। मंदिरों के पुजारियों तक भी, मूर्ति को एक खास पत्थर से अधिक महत्व स्वयं नहीं देते। उससे धनागम होता है इस लिये थोड़ा बहुत महत्त्व रहता है ॥१-४॥

अस्तिकमानी च जनो निन्दति सर्वान् प्रदर्श्य शास्त्रमहो।
वैष्णवशैवाद्या अपि निन्दन्त्यन्योन्यमन्येष्टम् ॥ ५ ॥

अपने को आस्तिक बतलाने वाला दूसरों की निन्दा करता है और उसी अर्थ में शास्त्र भी दिखाता है। मतलब उनका शास्त्र परनिन्दार्थ हुआ। बृहस्पति ने ठीक ही कहा—"परापवादार्थं वेदधर्मशास्त्रादीन् वदति" "सर्वान्निन्दति" वैष्णव शैवों की ओर उनके इष्ट शिव की निन्दा करता है। शैव वैष्णवों की ओर उनके इष्ट विष्णु की निन्दा करता है। एक दूसरे को नरकगामी कहता है। और कोई नरक गया कि नहीं इसका पता अभी तक चला नहीं। हां, इसी लोक में परस्पर गाली और मार पीट से नरक भोगते हैं इतना प्रत्यक्ष है। वृहस्पति ने इन्हीं आस्तिक मन्यों के लिये कहा—"महेश्वरविष्णवादीनपि"। इस सूत्र में निन्दति की अनुवृत्ति पूर्व से आ रही है ॥५॥

तत्र परस्परहेडनमुभयं निन्द्यं प्रसाधयेन्नूनम्।
हृदयसमर्थितमखिलैश्चार्विह चार्वाकशास्त्रमिति ॥ ६ ॥

ये धर्मध्वजी जो परस्पर निन्दा करते हैं इससे निश्चित है कि सभी निन्दनीय हैं। सभी धर्म और शास्त्र अनुपादेय है। परनिन्दा करते हुए सभी अपने को स्वर्गगामी समझते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि चार्वाकों की निन्दा अपने स्वार्थपूर्त्ति में बाधा देख कर भले कर ले, किन्तु हृदय से सबने स्वीकार किया है, समर्थन भी किया है। प्रायः पूरे के पूरे वैष्णवाचार्य और शैवाचार्य यही कोशिश करते हैं कि हमारे सब भगत बनें, हमें धन दे, और हमारे भगत अन्यत्र न जाय। एतदर्थं स्वप्रशंसा और परनिन्दा करते हैं। मतलब ये सब चार्वाकोक्त अर्थ नामक पुरुषार्थ के पीछे पड़े हैं। तथा अनेक विध भोगों के लिये लालायित हैं। बृहस्पति के इन सूत्रों को देखिये—

"श्रृङ्गारवेशं कुर्यात्" "अक्षैर्दीव्यात्" आम्रवनानि सेवयेत्" "मत्तकामिन्यः सेव्याः" "दिव्यप्रमदादर्शनं च" "नेत्राञ्जनं च" "ताम्बूलचवर्णं च" "कर्पूरचन्दनागुरुधूपं च"। थोड़ी कमी कहीं कहीं है। बृहस्पति ने "मांसानि च सेवयेत्" लिखा है। यह भी शुरू हो गया है। अधिक देरी नहीं होगी ये सब धर्माविरुद्ध घोषित होंगे। तात्पर्य यह है कि प्रायः सबने हृदय से समर्थन चार्वाक शास्त्र को दे ही दिया है। अतः यह चार्वाकशास्त्र अत्यन्त चारु है यही सिद्ध हुआ ॥६॥

—: o :—

जैनदर्शनम्

सम्यग्दृष्टिज्ञानचरित्रैस्तीर्थंकरानुपाश्रयिणाम् ।
सिद्धशिलामध्यभवानपि बोधायार्हतो वन्दे ॥ १ ॥

"सत्-संख्या-क्षेत्र०" इत्यादि सूत्रानुसार कृतदर्शनादि तथा करिष्यमाण-दर्शनादि सत्पुरुषों का अस्तित्व अनन्त संख्या में हमेशा विद्यमान है। वे दो प्रकार के हैं। एक ऐहिककल्याणकारी हैं। दूसरे कृतकृत्य हैं। ऐहिककल्याणकारी अर्हन्त सम्यक्दृष्टि (श्रद्धान) सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्-चरित्र से (जो स्वयं में विद्यमान हैं और साधकों में संपन्न कराये जाते हैं) उपाश्रयियों को (शरणागतों को या उपाश्रयों में रहने वालों को) तीर्थं बनाते हैं और पवित्र कर देते हैं। (अतएव परमश्रेष्ठ होने पर तीर्थंकर शब्द से भी वे अभिहित होते हैं।) कृतकृत्य अर्हन्त ऊर्ध्वगति से आलोकाकाश पहुँच कर सिद्धाशिलमध्यवर्त्ती हो जाते हैं (धर्मफल गति और अधर्मफल स्थिति दोनों के न होने से माध्यस्थ्यभावापन्न हैं) ऐसे दोनों प्रकार के अर्हन्तों को तत्त्वबोध प्राप्त्यर्थं हम बन्दना करते हैं ॥१॥

विस्तृतमपि शास्त्रार्थं प्राज्ञैः संसूत्रितं सुविवृतमपि ।
वक्ष्यामः संक्षेपादर्थाकलनार्थमर्थयताम् ॥ २ ॥

शास्त्र का अर्थ विस्तृत है। बड़े बड़े ज्ञानियों ने उसे सूत्रित किया। भाष्य वार्त्तिकादि से उसे विवृत भी किया। तथापि संक्षेप से पदार्थों को अपने दिमाग में जो संगृहीत करना चाहते हैं उनके लिये संक्षेपपद्धति से ही उनका हम निरूपण करते हैं ॥२॥

तत्त्वान्यार्हतसमये जीवोऽजीवस्तथाऽऽस्रवो बन्धः ।
संवरनिर्जरसावपि मोक्षश्चैतानि सप्तैव ॥ ३ ॥

अर्हत सिद्धान्त में सात तत्त्व हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ॥३॥

तेषां भवेत् प्रमाणैरधिगमनं बहुविधैर्नयैरपि च ।
ज्ञानं परोक्षमेतैरपरोक्षं त्वात्मसंभूतम् ॥ ४ ॥

इन तत्त्वों का बोध नानाविध प्रमाण तथा नानाविध नयों से होता है । परन्तु प्रमाण और नय से परोक्ष बोध होगा । क्योंकि प्रमाण और नय पर हैं । अपरोक्ष ज्ञान तो आत्मजन्य ज्ञान ही है ॥४॥

भवति मतिः श्रुतमवधिः समनःपर्यायकेवलो ज्ञानम् ।
प्रथमे तु परोक्षे स्तां शेषास्त्वपरोक्षरूपाः स्युः ॥ ५ ॥

मति और श्रुत ये दो, मनःपर्याय तथा केवल के साथ अवधि ये तीन ऐसे ज्ञान पाँच हैं । प्रथम दो परोक्ष तथा अन्तिम तीन अपरोक्ष हैं ॥५॥

प्रत्यक्षादनुमानादुपमानाच्चापि शब्दतश्चापि ।
क्वचिदर्थापत्तेर्वा भवति परोक्षं मतिज्ञानम् ॥ ६ ॥

इन्द्रिय एवं मन रूपी प्रत्यक्ष प्रमाण से, अनुमान से, उपमान से तथा शब्द से और किसी के मत में अर्थापत्ति से भी होने वाला ज्ञान परोक्ष है । ध्यान रहे कि प्रत्यक्ष ज्ञान भी इन्द्रिय एवं मन रूपी पर से होने के कारण परोक्ष ही है ॥६॥

प्रत्यक्षं द्विविधं स्यात्तच्च ज्ञानं च दर्शनं चैव ।
ज्ञानं तु निर्विकल्पं तच्च निराकारमित्याहुः ॥ ७ ॥

ज्ञान और दर्शन ऐसे प्रत्यक्ष के दो भेद हैं । ज्ञान निर्विकल्पक है । वह निराकार है ॥७॥

सविकल्पं साकारं दर्शनमेतन्मतिः श्रुतिश्च तथा ।
अवधिमनःपर्यायौ केवलमपि तद्वदेवाहुः ॥ ८ ॥

सविकल्पक साकार दर्शन है । मति और श्रुति सविकल्पक हैं । अवधि मनःपर्याय और केवल भी वैसे सविकल्पक ही हैं ॥८॥

मतिभेदाः स्युरवग्रह ईहाऽवायोऽपि धारणा चापि ।
संमुग्धालोचनसुग्रहणावधृतिर्ह्यवग्रहणम् ॥ ९ ॥

मति के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ऐसे चार भेद हैं। प्रथम संमुग्ध रूप फिर आलोचनात्मक फिर सम्यग्ग्रहणात्मक और अन्त में अवधारणात्मक है। ये चारों मति ही हैं ॥९॥

गुणदोषविषय ऊहस्तर्कपरीक्षाविचारणाज्ञीप्सा: ।
ईहा स्यात्सविशेषं निर्णयमाहुस्तथावायम् ॥ १० ॥

गुणदोषविषयक चिन्तन ऊह है। उस पर तर्क, परीक्षा, विचारणा और ज्ञीप्सा ऊह है। सविशेष निर्णय अवाय है। परन्तु निर्णय अल्पविषयक हो तभी अवाय है ॥१०॥

सविशेषविषयपूर्णज्ञानं स्याद्धारणा मतिस्त्वेषा ।
इन्द्रियमनोभवत्वात्प्रत्यक्षज्ञानमित्युक्ता ॥ ११ ॥

वही निर्णय सविशेषविषयक पूर्ण ज्ञान हो तो धारणा कहा जाता है। यह मति इन्द्रिय एवं मन से उत्पन्न होने से प्रत्यक्षज्ञान कहलाती है ॥११॥ प्रत्यक्ष ॥

व्याप्तिज्ञानादनुमा हेतोः सा पक्षवृत्तिताज्ञानात् ।
व्याप्तिः साध्यवदितराऽवृत्तित्वं कीर्त्तितं हेतोः ॥ १२ ॥

हेतु में साध्यव्याप्ति और पक्षवृत्तिता के ज्ञान से अनुमान होता है। साध्यवान् से अन्यत्र हेतु न हो तो वही व्याप्ति है ॥१२॥

स्वार्थपरार्थविभागादनुमानं द्विविधमात्मनः स्वार्थम् ।
पञ्चावयवं वाक्यं परार्थमथवा दशावयवम् ॥ १३ ॥

स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान इस प्रकार अनुमान दो प्रकार का है। अपने लिये जो अनुमान है वह स्वार्थ है। पञ्चावयव या दशावयव वाक्य परार्थानुमान है ॥१३॥

गिरिरग्निमान् स धूमाद्धूमयुतो नूनमग्निमान् भवति ।
अजिरमिव तथा चायं तस्माच्च तथेति तु प्रथमम् ॥ १४ ॥

वह पर्वत वह्निवाला है। क्यों कि वहाँ धुआँ है। जो धूमवाला होगा वह वह्निवाला भी अवश्य होगा जैसे आंगन। वैसा यह भी है। अतः यह

पर्वत वह्निवाला है यह पञ्चावयव वाक्य है ॥१४॥

सविभक्तिका प्रतिज्ञा तद्वद्धेतुर्विपक्षविनिषेधौ ।
दृष्टान्तश्चाशङ्का तत्प्रतिषेधो निगमनं च ॥ १५ ॥

दशावयव इस प्रकार है कि प्रतिज्ञा और उसका विभजन (विवरण) ये दो। हेतु और उसका विभजन ये दो। विपक्ष तथा निषेध ये दो। दृष्टान्त, उस पर आशंका और आशंका-प्रतिषेध ऐसे तीन, अन्त में निगमन एक, ऐसे दस होते हैं ॥१५॥

पुण्यमहिंसा तीर्थंकरकलिता तद्व्रती सुरप्रेयान् ।
अतथाविधस्य पुण्यान् नहि लोकान् शास्ति शास्त्रं तु ॥ १६ ॥
ननु यज्ञहिंसितर्भुप्रिय इति चेत्तन्न निन्दनात्सद्भिः ।
अत एव किलार्हन्तो न पचन्ति हि भिक्षयन्त्येव ॥ १७ ॥
ननु च गृहस्थैरर्हद्धेतोः पाकात् प्रयोजकास्ते स्युः ।
मैवं संवादस्याऽदानात् पुण्यं ततोऽहिंसा ॥ १८ ॥

अहिंसा पुण्य है यह प्रतिज्ञा है। तीर्थंकारों ने उसे अपनाया है यह प्रतिज्ञाविवरण है। वह पुण्य इसलिये है कि इस व्रत को रखने वाला देवप्रिय होता है यह हेतु है। जो अहिंसाव्रतरहित है उसे पुण्यलोक प्राप्त नहीं होता यह शास्त्र कहता है। यह हेतुविवरण है। यज्ञ में हिंसा करने वाला ऋभुप्रिय (देवप्रिय) होते हैं यह विपक्ष है। सत्पुरुषों ने उसकी निन्दा की है यह उसका प्रतिषेध है। यही कारण है अर्हन्त लोग भोजन नहीं पकाते, भिक्षा लेते हैं, पकाने से हिंसा वे समझते हैं यह दृष्टान्त है। पर गृहस्थ पकाते हैं, उससे भिक्षा पाते हैं, अतः प्रयोजक अर्हन्त भी हो गये यह आशंका है। अपने आने का समाचार अर्हन्त देते नहीं। गृहस्थ अपने लिये पकाते हैं। अतः वे प्रयोजक नहीं यह आशङ्का का प्रतिषेध है। अतः अहिंसा पुण्य है यह निगमन है ॥१६-१८॥

क्वचनाऽसिद्धिविरुद्धानैकान्तिकदूषणानि हेतूनाम् ।
पक्षस्याभासोऽपि क्वचिदुत दृष्टान्तदूषणयोः ॥ १९ ॥

हेतुओं के दूषण असिद्धि, विरुद्ध, अनैकान्तिक ये हैं। कहीं पक्षाभास कहीं दृष्टान्ताभास और कहीं दूषणाभास होते हैं वे भी दोष हैं ॥१९॥

केचित्प्रत्यक्षमपि प्राहुः स्वार्थं परार्थमेवापि ।
अयमश्व इति गिरा स्यात्प्रत्यक्षं संमुखार्थस्य ॥ २० ॥

जैसे स्वार्थानुमान और परार्थानुमान होता है वैसे स्वार्थप्रत्यक्ष तथा परार्थप्रत्यक्ष इस प्रकार प्रत्यक्ष भी दो उचित हैं। स्वयं देखना यह स्वार्थ प्रत्यक्ष है। यह घोड़ा है ऐसा शब्द सुनकर दूसरा घोड़े को देखता है यह परार्थ प्रत्यक्ष है ॥२०॥अनुमान॥

गोसदृशो गवय इति श्रुत्वा तादृक्पशुं वने दृष्ट्वा ।
गोसादृश्याद् गवयपदार्थमतिर्या तदौपम्यम् ॥ २१ ॥

गौसदृश गवय है ऐसा सुना। फिर जंगल गया तो ऐसा ही जानवर दीखा। गोसादृश्य ज्ञान से गवयपदार्थ का ज्ञान हुआ यही उपमा है २१॥उपमान॥

आप्तं प्रमाणमुक्तं लौकिकवचनं च शास्त्रवचनं च ।
शक्त्याकाङ्क्षादिवशाल्लक्षणया चापि शाब्दमतिः ॥ २२ ॥

शब्दप्रमाण आप्तवचन हैं। वह लौकिक तथा शास्त्रीय दोनों हैं। शक्ति से या लक्षणा से आकाङ्क्षा एवं योग्यता होने पर शाब्दमति होती है ॥२२॥शाव्द॥

दिवसेऽभुञ्जानानां पीनत्वं रात्रिभोजनं गमयेत् ।
एतामर्थापत्तिं केचन वाञ्छन्ति विद्वांसः ॥ २३ ॥

दिन में नहीं खाता और मोटा है तो अर्थापत्ति से रात्रि में खाना सिद्ध होता है। इस अर्थापत्ति को भी कुछ लाग प्रमाण मानते हैं ॥ २३ ॥ अर्थापत्ति ॥

मतिपूर्वकं सशब्दं श्रुतमङ्गनिविष्टमङ्गबाह्यं च ।
तीर्थंकरादिशब्दैस्तत्स्यात्सामायिकाद्यैश्च ॥ २४ ॥

मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान बताया। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है। उस में शब्द प्रविष्ट होता है। अतः श्रुत कहा जाता है। वह दो प्रकार का है। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य। तीर्थंकरादि के शब्द से मतिपूर्वक

ज्ञान हो तो अङ्गनिविष्ट है और सामायिकादि शब्द से हो तो अङ्ग-बाह्य हैं। सामायिकादि स्तोत्र इत्यादि का नाम है ॥२४॥

घातीयकर्मनाशे विकलं सकलं च जायते ज्ञानम् ।
अवधिमनःपर्यायौ विकलौ स्तां केवलं सकलम् ॥ २५ ॥

घातीय कर्म ज्ञानावरण है। उसका नाश होने पर नाश के अपकर्ष और उत्कर्ष के कारण ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। एक विकलज्ञान है। दूसरा सकल ज्ञान है। अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान विकल है। और केवलज्ञान सकल है। (ये तीनों अपरोक्ष हैं) ॥२५॥

अवधिज्ञानं तु भवप्रत्ययमेकं निमित्तजं त्वपरम् ।
मूर्त्तस्थूलविषयकं ज्ञानं स्वात्मोत्थमपरोक्षम् ॥ २६ ॥

अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है। भवप्रत्यय तथा उपायप्रत्यय। तीर्थंकरादि का भवप्रत्यय होता है। यहीं साधना करते हुए जो प्राप्त होता है वह उपायप्रत्यय है। मूर्त्त तथा स्थूल का अमुक सीमा-तक जो स्वात्म-शक्तिजन्य ज्ञान है यही अवधिज्ञान है। यह इन्द्रियमनोजन्य नहीं। किन्तु आत्मजन्य है। अतएव अपरोक्ष है। प्रतिघातीयकर्म का नाश होने पर आत्म-प्रकाश विकसित हो सुदूर तक के अर्थों को ग्रहण करने लगता है ॥२६॥

व्यापकमपि चैतन्यं संकुचितं भवति घातकर्मवशात् ।
घटगतदीपच्छविवज्जीवस्य ततं तदपरोक्षम् ॥ २७ ॥

जीव का चैतन्य ज्ञान व्यापक है। किन्तु घातकर्म (ज्ञानप्रसार का प्रतिघातक कर्मविशेष) से वह संकुचित होता है तो जीव अज्ञानी होता है। घातकर्म नष्ट होने पर वह फैलने लगता है और वस्तुओं को ग्रहण करने लगता है। ऐसा ज्ञान अपरोक्ष होता है ॥२७॥

भवति मनःपर्यायं ह्यृजुविमलमतिप्रभेदतो द्विविधम् ।
सूक्ष्माखिलपर्यायं सूक्ष्मतराशेषपर्यायम् ॥२८॥

मनपर्याय ऋजुमति तथा विमलमति भेद से दो है। जिसमें सूक्ष्म सर्वपर्याय हो वह ऋजुमति है। और सूक्ष्मतर सकल पर्याय हो तो विमलमति है। परमन गत पर्यायों के ज्ञान से उनके विषयों का भी अवगम

होता है। परमन में घटज्ञान एवं पटज्ञानादि पर्याय है। उनका ज्ञान होने पर घटपटादि का भी ज्ञान होगा ही ॥२८॥

स्थूलं सूक्ष्मं च तथा सूक्ष्मतरं चाखिलांश्च पर्यायान् ।
गोचरयति यज्ज्ञानं तत् परमं केवलज्ञानम् ॥ २९ ॥

स्थूल, सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर एवं सर्वपर्यायों को जो ज्ञान ग्रहण करे वह सर्वोत्तम केवल ज्ञान है। यह तीर्थंकरादि को होता है ॥२९॥

बहुपर्यायविषयके ज्ञाने तु मतिश्रुते प्रमाणे स्ताम् ।
एकाल्पविषयकत्वे नय इति ते चाभिधीयेते ॥ ३० ॥

बहु पर्याय जिस के विषय हों वे मति और श्रुत प्रमाण होते हैं। एक या अल्प विषय हो तो वे नय कहलाते हैं ॥३०॥

पञ्च तु नैगमसंग्रहसंव्यवहारर्जुसूत्रशब्दाख्याः ।
उक्ता नया द्विधाऽद्यः स्यादन्त्यश्च त्रिधा तत्र ॥ ३१ ॥

नय पांच हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। नैगम दो प्रकार का है। शब्द तीन प्रकार का है ॥३१॥

निजनिगमात्परनिगमादपि यज्ज्ञानं स नैगमाख्यनयः ।
संग्रहवचनभवं यज्ज्ञानं तत् संग्रहाख्यनयः ॥ ३२ ॥

अपने शास्त्र से और अविरुद्ध पर शास्त्र से जो ज्ञान हो वह नैगमनय है। संग्रह, जैसे समवाय को तादात्म्य में, उस से होने वाला ज्ञान संग्रह-नय है ॥३२॥

यो वर्त्तमानमात्रं गाहेत नयो जगुस्तमृजुसूत्रम् ।
यच्छक्यलक्ष्यगौणस्वार्थज्ञानं स शब्दनयः ॥ ३३ ॥

जो वर्त्तमान विषयमात्र को ग्रहण करने वाला है वह ऋजुसूत्रनय है। शब्दनय शब्दार्थ, लक्ष्यार्थ और गौणार्थ भेद से तीन प्रकार है। (व्यवहार से होने वाला व्यवहारनय स्पष्ट होने से पृथक् कहा नहीं) ॥३३॥

ऐकान्तिकं प्रमाणाद्धर्मज्ञानं नयादनेकान्तम् ।
अनितरतापर्यायाऽग्रहणात् स्याद्वादसिद्धिरतः ॥ ३४ ॥

प्रमाण से ऐकान्तिक ज्ञान होगा। यह घर ही है इत्यादि। नय में अनेकान्त ज्ञान होता है। क्यों कि घटेतरनिषेधात्मक पर्याय का अवगाहन नहीं होता। अतएव स्याद्वाद की सिद्धि नय से होती है ॥३४॥

स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्ति च
नास्ति चाथ तैः सहितम् ।
यदवक्तव्यं यत् स्याद् वक्तव्यं सप्तभङ्गीयम् ॥ ३५ ॥

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्याद्वक्तव्यम्, स्यादस्ति चावक्तव्यं च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च ये सप्तङ्गी है ॥३५॥

जिनभक्तेषु प्रीतिः स्यादस्त्यथ नास्ति बन्धुषु प्रीतिः ।
स्यादस्ति स्यान्नास्ति च जिनभक्तेषु स्वबन्धुषु सा ॥ ३६ ॥

जिनभक्तों में प्रीति स्यात् है। अपने बन्धुओं में प्रीति स्यात् नहीं है। और यदि अपने ही बन्धु जिनभक्त हो तब ? स्यात् है और नहीं है। जिन-भक्त रूप में है। स्वबन्धु रूप में नहीं ॥३६॥

नश्यति गजरूपेण ह्यात्मोत्पद्येत मर्त्यरूपेण ।
आत्मस्वरूपतोऽस्ति च नास्ति च तत्तत्स्वरूपेण ॥ ३७ ॥

गजरूप से आत्मा नष्ट हुआ, मनुष्य रूप से उत्पन्न हुआ। तब आत्म-स्वरूप से स्यादस्ति और तत्तत् रूप से स्यान्नास्ति हुआ ॥३७॥

स्याद्वक्तव्यं गुडकं केनचिदंशेन वाग्मिना कविना ।
सकलांशेन च सकलं भुवनं तु स्यादवक्तव्यम् ॥ ३८ ॥

गुड़ की मीठास इस प्रकार किसी अंश से वाग्मी कवि माधुर्य कह सकता है। किन्तु कैसी मीठास यह सर्वांशेन अवक्तव्य है। वैसे ही सभी पदार्थ हैं ॥३८॥

इत्थं च वावदूकैरुक्तं स्यादस्ति सर्वमेव मतम् ।
स्यान्नास्ति परमतेनेत्यविवादः सर्ववस्तुषु नः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार वादियों का सभी मत किसी प्रकार से है। परमतेन कोई भी मत नहीं। अतः हमारा सर्वत्र अविवाद है ॥३९॥

व्यक्ताव्यक्तत्वाभ्यां भावद्रव्याभिधाजुषो ह्यर्थाः ।
पूर्वावस्था भावो द्रव्यं च स एव तद्व्यक्तौ ॥ ४० ॥

सभी अर्थ व्यक्त तथा अव्यक्त रूप से यथासमय रहते हैं। इन में अव्यक्तावस्था भाव है। व्यक्तावस्था द्रव्य है ॥४०॥

क्षणपरिणामजुषौ स्तां जीवाजीवावनन्तधर्मौ च ।
उत्पादाद् व्ययतश्च ध्रौव्याच्चैतौ सधर्माणौ ॥ ४१ ॥

जीव तथा अजीव क्षणपरिणामी एवं अनन्तधर्मवाले हैं। उत्पत्ति, विनाश ओर ध्रुवता ये इन के साधर्म्य हैं ॥४१॥

अस्ति ध्रुवं स्वरूपं सकलस्य प्रत्यभिज्ञया नियतम् ।
क्षणपरिणामात्सर्वेऽप्युत्पद्यन्ते वियन्त्यपि च ॥ ४२ ॥

वही यह है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः सबका एक ध्रुव स्वरूप है। क्षणपरिणामी होने से उत्पत्ति और विनाश भी मानना होगा ॥४२॥

परिणामः परमाणुव्याप्याकाशप्रदेश एवाहो ।
पर्यायस्तदनैक्याद् वस्तूनामस्तिकायत्वम् ॥ ४३ ॥

परिणाम-तद्भाव यही पर्याय है। अथवा परमाणुव्याप्य आकाशरूपी प्रदेश पर्याय है। पर्याय जिसके अनेक हो वह अस्तिकाय कहलाता है ॥४३॥

सङ्कोचविकासयुता मध्यमपरिमाणभाजना जीवाः ।
सावयवाः पर्यायैर्युक्तत्वादस्तिकायाश्च ॥ ४४ ॥

जीव संकोचविकासयुक्त है। हाथी के शरीर में उसके जितना बड़ा और चींटी के शरीर में उसके जितना बड़ा ऐसा विकास और संकोच होता है। जीव अणु नहीं और महत्परिमाण भी नहीं मध्यमपरिमाण वाला है। सावयव हैं ऐसा भी बताया है। और कहीं-कहीं सावयवत्व का निषेध भी किया है। सर्वथापि पर्यायों के होने से अस्तिकाय है ही ॥४४॥

कर्त्ता भोक्ता सिद्धोऽदृश्यो जीवो भवाम्बुधावेषः ।
ऊर्ध्वंगतिशील एवहि मज्जति दोषाश्मभारवशात् ।। ४५ ।।

जीव कर्त्ता भोक्ता सिद्ध एवं अदृश्य है। वह नित्य ऊर्ध्वंगतिशील है। फिर भी भवसागर में डूब रहा है। कारण दोष रूपी पत्थरों को अंदर डाल रखा है। जैसे तुंबी जल में ऊर्ध्वंगतिशील होने पर भी अन्दर पत्थर भरा तो डूबी रहती है ॥४५॥

कर्मगतेर्दोषाणां भावद्रव्यात्मना क्रमाद्योगे ।
जीवानां वास्तविकं स्वरूपमाच्छाद्यते विमलम् ।। ४६ ।।

कर्मास्रवानुसार दोषों का भावरूप से तथा शरीरादि द्रव्यरूप से क्रमशः योग होने से जीवों का वास्तविक निर्मल स्वरूप आच्छादित होता है ॥४६॥

ज्ञानमनन्तं दर्शनमपि चास्यानन्तमेव सामर्थ्यम् ।
किन्त्वावृतमखिलं स्यात्तस्यावरणीयकर्मवशात् ।। ४७ ।।

जीव का प्रकाशरूप ज्ञान तथा दर्शन दोनों अनन्त हैं। सामर्थ्य भी अनन्त है। किन्तु ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीयादि कर्मवशात् सभी आवृत हैं ॥४७॥

यन्मोहनीयकर्माऽऽवरणोपशमक्षयक्षयोपशमैः ।
तत्तज्ज्ञानादीनामाविर्भावो भवेत्पुंसाम् ।। ४८ ।।

मोहनीयकर्मावरणादि का उपशम के क्षय से या क्षयोपशम से औपशमिक क्षायिक एवं क्षायोपशमिक भावात्मक ज्ञानाद्याविर्भाव होता है ॥४८॥

भावांस्तु पारिणामिकमपि चौदयिकं तथौपशमिकं च ।
क्षायिकमपि च प्राहुः पञ्च क्षायोपशमिकं च ।। ४९ ।।

पारिणामिक, औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, और क्षायोपशमिक ऐसे पाँच भाव बताये हैं ॥४९॥

गतिकर्माद्युदयवशात्तिर्यङ्नरकादिजन्म चौदयिकम् ।
जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वं पारिणामिकभूः ।। ५० ।।

गति एवं कर्म के उदय से तिर्यक्, नरक, एवं मनुष्य देवादि योनिसे जो जन्य है वह औदयिक भाव है। जीवत्व(प्राण धारण) भव्यत्व तथा अभव्यत्व ये पारिणामिक भाव है ॥५०॥

सम्यक्त्वं चारित्रं चोपशमसमुत्थमौपशमिकं स्यात् ।
क्षायिकमाहुर्ज्ञानं दर्शनदानादि च क्षयतः ॥ ५१ ॥

दर्शनमोहनीयकर्मोपशम से सम्यक्त्व चरित्रमोहनीयकर्मोपशम से चारित्र होता है वह औपशमिक है। ज्ञानावरणीयकर्मक्षय से ज्ञान, दर्शन-दानाद्यावरणीय कर्मों के क्षय से दर्शन दान इत्यादि क्षायिक होते हैं ॥५१॥

मत्याद्यावरणानां मत्याद्याः स्युः क्षयोपशमहेतोः ।
ज्ञानाज्ञानाद्यावृतिभङ्गात् क्षायोपशमिकं तत् ॥ ५२ ॥

मति आदि के आवरणीय कर्मों के क्षयोपशम से तथा ज्ञान अज्ञान आदि के आवरणीय कर्म के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक मति आदि होते हैं ॥५२॥

द्वौ चेतनोपयोगौ जीवगुणौ ज्ञानपञ्चकं प्रोक्तम् ।
कुश्रुतकुमतिविभङ्गावधिभिस्त्वष्टौ विपर्यासैः ॥ ५३ ॥

चेतना (ज्ञान) और उपयोग (ज्ञान पूर्वक व्यापार) ये दो गुण जीव के हैं। ज्ञान के पाँच भेद पहले कह चुके। कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि इन तीन विपर्यासों को मिलाने पर वे आठ हो जाते हैं ॥५३॥

बद्धो मुक्तो जीवो बद्धः स्यात् स्थावरस्त्रसश्चैव ।
क्षितिजलतेजोवायुवनस्पतिकायो भवेदाद्यः ॥ ५४ ॥

बद्ध और मुक्त ऐसे जीव दो प्रकार के हैं। बद्धजीव स्थावर तथा त्रस (जंङ्गम) ऐसे दो है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति शरीर वाले स्थावर होते हैं ॥५४॥

क्षितिकाया गिर्याद्या जलकायाश्चैव शैवलाद्याः स्युः ।
एकेन्द्रियास्त्रसाश्चानेकेन्द्रियकाः पशुनराद्याः ॥ ५५ ॥

पर्वतादि पृथिवी काय है। शेवाल आदि जलकाय हैं। ये सब एकेन्द्रिय हैं। और मनुष्य पशु कीटादि त्रस अनेकेन्द्रिय होते हैं ॥५५॥

औदारिकवैक्रियकाहारकतेजस्यकार्मणैः कायैः ।
बन्धाज्जीवो मूर्त्तः स्यात् स प्रकृतेरमूर्त्तोऽपि ।। ५६ ।।

जीव प्रकृतितः ज्ञानादि के समान अमूर्त होने पर भी औदारिक, वैक्रयिक, आहारक तैजस तथा कार्मण ऐसे पाँच शरीरों के बन्ध से मूर्त्त हो जाता है। औदारिक यही स्थूल शरीर है। वैक्रियक स्वर्गनरकोपपात शरीर है। आहारक चतुर्दशपाठी मुनियों का स्वेच्छागृहीत शरीर है। तैजस जिससे शरीर में उष्मा हो वह है। अनादि परम्परागत कर्मपुद्गल से कृत शरीर है। तैजस और कार्मण को लेकर मरणोत्तर भी गति होती है। ये दो नियत हैं, अन्यों का विकल्प समुच्चय है। इनमें उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर हो जाते हैं ।।५६।।

सूक्ष्मं परं परं चासंख्येयगुणं द्वयं त्वनन्तगुणम् ।
अप्रतिघातं चान्त्यं सर्वस्यान्यद् यथायोगम् ।। ५७ ।।

औदारिकादि उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। असंख्येय गुण वाले हैं। बल्कि अन्तिम दो अनन्त गुण वाले हैं बेरोकटोक सर्वत्र प्रविष्ट होने वाले हैं। वे दो सभी जीव के हैं। प्रथम तीन समुच्चय या विकल्प से यथायोग्य होते हैं ।।५७।।

इति जीवनिरूपणम्

धर्माधर्माकाशाः पुद्गलकालावजीवसंज्ञाः स्युः ।
व्यापकरूपावाद्यौ जीवे योगेन युज्येते ।। ५८ ।।

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल एवं काल ये अजीव हैं। इनमें धर्म और अधर्म व्यापक हैं (ये दोनों भी द्रव्य हैं यह आगे बतायेंगे) जीव में योग से (वाणी, मन और शरीर के कर्म योग है यह आगे बतायेंगे) ये दोनों प्रविष्ट होते हैं ।।५८।।

धर्मास्तिकाय एष हि गतिहेतुर्भवति जीवपुद्गलयोः ।
स्थितिहेतुर्भूम्यादेरुदितोऽधर्मास्तिकायश्च ।। ५९ ।।

धर्म सप्रदेश होने से अस्तिकाय है। वह जीव तथा पुद्गलों का गतिहेतु हैं। अधर्म भी अस्तिकाय है। भूमि आदि का वह स्थितिहेतु है ।।५९।।

आकाशस्त्ववगाही लोकालोकप्रभेदतो द्विविधः ।
प्रथमे धर्माधर्मौ स्थितिगत्यवगाहवत्त्वं च ॥ ६० ॥

आकाश अवगाह वाला है। अवकाश देता है! वह लोकाकाश, अलोकाकाश ऐसे दो हैं। लोकाकाश में ही धर्म और अधर्म हैं। अत एव मुक्त पुरुष अलोकाकाश में पहुँचता है तो स्थिति गति दोनों उसमें नहीं होती। अवगाह भी लोकाकाश में ही है। क्योंकि अलोकाकाश तत्त्वान्तर में है नहीं जिसमें इतरतत्त्व प्रवेश के लिए आकाशावगाह की जरूरत हो ॥६०॥

अपरेऽलोकाकाशे वर्त्तन्ते व्याप्य मुक्तजीवगणाः ।
नैवाप्यभिहन्यन्ते नानादीपप्रभासमिताः ॥ ६२ ॥

दूसरे अलोकाकाश में व्याप्त होकर मुक्त जीवगण रहते हैं। फिर भी वे परस्पर टकराते नहीं हैं। जैसे नानादीप की प्रभायें टकराती नहीं है। जैसे एक घर के झरोखे से दूसरे घर में प्रकाश जा रहा है तो बीच के आंगन में अन्य प्रकाश के होने पर कोई बाधा नहीं होती। (ध्यान रहें कि जीव मध्यमपरिणाम होने पर भी उसका प्रकाश व्यापक होता है) ॥६१॥

संहननविहननाभ्यां परिणामो पुद्गलः स मूर्त्तः स्यात् ।
तत्रैव गुणाः प्रोक्ता रूपं स्पर्शो रसो गन्धः ॥ ६२ ॥

परमाणुओं का संघात होता है। घटादि का विघात होता है। इस प्रकार सभी पुद्गल परिणामी होते हैं। वे मूर्त्त भी होते हैं। पुद्गलों में ही रूप स्पर्श रस और गन्ध ये गुण रहते हैं ॥६२॥

कृष्णो हरितो रक्तः पीतः शुक्लश्च पञ्च रूपाणि ।
तिक्तः कटुरम्लोऽपि च मधुरकषायौ रसाः पञ्च ॥ ६३ ॥
सुरभिरसुरभिर्गन्धौ द्वावुक्ता्वष्ट जगदिरे स्पर्शाः ।
मृदुकठिनौ च गुरुलघू शीतोष्णौ स्निग्धरूक्षौ च ॥ ६४ ॥

नीला, हरा, लाल, पीला, सफेद ये पाँच रूप हैं। तीता, कडुआ, खट्टा, मीठा, कषाय ये पांच रस हैं। सुगन्धि, दुर्गन्धि ये दो गन्ध हैं। मूलायम, कठोर, भारी, हलका, गरम, ठण्ढा, चिकना, रूखा ये आठ स्पर्श हैं ॥६३-६४॥

अणुसङ्घातसमुत्थाः स्कन्धाः स्युस्तद्विघातजा अणवः ।
उभये पुद्गलसंज्ञा नाणूनामस्तिकायत्वम् ।। ६५ ।।

अणुसंघातजन्य स्कन्ध पुद्गल है। स्कन्धविघातजन्य अणु पुद्गल है। दोनों की पुद्गलसंज्ञा है। हाँ, अणुओं का अस्तिकायत्व नहीं है। कारण उनका प्रदेश नहीं होता। नाना प्रदेश होने पर ही अस्तिकायता होती है ॥६५॥

तेषां तनुवचनमनःप्राणापानान् निरूचुरुपकारान् ।
सुखदुःखजीवितानि च मरणं चोपग्रहस्तेषाम् ।। ६६ ।।

शरीर, वाणी, मन, प्राण तथा अपान पुद्गलों के ही उपकार अर्थात् कार्य हैं। सुख, दुःख, जीवित और मरण ये पुद्गलों के उपग्रह हैं। अर्थात् पुद्गल इनके प्रति द्वारकारण हैं। विवरण इस प्रकार है कि औदारिकादि अनेक शरीर पुद्गलजन्य है। कार्मण शरीर यद्यपि पुद्गलजन्य नहीं है तथापि वह औदारिकादि शरीर के द्वारा ही फलदायी होता है। अतः लाक्षणिक पौद्गलिकत्व उस में भी है। भाषारूपी वचन दो प्रकार का है। एक भावभाषा है। दूसरी द्रव्यभाषा है। इनमें भावभाषा तो वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से तथा नामकर्मोदय से प्राप्य विशिष्ट शक्ति है। वह पुद्गलजन्य नहीं है। तथापि पुद्गलसापेक्ष होने से पौद्गलिक है। द्रव्यभाषा तो पौद्गलिक ही है। वह भावभाषा शक्ति से युक्त आत्मा की प्रेरणा से वचनरूप से परिणत होने वाली भाषा वर्गणा का स्कन्ध है। मन भी दो प्रकार का है। एक लब्धि तथा उपयोग-रूप भावमन है। दूसरा ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से एवं नामकर्मोदय से होने वाला मनोवर्गणा स्कन्धरूप है जो गुणदोषविवेचनादि-कारी है। यह द्रव्यमन है। पौद्गलिक है। भावमन उपचारतः पौद्गलिक है। नासाभ्यन्तरवर्त्ती प्राण तथा अपान पौद्गलिक है। यद्यपि घटपटादि भी पौद्गलिक हैं। तथापि आत्मोपकारी होने से इन्हीं की विशेषगणना शास्त्रों में की। सातवेदनीय कर्म से सुख, असात् वेदनीय कर्म से दुःख पुद्गल द्वारा जीव में होते हैं। अतः इन्हें पुद्गलोपग्रह बताया। आयुष्ककर्मोदय से जीवित और उसके समापन से मरण होता है जो प्राणापान सम्बन्ध और वियोगरूप हैं। यह भी पौद्गलिक उपग्रह है ॥६६॥

शब्दो बन्धः सौक्ष्म्यं स्थौल्यं संस्थानमेवमेव तमः ।
छायाऽऽतप उद्योतः पौद्गलिका एव पर्यायाः ।। ६७ ।।

शब्द भाषावर्गणापुद्गलों का परिणाम है। बन्ध अर्थात् संश्लेष पुद्गल-पर्याय है। परमाणुओं में सौक्ष्म्य, पृथिवी आदि में स्थौल्य, त्रिकोणादिसंस्थान-भेद ये भी पुद्गलपर्याय है। एवमेव से भेद भी लेना चाहिये। तम, परछाहीं या प्रतिबिम्बरूपी छाया, सूर्यादि का उष्णप्रकाशरूपी आतप, चन्द्रमणि आदि का शीतप्रकाशरूपी उद्योत ये भी पौद्गलिक पर्याय हैं ।।६७।।

कालो द्रव्येषु गतिं कलयति तनुते परापरत्वे च ।
वर्त्तयति परिणमयते क्षणिकास्तस्याणवोऽनन्ताः ।। ६८ ।।

काल वह है जो द्रव्यों में गति उत्पन्न करता है, ज्येष्ठत्व कनिष्ठत्वादि लाता है, जगत् को प्रवर्त्तित करता है, परिणाम कराता है। काल के अणु क्षणिक और अनन्त हैं ।।६८।।

तेषां क्रमजातानां क्षणदिनमासादयः समष्टिदृशा ।
एकप्रदेशवत्त्वात्कालस्य तु नास्तिकायत्वम् ।। ६९ ।।

ये कालपरमाणु क्रमश उत्पन्न होते हैं। उनकी समष्टि की दृष्टि से दिन मासादि होते हैं। एक ही प्रदेश काल का होता है। अतः वह अस्तिकाय नहीं है ।।६९।।

गुणपर्याययुतत्वाद् द्रव्यं जीवोऽप्यजीव एवापि ।
कालस्यातीतत्वप्रभृतिं निगदन्ति पर्यायम् ।। ७० ।।

गुणपर्याय होने से जीव तथा अजीव दोनों द्रव्य है। काल में भी अतीतत्व अनागतत्वादि गुणपर्याय बहुत से आचार्य मानते हैं ।।७०।।

चैतन्यानन्दाद्या रूपरसाद्या गुणास्तयोरगुणाः ।
द्रव्याश्रिताः क्रियाश्चेत्येते हि पृथङ् न गण्यन्ते ।। ७१ ।।

चैतन्य आनन्दादि जीव के गुण हैं रूपरसादि अजीव के गुण हैं। गुण स्वयं निर्गुण होते हैं द्रव्याश्रित होते हैं। वैसे ही क्रिया भी है। अतः इनकी पृथक् गणना तत्त्वों में नहीं की जाती ।।७१।।

इत्यजीवनिरूपणम् ।

योगस्तनुवचनमनःकर्मचयभवः प्रभाव आत्मनि यः ।
आस्रव एष शुभाशुभरूपः पुण्यस्य पापस्य ।। ७२ ।।

शरीर वाणी और मन से होने वाले कर्मों का जो प्रभाव आत्मा में होता है वही आस्रव है । पुण्य का शुभ आस्रव और पाप का अशुभ आस्रव परिणाम है ।।७२।।

भावास्रव एष स्यात्तेन च यः कर्मपुद्गलावेशः ।
द्रव्यास्रव एष भवेत्तत्सम्बन्धाद् भवे बन्धः ।। ८३ ।।

कर्मजन्य प्रभावात्मक आस्रव भावास्रव है । उस से धर्माधर्मरूपी द्रव्य तथा शरीरेन्द्रियादि पुद्गलों का जो आत्मा में प्रवेश है वह द्रव्यास्रव है । इन के सम्बन्ध से ही भवबन्धन होता है ।।७३।।

तैलविलेपसमानं भावास्रवमामनन्ति योगभवम् ।
तत्र च धूलीलेपसमानं द्रव्यास्रवं चापि ।। ७४ ।।

बदन पर तेल लगाने के बराबर भावास्रव है जो योगजन्य है । फिर धूल के उड़ने पर बदन में धूल आकर चिपक जाती है । वैसे ही भावास्रव होने पर शरीरादि पुद्गलों का आत्मा में सम्बन्ध होता है यही द्रव्यास्रव है ।।७४।।

कायादित्रयमिन्द्रियपञ्चकमेवं चतुःकषायमथ ।
अव्रतपञ्चकमेभ्यः सप्तदश त्वास्रवा मुख्याः ।। ७५ ।।

शरीर, वाणी, मन ये तीन; चक्षुरादि पांच इन्द्रिय; क्रोध, मन, माया, लोभ ये चार कषाय; हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह ये पांच इन सत्रह से होने वाले सत्रह आस्रव मुख्य हैं । वैसे तो क्रिया के मिथ्यात्वक्रिया, प्रयोगक्रिया आदि पचीस भेद बताये हैं तथापि सभी शरीर-वाणी-मनः-क्रिया में अन्तर्भूत हो जायेंगे ।।७५।।

संरम्भसमारम्भाऽऽरम्भाः कृतकारितानुमतभेदाः ।
स्युस्तीव्रमन्दविदिताऽविदितादिभिदाश्च नाना ते ।। ७६ ।।

संरम्भ (हिंसाद्यर्थं प्रयत्न), समारम्भ (हिंसाद्यर्थं सामग्री जुटाना), आरम्भ (हिंसादि करना), स्वयं कृत, पर से कारित, करने के निमित्त

अनुमोदित इत्यादि एवं कहीं तीव्रक्रिया तथा कहीं मन्दक्रिया, एवं कहीं जान कर, कहीं अनजान में, क्रियादि होते हैं; उससे होने वाले आस्रव भी भिन्न-भिन्न रूप के होते हैं ॥७६॥

अपि सांपरायिकेर्यापथयोर्हेतुः कषायसदसद्भचाम् ।
दर्शनशुद्धिविनयिताप्रभृतेश्चानेकधा बोध्याः ॥ ७७ ॥

और भी कषाय के होने पर सांपरायिक (संव्याप्त-गीली लकड़ी पर लगी धूल के समान) तथा कषाय के न रहने पर ईर्यापथ (सूखी लकड़ी पर लगी धूल के समान झड़ने वाला) आस्रव होता है। यह भी भेद है। पूर्वोक्त कषाय स्वतन्त्र आस्रव हेतु है और तत्पूर्वक कर्म सांपरायिक आस्रव हेतु भी है यह समझना चाहिये। इसी प्रकार दर्शनशुद्धि (वीतरागोक्त तत्त्वों पर निर्मल दृढ़ रुचि) मोक्षमार्गादि में बहुमानरूपी विनयिता, शीलव्रतानतिचार इत्यादि से भी आस्रव में भेद आता है। इन से तीर्थंकरत्वनाम कर्म बन्धन होता है। यह उत्तम है ॥७७॥

इत्यास्रवनिरूपणम् ।

आदत्ते सकषायो जीवोऽयं कर्मपुद्गलान् सोऽयम् ।
बन्धो ह्यनृतदृगविरतियोगकषायप्रमादेभ्यः ॥ ७८ ॥

सकषाय जीव कर्मपुद्गलों को जो ग्रहण करता है यही बन्ध है। मिथ्यादर्शन, अविरति, योग, कषाय और प्रसाद ये उसमें कारण हैं (मुख्य क्रोधादि कषाय है अतः 'सकषायः' ऐसा पृथक कहा), 'जीवो जीवस्य भक्षणम्' तब हिंसा क्यों पाप इत्यादि मिथ्यादर्शन है। आदतन दोषों को छोड़ने का प्रयत्न न करना अविरति है। कायिकादि पुण्य-पापप्रवृत्ति योग है। क्रोध लोभादि कषाय है। अध्यात्ममार्ग में लापरवाही प्रमाद है ॥७८॥

प्रकृतिस्थित्यनुभावास्तद्विधयः स्युः प्रदेश एवापि ।
कर्माकारपरिणताश्चतुर्विधाः पुद्गला बन्धे ॥ ७९ ॥

प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश ये पुद्गलों की विधि-विधा-प्रकार है। कर्माकार में परिणत पुद्गल बन्ध में इस रीति चार स्वरूप वाले होते हैं ॥७९॥

प्रकृतिर्ज्ञानं दर्शनमावृणुयाद् वेद्यमोहनीये च ।
आयुष्कनामगोत्राण्यप्यातनुतेऽन्तरायं च ॥ ८० ॥

इन में प्रकृति ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण करती है। वेदनीय मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र एवं अन्तराय प्रकट करती है। मति-श्रुतादि पांच ज्ञानों के आवरणोय कर्मपुद्गल पांच हैं। चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन आदि नौ दर्शनों के आवरणीय कर्मपुद्गल भी नौ हैं। सत् एवं असत् का वेदन अनुभव (करने वाले सतवेदनोयादि) दो वेदनीय कर्मपुद्गल हैं। दर्शन में मोहन करने वाला दर्शनमोहनीय है। ऐसे ही चरित्रमोहनीय कषाय-मोहनीयादि नानाविध मोहनीय कर्मपुद्गल है। नारक, तिर्यग्योनि, मानुष-योनि और देवयोनि ये चार आयुष्क कर्मपुद्गल हैं। गति, जाति, शरीर, अंगोपांगादि कराने वाले बयालीस नामकर्मपुद्गल हैं। उच्चता(प्रतिष्ठा) और नीचता प्राप्त कराने वाला गोत्रपुद्गलकर्म है। दानान्ताराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तिराय ये पांच अन्तरायकर्म-पुद्गल हैं ॥८०॥

उत्कृष्टाद्याः स्थितयः कर्मविपाकोऽनुभावसंज्ञः स्यात् ।
नानासम्बन्धास्तेऽनन्तानन्तप्रदेशत्वात् ॥ ८१ ॥

उत्कृष्ट स्थिति एवं जघन्य स्थिति नाना प्रकार है। कोटिसागरोपम द्वादशमुहूर्त्तप्रमाण इत्यादि रीति ज्ञानावरणादि की स्थिति है। सुख-दुःखादि नानाविधफलदानशक्ति इन कर्मपुद्गलों में है। यही अनुभाव है। विपाकरूप से परिणत होने वाला कर्मपुद्गल अनुभाव है ऐसा भी कहा जाता है। ये कर्मपुद्गल अनन्तानन्त प्रदेश वाले हैं। अत एव आत्मा के सर्व प्रदेश में भी इन का सम्बन्ध हो सकता है। किंचित्प्रदेश में भी। यथा पांव में दर्द है। हाथ में सुख है ॥८१॥

इति बन्धनिरूपणम्

आस्रवबन्धनिरोधः संवर उदितः स गुप्तिसमितिभ्याम् ।
व्रतधर्मानुप्रेक्षापरीषहैः स्यात् सचारित्रैः ॥ ८२ ॥

आस्रव तथा वन्ध का निरोध करने वाला संवर कहलाता है। वह गुप्ति, समिति व्रत, धर्म; अनुप्रेक्षा, परीषह और चरित्र से उत्पन्न होता है ॥८२॥

गुप्तिस्त्रिविधा त्रिविधं कायादिव्यापृतेर्विनिग्रहणम् ।
समितिः सति प्रवृत्तिर्गुप्तिस्तु निवृत्तिरसत इति ॥ ८३ ॥

कायिक वाचिक मानसिक व्यापारों में असदर्थ से निवृत्ति गुप्ति है। सदर्थ में प्रवृत्ति समिति है ॥८३॥

पञ्च समितयः प्रोक्ता ईर्या भाषा तथैषणा चैव ।
आदानविनिक्षेपणमुत्सर्गश्चेति पञ्चैते ॥ ८४ ॥

पांच समितियां हैं। ईर्या—चलना-फिरना सावधानो से। भाषा मुँह ढक कर बोलना आदि। एषणा—उत्तम जीवननिर्वाह की साधनान्वेषणा। आदाननिक्षेप—सम्यक् ईक्षित प्रमार्जित वस्तु को लेना-रखना। उत्सर्ग—जन्तुवर्जित प्रमार्जित स्थान में मल आदि का उत्सर्ग। ये वे पांच हैं ॥८४॥

हिंसाऽसत्यस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहणविरतिरणु च महत् ।
व्रतमण्वगारिणां स्यादनगाराणां महत् सुगमम् ॥ ८५ ॥

हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह इनसे उपरति (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) व्रत है। वह दो प्रकार है। अणुव्रत तथा महाव्रत। गृहस्थों के लिये अणुव्रत ही सुगम है। और गृहत्यागी श्रमणों के लिये महाव्रत भी सुगम है। परिच्छिन्न व्रत अणुव्रत है। देशकालादि से अपरिच्छिन्न व्रत महाव्रत है ॥८५॥

ईर्याद्यनुवीच्याद्यास्तत्स्थैर्यार्थं च पञ्च पञ्च मुहुः ।
भावयितव्या भावा अतिचारा वर्जनीयाश्च ॥ ८६ ॥

इन पांच व्रतों की स्थिरता के लिये ईर्यादि तथा अनुवीच्यादि पांच पांच की भावना करनी चाहिये। ईर्यासमिति आदि पूर्वोक्त पांच समितियों से अहिंसा की स्थिरता होगी। सत्य के लिये अनुवोचिभाषण, क्रोध, लोभ, भय और हास्य इनके चार प्रत्याख्यान भावयितव्य है। पांच-पांच की गिनती प्रदर्शनार्थ शास्त्रकारों ने किया है। और भी उसके तरीके संभव हैं। इसी प्रकार पांचों व्रतों के पांच-पांच अतिचार भी वर्जनोय कहा है। जैसे बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभारारोपण एवं अन्नपाननिरोध अहिंसातिचार हैं। मिथ्योपदेश, रहस्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और मन्त्रभेद सत्यातिचार इत्यादि ॥८६॥

मैत्रीप्रमोदकरुणामाध्यस्थ्यानि प्रधारणीयानि ।
सत्त्वगुणाधिकदुःखिष्वविनेयेषु क्रमाद्यत्नात् ॥ ८७ ॥

सत्त्व (प्राणिमात्र) के प्रति मैत्री, अधिक गुण वालों को देखकर प्रमोद दुःखियों के प्रति करुणा और जो सुधर ही नहीं सकते उनके प्रति उपेक्षा इन भावों का यत्न पूर्वक धारण भी व्रतों के साथ बताया गया हैं ॥८७॥

धर्माः क्षमा च मार्दवमार्जवमपि शौचमपि च सत्यं च ।
संयमतपसी त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि ॥ ८८ ॥

दस धर्म हैं। क्षमा, मृदुता, सरलता, शुचिता, सचाई, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता और ब्रह्मचर्य ॥८८॥

चिन्त्यमनित्यमशरणं संसृतिरेकत्वमशुचिरन्यत्वम् ।
आस्रवसंवरनिर्जरलोका अपि बोधिदौर्लभ्यम् ॥ ८९ ॥
धर्मस्वाख्याततत्वं द्वादशकमिदं भवेदनुप्रेक्ष्यम् ।
तेषामनुसन्धानं प्रोक्ता प्राज्ञैरनुप्रेक्षा ॥ ९० ॥

बारह अनुप्रेक्षायें हैं (१) अनित्यानुप्रेक्षा—संसारानित्यत्वचिन्तन (२) अशरणानुप्रेक्षा—धर्मभिन्न शरण नहीं एसा सोचना (३) संसारानुप्रेक्षा—जन्ममरणावर्त्तन ही संसार है समझना (४) एकत्वानुप्रेक्षा—आया अकेला जायेगा अकेला (५) अशुच्यनुप्रेक्षा—शरीरादि नित्य अशुचि है। (६) अन्यत्वानुप्रेक्षा—शरीरादिभिन्न आत्मा है (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जर—(दो व्याख्यात एक व्याख्यातव्य) (१०) लोकानुप्रेक्षा—संसारानैकान्तिकत्वचिन्तनं (११) बोधिदौर्लभ्यानुप्रेक्षा—सम्यग् दृष्टि ज्ञान चरित्र वाला दुर्लभ समझना (१२) धर्मस्वाख्याततत्वानुप्रेक्षा—धर्म बड़ा ही अच्छा बतलाया जो संसारपंकमग्नोद्धारक है समझना। अत्रेते च श्लोकाः—

एते द्वादश तेषां द्वादशधा प्रत्ययाद्यनुप्रेक्षा ।
धर्मादितरदनित्यं तस्मादितरस्तथाऽशरणम् ॥१॥
जीवनमपि मरणमपि च चक्रवदावर्त्तते स संसारः ।
कर्मफलानां भोगेष्वनितरसाहाय्यमेकत्वम् ॥२॥

अशुचि शरीरं तत्संबन्धि च ताभ्यां तथात्मनोऽन्यत्वम् ।
आस्रवसंवरनिर्जरलक्षणमुक्तं　यथास्थानम् ॥३॥
सम्यग्ज्ञानचरित्रकदौर्लभ्यं भवति बोधिदौर्लभ्यम् ।
धर्मोऽयं स्वाख्यातः सौभाग्यादित्यनुप्रेक्षा ॥४॥ ८९-९० ॥

योग्यं यन्मुक्तिपथाऽप्रच्यवने कर्मनाशने चापि ।
क्लेशानां परिषहणं निगदन्ति परीषहं तमिह ॥ ९१ ॥

मोक्षमार्ग से पतन न होने और कर्मनाशन करने में जो योग्य है ऐसा क्लेश सहन हो परीषह है ॥९१॥

क्षुत्तृष्णे शीतोष्णे दंशाद्या नग्नताऽरतिः स्त्री च ।
चर्याऽपि निषद्याऽपि च शय्याऽऽक्रोशो वधश्चापि ॥ ९२ ॥
अपि याचनाऽप्यलाभो रोगोऽपि मलं तथा तृणस्पर्शः ।
सत्कारः प्रज्ञा चाप्यज्ञानमदर्शनं चापि ॥ ९३ ॥
एतेषां सर्वेषां द्वाविंशतिधा भवन्ति सहनानि ।
द्वाविंशतिरत उक्ताः शास्त्रेषु परीषहास्ते च ॥ ९४ ॥

क्षुधा का सहन, प्यास का सहना, ठंढी का सहन, गरमी का सहन, मच्छर आदि का सहन, वस्त्राभाव का सहन, कामवेग का सहन, परिभ्रमण कष्ट सहन, तप के लिये ज्यादा बैठने के कष्ट का सहन, कठोर शय्यादि सहन, पराक्रोश सहन, परकृत ताडनादि सहन, याचना की ग्लानि का सहन, अलाभ सहन, रोग सहन, कुशकंटकादि स्पर्शसहन, शरीर मलिन्यादि का सहन, सत्करादि सहन (हर्षित न होना) प्रज्ञा सहन (गर्वित न होना) अज्ञान सहन और अदर्शन सहन, ये बाईस परीषह हैं ॥९२-९४॥

पञ्च च चारित्राणि प्रोचुः सामायिकं तु तत्राद्यम् ।
सा तु समत्वे वृत्तिश्छेदोपस्थाप्यमपरं स्यात् ॥ ९५ ॥
सर्वेषां दोषाणामाविष्करणं गुरौ तदेतत्तु ।
परिहारविशुद्धिः स्यादत्र तृतीयं तपःप्रभृति ॥ ९७ ॥

लोभान्यकषायाणामनुदयनं सूक्ष्मसंपरायः स्यात् ।
सर्वकषायनिरोधः पञ्चममुक्तं यथाख्यातम् ।। ९७ ।।

चारित्र पांच हैं। (१) सामायिक—समता में रहना। तदर्थं कुछ दिनों के लिये दीक्षादि ग्रहण करने वाला इत्वरिक है। संपूर्ण जीवन मुनिदीक्षा लेने वाला यावत्कथिक है। (२) छेदोयस्थाप्य—सभी छेद अर्थात् दोषों को गुरु के सामने उपस्थापित करना। या नियमों में छेद होने पर पुनर्नियम ग्रहण करना (३) परिहारविशुद्धि—विशिष्ट तप आदि से आत्म शुद्धि करना (४) सूक्ष्मसंपरायय—सूक्ष्म लोभ के सिवाय अन्य कषायों का न होना (५) किसी भी रूप से कोई भी कषाय न रहें तो वह यथाख्यात चरित्र है ।।९५-९७।।

इति संवरनिरूपणम्

स्यात्कर्मपुद्गलानां निर्जरणं निर्जरा क्वचिद्भोगात् ।
अविपाका सर्वेषां निर्जरणं सा भवेत्तपसा ।। ९८ ।।

कर्मपुद्गलों का टूटना निर्जरा हैं। भोग से कर्म समाप्त होते हैं। किन्तु नये कर्मपुद्गलों के जुड़ने में वह हेतु होगा। अविपाक समस्त कर्मपुद्गलों का निर्जरण तप से होता है ।।९८।।

अनशनमवमौदर्यं वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः ।
शय्यासनं विविक्तं कायक्लेशस्तपांसि बहिः ।। ९९ ।।

उपवास, अल्पभोजन, आवश्यकता अल्प करना, नीरसभोजन, एकान्त में रहना, कायक्लेशानुभव ऐसे बाह्य तप छः हैं ।।९९।।

प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्त्यं च साधुसेवादि ।
स्वाध्यायो व्युत्सर्गो ध्यानं चान्तस्तपांसि तु षट् ।। १०० ।।

(१) आलोचन, प्रतिक्रमणादि नौ प्रायश्चित्त (२) ज्ञान, दर्शन; चारित्र और उपचार के चार विनय; (३) आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी आदि दस-दस की दस सेवा; (४) वाचन प्रच्छन आदि पांच स्वाध्याय (५) अहंताममतात्यागरूपी व्युत्सर्ग; (६) आर्त्तध्यान रौद्रध्यान धर्मध्यान एवं शुक्लध्यानों में अन्तिम शुक्लध्यान ये छः आन्तर तप है ।।१००।।

तत्र पृथक्त्वैकत्ववितर्के ध्याने वदन्ति पूर्वविदाम् ।
सूक्ष्मक्रियाऽक्रिये ते केवलिनामेव जायेते ।। १०१ ।।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं। पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती और व्युपरतक्रियावृत्ति। इनमें प्रथम दो दस गुणस्थान तक के साधधों में और बाद के दो तदूर्ध्व गुणस्थान वालों में होते हैं। अर्थात् प्रथम साधारण द्वितीय कुछ असाधारण तृतीय चतुर्थ विशिष्ट है। दसवें गुणस्थान तक पहुँचे हुए के प्रथम दो हैं यह व्याख्या अनुपादेय है। क्यों कि प्रथम ध्यान सब करते हैं यह अनुभवसिद्ध है। नानापर्यायस्थूल चिन्तन में पर्याय विचार चलता है। अतः वह सविचार है। एकत्ववितर्क में पर्याय संचार न होने से वह निर्विचार है। तृतीय में शरीरादिक्रियामात्र सूक्ष्म रूप से रहती है। चतुर्थ में सर्वक्रियानिरोध होता है। वह तो अन्तिम गुणस्थान वालों को ही संभव है ॥१०१॥

बहुतरकर्मजरणतो निर्जरता भवति मोक्षबीजात्मा ।
मोक्षस्तु कृत्स्नकर्मक्षयतः स्याद्बन्धहेत्वसतः ।। १०२ ।।

निर्जर में सर्वकर्मक्षय नहीं होता है। हां, पतन हेतु सर्वकर्मनाश होता है। मोक्ष में तो सर्वकर्मनाश होता है। बन्ध हेतु कोई भी रहता नहीं ॥१०२॥

इति निर्जरानिरूपणम्

सति कर्मपुद्गलानां नाशे मोक्षः स च द्विधा भवति ।
जीवति भावाख्यः स्याद् द्रव्याख्यः कायपरिहाणे ।। १०३ ।।

कर्मपुद्गलनाश होने पर मोक्ष होता है। वह दो प्रकार का है। एक भावरूप है। दूसरा द्रव्यरूप है। जीवितावस्था में कर्मसंस्कार होने से भावरूप है। देहोत्तर वेगाख्य कर्मसंस्कार के भी न होने से द्रव्यात्मक है ॥१०३॥

घातीयानि ज्ञानस्यावरणीयं च दर्शनस्यापि ।
कर्माणि मोहनीयं तथान्तरायं च चत्वारि ।। १०४ ।।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ऐसे चार घातीय कर्म माने जाते हैं ॥१०४॥

घातीयानां नाशे सर्वज्ञत्वं च सर्वदर्शित्वम् ।
तस्मिन् सति भावाख्यो मोक्षोऽयं जीवतः प्रोक्तः ॥ १०५ ॥

घातीय कर्मों का नाश होने पर सर्वज्ञता तथा सर्वदर्शिता होती है। तब जीवितावस्था में ही मोक्ष हो जाता है ॥१०५॥

कर्माणि तथैवायुर्नाम च गोत्रं च वेदनीयं च ।
प्राहुरघातीयानि च तन्नाशे द्रव्यमोक्षः स्यात् ॥ १०६ ॥

आयु नाम, गोत्र, और वेदनीय ऐसे चार कर्म अघातीय हैं। उनका भी नाश होने पर द्रव्यमोक्ष होता है। सर्वकर्मनाश होने पर ही मोक्ष होता है इस मत में पहले कहा गया कर्म संस्कार समझना चाहिये। अन्यथा जीवित मुक्ति का उपपादन नहीं हो पायेगा ॥१०६॥

मुक्ते तु ससिद्धत्वं क्षायिकसम्यक्त्वदर्शनज्ञानम् ।
नौदयिक औपशमिको भावः क्षायोपशमिकश्च ॥ १०७ ॥

जीवत्वास्तित्वादि तु मुक्तावपि पारिणामिकं भवति ।
किं तु न भव्यत्वं तत् क्षायिकवीर्यादिकं चैव ॥ १०८ ॥

मुक्त पुरुष में क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान तथा क्षायिक दर्शन एवं साथ में सिद्धत्व रहते हैं। औदयिक, औपशमिक या क्षायोपशमिक कोई भाव उस समय नहीं रहता। हाँ, पारिणामिक जीवत्व अस्तित्वादि उस समय रहेंगे। फिर भी पारिणामिक भव्यत्व उस समय नहीं रहता, ना ही क्षायिक वीर्य, क्षायिक चरित्र एवं क्षायिक सुखादि ही ॥१०७-१०८॥

प्रस्तरसंसिततुम्बी बन्धनभेदे सरस्तलादूर्ध्वम् ।
गच्छति यथा स्वभावाज्जीवोऽपि तथा भवाम्भोधेः ॥ १०९ ॥

पत्थर से बँधी हुई तुंबी बन्धन कटने पर सरोवर के नीचे तल से स्वभावतः जैसे ऊपर उठती है वैसे जीव भी बन्धन के कटने पर स्वभावतः ऊर्ध्वगामी होता है ॥१०९॥

सोऽयमलोकाकाशं धर्माधर्मादिरहितमापद्य ।
नोर्ध्वं प्रवर्त्तते वा न च पुनरावर्त्तते भुवि वा ॥ ११० ॥

वह जीव धर्माधर्मादिरहित अलोकाकाश पहुँचने पर फिर न ऊपर जाता है और न नीचे पृथिवी में पुनरावृत्त होता है ॥११०॥

तत्र च सिद्धशिलायां दुःखलवाऽस्पर्शपरमसिद्धायाम् ।
दीव्यत्यनन्तकालं मुक्तः सर्वात्मना जीवः ॥ १११ ॥

अलोकाकाश में दुःख लेशमात्र भी न होने से सिद्धरूप सिद्धशिला में सर्वात्मना मुक्त जीव अनन्त काल तक शोभायमान होता है ॥१११॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता ।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥
आर्हतसिद्धान्तं ये संक्षेपेणानुबोद्धुमिच्छन्ति ।
तेषामुपकृतिहेतुः कृतिरियमस्त्वर्हतां प्रीत्यै ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे जैनदर्शनं द्वितीयम्

बौद्धसामान्यदर्शनम्

अथ दुःखपङ्कमग्नं वीक्ष्य जगद्यः कृपापराधीनः ।
असदेव सददिशत्तं मायादेवीसुतं वन्दे ॥ १ ॥

अब हम बौद्ध दर्शन प्रस्तुत करते हैं। जगत् को दुःखपङ्कनिमग्न देखकर कृपापरवश हो जिन्होंने असत् को ही सत् (वास्तविकतत्त्व) बताया, मायादेवी के पुत्र उन बुद्ध भगवान की मैं बन्दना करता हूँ। [दीपकलिकासंतति के समान विज्ञानदीपसन्तति ही जीवन है। वही जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त अनुवर्त्तमान है। जब तक वह है तब तक दुःखसंवेदना अनिवार्य है। उस सन्तति का बुझना निर्वाण है। वह असद्रूप है। किन्तु है वही परम सत्य। इस रहस्य को बुद्ध ने बताया ॥ १ ॥

रोगं तस्य निदानं हरणं तद्गामिनीं चिकित्सां च ।
प्रतिबुध्यन्तं बुद्धं वन्दे देवं महाभिषजम् ॥ २ ॥

बुद्धदेव महाभिषक (महावैद्य) हैं। क्यों कि वे रोग उसका निदान उसका हरण (निरोध) तथा रोगहरणोन्मुखी चिकित्सा इन चारों को जानते हैं। ऐसे भगवान् बुद्ध की हम वन्दना करते हैं ॥ २ ॥

दुःखं दुःखसमुदयस्तस्य निरोधोऽस्य गामिनी प्रतिपत् ।
बुद्धोदितानि जगदुश्चत्वार्येवार्यसत्यानि ॥ ३ ॥

रोगादि चार कौन कौन ? संसारदुःख, संसारदुःखकारण, दुःखनिरोध तथा दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्-विद्या ये बुद्ध के द्वारा कथित चार आर्य सत्य बताये गये हैं ॥ ३ ॥

प्रतिकूलवेदनीयं सत्यं दुःखं विवेकिभिः प्रमितम् ।
मायामोहाल्लोकैरप्रमितं सत्यरूपेण ॥ ४ ॥

दुःख वही है जो प्रतिकूलवेदनीय है। विवेकियों ने उसे सत्यतया समझा। साधारण लोग यद्यपि दुःखानुभवकाल में उसे सत्य समझते हैं,

किंतु माया-मोह में पड़कर जगत् को सुखरूप ही समझ लेते हैं। फलतः सत्यरूप से (नित्य दुःख रूप से) उन्होंने दुःख नहीं जाना ॥ ४ ॥

जन्मजरामरणाद्यं शोकः परिवेदनाप्युपायासः ।
अपि दौर्मनस्यमप्रियसंयोगोऽथ प्रियवियोगः ॥ ५ ॥
किं बहुना जगदखिलं पञ्चस्कन्धात्मकं हि दुःखमिदम् ।
तच्चाक्षिपात्रकल्पो विद्वानेवाभिजानाति ॥ ६ ॥

[१] जन्म दुःख है। वृद्धता दुःख है। मरण दुःख है। भयादि दुःख है। शोक दुःख है। रोना-पीटना दुःख है। परेशानियां दुःख हैं। दौर्मनस्य (मन मलिन होना) दुःख है। अप्रियसंयोग तथा प्रियवियोग दुःख है। अधिक क्या, पञ्च स्कन्धात्मक समस्त जगत ही दुःख है। परंतु पामर उसे नहीं समझ पाते। विद्वान ही समझते हैं। जैसे रेशमी का धागा हाथ-पांव पर पड़े तो कुछ नहीं मालूम पड़ता आंख में पड़े तो दुःख रूप होता है। विद्वान् अक्षिपात्रोपम है ॥ ५-६ ॥

यदविद्या संस्कारो विज्ञानं नाम रूपमायतनम् ।
स्पर्शश्च वेदनापि च तृष्णोपादानमथ च भवः ॥ ७ ॥
एतद्दशकं केचित्त्विहजन्मीयं परे द्वयमिहाद्यम् ।
प्राग्जन्मीयं शेषं जगदुरिहत्यं निदानमिति ॥ ८ ॥
एतत्कृतजातिजरामरणानि निदानमन्यजन्मीयम् ।
विजिहासितस्य सकलप्रतिकूलभवस्य दुःखस्य ॥ ९ ॥

[२] दुःख निदान क्या है ? अविद्या, संस्कार, निज्ञान, नाम, रूप, आयतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव ये दस वर्त्तमान जन्मीय ही दुःखनिदान है, ऐसा कुछ विद्वान मानते हैं। इन (दस) में प्रथम दो (अविद्या और संस्कार) पूर्वजन्मीय ही दुःखनिदान हैं, शेष आठ इहजन्मीय दुःखनिदान है ऐसा अन्य विद्वान मानते हैं। इन दस से होने वाले जन्म-जरा-मरण उत्तरजन्मीय रूप में दुःखनिदान हैं। जिहासित (जिसे सब त्यागना चाहते हैं उस) दुःख के ये बारह निदान हुए (जरा-मरण को एक मान कर बारह हैं। अन्यथा तेरह हो जाते हैं) ॥ ७-९ ॥

अत्र जरामरणभवं दुःखं सर्वस्य भवति लोकस्य ।
तत्र नु जातिर्हेतुर्जातिर्जन्मेति शास्त्रविदः ॥ १० ॥

इस संसार में जरा-मरण, जन्म, पूर्वोक्त शोक, परिवेदना आदि दुःख सब के अनुभव में आते हैं। उस में मूलकारण जाति है। जाति जन्म को कहते हैं। जन्म हुआ है तो कोई न कोई दुःख भी होना निश्चित है। जरा-मरण तो असंदिग्ध ही है ॥ १० ॥

जन्मनि हेतुस्तु भवो भवफलबीजं भवन् भवः प्रोक्तः ।
कर्मैव त्रिविधं तत् कुशलमकुशलं च मिश्रं च ॥ ११ ॥

जन्म में कारण भव है। भवरूपी फल का बीज होने से भव कहा। अर्थात् कर्म ही भव है। वह कुशल, अकुशल और मिश्र इस प्रकार त्रिविध है ॥ ११ ॥

तत्र च हिंसा स्तैन्यमगम्यागमनं च कायिकं प्रायः ।
अनृतं पिशुनं परुषं वाचिकमिह संप्रलापश्च ॥ १२ ॥
दुरभिध्या व्यापादो मिथ्यादृष्टिश्च मानसं कथितम् ।
अकुशलमेतत् सकलं कुशलमितो यत्तु विपरीतम् ॥ १३ ॥

उन में हिंसा, चोरी, अगम्यागमन आदि कायिक अकुशल कर्म हैं। वैसे तो मानसिक हिंसा आदि भी हिंसा है। तथापि प्रायः इनकी गिनती कायिक में है। झूठ, चुगली, कठोर वचन और बकवास, वाचिक अकुशल कर्म हैं। दुरभिसन्धि (दुराशय) व्यापाद (द्वेष या मानस हिंसा) तथा मिथ्यादृष्टि ये मानस अकुशल कर्म है। इन से विपरीत कुशल कर्म है। दोनों का मिश्रण होने पर मिश्र कर्म होता है ॥ १२-१३ ॥

तद्धेतुरुपादानं वस्तूपादानहेतुरासक्तिः ।
कामस्य च शीलस्याप्यात्मन एवाप्युपादानम् ॥ १४ ॥

कर्म में कारण उपादान है अर्थात् आसक्ति। उपादीयतेऽनेन। जिससे वस्तुग्रहण हो। वह तीन है। कामासक्ति, शीलासक्ति और आत्मासक्ति ॥१४॥

स्त्रीपुंसयोगलिप्सा कामोपादानमुच्यते विबुधैः ।
परलोकार्थंव्रतमिह शीलमुपादानमेतस्य ॥ १५ ॥
आत्मानन्त्यवशेनानन्तसुखं मे भवत्वितोप्सातः ।
आत्मनि नित्यत्वाग्रहमात्मोपादानमित्याहुः ॥ १६ ॥

उपादान तीन हैं। स्त्रीपुरुषसंयोग की इच्छा कामोपादान (कामासक्ति) है। शील का स्वर्गादिलोकार्थं व्रत यहां अर्थ है। उसका उपादान शीलोपादान शीलासक्ति है। आत्मा अन्तरहित है, उसका सुख भी अनन्त है, वह अनन्त सुख मुझे प्राप्त हो इस इच्छा से आत्मनित्यता का आग्रह तथा उसकी आसक्ति आत्मोपादन-आत्मासक्ति है ॥ १५-१६ ॥

क्षणिकं त्विहलोकसुखं परलोकसुखं
तु भवति कल्पान्तम् ।
आत्मसुखमनन्तमिति त्रितयं मूढा उपाददते ॥ १७ ॥

इस का स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि स्त्रोपुरुषसंयोगसुख क्षणिक है (धन-दार-शब्द-स्पर्शादि सभी सुख यहां ग्राह्य है। अतः इह लोक सुखं ऐसा शब्दप्रयोग किया। इसीकी इच्छा को पुत्रैषणा कहते हैं) परलोकार्थं व्रत यज्ञादि से स्वर्गादि सुख प्राप्त होगा वह कल्पपर्यन्त रहेगा। (इसकी इच्छा को लोकैषणा कहते हैं) आत्मा आविनाशी होने से आत्मसुख अनन्त है (इसकी इच्छा को आत्मकाम, आत्मलोकेच्छा अदि कहते हैं) इस प्रकार मूढ़ तीन का उपादान करते हैं ॥ १७ ॥

आरक्तहृदयतायामासक्तिरितीर्यते ह्युपादानम् ।
तद्धेतुस्तृष्णा स्याद् भोगोद्भूता पुनर्वाञ्छा ॥ १८ ॥

आसक्ति का अर्थ है आ समन्तात् सक्ति। अच्छो तरह चिपक जाना। रँग जाना। जैसे दार-सुतादि के रङ्ग से लोग रँग जाते हैं यह आसक्ति है। यही उपादान है। उसके प्रति हेतु तृष्णा हैं। तृष्णा का अर्थं है विषयभोगोत्तर पुनः विषयभोगेच्छा। उसके अभ्यास से (बार-बार होने से) आसक्ति पैदा होती है ॥१८॥

तृष्णाजननी तु भवेदैन्द्रियकसुखानुभूतिरुद्भूता ।
सा वेदनेति विदिता लोकजिदाकूतसितचित्तैः ॥ १९ ॥

तृष्णा का कारण वेदना है। इन्द्रियजनित सुख का प्रकट अनुभव ही वेदना है ऐसा बुद्धमतबद्धचित्त विद्वान् मानते हैं ॥१९॥

तत्कारणं तु बुद्धैरिन्द्रियसंयोग ईरितो विषयैः ।
विषयेन्द्रियसंयोगः स्पर्शः परिभाषितः शास्त्रे ॥ २० ॥

ऐन्द्रियक सुख का कारण विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग है। उसी विषयेन्द्रियसंयोग के लिए पारिभाषिक शब्द स्पर्श है ॥२०॥

श्रोत्रं त्वगपि च चक्षू रसनं घ्राणं च पञ्च खानि स्युः ।
स्पर्शनिदानं तानि ह्यन्तश्च मनः षडायतनम् ॥ २१ ॥

स्पर्श का अर्थात् विषयसंयोग का कारण षडायतन है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण ये बाह्य पांच और एक आन्तर मन ऐसे छः आयतन हैं ॥२१॥

तदधिष्ठानं तावद् रूपं भूतोद्भवत्वतो देहम् ।
नाम मनश्च तदीयं संस्थानं नामरूपाख्यम् ॥ २२ ॥

षडायतन का निदान और अधिष्ठान नाम-रूप है। भूतों से उत्पन्न होने से यह शरीर ही प्रकृत में रूप है। तथा मन और उसका संस्थान (वृत्तिविशेष) नाम है ॥२२॥

चैतन्ये सति तदिदं संस्थानतया स्थितं भवेद्देहम् ।
नो चेद् भवेद्विशीर्णं विज्ञानं तद्धि चैतन्यम् ॥ २३ ॥

शरीरादि में चैतन्य हो तो ही अवयवसंयोगविशिष्टरूप से यह शरीर-स्थित हो सकता है। अन्यथा यह शरीर विर्शीर्ण होगा। मरणोत्तर यह प्रत्यक्ष ही है। यही विज्ञान है। वही चैतन्य है ॥३२॥

आलयविज्ञानं तत् समपरिणामं भवेत्सुषुप्त्यादौ ।
विषमं च जाग्रदादौ प्रवृत्तिविज्ञानमित्युक्तम् ॥ २४ ॥

विज्ञान दो प्रकार का है। एक आलयविज्ञान है। दूसरा प्रवृत्तिविज्ञान है। आलयविज्ञान सुषुप्ति एवं मूर्च्छा आदि में रहता है। एकाकारेण समरूप से परिणत होता रहता है। प्रवृत्तिविज्ञान जाग्रत और स्वप्न में रहता है। वह भिन्न-भिन्न आकार में होने से विषयरूप होता है ॥२४॥

संस्कारेण विशिष्टाद् विज्ञानं पूर्वपूर्वविज्ञानात् ।
विज्ञानहेतुरेष च संस्कारस्तेन संसिद्धः ॥ २५ ॥

संस्कारविशिष्ट पूर्व-पूर्व विज्ञान से उत्तरोत्तर विज्ञान की उत्पत्ति होती है। आलय विज्ञानों में संस्कार अतिसूक्ष्मरूप से स्थित है। प्रवृत्तिविज्ञान में स्पष्टतया रहता है। इस लिए विज्ञान का निदान संस्कार है ॥२५॥

स्थूलशरीरविमोकेऽप्येष मनसि नामनि स्थितो भवति ।
तेन भवान्तरगामी भवति हि विज्ञानसन्तानः ॥ २६ ॥

स्थूल शरीर से अर्थात् रूप से नाम अर्थात् मन पृथक होने पर भी यह संस्कार उस नाम में रहता है। अत एव जन्मान्तर भी होता है और उस जन्मान्तर में यही विज्ञानसंन्तान अनुवर्त्तित भी रहता है ॥२६॥

संस्कारोऽविद्याया मिथ्याबुद्ध्यात्मनो भवेदेषः ।
सत्यविदो नैव यतो रागो वा वासना वापि ॥ २७ ॥

यह संकार मिथ्याबुद्धिरूपी अविद्या से उत्पन्न होता है। क्योंकि सत्यबुद्धि होने पर राग या वासना देखने में नहीं आते ॥२७॥

नित्यमनित्येऽधर्मं धर्मे दुःखं सुखे तथाऽसत्ये ।
सत्यात्मानं द्रष्टुः सर्वनिदानं तदज्ञानम् ॥ २८ ॥

समस्त संसार का मूल निदान यही अविद्या रूपी अज्ञान है। जो अनित्य में नित्य (नित्यत्व) दर्शन करता है, अधर्म में धर्म (धर्मत्व) दर्शन करता है दुःख में सुखदर्शन करता है और असत् में सद्रूपतया आत्मा का दर्शन करता है। उसी की अविद्या होती है। अर्थात् ये ही अविद्या है ॥२८॥

अत्र च मुख्यमविद्यातृष्णासंस्कारकर्मनिकुरम्बम् ।
विज्ञानसन्ततिरतः प्रवर्त्ततेऽनन्तचक्रविधा ॥ २९ ॥

इनमें मुख्य तो अविद्या, तृष्णा, संस्कार एवं कर्म हैं। इन्हीं से विज्ञान-सन्तति का चक्र चलता है ॥२९॥

भोगे च जीवनेऽपि च तृष्णैषानन्तकालभवने च ।
कामे भवे च विभवे मुख्ये शेषान्यतन्त्रकृता ॥ ३० ॥

तृष्णा भी मुख्यतया काम, भव एवं विभव में होती है। काम अर्थात् भोग। भोग सब चाहते हैं। भव माने जीवन्। सभी लम्बा जीना चाहते हैं। विभव माने विशेष भवन। मरणोत्तर भी मैं अनन्त काल रहूँ यही विभवेच्छा है। स्वर्गसुखेच्छा और आत्मसुखेच्छा जो पहले बतायी गयी थी वह आस्तिकदर्शनादि वालों की बनायी हुई कृत्रिम इच्छा है। आत्मसुखात्मक मोक्ष तो सर्वथा अन्यदर्शनकारों की कल्पना है ॥३०॥

परमं मूलमविद्या दुःखनिरोधो भवेन्निरोधेऽस्याः ।
निर्वाणमिति तदुदितं तदार्यसत्यं तृतीयमिह ॥ ३१ ॥

[३] आदि मूल तो अविद्या ही है। उस अविद्या का निरोध होने पर दुःख का भी निरोध होता है। इसी दुःखनिरोध को निर्वाण कहते हैं। यही तृतीय आर्यसत्य है ॥३१॥

उक्ताविद्याप्रभवाद् भवसचिवात् कामभोगसंस्कारात् ।
विज्ञानसन्ततिः सा प्रवर्त्तते देहपातेऽपि ॥ ३२ ॥
नष्टाविद्यस्य यतेः संस्कारहतेरनास्रवस्य परम् ।
विज्ञानदीपसन्ततिनिर्वाणं तद्धि निर्वाणम् ॥ ३३ ॥

अविद्या से भव अर्थात् कर्म होता है। उस कर्म से सहकृत उसी अविद्या से उत्पन्न काम तथा भोग के संस्कार से ही शरीरपातोत्तर भी विज्ञान-संतति चलती है। अविद्या नष्ट हो जाती है तो संस्कारादि नष्ट होते हैं तो

आस्रव (आगे व्याख्या आयेगी) समाप्त हो जाता है। तब अनादि काल से प्रवृत्त यह विज्ञानधारारूपी दीपक बुझ जाता है, यही निर्वाण, है यही दुःख निरोध भी है ॥३२-३३॥

दुःखनिरोधनगामिन्युक्ता प्रतिपत्तु मध्यमा बुद्धैः ।
क्लेशमयं नैव तपो नापि च विषयैकलोलत्वम् ॥ ३४ ॥

[४] पूर्वोक्त दुःखनिरोध की ओर ले जाने वाला साधन मध्यमा प्रतिपत् है। यही चतुर्थ आर्यसत्य है। अतिक्लेशदायी तप भी साधन नहीं, अति बाह्य भावरूपी विषय लोलुपता भी साधन नहीं। यह मध्यम मार्ग है अतः मध्यमा प्रतिपत् हैं ॥३४॥

शाश्वतवादोऽपथ्योऽपथ्यश्चोच्छेदवाद एवापि ।
किन्तु तयोर्मध्यभवो मध्यमभावोऽभ्युपेयगुणः ॥ ३५ ॥

इस प्रतिपत् रूपी चिकित्सा में शाश्वतवाद भी पथ्य नहीं, उच्छेदवाद भी पथ्य नहीं। किन्तु दोनों के मध्य में स्थित मध्यमभाव ही स्वीकरणीय गुण से पूर्ण है (असत् शाश्वत सद्रूप पदार्थ नहीं। और वह उच्छेदात्मक भी नहीं है। यह आगे स्पष्ट होगा) ॥३५॥

नैव सती नाप्यसती तदुभयमध्ये तु मध्यमा प्रतिपत् ।
तस्याः पुनरङ्गानि प्राहुरिहाष्टौ स्वकार्यकृतौ ॥ ३६ ॥

यह प्रतिपत् सती अर्थात् सद्विषयक नहीं। असती अर्थात् असद्विषयक भी नहीं। किन्तु दोनों के मध्य में स्थित है। अतः मध्यमा है। वह अपना कार्य दुःखनिरोध करने के लिए आठ अङ्गों की अपेक्षा रखती है ॥३६॥

तानि हि सम्यग् ज्ञानं सङ्कल्पं वचनमपि च कर्मान्तम् ।
आजीवं व्यायामं स्मृतिमपि च समाधिमप्याहुः ॥ ३७ ॥

वे आठ अङ्ग हैं—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक् समाधि ॥३७॥

प्रज्ञाद्वितयमिहाद्यं शीलचतुष्कं ततः परं भवति ।
ससमाधिद्वितयमिति प्रज्ञा शीलं समाधिरिमे ॥ ३८ ॥

जो आठ बताये इनमें प्रथम दो प्रज्ञा हैं। बाद में चार शील हैं। अन्तिम दो समाधि हैं। इस प्रकार कई विद्वान इन आठ अङ्गों को प्रज्ञा, शील और समाधि ऐसे तीन भोगों में बांटते हैं ॥३८॥

कुशलाकुशलविवेकः सम्यग्दृष्टिर्भवेदकामत्वे ।
अद्रोहोऽहिंसायां दाढर्यं सम्यक् च सङ्कल्पः ॥ ३९ ॥

पूर्व व्याख्यात कुशल और अकुशल कर्म का विवेकदर्शन सम्यक्दृष्टि है। अकामता, अद्रोह और अहिंसा में दृढनिश्चय सम्यक् संकल्प है ॥३९॥

सम्यग्ववचनं विबुधैरनृतादिचतुष्टयोज्झितं गदितम् ।
सम्यक्कर्मान्तं स्याद् दशशीलं पञ्चशीलं वा ॥ ४० ॥

पूर्वोक्त अनृत, पिशुन, षरुष तथा संप्रलाप इन चारों से रहित वचन सम्यक् वचन है। आगे बताये जाने वाले पंचशील या दशशील सम्यक् कर्मान्त है ॥४०॥

हिंसादिदोषशून्या वृत्तिर्न्याय्या हि सम्यगाजीवः ।
शस्त्रं सत्त्वं मांसं मद्यं विषमप्यविक्रेयम् ॥ ४१ ॥

सम्यक् आजीव का अर्थ है हिंसा आदि दोषों से रहित जीवन वृत्ति। शस्त्र, सत्त्व (प्राणी), मांस, मद्य, विष ये जीविकार्थ भी विक्रेय नहीं हैं (बेचना नहीं चाहिए) ॥४१॥

सम्यग् व्यायामोऽसौ सत्कर्मार्थं भवेत् प्रयत्नो यः ।
इन्द्रियसंयमनार्थं दुर्भावनिरोधनार्थं च ॥ ४२ ॥

सम्यक् व्यायाम का अर्थ है—सत्कर्मार्थ, इन्द्रियसंयमनार्थ और दुर्भावनानिवृत्त्यर्थ प्रयत्न करना ॥ ४२ ॥

सम्यक् स्मृतिरभिवीक्षितमनुसन्दधतोऽनुपश्यना या सा ।
कायस्य वेदनायाश्चित्तस्य तथैव धर्मस्य ॥ ४३ ॥

कायोऽशुचिः सुखादिभिरनियमिता वेदना चलं चित्तम् ।
आर्यचतुःसत्यादिर्धर्मः श्रेयानितीदृक् सा ।। ४४ ।।

सम्यक् स्मृति का मतलब है—पूर्णरूपेण प्रथम देखकर फिर अनुसन्धान करते समय जो अनुदर्शन अंदर होता है। शरीर, वेदना, चित्त एवं धर्म इन चार का अनुदर्शन होता है। मलमूत्रादि से भरा यह काय नित्य अशुचि है यह कायानुपश्यना है। कभी सुख, कभी दुःख इस प्रकार अनियमितता देखना वेदनानुपश्यना है। चित्त में कभी कभी कामभाव, कभी द्रोहभाव, कभी औद्धत्य इस प्रकार देखना चित्तानुपश्यना है। आर्यसत्यचतुष्टय एवं अहिंसादि श्रेयस्कर है ऐसा समझना धर्मानुपश्यना है ।। ४३-४४ ।।

द्वन्द्वविजयतश्चित्तस्थैर्यं स्वाभाविकं भवेद्यत्सः ।
रागादिदोषविगमादविचलसुभगः समाधिः स्यात् ।। ४५ ।।

यहाँ तक के अभ्यास से द्वन्द्वों पर विजय होने पर स्वाभाविक चित्तस्थैर्य होता है। रागादि दोषों के होने से स्थैर्य से विचलित होने की संभावना नहीं रहती। अतएव यह अत्यन्त सुभग अवस्था है। यही समाधि है ।।४५।।

ह्लादमयः शान्तिमयः साम्यैकरसोऽथ पूर्णशान्तरसः ।
इति च चतुर्विध उदितः समाधिरेष क्रमादुदितः ।। ४६ ।।

प्रथम समधि में महान् आह्लाद होता है। वह ह्लादमय है। किन्तु आह्लाद में भी राग होने पर कुछ खलबली रहती है। वह राग समाप्त होता है तो शान्तिमय होगा। फिर धीरे-धीरे समता और एकरसता आने लगती है तो वह साम्यैकरस माना जाता है। अन्त में पूर्ण शान्तता होती है तो वह पूर्णशान्तरस होता है। इस क्रम से उद्भूतसमाधि के चार प्रकार बताये गये हैं ।। ४६ ।।

एतैरङ्गैः सहिता विद्या प्रतिपद्धि मध्यमा योक्ता ।
उन्मूलयति किलैषा मूलमविद्यामलं सद्यः ।। ४७ ।।

इन आठ अंगों के साथ मध्यमा प्रतिपत् रूपी विद्या, जो पहले बतायी गयी थी वह संसार निदान अविद्यारूपी मल को तुरत ही उन्मूल कर देती है ।। ४७ ।।

कामास्रवं भवास्रवमेवमविद्यास्रवं च विद्यैषा ।
कुर्वाणाऽनवशेषं गमयति निर्वाणपदमेव ।। ४८ ।।

कामास्रव, भवास्रव तथा अविद्यास्रव ऐसे तीन आस्रव हैं। इन तीनों को यह विद्या निरवशेष कर परमपद निर्वाण को प्राप्त कराती है ।।४८।।

प्रज्ञाशीलादीनामास्रवणादास्रवो मलं भवति ।
त्रीण्युक्तानि परैरपि यदविद्याकामकर्माणि ।। ४९ ।।

प्रज्ञा, शील आदि को बहा देने वाले होने के कारण मल को ही आस्रव कहते हैं। भव का कर्म अर्थ पहले बता चुके हैं। तब कामरूपी आस्रव, कर्मरूपी आस्रव और अविद्यारूपी अत्स्रव ये तीन हुए। इन्हीं तीन को वेदान्त में अविद्या, काम, कर्म बताया ।।४९।।

तस्या दुःखनिरोधनगामिन्या हेतुरपि च विद्यायाः ।
शीलं समाधिरपि च प्रज्ञा चेति त्रिरत्नं स्यात् ।। ५० ।।

दुःखनिरोधगामिनी उस विद्या के सहकारी के रूप में प्रज्ञा, शील और समाधि बतायी। थोड़ा फरक करके वे ही तीन शील, समाधि तथा प्रज्ञा विद्या के हेतु भी हैं। इन्हीं को बौद्धशास्त्रों में त्रिरत्न भी कहा गया है ।।५०।।

तत्राहिंसाऽस्तेयं सत्यवचो ब्रह्मचर्यगुप्तिश्च ।
मद्यादिविहानमपि च सर्वेषां पञ्च शीलानि ।। ५१ ।।

त्रिरत्न में अहिंसा, अस्तेय, सत्य ब्रह्मचर्यरक्षा तथा मद्यादिपरित्याग ये पांच शील सामान्यतया सब के लिये (गृहस्थ विरक्त सबके लिये) हैं ।।५१।।

सायंभोजनहानं स्रगादिहानं च गीतहानं च ।
हेमादिविहानमपि च महार्हशय्याप्रहाणं च ।। ५२ ।।

भिक्षूणां वैशेष्यात् परिगणितान्यत्र पञ्च शीलानि ।
सेवाशुश्रूषादिकमभिहितमखिलं गृहस्थानाम् ।। ५३ ।।

भिक्षुओं के लिये विशेष रूप से अतिरिक्त पांच शील बुद्ध ने बताये हैं। वे हैं—सायंकालभोजनत्याग, माला आदि धारणत्याग, गीतवाद्यत्याग, सुवर्णादि त्याग तथा महामूल्य शय्या त्याग। गृहस्थों के लिये माता-पिता,

भिक्षु आदि की सेवा-शुश्रूषा आदि भी विशेष शील अभीष्ट हैं ।।५२-५३।।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाः स्युर्वृत्तयस्तु संपाद्याः ।
सुखिषु च दुःखिषु च जनेष्वपि पुण्येष्वप्यपुण्येषु ।। ५४ ।।

सुखियों के प्रति मैत्री वृत्ति, दुःखियों के प्रति करुणा वृत्ति, पुण्यात्माओं के प्रति मुदितावृत्ति और पापात्माओं के प्रति उपेक्षा वृत्ति भी संपादनीय हैं ।।५४।। शील ।।

नानायानगतीनां दशभूमिसमाहितः समाधिः स्यात् ।
अध्यवसायः प्रथमा भूमिरिह यमादिसंयुक्ता ।। ५५ ।।

श्रावकयानादि (श्लो० ८३) नाना यानों से चलने वाले साधकों को दस भूमियों में संपादनीय समाधि होती है। यमनियमादि सहित अध्यवसाय (समाधि पर्यन्त पहुँचना ही है ऐसा दृढ़निश्चय) प्रथम अध्यवसायभूमि है।

बुद्धादिमूर्त्तिचिन्ता परिकर्माख्यानभूर्द्वितीया स्यात् ।
चिन्त्ये प्रतिबिम्बितवद् भाति तृतीयोदयनिमित्तम् ।। ५६ ।।

अध्यवसाय के बाद ध्यान चिन्तन द्वितीय भूमि है। किसी भी इष्ट-स्वरूप जैसे बुद्ध मूर्त्ति आदि का चिन्तन द्वितीय भूमि है। जिस को परिकर्म कहते हैं। वही चिन्त्य विषय हृदय में प्रतिबिम्ब के समान स्पष्ट भासित होने लगता है तो तृतीया भूमि है जिसको उदयनिमित्त कहते हैं। (चिन्त्ये ध्येये वस्तुनि प्रतिबिम्बवद् भाति सति। सतिसप्तमी।) ।।५६।।

उपचारस्तु चतुर्थी स्मृतिशुद्धावर्थमात्रनिर्भासम् ।
प्रतिभागनिमित्तं स्यात् पञ्चम्यन्तःस्फुटाध्यक्षा ।। ५७ ।।

स्मृति परिशुद्धि के होने पर ध्यान में शब्दादि से अननुविद्ध अर्थमात्र-निर्भास होने लगता है। यह चतुर्थी उपचार नाम वाली भूमि है। पञ्चमी भूमि में प्रतिबिम्ब समान नहीं, बल्कि अंदर स्पष्ट अर्थसाक्षात्कार होता है। इसका नाम प्रतिभागनिमित्त है ।।५७।।

उत्तिष्ठत्पतदर्भकसाम्यमिहाथार्पणा तु युवसाम्ये ।
षष्ठी सा स्यात्तस्याः पञ्च विभागा वितर्काद्याः ।। ५८ ।।

पूर्वोक्त पंचमी भूमि शिशु सदृश है। बच्चा उठता है फिर गिरता है फिर उठता है। वैसे समाधि होती है। पर, स्थिर नहीं। उतराव चढ़ाव

होता रहता है। इसके बाद की भूमिका अर्पणा है। उसमें पतन नहीं होता। युवा के समान दृढ़ता होती है। यह छठी है। उसके पांच विभाग वितर्क-विचारादि हैं ॥५८॥

तत्र वितर्कः स्थूलाभोगे सूक्ष्मे पुनर्विचाराख्यः।
उभयी च चूर्णपिण्डवदाह्लादपयःपरिव्याप्ता ॥ ५९ ॥

इन में प्रथम वितर्कसमाधि है, जिसमें स्थूल वस्तु आलम्बन होती है। सूक्ष्म वस्तु आलम्बन होने पर विचारसमाधि है। दोनों ही में आह्लाद उसी प्रकार व्याप्त रहेगा जैसे गूँदे हुए आटे के पिण्ड में पानी ॥५९॥

प्रीतिर्भवेत्तृतीया स्रोतःप्रभवाद्रिसानुसङ्काशा।
आह्लादितान्तरङ्गोऽप्यल्पबहिःस्पन्दितानन्दः ॥ ६० ॥

षष्ठ भूमि अर्पणा में तृतीय (मूलतः अष्टम) भूमि प्रीति है। जैसे एक जलस्रोतवाला पहाड़ है, उसके अंदर जल भरा है, बाहर प्रायः सूखा है, फिर भी स्रोत के निकलने के कारण शोत है; वैसे प्रीतिसमाधि में अंदर आनंदसरोवर है, बाहर थोड़ा थोड़ा आनन्द स्पष्ट होता है ॥६०॥

सुखभूमिरम्बुजसमा नवमी ह्लादाम्बुनिर्वृतशरीरा।
उभयोर्भूम्योर्नार्थो विषयः स्थूलोऽपि सूक्ष्मोऽपि ॥ ६१ ॥

अर्पणा की चतुर्थी, (मूलतः नवमी) सुख भूमि है। जैसे सरोवर में कमल है वैसे आनन्दसरोवर प्रकट है, उसमें कमल के समान योगी का शरीर निरन्तर आप्यायित रहता है। (पहाड़ में बाहर से शुष्कता हो सकती है, किन्तु यहाँ नहीं) प्रीति और सुख इन दोनों भूमियों में स्थूल अर्थ या सूक्ष्म अर्थ विषयरूपेण नहीं होता। आनन्द ही विषय रहता है ॥६१॥

अर्थस्याह्लादस्य च हानादेकाग्रता भवेद् भूमिः।
श्वेताम्बरपरिवीतः श्वेतमय इवैकरसतेह ॥ ६२ ॥

अर्पणा की पंचमी, (मूलतः दशमो) भूमि एकाग्रता है। इसमें स्थूल-सूक्ष्म अर्थ भी नहीं, अल्प या पूर्ण आह्लाद भी नहीं। श्वेत वस्त्र से पूरा शरीर ढका जाय तो जैसे पुरुष श्वेतमय हो जाता है वैसे योगी में एकरसता आती है ॥६२॥

ज्ञानं पूर्वभवस्य च जीवस्योत्पत्तिनाशयोरपि च ।
चित्तप्रबन्धहेतोर्विषयस्य तथा समाधिवशात् ।। ६३ ।।

समाधि से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। वर्त्तमान में जीव की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान होता है। और चित्तसन्तति के बाधरूपी निर्वाण के हेतुभूत विषय का ज्ञान भी होता है ॥६३॥ समाधि ॥

प्रज्ञा त्रिविधा प्रोक्ता श्रुतमय्याद्याऽऽप्तवचनसंभूता ।
चिन्तनमयी द्वितीया युक्त्यनुसंधानसंजाता ।। ६४ ।।
श्रुतचिन्तायुक्तस्य ध्यानवशाद् या समुद्भवेत् प्रज्ञा ।
सा भावनामयी स्यादेतेभ्यो मध्यमा प्रतिपत् ।। ६५ ।।

प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है। श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी। आप्त वचन से उत्पन्न प्रज्ञा श्रुतमयी है। युक्तियों के द्वारा अनुसन्धान करने पर उत्पन्न प्रज्ञा चिन्तामयी है। ध्यान से उत्पन्न प्रज्ञा भावनामयी है। (इन्हीं को वेदान्त में श्रवण मनन निदध्यासन शब्द से कहा गया है) पूर्वोक्त तीन—शील, समाधि और प्रज्ञा से मध्यमा प्रतिपत् होती है ॥६४-६५॥ प्रज्ञा ॥

इत्यार्यसत्यचतुष्टयनिरूपणम्

निरवयवो नैवात्मा नित्यो मोक्षान्वयी परैरुक्तः ।
पञ्चस्कन्धसमुदयः सोऽयं सर्वं जगदपीदम् ।। ६६ ।।

पूर्वोक्त प्रज्ञा का विषय जो नित्य आत्मा आदि मानते हैं सो अयुक्त है। क्योंकि निरवयव, नित्य एवं मोक्षफलसम्बन्धाश्रय कोई आत्मा नाम की वस्तु नहीं है। पांच स्कन्धों के संयोग से उद्भूत विशिष्ट चैतन्य ही आत्मा है। यह जगत भी पंचस्कन्धसंयोगजन्य है। विज्ञानसन्तति आत्मा है वह भी स्कन्धात्मक ही है ॥६६॥

नित्यो न कश्चिदीशः कालादिर्वा यतो जगज्जन्म ।
सापेक्षसत्प्रतीत्यसमुत्पादः सर्वलोकोऽयम् ।। ६७ ।।

नित्य कोई ईश्वर या काल आदि नहीं है जिससे जगत का जन्म हो। यह समस्त जगत सापेक्ष सत्तावाला है। प्रतीत्यसमुत्पादरूप है। (पांच स्कन्ध परस्पर सापेक्ष होकर जब मिलते हैं तो उससे जगत् एवं जीवात्मा

होता है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद है) ॥६७॥

जातिस्त्वपोहरूपा विच्छिन्नत्वादतत्कवस्तुभ्यः ।
इतरव्यावृत्तित्वादितरैर्विच्छेद उपपन्नः ॥

गोत्व-पृथिवीत्व आदि जाति भी कोई नित्य भाव पदार्थ नहीं है जिससे सजातीयोत्पत्ति मानी जा सके। क्योंकि अश्वादि अतत्क = गोत्वादिजातिरहित वस्तु से वह विच्छिन्न है। अतः व्यापक नहीं हो सकती। तब गोत्वादि प्रतिव्यक्ति नाना और आश्रय के नाश से नाशवान् मानना होगा। तब जिस प्रयोजन के लिये उसे माना वही सिद्ध नहीं हुआ तो उसे मानना व्यर्थ ही हुआ। वस्तुतः जाति इतरव्यावृत्तिमात्र है। गो से इतर जो भी हो उसकी व्यावृत्ति गोत्व है। इतर में इतरव्यावृत्ति न होने से उस से विच्छिन्न होना स्वाभाविक है॥

संक्षेपात् स्कन्धद्वयमिति कथितं रूपनामभेदेन ।
मूर्त्तं द्रव्यं रूपं संज्ञादिचतुष्टयं नाम ॥ ६८ ॥

संक्षेपतः दो स्कन्ध हैं। एक रूपस्कन्ध है। दूसरा नामस्कन्ध है। मूर्त्त सभी द्रव्य रूपस्कन्ध हैं। संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान ये चार नामस्कन्ध हैं॥६८॥

परमाणूनां परिणतिशीलानां पुञ्जकल्पमखिलमिदम् ।
स्थूलं किल प्रतीत्यसमुत्पादं कार्यंभूम्यादि ॥ ६९ ॥

रूपस्कन्ध की व्याख्या परमाणु से शुरू होती है। परमाणु नित्य नहीं, किंतु प्रतिक्षण परिणामी हैं। स्थूल कार्यात्मक पृथिवी आदि उनके पुंज सदृश हैं। केवल पुंज ही नहीं, विशेषता है—प्रतीत्यसमुत्पाद। परस्पर सापेक्षता से जो रूपविशेषादि होते हैं यही प्रतीत्यसमुत्पाद है। अतएव निरपेक्ष परमाणु पुंज को ही कार्य द्रव्य मान कर नैयायिकों ने (न्यायमुक्तावली आदि द्रष्टव्य) जो दोष दिया है वह सिद्धान्तानभिज्ञतामात्र है। परस्पर सापेक्ष होने पर चार आदमी में शिबिका (पालकी) उठाने की शक्ति आती है। क्या वहाँ नैयायिकादि चार आदमियों का एक नया अवयवी मानेंगे ?, जैसे चार आदमियों से शक्तिविशेष हुई वैसे परस्परसापेक्षता के कारण परमाणु पुंजों में रूपरसादि प्रगट होते हैं। धान्यपुंजादि में भी किंचित्प्रतीत्यसमुत्पाद है ही। अतएव उस पर भारी पत्थर रखे तो उसको

वह थाम लेता है। अत एव अवयवी नाम की अत्यन्त पृथक् कोई वस्तु नहीं है ॥६९॥

रूप्यन्तेऽस्मिन्नेभिरिमे वा कायेन्द्रियार्थरूपास्ते ।
रूपस्कन्धः सोऽयं भूतान्यपि भौतिकान्यपि च ॥ ७० ॥

रूप्यन्ते निरूप्यन्तेऽत्र शरीरे। जिस में वस्तुओं का निरूपण-ज्ञान हो वह शरीर एक रूप है। रूप्यन्ते ज्ञायन्ते एभिः। जिन से वस्तु निरूपण हो वे इन्द्रियां दूसरा रूप हैं। रूप्यन्ते ज्ञायन्ते इमे घटादयः। जो निरूपित होते हैं वे घटादि विषय तीसरा रूप हैं। फलतः शरीर-इन्द्रिय-विषयात्मक समस्त भूत भौतिक जगत् रूपस्कन्ध हैं ॥७०॥

पृथिवी सलिलं तेजो वायू रूपाणि तदणवश्चैव ।
तज्जन्यानि शरीरप्रभृतीन्यपि रूपरूपाणि ॥ ७१ ॥

पृथिवी जल तेज और वायु तथा इनके परमाणु ये सब भूत हैं। रूप स्कन्धात्मक हैं। इनसे उत्पन्न शरीरादि भौतिक हैं। ये भी रूपस्कन्धात्मक हैं ॥७१॥ रूपस्कन्ध ॥

यत्तु मनो यश्चास्य च परिणामो वृत्तिलक्षणो भवति ।
नामेति तदिदमुदितं तत्संज्ञावेनादि भवेत् ॥ ७२ ॥

यह जो मन और उसके वृत्तिरूप परिणाम है इसी को नामस्कन्ध कहते हैं। ये संज्ञा-वेदना आदि चार हैं ॥७२॥

यत्स्वीयवासनातो हेयाऽऽदेयाद्यमित्रमित्रविधम् ।
नानासंज्ञाकलितं ज्ञानं संज्ञाभिधः स्कन्धः ॥ ७३ ॥

अपनी वासना के अनुरूप यह हेय है, यह उपादेय है, यह शत्रु है यह मित्र है इत्यादि नाना संज्ञाओं (नामों) से युक्त जीवसृष्टिरूप ज्ञान संज्ञा-स्कन्ध है ॥७३॥

सुखदुःखमनुभयात्मकमपि यद्यद्वेदनोयमन्तः सः ।
मानसवृत्तिविशेषो व्याख्यातो वेदनास्कन्धः ॥ ७४ ॥

सुख, दुःख तथा दोनों से भिन्न भी जो भी मानसवृत्ति हो वे सब वेदना-स्कन्ध में आते हैं ॥७४॥

रागो द्वेषः श्रद्धाऽश्रद्धा मदमानभोतिधृत्यादिः ।
धर्माधर्मादिरपि च संस्कारस्कन्ध इत्युक्तः ॥ ७५ ॥

राग, द्वेष, श्रद्धा, अश्रद्धा, मद, मान, भय, धैर्य इत्यादि धर्म, अधर्म इत्यादि ये सब संस्कारस्कन्धरूप हैं ॥७५॥

रूपादिज्ञानतया प्रवहन्ती चिद्बहिस्तथैवान्तः ।
अहमर्थज्ञानतया विज्ञानस्कन्ध इत्युक्ता ॥ ७६ ॥

बाहर रूपादिज्ञान के रूप में और अन्दर अहमर्थज्ञान के रूप में प्रवाहित होने वाली अनुगत चित् विज्ञानस्कन्ध कहलाती है ॥७६॥

पञ्चानां स्कन्धानां समुदायात्मा त्वयं भवेदात्मा ।
संयोगवियोगाभ्यां रूपस्यात्मोद्भवविनाशौ ॥ ७७ ॥

पांच स्कन्धों का प्रतीत्यसमुत्पादरूपी समुदाय ही यह आत्मा है। विज्ञानसंतति पूर्वजन्म तथा परजन्म में प्रवाहरूप से चलती रहती है। परन्तु उतना ही आत्मशब्दार्थ नहीं है। किन्तु पंचस्कन्धसमुदयात्मक है। अत एव रूपस्कन्ध के नाश से या वियोग से आत्मा का नाश (मरण) और रूपस्कन्धान्तर की उत्पत्ति से या संयोग से आत्मा का जन्म माना जाता है ॥७७॥

यत्तु सवृत्ति मनः स्यात् संततिरूपं भवान्तरं तेन ।
निर्वाति सार्यसत्यप्रबोधतस्तद्धि निर्वाणम् ॥ ७८ ॥

जो संस्काररूप वृत्ति से सहित मन है उससे चैतन्यसंतति निरन्तर चलती रहती है उसी से जन्मान्तर होता है। अर्थात् वही पूर्वशरीरत्याग एवं शरीरान्तरसंयोग से जन्ममरणवाली है। चार आर्यसत्यों का बोध होने पर वह विज्ञानसन्तति बुझ जाती है तो शरीर का ग्रहण तथा त्याग करने वाला नहीं रहा तो जन्ममरण भी नहीं होते। यही निर्वाण है ॥७८॥

नो चक्रं नैवाक्षो नेषादण्डो न रश्मयो नाश्वाः ।
तत्समुदायस्तु रथो नार्थान्तरमेवमात्मापि ॥ ७९ ॥

केवल चक्र रथ नहीं, केवल उसकी नाभि, ईषादण्ड, लगाम या घोड़े भी रथ नहीं। रथ तो इन सबका समुदाय है। इसी प्रकार आत्मा केवल शरीरादि नहीं। किन्तु इनका समुदाय ही है। जैसे अतिरिक्त रथ नहीं है वैसे अतिरिक्त आत्मा भी नहीं है ॥७९॥

दीपशिखोपममखिलं क्षणिकं विश्वं जलप्रवाहसमम् ।
अर्थक्रियासमर्थं स्थायित्वं नैव कस्यापि ॥ ८० ॥

दीपशिखा के समान तथा नदी के जलप्रवाह के समान विश्व क्षणिक है। फिर भी अर्थक्रियासमर्थ है। क्षणिक प्रकाश से वस्तु का प्रकाश नहीं हो सकता, भिन्नक्षणीय प्रकाशों का समुदाय नहीं बनता। फिर भी दीपक से वस्तुप्रकाशनरूपी अर्थक्रिया अवश्य स्वीकार्य है। वैसे आत्मा से भी वस्तु प्रकाशन हो सकता है। अर्थक्रिया भी हो सकती है जैसे नदीप्रवाह से। अत एव वस्तुओं का स्थायित्व मानने का कोई उपयोग नहीं है ॥८०॥

परिणमते चित्तमिदं समसंस्कारादिचित्तरूपेण ।
परिणम्य कमलषण्डं किमु कौटजवासनां लभते ॥ ८१ ॥

चित्तपरिणाम हुआ तो समानसंस्कारचैतन्यादियुक्त चित्तान्तर के रूप में ही। क्या कमलवन परिणत हो गया तो कुटजपुष्प की सुगन्धि उसमें आ जायेगी ? ॥८१॥

एतेन स्मरणमपि व्याख्यातं भवति सदृशसंस्कारात् ।
सादृश्यमपि न नित्यं ह्यर्थविशेषे गतार्थत्वात् ॥ ८२ ॥

उक्त विवेचना से, जो यह दोष नित्यत्ववादी देते हैं कि आत्मा परिणामी होगा तो पूर्वानुभूत का स्मरण नहीं होगा इत्यादि, वह निरस्त हो जाता है। क्यों कि संस्कारवासनादिसहित चित्त का सदृशपरिणाम होता है। अत एव उसी सदृशोत्पन्न संस्कार से स्मरण हो सकता है। प्रत्यभिज्ञा भी उसी सदृश संस्कार और सदृशवस्तु से 'सेयं दीपज्वाला' के समान सुगम है। प्रतिक्षणपरिणामी होने पर भी लाल वस्त्र दूसरे क्षण पीला नहीं होता नैयायिकादियों का यह कहना कि पिता का संस्कारसंक्रमण पुत्र में होने लगेगा, सरासर गलत है। फूल सफेद हैं तो फल भी सफेद होना चाहिए ऐसा नियम नहीं है। फिर विज्ञानसंतति जन्मान्तरादि में भी अनुवर्त्तमान प्रत्येक जीवात्मा की अलग है। पिता की विज्ञानसंतति से पुत्र की विज्ञान-संतति उत्पन्न नहीं होती। यह कहें कि सादृश्य कार्य और कारण दोनों में रहने वाला एक स्थिर पदार्थ सिद्ध हो ही जायेगा तो इस का उत्तर है कि सादृश्य हमारे समझने की चीज है। परिणामरूप द्वितीय वस्तु से वह अभिन्न है, अर्थान्तर नहीं है ॥८२॥ इति प्रमेयपदार्थनिरूपणम।

इति प्रमेयपदार्थनिरूपणम्

यानत्रितयं श्रावकयानं प्रत्येकबुद्धयानं च ।
अपि बोधिसत्त्वयानं हीनमहद्वज्रसंज्ञं वा ॥ ८३ ॥

नानायानगतीनां (श्लो० ५५) पूर्व बताया था। वे तीन यान प्रसिद्ध हैं। श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान। दूसरे ढंग से भी कहते हैं—हीनयान, महायान और व्रजयान एसे तीन यान हैं। (प्रकारान्तर से भी कहते हैं—जैसे समययान, विपरसनायान इत्यादि) ॥८३॥

सत्कायदृष्टिरहितोऽविचिकित्सो दुर्व्रताऽपरामर्शः।
बुद्धे धर्मे सङ्घेऽनुस्मृतिमांश्चारुशीलश्च ॥ ८४ ॥
स गुरुः श्रावकबोधिर्लभतेऽवस्थाः क्रमाच्चतस्रस्तु।
स्रोतापन्नः सकृदागामि अनागामि अर्हंश्च ॥ ८५ ॥

इनमें श्रावकबोधि (श्रावकयानी) कौन? जिसमें कायसत्त्व या आत्मनित्यत्व की दृष्टि न हो, जो मार्गसंशय से रहित हो, स्वर्गादि कामना से नाना व्रतादि में न लगा हो, बुद्ध-धर्म-संघ इन तीन में अनुस्मृति (श्रद्धा) वाला हो और कमनीय शील (समाधिगामी अखण्ड आनन्दित शील) से युक्त हो; फिर गुरु की शरण लेकर धर्मादि श्रवणतत्पर हो गया हो वही श्रावक बोधि है। वह क्रमेण चार अवस्थाओं को प्राप्त करता है। स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हंत ये चार अवस्थायें हैं। (स्रोतस, स्रोत ये दोनों शब्द हैं। प्रथम में स्रोत आपन्न ऐसा शब्द होगा। 'सकृदागमि' इत्यादि में "इकोऽसवर्णे" सूत्र से ह्रस्व एवं असन्धि है) ॥८४-८५॥

पापे कल्याणे वोभयतोवाहिन्युदेरि चित्तनदी।
पुण्यस्रोतापन्नः संयोजनहानतः सोऽयम् ॥ ८६ ॥

पाप तथा पुण्य दोनों ओर यह चित्तनदी बहती है। उनमें स्रोतापन्न श्रावक पुण्यस्रोत में आ गया है। क्यों कि उसने संयोजनों को छोड़ दिया है जो पापस्रोत है। [सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा और शीलादिपरामर्श इन पूर्वोक्त तीन को ही बन्धन एवं संयोजन कहते हैं] ॥८६॥

मार्गावस्थः संयोजनहानाद् गोत्रभूर्नवीनजनेः।
स फलावस्थोऽकामोऽर्हत्त्वमियात्सप्तजन्मान्तः ॥ ८७ ॥

स्रोतावस्थापन्न आदि की मार्गावस्था तथा फलावस्था ऐसी दो-दो अवस्थायें होती हैं। स्रोतापन्न जब मार्गावस्थ होता है तब उसे गोत्रभू कहते हैं। क्यों कि उस के उक्त तीन संयोजनों को छोड़ कर पुण्यस्रोत में आने से मानो नवीन जन्म को वह प्राप्त हो गया है। कामनाश ही उस की

फलावस्था है। फिर उसकी अर्हत्व प्राप्त होने में सात से अधिक जन्म नहीं लेने पड़ते ॥८७॥

प्रायो भवास्रवहतौ सकृदागामी भवेत्सकृज्जन्मा ।
योऽनागम्यर्हन् सोऽविद्यास्रवनाशतोऽजन्मा ॥ ८८ ॥

कामास्रव नाश से स्रोतापन्न होता है। प्रायः भवास्रव (कर्मफल) समाप्त होने पर सकृदागामी होता है। उस का फिर एक ही जन्म होगा। कामास्रव एवं भवास्रव के साथ अविद्यास्रव का भी नाश हो जाय तो वह 'अर्हन्' होता है। उसका आगे जन्म नहीं होता ॥८८॥

यस्त्वार्याष्टाङ्गिकयुक् स्वयमेव निरस्तसकलकलुषगणः ।
प्रत्येकबुद्ध इति स प्रातिभबोधादिमानुदितः ॥ ८९ ॥

द्वितीय प्रत्येकबुद्धयान है जो आर्य-अष्टाङ्गिक से युक्त है। स्वयमेव अर्थात् गुरु का अवलम्बन किये बिना ही अपने प्रयास से समस्त कलुषों को जो दूर कर पुण्यजनित प्रातिभज्ञान से सम्पन्न होता है वह प्रत्येकबुद्ध कहलाता है ॥८९॥

अयमपि च हीनयानः स्वीयाशक्तेः परोद्धृतावपटुः ।
पूर्वस्त्वेकान्तरतिः परोद्धृतावप्रवृत्तोऽसौ ॥ ९० ॥

प्रत्येक बुद्ध भी हीनयानी ही है। यह परोद्धार करने में असमर्थ होता है। क्यों कि सर्वसाधारण कामादिके जय के साधन को उसने गुरुओं से या शास्त्रों से जाना नहीं है। केवल प्रातिभबोध से वह सिद्ध बना है। जैसें सेठ का लड़का स्वयं सेठ बनता है। किन्तु गरीब को सेठ बनने के क्रमिक व्यापारादि का प्रकार वह न जानता और न किसी को बता सकता ही है। प्रथमोक्त श्रावकबोधि 'एकान्त में तप' करने में ही जुटा रहता है। अतः वह भी परोपकार नहीं कर सकता ॥९०॥

अपरस्तु बोधिसत्त्वस्त्रिकायदशभूमिधर्मसमताभिः ।
बोधौ सत्त्वं यस्य हि स परमकरुणो महायानः ॥ ९१ ॥

तृतीय बोधिसत्त्वयान है। वह त्रिकाय, दशभूमि एवं धर्मसमता से बोधिता प्राप्त करता है। परमकरुणायुक्त होता है। यही महायानी भी कहलाता है ॥९१॥

निर्माणकाय एको जगदुपकृतये निजेच्छयोपगतः ।
तेजोमयो द्वितीयः सूक्ष्मः संभोगकायश्च ॥ ९२ ॥
व्यापकमेकं परमं सूक्ष्मं वाचामगोचरं रूपम् ।
स्याद्धर्मकाय एते जगदुद्धृतयेऽभिलषितास्तैः ॥ ९३ ॥

महायानी सिद्ध जगदुद्धारार्थ तीन प्रकार के शरीर प्राप्त करते या करना चाहते हैं। स्वेच्छागृहीत नानाशरीर निर्माणकाय है। जैसे बुद्ध ने पशु-पक्षी आदि का भी शरीर उपदेशार्थ ग्रहण किया। रोम-रोम से तेज जिससे निःसृत हो वह तेजोमय संभोगकाय है। उससे उपदेशादि सद्यः असर कारी होता है। वाचामगोचर परमसूक्ष्म धर्मकाय है, जिससे प्राणियों के हृदय में प्रवेश कर महायानी उन्हें सन्मार्गगामी बनाता है ॥९२-९३॥

दानं शीलं धैर्यं वीर्यं ध्यानं च पूर्णसद्रूपम् ।
प्रज्ञापि च पारमितास्ताभिः षड्भूमयो युक्ताः ॥ ९४ ॥

मुख्य छः पारमितायें हैं। पारं पूर्णमिताः पारमिताः। सर्वस्वदानतत्परता दानपारमिता है। पूर्वोक्त शीलतत्परता शीलपारमिता है। तज्जन्य परिपूर्ण धैर्य साहस धैर्यपारमिता है। तदुत्पन्न अपार वीरता-शक्ति वीर्यपारमिता है। फलतः यथेष्ट पूर्ण समाधि तत्त्व ध्यानपारमिता है। अन्तिम पूर्णज्ञानरूप प्रज्ञापारमिता है। इनसे युक्त छः भूमियाँ होती हैं ॥९४॥

ताः पुनरुदिताः कविभिर्मुदिता विमला प्रभाकरी चैव ।
अर्चिष्मती च भूम्यः सुदुर्जया चाभिमुक्तिश्च ॥ ९५ ॥

वे छः भूमियाँ हैं मुदिता आदि हैं। स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखसनन्तं विदधति के अनुसार परमदान से मुदिता भूमि होती है। शील से जीवननैर्मल्यरूपी विमला भूमि; धैर्य से ओजस्विता रूपी प्रभाकरी भूमि; वीर्य से जनहृदयप्रकाशकारी अर्चिष्मती भूमि; ध्यान से अपराभाव्यता गुण आने से सुदुर्जय भूमि एवं प्रज्ञापारमिता से अभिमुक्ति भूमि होती है ॥९५॥

दूरङ्गमाऽचलापि च साधमती चात्र धर्ममेघा च ।
सर्वज्ञाऽस्वाभाव्यदृगखिलसमुद्धर्तृबुद्धानाम् ॥ ९६ ॥

प्रज्ञापारमितारूपी अभिमुक्ति भूमि में चार भूमि हैं। दूर तक प्रज्ञा के जाने से दूरङ्गमा जिसमें सर्वज्ञता होती हैं। अचलत्व भूमि में प्रज्ञाचाञ्चल्य नहीं होता, उसमें जगत में निःस्वाभाव्यता का दर्शन होता है। साधमती में

स्वसत्तामात्र से सिद्ध सकलोद्धार करने लगता है। धर्ममेघा में बुद्धता होती है ॥९६॥

तथतैव धर्मसमता विनिगदिता धर्मशून्यतापीयम् ।
कायादिभिस्त्रिभिर्यो युक्तोऽसौ बोधिसत्त्वः स्यात् ॥ ९७ ॥

तीसरी धर्मसमता है। उसी को तथता भी कहते हैं तथा धर्मशून्यता भी कहते हैं। त्रिकाय, दशभूमि (पूर्वोक्त छः और चार मिलाकर) और धर्मसमता इन तीन से जो युक्त है उसी को बोधिसत्त्व भी कहीं कहीं बताया है ॥९७॥

अत्र निवृत्त्यैकरता अर्हत्त्वपरास्तपस्विनः श्रमणाः ।
हीनं त्यक्तं सर्वं जगदिति ते हीनयानाः स्युः ॥ ९८ ॥

हीनयान और महायान ऐसे जो दो बताये उनकी व्याख्या इस प्रकार है। हीन का निकृष्ट अर्थ नहीं किन्तु त्यक्त अर्थ है। "ओहाक् त्यागे"। त्यक्त किया जगत् को जिन्होंने वे हीन हैं। जो निवृत्तिपरायण हैं, अर्हत्व प्राप्त करने के लिये तप करते हैं, भिक्षु बन गये हैं, जगत् के सुख-दुःख से जिनका कोई मतलब नहीं वे हीनयानी हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष विरक्त ॥९८॥

यत्तु महद् दीर्घं स्यादशेषजनदुःखसंजिघांसूनाम् ।
यानं प्रवृत्तिगानां तेन च ते स्युर्महायानाः ॥ ९९ ॥

परमकरुणा से समस्तलोकदुःखनिवारण की इच्छा से निरन्तर प्रवृत्ति-मार्गपरायणों का मार्ग महत् अर्थात् दीर्घ होता है। सद्योमुक्ति नहीं होती। अत एव वे महायानी कहलाते हैं ॥९९॥

मन्त्रैस्तन्त्रैरपि ये त्विहपरसिद्धिं तु लब्धुमिच्छन्ति ।
ते मन्त्रयानसञ्ज्ञास्ते प्रोक्ता वज्रयानाश्च ॥ १०० ॥

मन्त्र-तन्त्रों से जो इहलोक-परलोकसिद्धि या स्वार्थ-परार्थसिद्धि चाहते हैं वे मन्त्रयानी कहलाते हैं। इन्हीं को वज्रयानी भी कहते हैं ॥१००॥

यानत्रयेऽन्यतमतः सम्यक् सम्बोधितां व्रजन्मनुजः ।
निर्वाणं सकलजगन्निर्वाणमुपैति दुःखान्तम् ॥ १०१ ॥

तीनों यानों (मार्गों) में किसी भी मार्ग से चल कर सम्यक् संबोधिता प्राप्त की जा सकती है। उस से सर्वनिर्वाणरूपी दुःखान्त निर्वाण प्राप्त होता है ॥१०१॥ इति यानत्रयनिरूपणम् ।

नो दुःखं नैव सुखं नापीच्छा क्वापि नैव च द्वेषः ।
कस्मादात्मास्तित्वं निर्वाणे हन्त वाञ्छन्तु ॥ १०२ ॥

निर्वाण में दुःख, सुख, किसी विषय की इच्छा या द्वेष कुछ भी नहीं रहता तो आत्मास्तित्व की इच्छा क्यों होंने लगी ? मुक्त पुरुष में यदि इच्छा है तो मुक्त ही कैसा ? ॥१०२॥

मुक्ते यदि भवतीच्छा स्याद्द्वैतं स्यादनित्ययोगोऽपि ।
अथ चेन्न काचनेच्छा स्वात्मास्तु न वास्तु किं तेन ॥ १०३ ॥

मुक्त पुरुष में यदि इच्छा है तो द्वैतप्रसक्ति और अनित्यसंयोग की प्राप्ति होगी। क्योंकि इच्छा ही अनित्य है उसी को लेकर द्वैत होगा। यदि मानते हैं कि मुक्त में कोई इच्छा नहीं रहती है तो आत्मा हो या न हो क्या उससे लेना-देना ? ॥१०३॥

संसारविषयजातं शब्दस्पर्शादि मेऽस्त्वयं कामः ।
नित्यास्तित्वं च भवो भूयासं मा न भूयासम् ॥ १०४ ॥
स्याद्राज्यं साम्राज्यं स्वाराज्यमिति क्रमोर्ध्वगो विभवः ।
एतत्त्रयार्थतृष्णा हेतुः सकलस्य दुःखस्य ॥ १०५ ॥

काम, भव एवं विभव इन तीन की विवेचना पहले ही आ चुकी है। प्रकारान्तर से उनकी व्याख्या है। कामतृष्णा का अर्थ है—शब्द स्पर्शादि सांसारिक विषयों की 'ये मुझे प्राप्त हो' ऐसी इच्छा। भवतृष्णा का अर्थ है—भव माने नित्य अस्तित्व उसकी इच्छा मैं बना रहूँ; मेरा कभी अभाव न हो। विभवतृष्णा का अर्थ है—विभव माने राज्य; साम्राज्य, स्वाराज्यादि उत्तरोत्तर उत्कृष्ट विषय, ये सब हो ऐसी इच्छा। ये तीन तृष्णायें ही समस्त दुःखों का जड़मूल है ॥१०४-१०५॥

बोधे तृष्णाविगमे पर्वतवदकम्प्यधीरधौरेयः ।
अत्रैव सकलदुःखं विजहन्निर्वाणमाप्नोति ॥ १०६ ॥

परमार्थ बोध से तृष्णा का नाश होगा। तब पर्वत के समान स्थिर अकम्पनीय धीराग्रणी जीवित अवस्था में ही सकल दुःख को समाप्त करेगा और अन्त में निर्वाण को प्राप्त होगा ॥१०६॥

सर्वं क्षणिकं क्षणिकं दुःखं दुःखं स्वलक्षणं सकलम् ।
सर्वं शून्यं शून्यमितीदं तृष्णान्तकृन्मननम् ॥ १०७ ॥

तृष्णा का नाश करने के लिये ये चार भावनायें करना आवश्यक है। (१) सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्। यह सारा जगत् क्षणिक है क्षणविनाशी है। (२) सर्वं दुःखं दुःखं, समस्त जगत् दुःखरूप ही है। अक्षिपात्रकल्प विद्वान को वैसा स्पष्ट दीखता है। (३) सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं सभी वस्तु स्वलक्षण है। किसी भी वस्तु पर द्वितीय कोई धर्म नहीं रहता जो लक्षण-ज्ञापक बने (४) सर्वं शून्यं शून्यं। सारा जगत् आत्मा के साथ अन्त में शून्य ही शून्य सिद्ध होता है ॥१०७॥

प्राप्ते शरीरभेदेऽविद्यातृष्णादिनाशतस्तस्य।
न पुनर्भवो भवेत्तन्निर्वाणं सर्वनिर्वाणम् ॥ १०८ ॥

जीवितावस्था में दुःख प्रतीति न होने से जीवन्मुक्त है। शरीर छूटने पर अविद्या-तृष्णा-संस्कारादि समस्त निदान का नाश होने से उस सिद्ध पुरुष का पुनः जन्म नहीं होता। यही निर्वाण है। समस्त ज्ञानसंतति तथा तत्कार्य उस समय बुझ जाते हैं ॥१०८॥

बुद्धेन समुपदिष्टं शास्त्रं यदिदं जगद्धिताय सता।
सिद्धं तन्मानाभ्यां सत्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ १०९ ॥

सत् अर्थात् सर्वज्ञ (सन् सुधीः कोविदो बुधः) बुद्ध के द्वारा सम्यक् उपदिष्ट यह जो शास्त्र (शास्त्र प्रतिपाद्य अर्थ) है वह सत्प्रत्यक्ष और सदनुमान से सिद्ध है। अर्थात् पूर्वोक्त शास्त्ररहस्य जानने के लिये बौद्ध मत में दो प्रमाण हैं। एक प्रत्यक्ष है। दूसरा अनुमान है। सत् का अर्थ इतना ही समझना चाहिये कि सत्त्वेन प्रतीतिविषय। अर्थात् यह प्रत्यक्ष ठीक है, यह अनुमान ठीक है इस प्रकार लोगों को जो समझने में आता हो। प्रत्यक्ष एवं अनुमान के बारे में ग्रन्थान्तरों में सम्यक् वर्णन है। तथा प्रमाणान्तर निरास भी अन्यत्र स्थित है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिदियमखिलस्य मङ्गलाय कृता।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥ ११० ॥

बुद्धानामुपकृतये विपक्षिणां तत्र तत्त्वबोधाय।
विहितेयं कृतिरनया प्रसीदतु श्रीहरिः स मयि ॥ १११ ॥

इति श्रीजयमङ्गलाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ
बौद्धसामान्यदर्शन पदार्थतत्त्वविवेकः

*

वैभाषिकदर्शनम्

सामान्यतस्तु बौद्धं संक्षेपेण प्रदर्श्य सिद्धान्तम् ।
अधुना तस्य विशेषांश्चतुरः परिदर्शयिष्यामः ॥ १ ॥

बौद्ध सिद्धान्त सामान्य रूप से संक्षेपतः बताया । अब उसी के चार विशेष मतों को हम परस्परभेदप्रदर्शनपूर्वक दिखायेंगे ॥१॥

वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचारास्तथैव माध्यमिकाः ।
चत्वारो दार्शनिकाः सर्वज्ञं बुद्धमनुजग्मुः ॥ २ ॥

वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक ऐसे चार दार्शनिक सर्वज्ञनाम से विभूषित बुद्ध के अनुयायी हुए ॥२॥

क्षणिकान् किन्तु यथार्थानर्थान् वैभाषिका जगुर्बाह्यान् ।
प्रत्यक्षाननुमेयांस्त्वाहुः सौत्रान्तिका बुद्ध्या ॥ ३ ॥

बाह्यार्थ क्षणिक हैं, फिर भी यथार्थ हैं तथा प्रत्यक्ष भी हैं यह वैभाषिक-मत है । बाह्यार्थ यथार्थतया है तो सही, किन्तु प्रत्यक्ष नहीं; उनका ज्ञान होने पर उस ज्ञान से वे अनुमेय हैं ऐसा सौत्रान्तिकमत है ॥३॥

योगाचाराः प्राहुर्विज्ञानाकार एव बाह्यतया ।
स्वप्नसममीक्ष्यत इदं सत्यो विज्ञानसन्तानः ॥ ४ ॥

योगाचारों का कहना है कि इदंकारास्पद सभी पदार्थ विज्ञान के आकारविशेष ही हैं । स्वप्न में विज्ञानाकार जिस प्रकार बाह्यार्थरूपेण केवल दीखता है वैसे जाग्रत में भी विज्ञानाकार बाह्यार्थरूप में मिथ्या दीख रहा है । सत्य तो एकमात्र विज्ञानसन्तान ही है ॥४॥

विज्ञानमपि न सत्यं तस्माच्छून्यं हि भवति परमार्थः ।
निर्वचनविरहहेतोरिति किल निगदन्ति माध्यमिकाः ॥ ५ ॥

जगत् तो सत्य नहीं ही, विज्ञान भी सत्य नहीं है । क्यों कि किसो का निर्वचन नहीं होता । अतः परमार्थ तो शून्य हो है ऐसा माध्यमिकों का कहना है ॥५॥

निर्वाणं सर्वेषां विरतेर्विज्ञानसन्ततेर्भवति ।
शून्यं हि तदिति सोऽयं सर्वेषामेकसिद्धान्तः ।। ६ ।।

सब के मत में निर्वाण तो विज्ञानसन्तति की उपरति से होती है। और वह शून्यरूप है ही। इस विषय में सब का एक ही सिद्धान्त है। मतभेद जीवन्मुक्ति में ही है ।।६।।

ज्ञानप्रस्थानाख्यं शास्त्रं कात्यायनीसुतनिबद्धम् ।
व्याख्याऽस्य विभाषाख्याऽदीव्यन् वैभाषिकास्तु तया ।। ७ ।।

कात्यायनीपुत्र ने ज्ञानप्रस्थानशास्त्र लिखा, जिसकी व्याख्या विभाषानामक विपुलग्रन्थ हैं। उससे जो प्रमोदमान हैं और विजिगीषु हैं वे ही वैभाषिक कहलाये ।।७।।

धर्मप्रभवं भूतं धर्मप्रभवो भवेत्तथात्मापि ।
धर्माः शक्तिविशेषाः स्वतन्त्ररूपा निरालम्बाः ।। ८ ।।

धर्मों से पृथिवी आदि भूतों की उत्पत्ति है। धर्मों से आत्मा की भी उत्पत्ति हैं। धर्म शक्तिविशेष को कहते हैं। वह स्वतन्त्र हैं। किसी आधार पर वह स्थित नहीं है। धारयति सकलानिति ।।८।।

क्षणिका धर्माः सर्वे स्वानन्तरधर्महेतवश्चैव ।
तेषां पुनः प्रतीत्यसमुत्पादात्स्याज्जगत्सकलम् ।। ६ ।।

सभी धर्म क्षणिक होते हैं और अपने अनन्तर उत्पन्न होने वाले धर्मों के प्रति हेतु होते हैं। उन धर्मों के परस्पर प्रतिगमन (अभिगमन) से जो उद्भव होता है। उसी से जगत् हुआ। इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रति-इत्य-समुत्पाद = परस्परं प्रति इत्य गत्वा समुत्पादः एक धर्म दूसरे धर्म के प्रति गमन करते हैं उसके बाद परस्परसांनिध्य से नाना पदार्थ उसी प्रत्ययन से प्रगट होते हैं ।।९।।

यावदविद्या तावद्धर्माद्धर्मान्तरोद्भवो भवति ।
चैतसिकैस्तैरात्मा मुहुरिह संसारमाप्नोति ।। १० ।।

जब तक अविद्या है तब तक चैतसिक धर्मों से धर्मान्तर उत्पन्न होते रहते हैं और आत्मा का प्रतीत्यसमुत्पाद होता रहेगा। इस प्रकार वह संसारी बना रहेगा ।।१०।।

प्रज्ञा निहन्त्यविद्यां तर्हि न धर्मान्तरोद्भवो भवति ।
निर्वाति चेतनाऽतो निर्वाणं प्रज्ञया परमम् ॥ ११ ॥

प्रज्ञा अविद्या को नष्ट करती है। तब अविद्याप्रयुक्त चैतसिकधर्मान्तर-संतान का भङ्ग हो जाता है तो चेतना बुझ जाती है। यही परम निर्वाण है जो प्रज्ञा का फल है ॥११॥

दुःखं प्रतिकूलमृतं तस्य समुदयो जगत्तथाऽविद्या ।
तदुभयमपि खलु सत्यं यस्मादर्थक्रियाकारि ॥ १२ ॥

दुःख प्रतिकूलवेदनीय होता है। वह सत्य है। उसका समुदय अर्थात् हेतु जगत् तथा अविद्या ये दोनों भी सत्य हैं। क्यों कि ये सब अर्थक्रिया-कारी हैं। दुःख प्रतिकूलवेदनरूपी अर्थक्रियाकारी है। घटादि वस्तु जला-हरणादिअ-र्थक्रियाकारी है। अविद्या से सब कुछ होता है। अतः वह भी अर्थक्रियाकारी है ॥१२॥

द्विविधं जगदिदमुदितं प्रत्यक्षं चानुमेयमेवापि ।
बाह्याभ्यन्तरभेदं वसुधादि सुखादि चैव तथा ॥ १३ ॥

वैभाषिक पदार्थों को प्रत्यक्ष मानते हैं और सौत्रान्त्रिक अनुमेय मानते हैं यह प्रथम बताया। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वैभाषिक के मत में प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण हैं। अतएव जगत् द्विविध है। एक प्रत्यक्ष है दूसरा अनुमेय है। सौत्रान्तिक मत में बुद्धि से अनुमेय है। वैभाषिकमत में धूमादि लिङ्ग से वह्नि आदि अनुमेय होता है। अस्तु। वह जगत् पुनः द्विविध है। बाह्य तथा आभ्यन्तर। पृथिवी आदि बाह्यार्थ है। सुख-दुःखादि आभ्यन्तर अर्थ है ॥१३॥

एते पञ्च स्कन्धा उच्यन्ते नामरूपनिजसंज्ञाः ।
चत्वार्यत्र च नामान्येकं स्यात्पञ्चमं रूपम् ॥ १४ ॥

यही द्विविध जगत् पाँच स्कन्धों में विभक्त है। उनकी अपनी संज्ञा नामस्कन्ध तथा रूपस्कन्ध भी है। इनमें चार नामस्कन्ध हैं। और पांचवां रूपस्कन्ध है ॥१४॥

आन्तरधर्मप्रभवाश्चत्वारो नामसंज्ञिताः स्कन्धाः ।
ते वेदना च संज्ञा संस्कारः किं च विज्ञानम् ॥ १५ ॥

आन्तरधर्म से उत्पन्न नामात्मक चार स्कन्ध होते हैं। उनके नाम हैं—वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध ॥१५॥

बाह्यो रूपस्कन्धः प्रोक्तः परमाणवश्चतुर्धा ते।
पृथिवीजलानलानिलरूपा येभ्यो जगत्सर्वम् ॥ १६ ॥

बाह्य रूपस्कन्ध है। चार प्रकार के परमाणु रूपस्कन्ध हैं। पृथिवी, जल, तेज और वायु के इन परमाणुओं से प्रतीत्यसमुत्पाद होकर संपूर्ण बाह्य जगत् प्रकट होता है। (परमाणु भी क्षणिक धर्मरूप है। पूर्वपरमाणु उत्तर परमाणु का जनक है यह बात ध्यान में रहना चाहिए) ॥१६॥

तद्द्वितयविप्रयुक्ताः शक्त्यात्मानश्चतुर्दश भवन्ति।
प्राप्त्यप्राप्त्याद्यात्मकधर्मानग्रे प्रवक्ष्यामः ॥ १७ ॥

नाम और रूप दोनों से विप्रयुक्त तृतीयतत्त्व भी है। उभयविप्रयुक्त, चित्तविप्रयुक्त इत्यादि उसको कहते हैं। वे शक्तिरूप हैं। संख्या में चौदह हैं। प्राप्ति अप्राप्ति इत्यादि उन चौदहों का वर्णन आगे होगा ॥१७॥

आयतनं द्वादशधा बाह्याध्यात्मप्रभेदि रूपोत्थम्।
ज्ञानोत्पत्तिद्वारस्वरूपमित्यायतनशब्दम् ॥ १८ ॥

रूप स्कन्ध में बारह प्रकार का आयतन होता है। कुछ बाह्य आयतन हैं और कुछ अध्यात्म आयतन हैं। दोनों रूपस्कन्ध से उत्पन्न हैं। चेतनोत्पत्ति के द्वार होने से इनको आयतन कहते हैं ॥१८॥

रूपं शब्दो गन्धः स्वादः स्पर्शः सुखादिरिति बाह्याः।
चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं जिह्वा त्वग् बुद्धिरध्यात्मम् ॥ १९ ॥

रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद स्पर्श तथा सुखादि बाह्य आयतन हैं। विषय होने से सुखादि भी बाह्य हैं। चक्षु श्रोत्र घ्राण जिह्वा त्वक् और बुद्धि (मन) अध्यात्म आयतन हैं। ये इन्द्रियां रूपस्कन्धान्तर्गत हैं। अतएव पूर्व श्लोक में रूपोत्थं बताया ॥१९॥

अष्टादशधा धातुः पूर्वोक्ताश्चक्षुरादयः षडपि।
रूपाद्याः षडपि तथा तद्विज्ञानानि षडपीति ॥ २० ॥

नाम रूप स्कन्ध के परिणामात्मक अठारह धातु गिनाए जाते हैं। उन में पूर्वोक्त चक्षुरादि छहों हैं, रूप आदि भी छः हैं और उनके विज्ञान भी छः

हैं। ऐसे अठारह हो जाते हैं। अर्थात्—चक्षुर्धातु, श्रोत्रधातु इत्यादि; रूप-धातु इत्यादि तथा चाक्षुषविज्ञानधातु इत्यादि समझना चाहिए ॥२०॥

चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं जिह्वा कायो मनः पुमान् स्त्री च ।
जीवितसुखदुःखानि च सुमनस्त्वं दुर्मनस्त्वं च ॥ २१ ॥
किं चोपेक्षा श्रद्धा वीर्यं चैवं स्मृतिः समाधिश्च ।
आज्ञा स्याच्चाज्ञनाज्ञातावी चेन्द्रियाण्यपरे ॥ २२ ॥

कुछ लोग बाईस इन्द्रियाँ मानते हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय (त्वगिन्द्रिय) मन, पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, सुखेन्द्रिय, दुःखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतीन्द्रिय, भविष्यदा-ज्ञानेन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय, आज्ञातावीन्द्रिय ये उनके नाम हैं। यहाँ इन्द्रियपद से "इदि परमैश्वर्ये" इस धातु निर्देशानुसार ईश्वरपना-आधिपत्य अर्थ समझना चाहिए। जैसे चक्षु आदि का विज्ञान पर आधिपत्य हैं। शरीरशोभा उनसे है। मन का पुनर्जन्म सम्बन्धादि पर है। पुरुष-स्त्री इन्द्रियों का भेद आकार स्वर-आचारादि पर और भेद इत्यादि पर आधिपत्य है। जीवितेन्द्रिय का प्राणधारणादि पर आधिपत्य है। सुखःदुख-सौमनस्य-दौर्मनस्य-उपेक्षा इन पांच वेदनाओं का संक्लेशादि पर आधिपत्य है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा का विशिष्ट अवधान एकग्रता पर आधिपत्य है। अन्तिम तीन का अनास्रव होने से निर्वाणादि प्राप्ति में आधिपत्य है। इन सबका पूर्वोक्त धातुओं में अन्तर्भाव है ॥२१-१२॥

इति स्कन्धा-ऽऽयतन-धातुनिरूपणम्

अत्र च रूपं चित्तं चैतसिकं चित्तविप्रयुक्तं च ।
इति संक्षेपादुक्तं चतुर्विधं तत्त्वजातं तु ॥ २३ ॥

संक्षेप से तत्त्व गिनना हो तो चार प्रकार के तत्व हैं। रूप, चित्त चैतसिक और चित्तविप्रयुक्त ये चार हैं। एकादश रूप, एक चित्त, छेयालीस चैतसिक और चौदह चित्तविप्रयुक्त हैं। यही सृष्टि है ॥२३॥

चक्षुःप्रभृति च रूपप्रभृति तथैकादशो त्वविज्ञप्तिः ।
इत्येकादशधा स्याद् रूपं यत्संस्कृतं गदितम् ॥ २४ ॥

चक्षु-श्रोत्रादि पांच, रूप-शब्दादि पांच ये दस, ग्यारहवीं अविज्ञप्ति ऐसे ग्यारह रूपभेद हैं। ये संस्कृत (सम्यक् कृत) होते हैं ॥२४॥

परमाणुपुञ्जमाहुश्चक्षुःप्रभृतीन्यवन्यबादीनि ।
न पुनरवयी कश्चिद् धान्यादेः पुञ्जवत्सकलम् ।। २५ ।।

चक्षु-श्रोत्र आदि तथा पृथिवी-जल आदि सभी परमाणुपुञ्जरूप ही हैं। अवयवी नाम का कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। जैसे धान्यपुञ्ज आदि में यह एक बड़ा ढेर है इत्यादि एकत्व-महत्त्वादि का व्यवहार होता है वैसे यह एक महान् घर है इत्यादि व्यवहार होता है ॥२५॥

अप्राप्यकारिणी स्तां चक्षुःश्रोत्रे यतो हि दूरस्थम् ।
सूर्यादि शब्दमपि च गृह्णीतस्तें स्वगोलस्थे ।। २६ ।।

चक्षु तथा श्रोत्र अप्राप्यकारी हैं। क्यों कि वे दूरस्थ सूर्यादि एवं दूरगत शब्द को ग्रहण करते हैं और केवल गोलक में स्थित रहते हैं। सूर्यादि तक नहीं पहुँचते ॥२६॥

अन्यानि तु समसंख्यान् प्राप्याणून् जानते रसप्रभृतीन् ।
अधिकाणून् क्रमशः खलु युगपत्त्वमतिर्झटिति बोधात् ।। २७ ।।

रसना-घ्रणादि अन्य इन्द्रियाँ जितने परमाणुओं से बनी हैं उतने या उनसे न्यूनसंख्याक रसादिपरमाणुओं को प्राप्यकारी होने से ग्रहण कर पाती हैं। यदि रसादिविषयों के अणु अधिक हैं तो बारी-बारी से ग्रहण करेंगी। एक साथ सर्वरसानुभव हुआ ऐसी प्रतीति झट-झट से ग्रहण करने से होती है ॥२७॥

तत्र च रूपं द्विविधं संस्थानाख्यं च वर्णसंज्ञं च ।
आकृतिविशेष आद्यः शुक्लादिश्चान्तिमो भवति ।। २८ ।।

रूप दो प्रकार का है। एक संस्थानात्मक है। दूसरा वर्णात्मक है। आकृतिविशेष ही संस्थान है। शुक्ल-नीलादि वर्ण है ॥२८॥

दीर्घं ह्रस्वं वर्त्तुलमेवं परिमण्डलोन्नतावनतम् ।
शातनिशातमिति स्युः संस्थानाख्यानि रूपाणि ।। २९ ।।

दीर्घ, ह्रस्व, गोल, अणु-आकृति, ऊँचा, नीचा, समाकार और विषमाकार ऐसे आठ प्रकार का संस्थानात्मक रूप है ॥२९॥

नीलं पीतं लोहितमवदातं मेघधूमरजसां च ।
महिमच्छायाऽऽलोकाऽऽतपतमसां चैव वर्णाः स्युः ।। ३० ।।

नीला, पीला, लाल और सफेद ये चार साक्षात् रूप हैं। तथा मेघ का रंग, धूम का रंग, धूल का रंग, कोहिरे का रंग, छाया का रंग, चांदनी का रंग, धूप का रंग और अंधकार का रंग ये गौणवर्ण हैं। इस प्रकार बारह वर्ण हैं ॥३०॥

प्राणिरवोऽप्राणिरवो वर्णो ध्वनिरित्युदीरिताः शब्दाः।
ते च मनोज्ञतदितरद्वैधादष्टप्रकाराः स्युः ॥ ३१ ॥

प्राणिशब्द, अप्राणीशब्द, वर्ण (अक्षर) तथा ध्वनि ऐसे शब्द चार प्रकार के हैं : मनोहर तथा अमनोहर भेद से वे चार पुनः दो-दो प्रकार हैं। इस रीति शब्द कुल आठ प्रकार के हो जाते हैं ॥३१॥

सुरभिरसुरभिश्चैवाप्युत्कट एवाप्यनुत्कटोऽप्येव।
गन्धश्चतुर्विधः स्यात्समविषमौ चैव तद्भेदौ ॥ ३२ ॥

उत्कट सुगन्ध, अनुत्कट सुगन्ध, उत्कट दुर्गन्ध और अनुत्कट दुर्गन्ध भेद से गन्ध चार प्रकार का है। पुनः सम विषम भेद भी है। समगन्ध शरीरपोषक है। विषम गन्ध शरीर के लिये हानिकारक है।

मधुराम्लकटुकषायास्तिक्तो लवणश्च षड्विधस्तु रसः।
इममपि समविषमाभ्यां भेदाभ्यां वर्णयन्ति बुधाः ॥ ३३ ॥

मीठा, खट्टा, कड़ुआ, कषाय, तीता और नमकीन ऐसे रस छः हैं। ये भी सम और विषम भेद सेदो दो प्रकार हैं ॥३३॥

कायेन्द्रियं त्वगुक्ता स्प्रष्टव्यं तस्य गोचरं स्पर्शः।
भूतानां चत्वारः सप्त पुनर्भौतिकानां स्युः ॥ ३४ ॥

त्वगिन्द्रिय को कायेन्द्रिय भी कहते हैं। उसका विषय स्प्रष्टव्य है। वही स्पर्श है। भूतों के चार स्पर्श हैं और भौतिकों के सात ॥३४॥

भौमाऽऽप्याद्या अद्याश्चत्वारः श्लक्ष्णकर्कशसमेताः।
लघुगुरुशीतबुभुक्षोदन्याः स्युर्भौतिकाः सप्त ॥ ३५ ॥

भौम, आप्य, आनल, वायवीय ये चार भूतस्पर्श हैं। श्लक्ष्ण (चिकना) कर्कश, हल्का, भारी, भूख, प्यास और शीत (भूख प्यास की शान्ति) ये सात भौतिक स्पर्श हैं ॥३५॥

कर्माविज्ञप्तिः स्यात् द्वेधा सा चेतना च चेतनजा।
मानसकर्माद्यं स्याद् वाक्कायजं द्वितीयं च ॥ ३६ ॥

अविज्ञप्ति कर्म को कहते हैं। वह दो प्रकार की है। एक चेतन है। दूसरी चेतनजन्य है। मानस कर्म चेतन अविज्ञप्ति है। वाक्जन्य और शरीरजन्य कर्म चेतनोत्पन्न अविज्ञप्ति है ॥३६॥

विज्ञप्तिरभिव्यक्तं कर्म ध्यानव्रतादिकं भवति ।
तज्जन्याऽविज्ञप्तिः शुभाशुभात्मानुबन्धः स्यात् ॥ ३७ ॥

ध्यान, व्रत आदि अभिव्यक्त कर्म विज्ञप्तिकर्म है। और उससे उत्पन्न शुभ-अशुभ (पुण्य-पाप) रूपी अनुबन्ध अनभिव्यक्त कर्म है। उसको अविज्ञप्ति कर्म कहते हैं ॥३७॥

शुभया शुभप्रवाहाऽविज्ञप्त्या त्वात्मचेतना भवति ।
अशुभप्रवाहरूपाऽविज्ञप्त्या चाप्यशुभया स्यात् ॥ ३८ ॥

शुभ अविज्ञप्ति से आत्मचेतना का प्रवाह शुभरूप होता है और अशुभ अविज्ञप्ति से आत्मचेतना का अशुभ प्रवाह होता है ॥३८॥

इति रूपम्

अथ चित्तं क्षणिकं स्यादिन्द्रियविषयाभिघातजनितमपि ।
इदमेव च मन उक्तं बुद्धिर्विज्ञानमित्यपि च ॥ ३९ ॥

अब द्वितीय चित्त के बारे में कहते हैं। यह इन्द्रियविषयसंयोग-जन्य है। क्षणिक है। यही मन कहलाता है। इसी को बुद्धि तथा विज्ञान भी कहते है ॥३९॥

चेतनमात्राच्चित्तं मातीति मनो निबोधनाद् बुद्धिः ।
भवति विशेषज्ञानाद्विज्ञानमिमा अवस्थाः स्युः ॥ ४० ॥

सामान्य चेतना से चित्त कहलाता है। परिच्छेद (निर्णय) कारक मन होता है। वस्तुप्रकाशनकारी होने से बुद्धि होती है। विशेषज्ञान विज्ञान है। ये अवस्थाभेद हैं। वस्तुतः एक ही हैं ॥४०॥

किं च सुखादेर्ज्ञानात् प्राग्विज्ञानस्वरूपतो यत्स्यात् ।
तच्च मनस्तेन मनोविज्ञानं स्यात्पृथङ्नृणाम् ॥ ४१ ॥

और बात यह है कि सुखादिज्ञान चाक्षुषादिरूप नहीं है। सुखादिज्ञान की पूर्व अवस्था में जो विज्ञान है उसको भी मन कहते हैं। उससे मनो-विज्ञान (सुखादिज्ञान) पृथक् उत्पन्न होता है ॥४१॥

आलम्बनस्य मनसश्चक्षुःप्रभृतेश्च भेदतः सप्त ।
चक्षुर्विज्ञानाद्याः सन्ति ससामान्यविज्ञानाः ॥ ४२ ॥

आलम्बनरूप मन एवं चक्षुदादि (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय (त्वक्) तथा मन इन छः आलम्बनों के) भेद से सामान्यविज्ञान के साथ सात विज्ञान होते हैं। अर्थात् चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान तथा सामान्यविज्ञान ऐसे विज्ञान सात हैं ॥४२॥

इति चित्तम्

अथ चैतसिका धर्माः षट्चत्वारिंशदित्युदीर्यन्ते ।
षोढा परिकलितास्ते संक्षेपादभ्युदीर्यन्ते ॥ ४३ ॥

अब चैतसिक धर्मों का निरूपण होगा। वे संख्या में छियालीस हैं। छः भागों में वे संगृहीत कर बताये जाते हैं ॥४३॥

इह चित्तमहाभूमिक कुशलमहाभूमिकाः दश दशैवम् ।
अकुशलमहाभुवौ द्वौ क्लेशमहाभूमिकाः षट् च ॥ ४४ ॥
दशसंख्यास्तु परीत्तक्लेशभुवोऽनियतभूमिकाश्चाष्टौ ।
इति ते मतभेदेन न्यूनाधिक्ये च तत्रैव ॥ ४५ ॥

चैतसिक धर्मों में दस चित्तमहाभूमिक, दस कुशलमहाभूमिक, दस अकुशल महाभूमिक, छः क्लेशमहाभूमिक, दस परीत्तक्लेशभूमिक (या उपक्लेशभूमिक) और दस अनियतभूमिक ऐसे छेयालीस हैं। इसमें मतभेद हैं। अत एव संख्या में न्यानाधिकता भी है। भूमि का अर्थ है उत्पत्तिस्थान। सहकारियों की व्यावृत्ति के लिये महाशब्द है। परममूल यह अर्थ है। समस्त चित्त जिसके परममूल हैं वे चित्तमहाभूमिक हैं। वेदना चेतना इत्यादि सर्वचित्तसाधारण है। कुशलचित्त ही जिनका परममूल है वह कुशलमहाभूमिक है। अकुशलचित्त ही परममूल हो वह अकुशल-महाभूमिक है। क्लेश जिसका परममूल हो वह क्लेशमहाभूमिक है। परीत्त क्लेश अर्थात् अल्प क्लेश या उपक्लेश जिसका मूल हो वह परीत्तक्लेशभूमिक है। जिसका मूल अनियत है वह अनियतभूमिक है। यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि वेदान्तादिशास्त्रानुसार कहना हो तो सर्वचित्तो पादानक, कुशलचित्तोपादानक इत्यादि रीति उपादान शब्द जोड़ कर

व्याख्या कर सकते थे। परंतु बौद्ध शास्त्रों में क्षणिक होने से उपादानोपादेयभाव संभव नहीं है। दूसरी बात समकालोत्पन्न होते हैं। अतः यहाँ चित्तमहाभूमिक इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया। यदि समकालोत्पन्न हैं तो चित्त भूमि और वेदनादि तद्भूमिक ऐसा ही क्यों ? विपरीत क्यों नहीं ? इसका उत्तर है ज्ञानधारारूपी चित्त अव्यभिचरित है। वेदनादि कादाचित्क हैं। अतएव इन्हें चैतसिक कहा ॥४४-४५॥

इह वेदना च संज्ञा सच्छन्दश्चेतना पुनः स्पर्शः ।
प्रज्ञास्मृती मनस्कृत्यधिमोक्षसमाधयश्चाद्याः ॥ ४६ ॥

इन छहों में प्रथम दस ये हैं—वेदना, संज्ञा, चेतना, छन्द, स्पर्श, प्रज्ञा, स्मृति, मनसिकार, अधिमोक्ष और समाधि ॥४६॥

सुखदुःखानुभयेषामनुभूतिर्वेदनाऽथ संज्ञा तु ।
संज्ञप्तिश्चित्तप्र-स्पन्दः स्याच्चेतना यत्नः ॥ ४७ ॥

सुख, दुःख तथा अनुभय (दोनों से भिन्न) की अनुभूति वेदना है अनुभूति अर्थात् एक प्रकार का प्रभाव। क्योंकि विज्ञान संतति तो चित्तरूप ही है। उस प्रभाव से सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति आदि का ज्ञान और उसके साधनों का आकलन संज्ञा है। यही चित्तप्रस्पन्द है। फिर तदर्थं मानस यत्न चेतना है ॥ ४७ ॥

छन्दोऽभिप्रेतार्थेष्विवच्छेन्द्रियविषययोगतः स्पर्शः ।
प्रज्ञा ततः पृथक्कृतिरुक्ता सङ्कीर्णधर्माणाम् ॥ ४८ ॥

चेतना होने पर साधनरूप बाह्यार्थों में इच्छा होती है यही छन्द है। यद्यपि छन्द के बाद ही यत्न रूपी चेतना होनी चाहिए। तथापि पूर्व श्लोक में 'आयत्नः' ऐसा पदच्छेद कर चित्त का केन्द्रीकरणरूपी यत्न समझना चाहिये। विषय पर चित्त केन्द्रित होता है। तभी इच्छा होती है। इसके बाद विषयों के साथ जो इन्द्रियसंयोग होगा उस इन्द्रियसंयोगजन्य सामान्य ज्ञान स्पर्श है। विशेषज्ञान प्रज्ञा है। अर्थात् रूप रसादि का पृथक् स्पष्टानुभव प्रज्ञा है ॥४८॥

चेतोऽप्रमोषणं तु स्मृतिरवधानं च मनसिकारः स्यात् ।
आलम्बनस्य गुणतो व्यवधारणमाहुरधिमोक्षम् ॥ ४९ ॥

अनुभूत अर्थ का पश्चात् स्मरण स्मृति है। वह सर्वपुरुषसाधारण है। साधक लोग चित्त को सावधान करते हैं। यह मनसिकार है। फिर किसी

एक आलम्बन पर चित्त की धारणा करना अधिमोक्ष है ॥४९॥

चित्तस्यैकालम्बप्रबन्धवृत्तिः समाधिरित्युक्ता ।
एते चित्तमहाभूमिकधर्मा दर्शिता हि दश ॥ ५० ॥

उसी आलम्बन में प्रवाह रूप से चित्त की वृत्ति-एकाग्रता समाधि है। ये दश चित्तमहाभूमिक धर्म हैं ॥५०॥

श्रद्धाऽप्रमादसाम्ये प्रश्रब्धिः ह्रीरपत्रपोऽलोभः ।
अद्वेषोऽहिंसापि च वीर्यं चैवापरं दशकम् ॥ ५१ ॥

श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, साम्य, ह्री, अपत्रप, अलोभ, अद्वेष, अहिंसा और वीर्य ये दूसरा दशक-कुशलमहाभूमिक धर्म हैं ॥५१॥

श्रद्धा चित्तविशुद्धिः कुशले कार्ये तु जागरूकत्वम् ।
उक्तोऽप्रमाद एवं प्रश्रब्धिश्चित्तलघुभावः ॥ ५२ ॥

चित्त की निर्मलता श्रद्धा है। कुशल कार्य में सजगता अप्रमाद है। चित्त का लाघव प्रश्रब्धि है ॥५२॥

प्रतिकूलेष्वपि समता साम्यं ह्रीः स्वार्थयत्नसंकोचः ।
परकार्यसाधनेऽपत्रपता लज्जापरित्यागः ॥ ५३ ॥

प्रतिकूल वस्तुओं में भी अविचलित रहना साम्य है। स्वार्थसम्पादन में सङ्कोच लज्जा है। परार्थ साधन में लज्जा छोड़ना अपत्रपता है ॥५३॥

त्यागमतिरलोभः स्यादद्वेषो मैत्र्यदुःखनमहिंसा ।
वीर्यं कुशलोत्साहः कुशलमहाभूमिका एते ॥ ५४ ॥

अलोभ त्यागभावना को कहते हैं। अद्वेष मैत्रीभाव को कहते हैं। किसी को दुःख न देने का प्रयत्न अहिंसा है। कुशल कार्यार्थ उत्साह वीर्य है। ये दस कुशलमहाभूमिक धर्म हैं ॥५४॥

क्लेशमहाभूमिक इति मोहं चैव प्रमादमेवाहुः ।
कौसीद्यं चाश्रद्धयं स्त्यानं चौद्धत्यमेवापि ॥ ५५ ॥

मोह, प्रमाद, कौसीद्य, आश्रद्धय स्त्यान, और औद्धत्य ये छः क्लेश-महाभूमिक धर्म हैं ॥५५॥

मोहोऽविद्याऽप्रज्ञा कुशलानवधनता प्रमादः स्यात् ।
तत्रैवानुत्साहः कौसीद्यमितीरितं प्राज्ञैः ॥ ५६ ॥

मोह अविद्या को कहते हैं जो प्रज्ञाविरोधी है। कुशलकार्यों में लापरवाही प्रमाद है। कुशलकार्यों में ही अनुत्साह कौसीद्य बताया है ॥५६॥

चित्ताऽविशुद्धिरुक्ताऽऽश्रद्धयमकर्मण्यता भवेत्स्त्यानम् ।
औद्धत्यं क्रीडादिविषक्तिः स्याच्चेतसोऽप्रशमः ॥ ५७ ॥

चित्तमालिन्य आश्रद्धय है। अकर्मण्यता स्त्यान है। क्रीडादि में निरन्तर चिपके रहना औद्धत्य है अर्थात् चित्त में उपशम नहीं ॥५०॥

आह्रीक्यमवद्येहाऽकुशलमहाभूमिकौ मतौ धर्मौ ।
आद्या कुकर्मरतता गर्हितकर्मण्यभीरन्त्या ॥ ५८ ॥

अकुशलमहाभूमिक धर्म दो हैं। आह्रीक्य प्रथम है। कुकर्म में लज्जा का अभाव आह्रीक्य है। अवद्येहा अर्थात् निन्दित कर्म करने के लिये न डरना द्वितीय है ॥५८॥

क्रोधो म्रक्षश्चैवं मात्सर्येर्ष्ये प्रदास एवापि ।
उपनाहविहिंसे अपि शाठ्यं माया मदश्चैव ॥ ५९ ॥
एतान् दशसंख्याकान् जगद्गुरुपक्लेशभूमिकान् धर्मान् ।
म्रक्षौ छलदम्भौ स्तां सावद्यरुचिः प्रदासश्च ॥ ६० ॥
मैत्रीविघटनमथवा प्राणिषु सितवैरतोपनाहः स्यात् ।
संमानेनौन्नत्यं मद इति शेषाः प्रसिद्धतराः ॥ ६१ ॥

क्रोध, म्रक्ष, मात्सर्य, ईर्ष्या, प्रदास, उपनाह, विहिंसा, शाठ्य, माया और मद ये दस उपक्लेश—परीत्तक्लेशमहाभूमिक धर्म हैं। इन में म्रक्ष छल-दम्भ को कहते हैं। कुत्सित को ग्राह्य मानना प्रदास है। मैत्री तोड़ना या प्राणियों में वैर बांधना उपनाह है। संमान से आसमान पर चढना मद है। हिंसा, शठता, माया, क्रोध, मात्सर्य, ईर्ष्या सुप्रसिद्ध हैं ॥५९-६१॥

एते तु दृष्टिहेया नैव खलु समाधिभावनाहेयाः ।
क्षुद्राः परीत्तभूमिकधर्मा एते हि गण्यन्ते ॥ ६२ ॥

ये अविद्यासहचर होने से ज्ञानहेय हैं। भावनाहेय नहीं। एतदर्थ समाधि की जरूरत नहीं। अत एव ये परीत्तभूमिक अर्थात् क्षुद्रभूमिक गिने जाते हैं ॥६२॥

कौकृत्यं मिद्धश्च वितर्कविचारौ च राग एवापि ।
अनियमितभूमिकाः स्युर्विचिकित्साद्वेषमानाश्च ॥ ६३ ॥

कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क विचार, राग, द्वेष, मान और विचिकित्सा ये आठ अनियतभूमिक धर्म हैं ॥६३॥

कौकृत्यं खेदः स्यान्मिद्धं मौग्ध्यं तथैव विस्मरणम् ।
विविधोहश्च वितर्को निश्चय उक्तो विचार इति ॥ ६४ ॥

कुकृत्य का खेद या पश्चात्ताप कौकृत्य है। मिद्ध का मुग्धता या विस्मरणशीलता अर्थ है। नानाकल्पनाजाल वितर्क है। विचार निश्चय को कहते हैं। राग, द्वेष, मान और विचिकित्सा (संशय) ये प्रसिद्धहैं ॥६४॥

इति चैतसिकाः

अथ चित्तविप्रयुक्ता नैव तु चैत्ता न भौतिका वापि ।
तस्माच्च रूपचित्तस्वरूपमुक्ता इमे धर्माः ॥ ६५ ॥

अब चित्तविप्रयुक्त धर्म सुनो। ये चैतसिक भी नहीं और भौतिक भी नहीं है। अत एव रूप तथा चित्त दोनों स्वरूप से ये भिन्न हैं ॥६५॥

प्राप्त्यप्राप्तिनिकायसभागा आसंज्ञिकः समापत्तौ ।
नाम्नाऽसंज्ञिनिरोधौ जीवितजातिस्थितिजराश्च ॥ ६६ ॥
तत्रैवानित्यत्वं नामपदव्यञ्जनाख्यकायाश्च ।
इति चित्तविप्रयुक्ताश्चतुर्दश व्याहृता धर्माः ॥ ६७ ॥

प्राप्ति, अप्राप्ति, निकाय सभाग, आसंज्ञिक, दो समापत्ति जो नाम से असंज्ञी और निरोध हैं, जीवितेन्द्रिय, जाति, स्थिति, जरा इनके साथ अनित्यत्व, नामकाय, पदकाय, व्यञ्जनकाय ये चौदह चित्तविप्रयुक्त धर्म हैं।

धर्माणां विनियमनी प्राप्तिः संस्कारलक्षणा शक्तिः ।
तत्र विरोधिन्युक्ताऽप्राप्तिश्च यतः क्वचित् खलु ते ॥ ६८ ॥

अश्व में अश्वपरमाणु मिलते हैं। कैसे ? प्राप्तिरूप संस्कार से। क्षणिक अश्व से पुनः सन्तानाश्व होता है। क्यों ? प्राप्ति संस्कार से। यह धर्मप्रापक नियमकसंस्कार प्राप्ति है। अश्व में गोपरमाणु मिल कर गवाश्व नाम का एक जानवर क्यों नहीं होता ? अप्राप्ति संस्कार से। गोसन्तान से अश्व-सन्तान क्यों नहीं होता ? अप्राप्ति से ॥६८॥

समता खलु वस्तूनां सामान्यात्मा सभागता गदिता ।
जीवनशक्तिः प्रोक्ता जीवितमिति बाणशक्तिसमा ।। ६९ ।।

जब क्षणिक गो से गवान्तर अत्यन्त भिन्न उत्पन्न हुआ तो समता किस प्रकार ? इसी नियामक को निकायसभाग कहते हैं सभाग = समता। वैशेषिक इसके स्थान में सामान्य (जाति) मानते हैं। जब घट से घटान्तर और शरीर से शरीरान्तर उत्पन्न हुआ तो वह सन्तान अनन्तकालतक क्यों नहीं चलता ? इसलिये कि एक जीवनसंस्कार (जीवनशक्ति) है। उसको जीवितेन्द्रिय कहते हैं। बाण छोड़ा तो क्रिया से क्रियान्तर होता है तो अनन्त दूरी तक क्यों नहीं जाता ? उसकी वेगशक्ति क्षीण होती है। वैसे जीवनशक्ति भी क्षीण होती है ॥६९॥

अभ्यासादासंज्ञिकसंस्कारः स्यादचित्तसमाधिकरः ।
साऽसंज्ञिसमापत्तिर्याऽसंज्ञि कजन्मदः क्षणिकः ।। ७० ।।

आसंज्ञिक वह संस्कार है जिससे चेतन चित्तसन्तान अचित बन जाता है। इसी में बहुतों को निर्वाण की भ्रान्ति होती है। पर वह उतर कर असंज्ञी में आ सकता है। असंज्ञिसमापत्ति वह है जो आसंज्ञिक को जन्म दे। अर्थात कुछ काल तक चित्त अचित्त सा इसमें हो जायेगा ॥७०॥

ताभ्यामभ्यासाद्वा प्रभवन् शस्त्राद्यवध्यसंस्कारः ।
चितिविनिरोधकरः स्यान्निरोधरूपा समापत्तिः ।। ७१ ।।

आसंज्ञिक और असंज्ञी से उत्पन्न होने वाला अथवा स्वतन्त्र अभ्यास से पैदा होने वाला शस्त्र अग्नि जलादि से अवध्य चेतनानिरोधकारी संस्कार ही निरोधसमापत्ति है ॥७१॥

जातिर्जन्म स्थितिरिति जीवनमुक्तं जरा पुनर्ह्रासः ।
नाशोऽनित्यत्वपदः संस्कारात्मान एते स्युः ।। ७२ ।।

जाति एक संस्कारात्मक शक्ति है जिससे प्रतीत्यसमुत्पादरूपी जन्म होता है। स्थितिशक्ति से उसका समान जीवनधारा चलती है। जराशक्ति से शरीरादि का ह्रास होता है। विप्रतीति (प्रतीतिविरुद्ध) से नाशरूप अनित्यत्व होता है ॥७२॥

एताश्च शक्तयो नहि भौतिकरूपा न चैव चैतसिकाः ।
तस्माच्च रूपचित्तद्विविप्रयुक्ता निगद्यन्ते ।। ७३ ।।

ये संस्काररूपी शक्तियां न भौतिक हैं और न चैतसिक हैं। इनसे कोई प्रतीत्यसमुत्पाद भी नहीं होता। केवल नियमन होता है। अतः ये रूप (भौतिक) चित्त उभयविप्रयुक्त कहलाते हैं ॥७३॥

इति चित्तविप्रयुक्तनिरूपणम्

एवं संस्कृतधर्माः प्रदर्शिता यस्त्वसंस्कृतो धर्मः।
नित्योऽनास्रव एष हि स च हेतुप्रत्ययाऽजनितः॥ ७४॥

यहाँ तक संस्कृत (सम्यक् कृत) धर्मों को बताया। अब असंस्कृत धर्म देखो। ये नित्य हैं। बन्ध रहित हैं। ये हेतुजनित नहीं और प्रत्ययजनित भी नहीं ॥७४॥

तृष्णातश्चैतसिकं भौतिकमपि च प्रवाहरूपेण।
प्रवहति तृष्णोच्छेदे निर्वाणमसंस्कृतो धर्मः॥ ७५॥

तृष्णा से चैतसिक सन्तानप्रवाह होता है। क्योंकि कर्म होते रहते हैं। उससे भौतिक सन्तानप्रवाह (शरीरादि सन्तान) भी होता है। तृष्णा का नाश होने पर नाम रूप सन्तानप्रवाह का उच्छेद होने से निर्वाण होता है। वह असंस्कृत धर्म है ॥७५॥

सशरीरस्यापि भवेदशरीरस्येव किमपि निर्वाणम्।
सोपधिशेषं त्वाद्यं निरुपधिशेषं द्वितीयं तु॥ ७६॥

सशरीर (जीवित) का भी अशरीर के समान निर्वाण होता है। सशरीरनिर्वाण सोपधिशेष है। अशरीर निर्वाण निरुपधिशेष है ॥७६॥

क्षीणावस्थो नङ्क्ष्यन् शरदभ्रवदास्रवो निरावरणः।
तस्मात् क्षणिकोऽप्येवाऽसंस्कृत एवोच्यतेऽत्राद्यः॥ ७७॥

तत्त्व ज्ञान होने पर आस्रव (मल) क्षीण होकर नष्ट होने वाला ही होता है। शरत्कालीन मेघ के समान वह आवरणकार्यरहित हो जाता है। अतः क्षणिक होने पर भी सोपधिशेष को असंस्कृत ही कहते हैं ॥७७॥

क्षणिकं संस्कृतमेवेत्यपरे परिभाष्य सतनुनिर्वाणम्।
सास्रवमिति संस्कृतमिति कुशलमिति च संजगुर्विबुधाः॥७८॥

जो क्षणिक है वह संस्कृत ही है ऐसे कुछ विद्वान् परिभाषा मानते हैं। क्षीण भी आस्रव क्षणिक है। तदवस्थ चेतन भी क्षणिक है। अतः संस्कृत

है। अतः सशरीरनिर्वाण सास्रव तथा संस्कृत है। हाँ, वह कुशल भी है यही विशेषता है ॥७८॥

निरुपधिशेषमनास्रवमसंस्कृतं व्याकृतं च निर्वाणम् ।
परममसंस्कृतधर्मं तमेव बुद्धा विदाञ्चक्रुः ॥ ७९ ॥

निरुपधिशेष अशरीर निर्वाण है। वह सर्वथा अनास्रव तथा असंस्कृत है। अतः उसी को परम असंस्कृत रूप से तत्त्ववेत्ता स्वीकार करते हैं ॥७९॥

तत्रास्रवसंक्षयतः स्यादर्हँस्तस्य यच्च विज्ञानम् ।
पञ्चस्कन्धवशोत्थं दग्धगुणसमं न बन्धनकृत् ॥ ८० ॥

इन दो निर्वाणों में प्रथम में आस्रव (मल) का क्षय होने से साधक अर्हत पद को प्राप्त होता है। पाँच स्कन्ध होने से उसकी विज्ञान धारा अवश्य होगी। किन्तु जली हुई रस्सी के समान वह बन्धनकारी नहीं होती ॥८०॥

प्राप्ते शरीरभेदे पदमच्युतिकं भवेदनन्तं यत् ।
तदसंख्यमनुत्तरमित्यखिलं निर्वाति तत्रैव ॥ ८१ ॥

शरीर पात होने पर अच्युत अनन्त संख्यारहित लोकोत्तर पद होता है। वहीं समस्त संतान की समाप्ति है ॥८१॥

एकमसंस्कृतमेके त्रितयं सर्वास्तिवादिनो जगदुः ।
आकाशः प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्योत्थौ निरोधौ च ॥ ८२ ॥

एक निर्वाण ही असंस्कृत धर्म है ऐसा स्थविरवादियों का कहना है। सर्वास्तिवादी वैभाषिकों के मत में तीन असंस्कृत धर्म हैं। एक आकाश है। दूसरा प्रतिसंख्यानिरोध और तीसरा अप्रतिसंख्यानिरोध है ॥८२॥

तत्राकाशोऽनावृतिराव्रियते नैष नावृणोत्यपि च ।
निरुपाख्यस्तेनासौ व्याख्यातोऽसंस्कृतो धर्मः ॥ ८३ ॥

इनमें आकाश आवरणाभावरूप है। वह स्वयं किसी से आवृत नहीं होता और दूसरे को आवृत भी नहीं करता। निरुपाख्य है। अतः असंस्कृत है ॥८३॥

केचिद् द्विविधं गगनं सास्रवमेकं निरास्रवं चान्यत् ।
शब्दप्रवाहमास्रवमनास्रवं दिक्स्वरूपमिति ॥ ८४ ॥

कुछ लोग दो प्रकार का आकाश मानते हैं। एक सास्रव है। दूसरा निरास्रव है। शब्दप्रवाहरूपी आकाश रागादि के प्रति कारण होने से

सास्रव है, क्षणिक तथा संस्कृत भी है। दिक्स्वरूप आवरणाभावात्मक आकाश निरास्रव है और असंस्कृत है ॥८४॥

संख्या ज्ञानं सन्तमसन्तं कुर्यामिति प्रतीपं यत्।
प्रतिसंख्या सा प्रोक्ता पृथगर्थनिरोधहेतुः सा ॥ ८५ ॥

संख्या ज्ञान को कहते हैं। प्रतीपज्ञान ही प्रतिसंख्या है। सत् को असत् बनाऊँ इस प्रकार की भावना का प्रयोजक ज्ञान ही वह है। उससे पृथक्-पृथक् अर्थ का निरोध होता है (जिसे प्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं) ॥८५॥

तज्जन्यशून्यतादिकभावनया स्यात्पृथङ्निरोधो यः।
प्रत्यर्थं प्रतिसंख्याविनिरोधं तं समाचख्युः ॥ ८६ ॥

सत् को असत् बनाऊँ ऐसे ज्ञान से-विचार से जो शून्यतादि की भावना सर्वं क्षणिकं, सर्वं दुःखं, सर्वं शून्यं इत्यादि भावना की जाती है उससे रागादि एवं अन्य अर्थों का प्रत्येक निरोध होगा। क्षणिकता की भावना से द्वेषादिनिरोध हुआ। दुःखभावना से रागादिनिरोध हुआ इत्यादि। यही प्रतिसंख्यानिरोध है। यह निरोध अनुपाख्य है। अतः सन्तानात्मक एवं क्षणिक नहीं है ॥८६॥

यत्तु समाधिप्रभृतेः सम्यक् प्रज्ञा प्रजायते सुधियाम्।
तेनाऽविद्यानाशादप्रतिसंख्यानिरोधः स्यात् ॥ ८७ ॥

समाधि आदि से जो सम्यक् प्रज्ञा का उद्भव होता है उससे मूल अविद्या नष्ट होती है। तब प्रतीपज्ञान के बिना ही एक साथ सर्वनिरोध होता है। उसको अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं ॥८७॥

एतदसंस्कृतमुक्तं परमं सत्यं त्रयं तदेतद्धि।
अर्थक्रियाकरत्वात्सत्यमपि च नेतरत्परमम् ॥ ८८ ॥

यह असंस्कृत तत्त्व ही परम सत्य है। अन्य जगत् अर्थक्रियाकारी होने से भले सत्य हो, पर, परमसत्य नहीं है ॥८८॥

इति संस्कृतासंस्कृतविवेकः

कालस्तु वर्त्तमानः सत्योऽन्यौ भूतभाविनौ कल्प्यौ।
इति केचिदाहुरन्ये त्रितयमपि बभाषिरे सत्यम् ॥ ८९ ॥

वर्त्तमान काल एक ही सत्य है। भूत और भावी काल कल्पनामात्र है ऐसे कुछ लोग मानते हैं। दूसरे लोग तीनों कालों को सत्य मानते हैं।

इन दोनों का विवेचन आगे देखेंगे ॥८९॥

भावी नैवोत्पन्नो नो नश्येन्नश्यतोह सदसत्त्वात् ।
तस्मात् कल्पित एव स भूतोऽप्येवं परिज्ञेयः ॥ ९० ॥

भावी काल भावो ही हैं तो उत्पन्न कहाँ ? उत्पन्न नहीं तो अस्तित्व—सत् कहाँ ? सत् नहीं तो सत् का असद्भाव रूपी नाश कहाँ ? भावी नष्ट नहीं हुआ तो वर्त्तमान क्यों आने लगा ? अतः भावी मात्र कल्पित है। इसी प्रकार भूत भी है। भूत तो वर्त्तमान में बैठ कर बीते को बोलेंगे। नहीं बीता तो भूत किस प्रकार। वह भूत उत्पन्न हुआ तो वर्त्तमान में उसका अस्तित्व होना चाहिये। क्योंकि वर्त्तमानास्तित्व ही उत्पत्ति है। तब भूत-कालोत्पत्ति का अर्थ हुआ भूतकाल का वर्त्तमानास्तित्व। यह व्याघात है। अतः भूत की भी कल्पनामात्र है ॥९०॥

बुद्धोक्तेर्द्वयुत्पत्तेः सद्विषयत्वात्फलोद्भवादपि च ।
सत्यस्त्रिविधः कालस्तदस्तिवादाच्च बुद्धानाम् ॥ ९१ ॥

बुद्ध ने तीनों कालों को कहा है। दो से उत्पत्ति होती है। ज्ञान सद्विषयक होता है। कालज्ञान होता है, फलोत्पत्ति होती है। कालास्तितावाद बुद्धमत में हैं। अतः तीन काल सत्य है। यह मतान्तरवादियों का कहना है ॥९१॥

रूपमनित्यमतीतमनागतमपि चेत् कथं विवादः स्यात् ।
प्रत्युत्पन्नस्येति हि वचनं बुद्धस्य विस्पष्टम् ॥ ९२ ॥

अतीत तथा अनागत रूप अनित्य है तो वर्त्तमान रूप में क्या विचार हो सकता है ऐसा स्पष्ट बुद्धवचन त्रिकालास्तित्वबोधक है ॥९२॥

इन्द्रियविषयाभ्यां हि द्वाभ्यामुत्पद्यतेऽर्थविज्ञानम् ।
भूताभ्यां हेतुभ्यां भावि समुत्पद्यते कार्यम् ॥ ९३ ॥

चक्षु-श्रोत्रादि तथा रूप-शब्दादि से चाक्षुष विज्ञान श्रोत्रविज्ञानादि होते हैं। भूत कारण और भावि कार्य है। अतः दोनों काल मान्य है ॥९३॥

सद्वस्त्वालम्ब्य स्याद्विज्ञानं पूर्वसन्नतोऽर्थोऽत्र ।
उत्तरसद्विज्ञानं सिद्धं कालद्वयं तेन ॥ ९४ ॥

विषय पूर्वकालसत् और विज्ञान उत्तर कालसत् होता है तब भूतार्थ में भूतत्व और भाविविज्ञान में भावित्व ये दोनों सत् सिद्ध होते हैं ॥९४॥

यदि च भविष्यन्न स्याज्जायेत फलं कथं नु कर्मादेः।
भाविफलं कर्मादेर्भूतस्य भवेत्कथं न्वसतः ॥ ९५ ॥

भविष्य सर्वथा असत् हो तो तदर्थ शुभकर्मादि कैसे हो। भुत सर्वथा असत् हो तो भूत शुभादि से वर्त्तमान में फल कैसे होगा ? ॥९५॥

भूतो भावी प्रत्युत्पन्नश्चातो भवन्त्यमी कालाः।
त्रैकाल्यस्यास्तित्वं लोके किल संवदन्त्यखिलाः ॥ ९६ ॥

इस लिए भूत, भावी, वर्त्तमान ऐसे तीन काल हैं। लोक में भी तीन कालों का अस्तित्व सर्वसम्मत है ॥९६॥

धर्मत्रातः प्राह भदन्तो वस्तु स्वरूपतो हि समम्।
भूतं प्रत्युत्पन्नं भावीत्येवं त्रिधा सत्ता ॥ ९७ ॥

भदन्त धर्मत्रात का कहना है कि वस्तु एक रूप होने पर भी भूत वर्त्तमान भावी ऐसी तीन सत्ता होती है ॥९७॥

रूपरसादि हि वस्तुनि दुग्धादौ विपरिवर्त्तते यद्वत्।
भावान्यथात्ववादे भूतत्वाद्येवमेष्टव्यम् ॥ ९८ ॥

जैसे दुग्ध एक है उसमें रूप रसादि परिवर्त्तन से दही होता है तो वह भावान्यथात्व है। वैसे प्रथम भावित्व था। उसका परिवर्त्तन हुआ तो वर्त्तमानत्व हुआ। उसका भी परिवर्त्तन हुआ तो भूतत्व आया ॥९८॥

तत्र भदन्तो घोषो व्याचष्टे लक्षणान्यथात्वं तु।
धर्मत्रयं सदैव हि लक्ष्यत एतत् पृथक्त्वेन ॥ ९९ ॥

भदन्त घोष ने लक्षणान्यथात्व माना। तीनों धर्म पृथक् सदा रहते हैं। जैसे दही में भूत दुग्धत्व, वर्त्तमान दधित्व, भावितक्रत्व सदा है। अतः वस्तु हमेशा कालत्रयविशिष्ट होती है ॥९९॥

वसुमित्रस्तु भदन्तो दध्रेऽवस्थान्यथात्वमिह विषये।
भूतत्वादिरवस्था कर्मवशाज्जायतेऽर्थेषु ॥ १०० ॥

भदन्त वसुमित्र अवस्थान्यथात्ववादी है। भूतत्व वर्त्तमानत्वादि कारित्र वश से अर्थों मे होते हैं। कर्म कर चुका तो भूत। किया जा रहा है तो वर्त्तमान। कर्म आगे होगा तो भावी ॥१००॥

अत्रैव बुद्धदेवः प्राह भदन्तोऽन्यथान्यथात्वं तु ।
कालद्वयसापेक्षस्तत्तत्कालस्तथासंज्ञः ॥ १०१ ॥

इसी के बारे में भदन्त बुद्धदेव ने अन्यथान्यथात्व को अपनाया । भूत-वर्त्तमानसापेक्ष भावी । भूतभाविसापेक्ष वर्त्तमान। वर्त्तमान-भाविसापेक्ष भूत है

स्त्री पुत्री भार्येति हि सापेक्षत्वेन भण्यते यद्वत् ।
तद्वद् भूतत्वाद्यपि भाव्यस्तित्वादिसापेक्षम् ॥ १०२ ॥

जैसे एक ही स्त्री पिता पति आदि की दृष्टि में पत्नी पुत्री आदि होती है। वैसे भूतत्वादि है ॥१०२॥

अत्र तृतीयं पक्षं वसुबन्धुप्रभृतयो विदाञ्चक्रुः ।
कारित्रेणाध्वानो व्यवस्थिता इत्यनूचानाः ॥ १०३ ॥

कारित्र से भूतादि अध्वा (काल) व्यवस्थित है कहते हुए वसुबन्धु आदि ने यही तृतीय मत माना ॥१०३॥

इति कालनिरूपणम्

प्रत्यक्षं स्थूलमिदं चक्षुःप्रभृति प्रमाणमत्र भवेत् ।
शक्तिस्वरूपधर्मा अनुमेया मानमनुमानम् ॥ १०४ ॥
बुद्धस्य वचनमेवं मानं कात्यायनीसुतादेश्च ।
अनुमानान्तर्भावं केचन वाञ्छन्ति शास्त्रमपि ॥ १०५ ॥

प्रत्यक्ष स्थूल जगत का चक्षुरादि प्रत्यक्ष प्रमाण है। संस्कारादि में अनुमान प्रमाण है । बुद्ध कात्यायनीपुत्रादि का वचन भी प्रमाण हैं । किन्तु बुद्धादि के लिए तदर्थ प्रत्यक्ष और अस्मदादि के लिए वचनलिङ्गानुमेय है ऐसे अन्य कहते हैं ॥१०४-१०५॥

क्षणभङ्गुरमखिलं जगदाकाशादित्रयाद् यदतिरिक्तम् ।
सर्वं क्षणिकं दुःखं स्वलक्षणं शून्यमिति भाव्यम् ॥ १०६ ॥

आकाशादि तीन को छोड़ कर सभी वस्तु क्षणभंगुर हैं। सभी क्षणिक है, दुःख है, स्वलक्षण है, शून्य है ऐसी भावना साधक को करनी चाहिए ।

प्रतिसंख्यादिनिरोधाच्छून्यावस्था यतोऽन्ततो जगतः ।
तामेव परिप्राप्तुं न्याय्या तद्भावना भवति ॥ १०७ ॥

प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध से अन्ततः शून्यता होती ही है। अतः वर्त्तमान में भी शून्यभावना करना अनुचित नहीं है ॥१०७॥

एतद्भावनया वा समाधिना वापि सततविहितेन ।
सम्यग्बोधेऽविद्या नश्येत् संतानजननी या ॥ १०८ ॥

पूर्वोक्त भावना से या निरन्तर समाधि से सम्यक् बोध होता है। उससे अविद्या नष्ट होती है जो संसारसन्तानप्रवाहकारिणी है ॥१०८॥

भौतिकचैतसिकाद्या धर्मा निर्वान्ति मोहनाशेन ।
निर्वाणं परमार्थं परमपुमर्थं तदा भवति ॥ १०९ ॥

अविद्यानाश से भौतिक तथा चैतसिक सभी धर्म बुझ जाते हैं तब परमार्थ परमपुरुषार्थ निर्वाण होता है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना वैभाषिकमन्वदर्शि संक्षेपात् ।
मतमखिलदर्शनार्थं बोद्धुं बुद्धस्य सिद्धान्तम् ॥ ११० ॥
सर्वास्तिवादिनां मतमाकलयितुमल्पयत्नतो बौद्धम् ।
विहितेयं कृतिरनया प्रसीदतु श्रीहरिः स मयि ॥ १११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ वैभाषिकमतदर्शनम्

सौत्रान्तिकदर्शनम्

वैभाषिकसौत्रान्तिकभेदात् सर्वास्तिवादिनो द्विविधाः ।
वैभाषिकमतमुक्तं येषां प्रात्यक्षिका अर्थाः ।। १ ।।

वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक भेद से सर्वास्तिवादी दो प्रकार के हैं। (फिर भी सर्वास्तिवादी से मुख्यतया वैभाषिक ही प्रसिद्ध है) इनमें वैभाषिकमत का वर्णन हो चुका जिनके मत में अर्थ प्रत्यक्ष होता है ।।१।।

सौत्रान्तिकमतमधुना संक्षेपात् संप्रदर्श्यतेऽल्पपदैः ।
वैभाषिकमनुकुर्वन् कुमारलातो यदाह स्म ।। २ ।।

अब अल्प पदों में संक्षेपतः सौत्रान्तिक मत हम दिखाते हैं। जिसे प्रायः वैभाषिक मत के अनुकारी कुमारलात ने प्रसारित किया ।।२।।

अत्र स्वयूथ्यकविभिर्विमतिर्वैभाषिकप्रभृतिभिस्तु ।
विषये क्वचन क्वचन तु विरलं निजमर्थवैशेष्यम् ।। ३ ।।

इस मत में अधिकतर स्वयूथ्यों के साथ विवाद मात्र है। हां कहीं कहीं विरला नया अर्थ भी है ।।३।।

सूत्राणामन्तो यः सिद्धान्तः सूत्रपिटकनिर्दिष्टः ।
तदधीतिस्तन्मानः सौत्रान्तिक उच्यते बौद्धः ।। ४ ।।

सूत्रों का अन्त-सिद्धान्त-चरमरहस्य सूत्रान्त है जो सूत्रपिटक में निर्दिष्ट है। उसका अध्ययन करने वाला, उसी को प्रमाण मानने वाला या उसी से चलने वाला (तेन चरति) सौत्रान्तिक है ।।४।।

यो मार्गसत्यसंज्ञः सोऽनास्रव उच्यते बुधैर्धर्मः ।
अन्ये तु सास्रवाः स्युः सर्वे क्लेशाशया हि यतः ।। ५ ।।

चार मार्ग सत्य हैं। वे ही अनास्रव धर्म हैं। अन्य क्लेशोत्पादक होने से सास्रव धर्म माने जाते हैं ।।५।।

पञ्च स्कन्धाः प्राग्वद् रूपस्कन्धो बहिः स्थितः प्रथमः ।
अन्तस्तु वेदनाऽथ च संज्ञाविज्ञानसंस्काराः ।। ६ ।।

वैभाषिकमतवत् सौत्रान्तिक मत में भी पांच स्कन्ध हैं। प्रथम रूप-स्कन्ध बाह्य है। अंदर वेदना, संज्ञा, विज्ञान, तथा संस्कार ये चार स्कन्ध हैं ॥६॥

सर्वेऽपि संस्कृताः स्यू रूपादिस्कन्धपञ्चकात्मानः ।
वक्तव्या हातव्याः सहेतुकाः सस्वभावाश्च ॥ ७ ॥

पञ्चस्कन्धात्मक समस्त पदार्थ संस्कृत (सम्यक् कृत) माने जाते हैं। क्यों कि ये सभी वाग्विषय हैं, हेय हैं, सहेतुक हैं और सस्वाभाव हैं ॥७॥

आकाशः प्रतिसंख्याऽप्रतिशंख्योत्थौ तथा निरोधौ च ।
नो संस्कृतधर्मविधां प्रतिपद्यन्ते ह्यभावत्वात् ॥ ८ ॥

आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्यानिरोध ये तीनों संस्कृत धर्म नहीं हैं क्योंकि ये अभावरूप हैं ॥८॥

नासंस्कृतधर्मा वा नैवैते द्रव्यसन्त इति हेतोः ।
अपि चाहुरनास्रवतां तेषां सौत्रान्तिकाः प्राज्ञाः ॥ ९ ॥

वैभाषिक इन्हें असंस्कृत धर्मं मानते हैं। पर अभावरूप होने से द्रव्य-सत् नहीं है, धर्मं नहीं है तो असंस्कृत धर्म कैसे बनते। हां ये अनास्रव हैं यह बात सौत्रान्तिक मानने हैं ॥९॥

क्लेशोपादानत्वात् स्कन्धास्ते सास्रवा उपादानाः ।
दुःखं भवः समुदयो दृष्टिस्थानं च लोकश्च ॥ १० ॥

क्लेशों के उपादान होने से स्कन्ध सास्रव होते हैं और उपादान स्कन्ध भी कहलाते हैं। ये दुःखरूप हैं। उत्पत्तिमान् होने से भव हैं। दुःखहेतु होने से समुदय कहलाते हैं। पांच दृष्टियां इनमें होती हैं। अतः दृष्टिस्थान हैं। लुच्यमान होने से लोक भी कहलाते हैं ॥१०॥

चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं जिह्वा कायस्तदर्थपञ्चतयम् ।
कर्मपराऽविज्ञाप्ती रूपस्कन्धस्तु केषांचित् ॥ ११ ॥

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक् ये इन्द्रियां और इनके विषय पांच रूप शब्दादि तथा कर्मात्मक या कर्मपर्यंवसायी अविज्ञप्ति ये ग्यारह रूप स्कन्ध हैं ऐसा कुछ लोगों का मत है ॥११॥

परमाणुसमूहेष्वारोपितरूपो भवत्ययं स्कन्धः ।
अवनिजलानलमरुतः स्कन्धो नो राशिरित्यन्ये ॥ १२ ॥

पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये भी स्कन्ध हैं। परमाणु समूह में ये स्कन्ध आरोपित हैं। ऐसा अन्य मत है। स्कन्ध राशिरूप नहीं है। अतः परमाणु भी स्कन्ध रूप हैं, ऐसी भी मान्यता है ॥१२॥

परमाणवस्तु नैव हि संयुज्यन्ते यतोऽनवयवास्ते ।
मज्जेरन्नन्योन्यं नैव महत्त्वं प्रपद्येरन् ॥ १३ ॥

परमाणुओं का परस्पर संयोग नहीं होता। क्यों कि वे निरवयव हैं। एक वस्तु के दूसरी वस्तु के एक देश से जुड़े और अन्य देश से न जुड़े रहने से महत्त्व आता है। अन्यथा एक परमाणु में दूसरा डूब जायेगा। महत्त्व होगा ही नहीं ॥१३॥

एका महती सेना महदेकमरण्यमेतदिति हि यथा ।
एको घटो महानित्यवयविना धीर्विनैव तथा ॥ १४ ॥

यह एक बड़ी सेना है। यह एक बड़ा जङ्गल है। इस प्रतीति में अनेक सैनिकों से एक अवयवी सेना उत्पन्न नहीं होती, अनेक वृक्षों से एक अवयवी जङ्गल उत्पन्न नहीं होता, यही सभी मानते हैं। वैसे एक बड़ा घड़ा यह भी मति विना अवयवी परमाणुसमुदाय में क्यों नहीं हो सकती ? ॥१४॥

ननु परमाणूनां ते कथमाध्यक्ष्यं ह्यतीन्द्रियाणां स्यात् ।
मम पुनरवयव्यन्यो भवतीन्द्रियगोचरो जातः ॥ १५ ॥

नैयायिक पूर्वपक्ष करते हैं कि परमाणु अतीन्द्रिय होने से तत्समुदाय घटादि का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। हमारे (नैयायिकों के) मत में अवयवी अतिरिक्त उत्पन्न होता है वह इन्द्रियगोचर होता है ॥१५॥

तदसद् यदसज्जननं भवता चेदभ्युपेयते तर्हि ।
मम दण्डवारितं तत् कथमिति विनिगद्यतां विदुषा ॥ १६ ॥

नैयायिकों का यह पूर्वपक्ष निःसार है। असत् की उत्पत्ति यदि नैयायिक मानते है तो हम बोद्धों के लिए वह दण्डवारित होगा क्या ? ॥१६॥

परमाणूनां पुञ्जे रूपं महदुद्भवेदसत् पूर्वम् ।
क्वचन तु तदनुत्पत्तिर्वस्तुस्वाभाव्यतस्तव च ॥ १७ ॥

असत् उत्पन्न होता है इस से क्या सिद्ध हुआ ? जैसे आप अवयवी की उत्पत्ति कहते हैं वैसे हम केवल रूप की उत्पत्ति कहेंगे। कहीं उत्पन्न नहीं भी होगा। जैसे नैयायिक मत में ग्रीष्मोष्मा में महत्त्व है। पर रूप नहीं। प्रभा में रूप है। उष्णता नहीं। इसमें स्वभाव ही हेतु है ॥१७॥

वैभाषिकमतरीत्या प्रत्यक्षवचो ममैतदनुमेयम्।
प्रज्ञप्तिरूप एव स्कन्धः सौत्रान्तिकनयेन ॥ १८ ॥

यह प्रत्यक्षत्वोपपादन वेभाषिक मत से किया। सौत्रान्तिक मत में वह अनुमेय है। वस्तुतः स्कन्ध सौत्रान्तिक मत में प्रज्ञप्ति मात्र है ॥१८॥

येन हि सम्बन्धो वा सांमुख्यं वा भवेत्स्वनयनादेः।
ज्ञानं तदुत्तरं स्यात्तावन्नार्थोऽवतिष्ठेत ॥ १९ ॥
क्षणिकत्वाद् वस्तूनां प्रत्यक्षं स्यात्कथं नु तदभावे।
तस्मात्कस्यचिदपि न प्रत्यक्षं युज्यतेऽर्थस्य ॥ २० ॥

जिस अर्थ के साथ संबन्ध या सांमुख्य नयनादि का हो उसी का उत्तरक्षण में प्रत्यक्ष होगा। तब तक वस्तु हो नहीं रहेगी तो प्रत्यक्ष कैसा ? क्यों कि सभी वस्तु क्षणिक हैं। और वस्तु के न होने पर प्रत्यक्ष माना नहीं जाता। अतः किसी भी अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥१९-२०॥

वस्तूनां सांमुख्ये तच्छायापद्यते तदा बुद्धौ।
सैव तदाकृतिरुक्ता तथा स चार्थोऽनुमीयेत ॥ २१ ॥

वस्तु संमुख आती है तो उसकी छाया बुद्धि में आ जाती है। यही बुद्धि की आकृति है। उस आकृति से वस्तु का अनुमान होता है ॥२१॥

न विना बाह्यैरर्थैराकारो भवितुमर्हति तथात्वे।
स्यादनियतिरिति सत्ता बाह्यार्थानामुपेयैव ॥ २२ ॥

यदि बुद्धि का आकार ही ज्ञान है तो बाह्यार्थ के विना ही आकार क्यों न हो ? कारण यह कि तब कौन सा आकार कब हो यह नियम नहीं रहेगा। अतः बाह्यार्थों की सत्ता माननी ही चाहिये। फिर छाया वस्तु के विना होगी ही किस प्रकार ? ॥२२॥

ननु यो बुद्ध्याकारः प्रत्यक्षः स्यात्स एव किमनुमया।
मैवं बाह्यार्थस्य स्फुरणं प्रत्यक्षमिष्टं ते ॥ २३ ॥

यह कहें कि बुद्धि में जो आकार है वह प्रत्यक्ष है। स्वप्रकाश है। अनुमान की क्या जरूरत ? सुनो। आप के मत में बाह्यार्थस्फुरण प्रत्यक्ष है। उसी का हम निषेध करते हैं। बुद्ध्याकारस्फुरण तो हमें भी इष्ट ही है।

नन्वनुमानं पश्चाल्लिङ्गादर्थाकृतेस्त्वया वाच्यम् ।
तावन्न साऽस्ति बुद्धिर्यास्ति न साऽऽकारमीक्षेत ।। २४ ।।

पूर्वपक्ष यह है कि बुद्धि में नीलादि आकार हुआ उससे अर्थानुमिति उत्तरक्षण में होगी। किन्तु तब तक अर्थाकारवती बुद्धि नहीं है। जो है वह अर्थाकारप्रकाशिका नहीं है ।।२४।।

मैवं तुल्याकारा बाह्यानुमितिस्वरूपिणी काचित् ।
स्यादुत्तरं स च स्याद्धर्मविशेषोऽनुमितिलक्ष्मा ।। २५ ।।

उत्तर है—उत्तरक्षण में समानाकार द्वितीय बुद्धि होगी। वह बाह्यार्थानुमितिरूप होगी। अनुमितित्व ज्ञान का ही एक विशिष्ट धर्म है। अतः द्वितीयक्षणीय ज्ञान अनुमिति होगा ।।२५।।

ननु साऽप्यर्थाकारा ह्यर्थाकारैव जायते प्रथमा ।
उभयोः को भेदः स्यात् किं नु फलं च द्वितीयस्याः ।। २६ ।।

प्रथम बुद्धि अर्थाकार मानना पड़ेगा। अन्यथा ज्ञान से अर्थानुमिति संभव नहीं है। उस से होने वाली द्वितीय अनुमितिरूप बुद्धि भी अर्थाकार हैं। तब दोनों में क्या फरक हैं ? माना जाय कि कुछ फरक है। फिर भी द्वितीय ज्ञान का प्रयोजन क्या है ? प्रथम ज्ञान से ही प्रवृत्ति आदि सभी उपपन्न है ।।२६।।

किं चार्थस्मरणेऽपि ह्यर्थाकारस्त्वयोररीकार्यः ।
तेनाप्यर्थानुमितिः कथमिव नापद्यते भवतः ।। २७ ।।

दूसरी बात—अर्थस्मरण में भी अर्थाकार है। उस से भी अर्थ का अनुमान क्यों नहीं होता है ? ।।२७।।

अत्रोच्यते द्विधा स्यादर्थाकारः स्वतश्च परतश्च ।
अर्थच्छायारूपः परतस्तज्जः स्वतः प्रोक्तः ।। २८ ।।

समाधान यह है कि अर्थाकार बुद्धि में दो प्रकार से आता है। एक स्वतः है। दूसरा परतः है। संमुख वस्तु की छायारूप आकार परतः है। या उस के संयोग से होने वाला परतः है। फिर अनुमितिरूप आकार

अर्थसंयोग के बिना होता है अतः स्वतः है ॥२८॥

चैतन्यसन्ततिः स्याद् बुद्धिः सा तु स्वतो निराकारा ।
अर्थच्छायासंनिधिवशतोऽर्थाकारिणी मणिवत् ॥ २९ ॥

चैतन्य संतति बुद्धि है। वह स्वतः निराकार है। अर्थच्छाया के सांनिध्य से अर्थाकार होती है। जैसे जपाकुसुमसांनिध्य से मणि जपा कुसुमलोहिताकार होती है ॥२९॥

छायोत्थाकारभवः स्मृत्याकारस्तथानुमायां तु ।
लिङ्गोद्भूताकारः सोऽयं स्मरणानुमाभेदः ॥ ३० ॥

छाया आदि से जो आकार ज्ञान में आता है उस आकार से उत्तर ज्ञान में आकार हो तो वह स्मृति कहलाती है। लिङ्गोत्पन्न आकार हो तो वह अनुमिति होती है। यही अनुमिति और स्मृति में फरक है। यद्यपि छायाजन्य आकार और छायाप्रकाशजन्याकार यही प्रत्यक्ष और अनुमिति में भी भेद हो सकता है तो प्रथम ज्ञान प्रत्यक्ष ही है ऐसा कह सकते थे। किन्तु वह छाया का प्रत्यक्ष है वस्तु का नहीं। अतः प्रथम ज्ञान को वस्तु प्रत्यक्ष नहीं कह सकते ॥३०॥

अर्थस्याकारोऽस्तीत्येके तावद्वदन्ति विद्वांसः ।
बुद्ध्या कल्पित एष त्वाकार इतीतरे विविदुः ॥ ३१ ॥

कुछ विद्वान् अर्थ का आकार मानते हैं। किन्तु अन्य विद्वानों का कहना है कि अर्थ का आकार कल्पित है ॥३१॥

ननु बुद्धिकल्पितत्वे कथमाकारोऽनुमापयेदर्थम् ।
मैवं वस्तुच्छाया वास्तविकी विद्यते तत्र ॥ ३२ ॥

यदि आकार बुद्धिकल्पित है तो कल्पित आकार से वस्तु की अनुमिति कैसे हो ? इस प्रकार वस्तु का आकार भले कल्पित हो, पर वस्तु की छाया तो वास्तविक है ॥३२॥

अपरे त्विन्द्रियजनितामाकृतिमाहुर्यथेन्द्रियं दृष्टेः ।
वक्रे वक्रं रूपं पीते पीतं यथा लोके ॥ ३३ ॥

अन्य विद्वान् कहते हैं कि आकृति इन्द्रियजनित है। जैसी इन्द्रिय वैसे रूपादि देखने में आते हैं। आंख डेढी तो रूप डेढा। आंख पित्तपीतिमग्रस्त

हो तो जगत् पीत। जैसे लोक में कांच टेढा हो और पीला हो तो वैसी वस्तु दीखती है ॥३३॥

अर्थः परमाणुचयो रूपाकारस्तु नयनवशतोऽयम् ।
श्रवणाच्छब्दाकारो भवति विशेषा रसादिषु च ॥ ३४ ॥

परमाणुसमुदाय ही अर्थ है। नयन के कारण वह रूपाकार होता है। श्रोत्रवश शब्दाकार होता है। रसनावश रसाकार होता है इत्यादि ॥३४॥

इन्द्रियविषयाभ्यां पुनरर्थाकारार्पणं भवति बुद्धौ ।
इति बुद्धा व्याचख्युः सौत्रान्तिकहार्दबोद्धारः ॥ ३५ ॥

इन्द्रिय और विषय दोनों से बुद्धि में अर्थाकारसमर्पण होता है। ऐसा सौत्रान्तिकरहस्यवेत्ताओं का कथन है ॥३५॥

नेन्द्रियमात्रादर्थाकारः संपद्यते बहुविधस्तु ।
कथमसितलोहितादिर्भिद्येतैकेन नयनेन ॥ ३६ ॥

केवल इन्द्रिय से ही नाना अर्थाकार नहीं होता। एक ही नेत्र से नील: पीत रक्तादि आकार भेद कैसे हो सकेगा ॥३६॥

अत्र वदन्ति क्षित्याद्यणवस्तत्पुञ्जलक्ष्मकार्याणि ।
रूपाण्यष्टोपादा—नोपादेयस्वरूपाणि ॥ ३७ ॥

व्याख्याताओं का कहना है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार के परमाणु और उनके कार्यपुञ्ज इस प्रकार उपादान-उपादेय भाव से स्थित आठ रूपस्कन्ध हैं। यद्यपि पुञ्ज अलग नहीं है। तथापि परमाणुओं का सामीप्य होने से ही पुञ्जता का व्यवहार होता है। अथवा परमाणु समुदाय में पूर्वोक्तरीत्या नवीन रूप उत्पन्न होता है वही उपादेय माना जा सकता है ॥३८॥

विंशतिधा रूपं पुनरपरे कार्यं यतस्तु षोडशधा ।
कार्येन्द्रियविषयाणां भेदैः स्युर्द्वादशैषां हि ॥ ३९ ॥
शब्दश्रोत्रे द्वे स्तां द्वे स्तां मन्तव्यवस्तुमनसी च ।
एवं विंशतिधा स्यात् संक्षेपादष्टधेत्युक्तम् ॥ ४० ॥

दूसरे विद्वान् बीस प्रकार के रूप मानते हैं। उनमें चार तो परमाणु ही हैं। सोलह कार्य हैं। शरीर, इन्द्रिय और विषयभेद से चार परमाणुओं

के बारह कार्य हो गये। शब्द और श्रोत्र दो, मन और मन्तव्य दो इस प्रकार सोलह और पूर्वोक्त परमाणुचतुष्टय मिलाने से बीस होते हैं। यद्यपि मन और मन्तव्य को नामस्कन्ध के अन्तर्गत मानना चाहिये। तथापि सुखादि की बाह्यार्थ में ही गिनती वैभाषिक मत प्रसंग में कह चुके हैं। तथा मन को अतिरिक्त इन्द्रिय मानकर उपपादन करना चाहिये। अष्टधा विंशतिधा यह संक्षेप-विस्तार मात्र है। विरुद्ध मतद्वय नहीं है ॥३९-४०॥

इति रूपस्कन्धनिरूपणम्

नामाभिधाश्चतुर्धाऽरूपास्ते वेदनादिकाः स्कन्धाः ।
त्रिविधाऽत्र वेदना स्यात् सा सुखदुःखानुभयविषया ॥ ४१ ॥

नाम स्कन्ध शेष चार हैं। वे अरूप हैं। वेदना, संज्ञा, विज्ञान और संस्कार ये चार स्कन्ध हैं। इनमें वेदनास्कन्ध के तीन प्रकार हैं। सुखविषयवेदना, दुःखविषयवेदना और सुखदुःखानुभयविषयवेदना। वेदना अर्थात् अनुभूति-उपभोग ॥४१॥

तद्धेतुसौष्ठवादेः संज्ञास्कन्धो न्यगद्यतोद्ग्रहणम् ।
षोढा तदिन्द्रियैस्तज्जायेत यतो मनःषष्ठैः ॥ ४२ ॥

वेदना के हेतु सौष्ठव-दौष्ठवादिका उद्ग्रहण संज्ञास्कन्ध बताया है। वह छः प्रकार का है। क्यों कि मन सहित पांच इन्द्रियों से वह वेदनाकारक सौष्ठवादिज्ञान उत्पन्न होता है ॥४२॥

विज्ञानं षोढा स्यात्तैरेव कृतं विविच्य यज्ज्ञानम् ।
अनुमितिरेषा तु स्याद् यद्वा चैतन्यसंतानः ॥ ४३ ॥

पूर्वोक्त छः संज्ञाओं से पृथक् पृथक् कर जो ज्ञान होता है वह विज्ञान-स्कन्ध है। वह भी पूर्ववत् षडिन्द्रिय जन्य होने से षड्विध है ॥४३॥

एभ्यो भिन्नं संस्कृतमुक्तं विज्ञानवासनाद्यखिलम् ।
संस्कारस्कन्ध इति स कुशलाकुशलो हि विंशतिधा ॥ ४४ ॥

इन से भिन्न विज्ञान वासना आदि सभी संस्कृत (सम्यक् कृत) संस्कार स्कन्ध हैं। वह कुशल-अकुशल भेद से बीस प्रकार का है ॥४४॥

संस्कारान्तर्भावसमर्हौ संज्ञा च वेदना चैव ।
तदपि पृथगभिहिते ते विबुधैः संसारहेतुत्वात् ॥ ४५ ॥

यद्यपि वेदना तथा संज्ञा भी संस्कृत न होने से संस्कारस्कन्ध के अन्तर्भूत माने जा सकते थे। तथापि संसारहेतु होने से उनको पृथक् करके बताया ॥४५॥

इति नामस्कन्धनिरूपणम्

अत्रानादिरविद्यासन्ततिरथ तत्स्थवासनानिचयः ।
उभयं तदिदं प्रोक्तं मूलं संसारवृक्षस्य ॥ ४६ ॥

संसार वृक्ष का मूल अनादि अविद्यासन्तति तथा वासनसन्तान ये दोनों बताये गये हैं ॥४६॥

तत्रापि च रागादिसमुद्भवभूः स्यादनाद्यविद्यैव ।
तस्मात् सैव हि परमं मूलं संसारचक्रस्य ॥ ४७ ॥

उनमें भी रागादि का उद्भवस्थान अनादि अविद्या है। अतः वही संसार चक्र का परम मूल है ॥४७॥

कर्मभिरुद्भवति यदा द्वयमपि तत्सुप्तसूक्ष्मसंस्थानम् ।
उद्भवति स्वभवकरे प्रथमं खलु नामरूपे द्वे ॥ ४८ ॥

कर्मों के कारण जब अविद्या और वासना उद्भूत हो जाती हैं जो कि पूर्व सुप्त या सूक्ष्म रूप से लीन हैं, तब स्वसंसारकारण नामस्कन्ध और रूपस्कन्ध की उत्पत्ति होती है ॥४८॥

ताभ्यां कलेवरं स्यात्तत्रैव समुद्भवेत् षडायतनम् ।
संपद्येरन् सस्वरमष्टादशधातवः प्रथिताः ॥ ४९ ॥

नामस्कन्ध और रूपस्कन्ध से शरीरजन्म होता है। वहीं छः आयतनों की उत्पत्ति होगी। तुरत ही प्रख्यात अष्टादश धातु संपन्न होंगे ॥४९॥

विज्ञानधातवः षट् पुनरिन्द्रियधातवो भवन्ति च षट् ।
रूपाद्याः ससुखाद्या आलम्बनधातवोऽपि च षट् ॥ ५० ॥

छः इन्द्रियाँ हि इन्द्रियधातुषट्क हैं। उससे उत्पन्न छः विज्ञान विज्ञान-धातुषट्क है। और रूप शब्दादि पाँच तथा मानस सुखदुःखादि एक ऐसे छः आलम्बनधातुषट्क है। इस प्रकार धातु अष्टादश हैं ॥५०॥

अपरे दशेन्द्रियार्थानायतनान्याश्रयत्वतः प्राहुः ।
गोत्रत्वाद्धेतुत्वाद्धारणतो धातुताप्येषाम् ॥ ५१ ॥

दूसरे आयतनों की संख्या छः न मान कर दस कहते हैं। पाँच इन्द्रिय और पाँच अर्थ आयतन हैं। इन दस को तथा अन्य आठ को धातु इसलिये कहते हैं कि वे गोत्र (धातूत्पत्तिस्थान पर्वत सदृश) हैं अर्थात् कारण हैं। और धारण करते हैं इसलिये भी धातु हैं ॥५१॥

स्याद् द्रव्यसंस्तु धातुः स्कन्धः प्रज्ञप्तिरेव न तु धातुः।
आयतनं च तथैवेत्युक्तं सौत्रान्तिकेऽत्र मते ॥ ५२ ॥

जो द्रव्यसत् है वही धातु है। स्कन्ध प्रज्ञप्तिमात्र है, धातु नहीं है। आयतन भी प्रज्ञप्तिमात्र है। ऐसा सौत्रान्तिक का मत है ॥५२॥

चक्षुःप्रभृतिर्धातुर्विदधाति सजातिचक्षुरादि यतः।
स्कन्धस्तु राशिरेष हि न पृथक् सत्त्वं कथंचिदियात् ॥ ५३ ॥

चक्षु आदि धातु हैं। क्योंकि सजातीय उत्तर चक्षु आदि के कारण हैं। स्कन्ध राशिरूप है। इस पक्ष में भी उसकी पृथक् सत्ता कथमपि सिद्ध नहीं होती ॥५३॥

विज्ञानकृदायतनं ताद्रूप्यं ज्ञाप्तिरेव न द्रव्यम्।
तच्छक्तिर्जनकत्वाद् द्रव्यसतीत्यूचिरे त्वपरे ॥ ५४ ॥

आयतन विज्ञानजनक है। किन्तु आयतनता ज्ञाप्ति रूप ही है, द्रव्य नहीं है। विज्ञानजननशक्ति द्रव्यसती है ऐसे कुछ लोग मानते हैं ॥५४॥

आकाशधातुमेके निगदन्ति परं त्वभावरूपत्वात्।
धातुत्वं नैवेतीत्यपरे प्रतिपेदिरे प्राज्ञाः ॥ ५५ ॥

कुछ लोग आकाश को भी धातु मानते हैं। किन्तु आकाश अभावरूप होने से धातुत्व प्राप्त नहीं है ऐसी प्राज्ञों की मान्यता है ॥५५॥

इत्यायतनधातुनिरूपणम्

अथ चात्र काम-रूपा-ऽऽरूप्याख्या धातवो निगद्यन्ते।
अष्टादश पूर्वोक्ताः प्रोच्यन्ते कामधात्वाप्ताः ॥ ५६ ॥

अब कामधातु रूपधातु और आयतनधातु को हम बताते हैं। पूर्वोक्त अष्टादश धातु कामधात्वाप्त हैं ॥५६॥

स्वर्गो नरकस्तिर्यक् प्रेतो मानुष्य इत्यमूर्गतयः।
कामाप्तानां बोध्यास्तेषां कामप्रयुक्तत्वात् ॥ ५७ ॥

जो कामधात्वाप्त अष्टादश धातु या उनसे युक्त पुरुष है उसको स्वर्ग, नरक, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनि प्राप्त होती है। क्योंकि ये सारी गतियाँ कामनाप्रयुक्त हैं। इन्द्रियादि सभी कामप्रयुक्त गतिवाले होते हैं ॥५७॥

गन्धरसघ्राणरसनवर्जा एते हि रूपधात्वाप्ताः ।
कवलोक्रियमाणत्वान्न निरूप्यन्ते हि गन्धाद्याः ॥ ५८ ॥

गन्ध, रस, घ्राण और रसना को छोड़ कर बाकी रूपधात्वाप्त होते हैं। क्योंकि ये कवलित हो जाते हैं। रूप कवलित नहीं होता। फिर-फिर देख सकते हैं। किन्तु जो गन्ध, या रस इन्द्रिय में आया वह कवलित हो गया। पुनः निरूपण इनका नहीं होता। आगे कहा जाने वाला ध्यान रूपादि को लेकर ही संभव है। गन्ध-रस को लेकर नहीं ॥५८॥

कामविपरीतलक्षणमारूप्यं तद्वतो न बाह्यार्थः ।
भावनया त्यक्तत्वात्त्रयमन्तस्तच्च वक्ष्यामः ॥ ५९ ॥

कामधातु से विपरीतलक्षणवाला आरूप्यधातु है। आरूप्यधातु वाले के बाह्यार्थ नहीं होते। क्योंकि भावना से बाह्यार्थ त्यक्त हो जाते हैं। अतः आन्तरिक तीन ही रह जाते हैं यह आगे बतायेंगे ॥५९॥

कामाप्तानामर्थस्पर्शवशाद् वेदना प्रजायेत ।
वेदनया तृष्णादिस्तस्मादन्तःप्रवृत्तिश्च ॥ ६० ॥

जो कामाप्त पुरुष है, अष्टादशधातुयुक्त है उसका इन्द्रियार्थ से निकर्ष होने से वेदना (सुख-दुःखानुभूति) होगी। वेदना से तृष्णा राग द्वेषादि होंगे। उससे प्रथम अन्दर ही हानोपादानर्थ प्रवृत्ति शुरू हो जाती है ॥६०॥

बाह्यापि च प्रवृत्तिः सेयं नाम द्वयो प्रवृत्तिः स्यात् ।
भवति क्वचिच्छुभा सा क्वचिदशुभा चेत्यपि द्वेधा ॥ ६१ ॥

अन्तःप्रवृत्ति के बाद बाह्यप्रवृत्ति भी होगी। यहीं द्विविध प्रवृत्ति है। वे प्रवृत्तियाँ कभी शुभरूप और कभी अशुभरूप होती हैं। इस प्रकार वह पुनः द्विविध मानी जाती है ॥६१॥

अन्तःप्रवृत्तिरुक्ता सङ्कल्पात्माऽभ्युदेति सर्वेषान् ।
कायिकवाचिकमानसभेदात्त्रिविधं तु तज्जन्यम् ॥ ६२ ॥

पूर्वोक्त अन्तःप्रवृत्ति संकल्पात्मक होती है। सब की वैसी प्रवृत्ति होती है। उससे फिर कायिक, वाचिक और मानसिक ऐसी तीन प्रकार की

प्रवृत्तियाँ होती हैं ॥६२॥

यत्संकल्पः पुरुषस्तत्कर्म करोति मानसं च तथा ।
ध्यानादि मानसं यत्तदपि च सङ्कल्पतो बाह्यम् ॥ ६३ ॥

मनुष्य जिसका संकल्प करता है, वही कर्म करता है। मानस कर्म-ध्यानादि भी "मैं ध्यान करूँ" ऐसे संकल्प से होता है। अतः मानस कर्म भी संकल्पात्मक अन्तः प्रवृत्ति की अपेक्षा बाह्य ही माना जायेगा ॥६३॥

त्रिविधं चतुर्विधं च त्रिविधं चाकुशलकुशलभेदेन ।
कायिकवाचिकमानसकर्म हि संगृह्य विंशतिधा ॥ ६४ ॥

कायिक तीन, वाचिक चार और मानसिक तीन ऐसे कुल दस कर्म होते हैं। वे कुशल एवं अकुल विभाग से बीस प्रकार के बन जाते हैं ॥६४॥

हिंसाचौर्यागम्यागमनानि तु कायिकान्यकुशलानि ।
कुशलानि पुनर्राहिंसाऽस्तेयं च ब्रह्मचर्यं च ॥ ६५ ॥

हिंसा (प्राणातिपात) चौर्य (अदत्तादान) और अगम्यागमन (मृषाचार) ये तीन कायिक अकुशल कर्म हैं। और कायिक कुशल कर्म है—अहिंसा, आस्तेय और ब्रह्मचर्य ॥६५॥

अकुशलवाचिककर्माणीह मृषा पिशुनपरुषवचनानि ।
अपि संप्रलाप एषां विपरीतान्येव कुशलानि ॥ ६६ ॥

अकुशल वाचिक कर्म झूठ बोलना, चुगली करना, कठोर बोलना और संप्रलाप अर्थात् निरर्थक आक्षेप वचन कहना ये चार हैं। इनसे विपरीत सत्यकथन, उपकार वचन, मधुर वचन और सार्थक प्रशस्ति वचन ये चार वाचिक कुशल कर्म है ॥६६॥

यदभिध्या व्यापादो मिथ्यादृष्टिश्च मानसमभव्यम् ।
कुशलमलोभः करुणा सद्धृतिरिति विंशतिः कलिता ॥ ६७ ॥

अभिध्या (लोभ), व्यापाद (प्रतिहिंसा की भावना) और असद्वस्तु का हठ पूर्वक धारण करना ये मानस अकुशल कर्म है। और अलोभ, करुणा तथा सत्धृति ये मानस कुशल कर्म हैं। इस प्रकार ये बीस कर्म हो गये।

इदमेव पूर्वभवगं कर्मेति निगद्यते भवोद्भवनम् ।
तस्य च संस्काराः स्युः क्षणिका धारा फलान्ता च ॥ ६८ ॥

पूर्व जन्म में संपन्न यही कर्म संसारकारण बताया है। उस कर्म के संस्कार होते हैं जो क्षणिकधारारूप में चलते हैं। फल होने पर यह संस्कारधारा समाप्त हो जाती है। तब तक दूसरा कर्म और उसकी संस्कारधारा चलने लगेगी। अतः स्वतः समाप्ति की कोई आशा नहीं हो सकती ॥६८॥

तेषां कलेवरादिप्रभवावस्था समुद्भवाख्या या।
स खलु भव इति प्रोक्तो भवति यतः संसृतिर्नाम ॥ ६९ ॥

इन कर्मों से शरीरादि की उत्पत्तिपूर्वावस्था होती है, जिसको समुद्भव कहते हैं, वही भव है। 'भवत्यस्मात् संसारः' इस व्युत्पत्ति से भवका अर्थ है जिससे संसार उत्पन्न हो वह। अर्थात् समुद्भव उत्पत्तिपूर्वावस्था ॥६९॥

भवति भवाज्जातिरियं जातेश्च जरा ततश्च मरणं स्यात्।
तत्राऽविद्या गहना संस्कारयुतेति चक्रमिदम् ॥ ७० ॥

उस भव से जाति होगी अर्थात् जन्म होगा। जन्म से जरा (बुढ़ापा) और जरा से मरण निश्चित होगा। मरण में वही अविद्या है जहाँ विज्ञान-संस्कार और कर्मसंस्कार होंगे। यही संसारचक्र है ॥७०॥

या तन्मूलमविद्या विनिवर्त्या भावनादिभिः सा तु।
अकुशलहानात् कुशलादानात्स्यात् कर्महानिश्च ॥ ७१ ॥

इस संसारचक्र का मूल जो अविद्या है वह भावनासमाधि एवं प्रज्ञा से निवर्त्तनीय है। कर्मनिवृत्ति अकुशलकर्मपरित्याग एवं कुशलकर्मग्रहण से होगी ॥७१॥

इति कामभूमिनिरूपणम्

उत्पत्तिस्थानानि हि पञ्च स्युर्भूमयोऽस्य सत्त्वस्य।
स्यात्कामभूमिराद्या जायन्ते जन्तवो यत्र ॥ ७२ ॥

प्राणियों के उत्पत्तिस्थान पाँच हैं। उनमें कामभूमि प्रथम है। जिस में ही समस्त जन्तु उत्पन्न होते हैं। जन्तु अर्थात् साधारण जन्म वाले। इसी कामभूमि का सामान्यतः वर्णन पूर्व में हुआ ॥७२॥

तत्रैव वर्त्तमानो भूम्यन्तरहेतवे यतेत पुमान्।
स्युर्ध्यानभूमयोऽत्र क्रमिकोत्कर्षाश्चतस्रस्तु ॥ ७३ ॥

प्रथम काम भूमि तो होना ही है। उसी में रह कर अन्य भूमियों के लिये मनुष्य को यत्न करना चाहिये। अन्य भूमियों में चार उत्तरोत्तर उत्कर्षयुक्त ध्यान भूमियाँ हैं ॥७३॥

हेयान्यकुशलकर्मण्यनुसर्त्तव्यानि कुशलकर्माणि ।
ग्राह्योऽष्टाङ्गिकमार्गः प्रज्ञा शीलं समाधिश्च ॥ ७४ ॥

अकुशल कर्मों को त्यागना चाहिए। कुशल कर्मों को अपनाना चाहिए अष्टाङ्गिक मार्ग का ग्रहण करना चाहिए तथा प्रज्ञा, शील एवं समाधि का भी अभ्मास करना चाहिये ॥७४॥

सम्यग् दृष्टिः सम्यक् सङ्कल्पश्चापि साधनप्रज्ञा ।
सम्यग्वाचा सम्यक् कार्मान्तादिस्तु शीलं स्यात् ॥ ७५ ॥

सम्यक् दृष्टि तथा सम्यक् संकल्प साधनरूप प्रज्ञा है। सम्यक् वाचा सम्यक् कर्मान्त तथा सम्यक् आजिविका शील है ॥७५॥

सायंभुक्तिस्रग्धारणसङ्गीतान्यकुप्यसञ्चयनम् ।
जह्यान्महार्घशय्यां भिक्षुर्दशशीलताऽस्यैवम् ॥ ७६ ॥

अपराह्ण भोजन, मालाधारण, सङ्गीत, सुवर्णादिसंचय एवं बहुमूल्यक शय्या इन पांच को भिक्षु त्यागे। पूर्वोक्त के साथ भिक्षु के लिए दस शील माने जाते हैं ॥७६॥

द्विविधः समाधिरुक्तः प्रथमो बुद्धोक्तभावनाकरणात् ।
अपरश्चित्तप्रशमनरूपः स्यान्निर्विकल्पादिः ॥ ७७ ॥

समाधि दो प्रकार की होती है। बुद्धोक्त भावनाओं को करने से भाव-समाधि होती है, वह प्रथम है। दूसरी समाधि चित्तशमनरूप है। जो सवि-कल्प-निर्विकल्पकरूप है ॥७७॥

प्रज्ञादीनामेषां परमप्रज्ञोदयः फलं भवति ।
परमप्रज्ञा चैषा त्रिविधा विनिरूपिता प्राज्ञैः ॥ ७८ ॥

प्रज्ञा, शील और समाधि इन तीन का फल परम प्रज्ञा का उदय है। परम प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है ॥७८॥

बुद्धोपदेशजनिता श्रुतिमय्याख्यायि युक्तिजनिता तु ।
चिन्तामयीति कथिता भवति तृतीया समाधिभवा ॥ ७९ ॥

बुद्ध के उपदेश से जो प्रज्ञा होती है वह श्रुतमयी कहलाती है। युक्तियों के अनुसंधान से जो उत्पन्न होती है उसे चिन्तामयी प्रज्ञा कहते हैं। तथा समाधि से जो प्रज्ञा होती है उसे भावमयी कहते हैं। ये ही तीन परम प्रज्ञा हैं ॥७९॥

उपदेशाच्चिन्तनतः प्रज्ञा जातापि नैव परमा स्यात् ।
प्रज्ञाशीलसमाधित्रितयमतः साधनं कार्यम् ॥ ८० ॥

यद्यपि उपदेश तथा युक्तिचिन्तन से भी प्रज्ञा हो सकती है। किन्तु वह परम प्रज्ञा नहीं होगी। अतः प्रज्ञा, शील और समाधिरूप साधनों का अनुष्ठान करना ही चाहिये ॥८०॥

सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं सर्वं स्वलक्षणं सर्वम् ।
शून्यं च शून्यजातेरिति सततं भावना कार्या ॥ ८१ ॥

सभी क्षणिक है। सभी दुःख है। सभी स्वलक्षण है। सभी शून्य है। क्यों कि शून्योत्पन्न है। इस प्रकार सतत भावना से भावसमाधि होती है। (बाह्यार्थसत्यवादियों के लिए शून्योत्पन्न होने से शून्यता है, न कि स्वरूपतः शून्य होने से यह द्रष्टव्य है) ॥८१॥

इत्येवं भावनयाऽनवरतया भावनासमाधिः स्यात् ।
पश्यंस्तथैव च जगद्वैतृष्ण्यान्मुच्यते विद्वान् ॥ ८२ ॥

इस प्रकार निरन्तर भावना से भावनासमाधि होगी। वह विद्वान उसी रूप से अर्थात् क्षणिकादि रूप से जगत् को देखता हुआ तृष्णारहित होगा और परम प्रज्ञावान् होगा। फलतः बन्धनमुक्त होगा ॥८२॥

ध्यानाभ्यासादपरश्चित्तं कुरुतेऽमलं समर्थमपि ।
तस्य च दिव्यं चक्षुःश्रोत्रप्रभृति प्रजायेत ॥ ८३ ॥

भावनासमाधि की बात हो गयी। अब निर्विकल्पादि चित्तप्रशमन-समाधि की बात देखें। चित्तप्रशमनकारी द्वितीय समाधि ध्यानाभ्यास से चित्तको निर्मल एवं समर्थ बनाती है। उसके दिव्य चक्षु श्रोत्र आदि होने लगते हैं तो दिव्य प्रज्ञा भी होने लगती है ॥८३॥

त्रिमलं तस्य विनश्येत् क्षिप्रं कामो भवोऽप्यविद्यापि ।
अर्हत्पदं तदा स तु लभते जीवन्महायोगी ॥ ८४ ॥

ध्यानाभ्यासयोगी के तीनों मल शीघ्र नष्ट होते हैं। काम, भव तथा

अविद्या ये तीन मल हैं। इनके नाश से जीवितावस्था में ही वह महायोगी अर्हन्त पद पाकर मुक्त होता है ॥८४॥

कायास्रवस्तु शमतो नश्येद्वैतृष्ण्यतो भवास्रवकः।
प्रज्ञातोऽविद्यास्रव इति भवति निरास्रवोऽर्हन् सः ॥ ८५ ॥

शमसुख के सामने भोगेच्छारूपी कामास्रव कैसे टिकेगा। वैतृष्ण्य होने पर भवास्रव की संभावना कहां ?। प्रज्ञा हो जाने से अविद्यास्रव रहेगा ही कैसे ? इस प्रकार वह अर्हन्त सर्वास्रवरहित होता है ॥८५॥

पापाकरणात् कुशलाचरणात् परिशोधनाच्च चित्तस्य।
अर्हन् परममुपशमं निर्वाणमिहैव समनुभवेत् ॥ ८६ ॥

पाप करता नहीं। कुशलाचरण स्वयं चलता रहता है। चित्त परिशुद्ध हो गया। ऐसा वह अर्हन्त परम उपशमरूपी निर्वाण को यहीं (जीवन अवस्था में ही) अनुभव करता है ॥८६॥

स्वयमुद्धृतः स सकलं जगदुद्धर्त्तुं कृपापराधीनः।
आचरति कुशलमेवाप्युपदिशति जनान् परं सत्यम् ॥ ८७ ॥

संसार सागर से वह स्वयं उठ चुका है। और संसारपङ्कमग्न प्राणियों को देखकर कृपापराधीन हो कुशलाचरण करता है और परम सत्य का उपदेश भी करता है ॥८७॥

इह जन्मनि यदि मुक्तिर्यत्नाऽपौष्कल्पतो भवेन्नो चेत्।
स्याद् ध्यानभूमिजन्मा स पुमांस्ताः स्युश्चतस्रश्च ॥ ८८ ॥

यत्न में न्यूनता आदि के कारण इस जन्म में यदि मुक्ति प्राप्त नहीं होती तो वह साधक ध्यानभूमि में जन्म लेगा। वे ध्यानभूमियां चार बतायी गयी हैं ॥८८॥

यत्र वितर्कविचारप्रीतिसुखैकाग्रता भुवि भवन्ति।
सा तु प्रथमा प्रोक्ता साधूनां ध्यानभूमिपदा ॥ ८९ ॥

जिस भू (भूमि) में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता विद्यमान हैं वह प्रथम ध्यानभूमि है। वितर्क—स्थूलार्थभान। विचार-सूक्ष्मार्थभान। प्रीति—सुख और एकाग्रता की प्रीति। सुख—समाधिसुख। एकाग्रता—अस्मितामात्र ॥८९॥

त्यक्तवितर्कविचारा प्रीतिसुखैकाग्र्ययुग् द्वितीया स्यात् ।
प्रीतेरपि संत्यागे ससुखैकाग्र्या तृतीया भूः ।। ९० ।।

वितंक और विचार दोनों का जहां अभाव है । केवल प्रीति, सुख और एकाग्रता है वह द्वितीय ध्यानभूमि है। प्रीति का भी त्याग होने पर सुख तथा एकाग्रता ये दो ही हो तो वह तृतीया भूमि है ।।९०।।

त्यागेन सुखस्यापि च केवलमेकाग्रता भवेद्यत्र ।
सा ध्यानभूमिरुक्ता तुर्या तद्भूमिमृतजनुषाम् ।। ९१ ।।

सुख को भी छोड़ कर केवल एकाग्रता मात्र जिस भूमि में हो उसकी चतुर्थी भूमि कहते हैं। पूर्वजन्म में जिस भूमि तक साधक पहुँचा हो वह मरणोत्तर उसी भूमि में पैदा होता है । उसकी साधना में वह भूमि आसानी से आ जाती है। उत्तर भूमि यत्नसाध्य होती है ।।९१।।

यः कामधातुभूस्थस्तद्भूमिस्थेन चक्षुषा पश्येत् ।
कायेन्द्रियरूपैः सह विज्ञानं तस्य तद्भूस्थम् ।। ९२ ।।

जो कामभूमिस्थ है, कामभूमि में उत्पन्न हुआ। वह कामभूमिस्थित चक्षु से देखता है तो उसका शरीर, इन्द्रिय, रूप तथा विज्ञान ये सभी कामभूमिस्थ ही होंगे। और कामप्रयुक्त तथा कामप्रयोजक होने से संसारबन्धनकारी होंगे ।।९२।।

अभ्यासात् स प्रथमध्यानभुवा चक्षुषा यदीक्षेत ।
इन्द्रियविज्ञाने स्तां चक्षुर्भूमी परे त्वधरे ।। ९३ ।।

भले वह कामभूमिस्थ हो। पर चक्षु को अभ्यास के द्वारा ध्यान भूमिस्थ बना सकता है। जैसे साधारण व्यक्ति भी एक स्त्री को भोग्य रूपेण भी देख सकता है। मातृरूपेण भी देख सकता है। यह दृष्टिपरिवर्त्तन की बात है। वैसे ध्यानास्पद वितर्कादिस्वरूप से वस्तु को देखना यही ध्यान-भूमिस्थ चक्षु से देखना है। तब इन्द्रिय तथा विज्ञान दोनों प्रथमध्यान-भूमिस्थ होंगे। शरीर तो कामभूमिस्थ ही रहेगा। समय आने पर वह काम की ओर आकर्षित करेगा ही। तथा रूप भी काम भूमिस्थ होगा। क्यों कि रूप में परिवर्त्तन चक्षुःप्रयुक्त नहीं है ।।९३।।

यदि स द्वितीयभूमिकनयनेन तदेन्द्रियं द्वितीयस्थम् ।
विज्ञानं प्राथमिकं तनुरूपे कामभूमिस्थे ।। ९४ ।।

कामभूम्युत्पन्न ही अपनी दृष्टि को और उन्नत कर अभ्यास करते हुए द्वितीयध्यानभूमिस्थ बनावें तो इन्द्रिय (चक्षु) द्वितीयभूमिस्थ होगा। विज्ञान द्वितीय भूमि तक नहीं पहुँच पायेगा। वह प्रथमभूमिस्थ ही रहेगा। क्यों कि सूक्ष्मादि को देखता हुआ भी स्थूल का भी अनुभव करेगा। शरीर तथा चक्षु का विषय रूप तो प्रथमभूमिस्थ ही होंगे। (सौभरि आदि चतुर्थभूमिक चक्षु होने पर भी काम भूमि में उतर आये ऐसी बात आती है। कारण शरीर और रूप कामभूमिस्थ ही हैं ॥९४॥

यदि स हि तृतीयभूमिकनयनेन तदेन्द्रियं तृतीयस्थम् ।
तनुरूपे प्राग्वत् स्तां तद्विज्ञानं स्वपूर्वस्थम् ॥ ९५ ॥

कामभूमिस्थ ही यदि अभ्यास से अपनी दृष्टि को तृतीयभूमि में पहुँचावे तो इन्द्रिय तृतीयभूमिस्थ होगी। शरीर और रूप पूर्ववत् काम-भूमिस्थ ही रहेंगे। विज्ञान स्वपूर्वभूमिस्थ होगा अर्थात् तृतीय से पूर्व द्वितीय भूमि है। उसमें रहेगा। जितने इन्द्रिय को आगे बढ़ाने में हम स्वतन्त्र हैं उतने विज्ञान को बढाने में नहीं हैं। जैसे शरीर अस्थि-मांसादि का ढांचा है। ऐसे देखते देखते भी कामप्रयुक्त आकर्षण दिदृक्षा आदि होती है। फिर भी फरक पड़ेगा ही ॥९५॥

यदि स हि चतुर्थभूमिकनयनेन तदेन्द्रियं चतुर्थस्थम् ।
तनुरूपे प्राग्वत् स्तां विज्ञानं स्यात् तृतीयस्थम् ॥ ९६ ॥

कामभूमिस्थ ही निरन्तराभ्यास से अपनी दृष्टि को चतुर्थभूमि में पहुंचावे तो इन्द्रिय चतुर्थभूमिस्थ होगी। शरीर और रूप पूर्ववत् काम-भूमिस्थ ही होंगे। विज्ञान आगे बढ़कर तृतीयस्थ होगा ॥९६॥

प्राग्जन्मकृताभ्यासाद् यः प्रथमध्यानभूमिजन्मा स्यात् ।
कायस्तस्य तु तत्स्थो रूपं तत्स्थं स्वभूस्थं च ॥ ९७ ॥

पूर्वजन्म में कामभूमि में ही रहकर ध्यानाभ्यास किया। बहुत आगे नहीं बढ़ सका। किन्तु प्रथमध्यानभूमि तक स्थिरता हुई तो उसका पुनः जन्म प्रथमध्यानभूमि में ही होगा। वह आसानी से प्रथम ध्यान संपन्न करेगा। उसका शरीर भी प्रथमभूमिस्थ हो जायेगा। अर्थात् विषयभोगों के प्रति आतुर नहीं होगा। रूप जब ध्यानावस्थ होगा तब प्रथमभूमिस्थ होगा। अन्य समय में स्वभूमि अर्थात् कामभूमि में रहेगा। क्योंकि रूप बाह्य है उसमें अतिपरिवर्तन संभव नहीं है ॥९७॥

चक्षुर्विज्ञाने स्तां प्रथमादिस्थे न चाधरस्थे तु ।
एषा दिग् जातस्य ध्यानभुवि भवेद् द्वितीयादौ ।। ९८ ।।

प्रथमध्यानभूमि में जन्म लेने वाले चक्षु और विज्ञान प्रथमादि-भूमिस्थ ही होंगे । अर्थात् स्वाभाविकरूप से प्रथमभूमिस्थ होंगे । कामभूमि में नहीं उतरेंगे । हां, चक्षु को द्वितीयभूमिस्थ कर सकते हैं । तब विज्ञान प्रथमभूमिस्थ होगा । चक्षु को तृतीयभूमिस्थ करने पर विज्ञान द्वितीयभूमिस्थ, चतुर्थभूमिस्थ करने पर विज्ञान तृतीयभूमिस्थ होगा । यह दिग्दर्शन हुआ । इसी प्रकार द्वितीयध्यानाभ्यासपरिपाक से जो द्वितीय-ध्यानभूमि में जन्म लेता है तो स्वाभावतः उस को द्वितीय ध्यान लगेगा । उसका शरीर द्वितीयध्यानभूमि में होगा । रूप कामभूमि, प्रथमभूमि तथा द्वितीयभूमि तीनों में रह सकते है । इन्द्रिय अभ्यासानुसार द्वितीय तृतीय चतुर्थ तीनों में हो सकतो है । तृतीय और चतुर्थ में विज्ञान एक सीढ़ी पीछे । जो तृतीय में जन्म लेगा उस का रूप तृतीय तक पहुंचेगा । इन्द्रिय तृतीय और चतुर्थ, में शरीर और विज्ञान तृतीय में ही रहेंगे । चतुर्थ भूमि में जनमने वाले के रूप को छोड़ कर अन्यत्र सब चतुर्थ में रहेंगे । रूप चारों में रह सकता है । श्रोत्रेन्द्रिय को लेकर भी इसी प्रकार पूरा विचार कर लेना चाहिये । आस्तिक शास्त्रों में इसका इशारा है । जैसे गीता में—"पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते" इत्यादि । अतः पूर्णता ने होने पर भी उत्तरोत्तर भूमिकाओं का अभ्यास सफल है ॥९८॥

अतिगम्य कामधातुं प्रतिपद्यन्ते हि रूपधातुमिमे ।
नैतेषां गतय स्युस्तिर्यक्प्रेतादयो नीचाः ।। ९९ ।।

चारों ध्यानभूमिवाले काम भूमि को पार किये हुए होते हैं । ये रूप-धात्वाप्त माने जाते हैं । तिर्यक् प्रेत इत्यादि गति इनकी नहीं होती ॥९९॥

इति रूपधातुनिरूपणम्

समतिक्रम्यैता अपि भूमीरारूप्यधातुमाप्ता ये ।
तेऽनास्रवा अदेशास्तत्र गता नैव जायन्ते ।। १०० ।।

चतुर्थभूमिजात भी पुनः चतुर्थभूमि में जन्म ले सकता है, यदि वह आगे न बढ़ सका हो । इन चारों भूमियों को जो पार कर जाते हैं वे आरूप्यधातु प्राप्त होते हैं । वे सर्वथा अनास्रव होते हैं । वे अदेशस्थ होते

हैं। उस भूमि में पहुंचने के बाद फिर जन्म नहीं होता ॥१००॥

आकाशानन्त्यं वा विज्ञानानन्त्यमप्यकिञ्चनता ।
नोसंज्ञानासंज्ञेत्यायतनान्यस्य चत्वारि ॥ १०१ ॥

यद्यपि वे अदेश हैं फिर भी आकाशानन्त्य, विज्ञानानन्त्य, आकिंचन्य और नोसंज्ञानासञ्ज्ञा ये चार आयतन माने जा सकते हैं ॥१०१॥

अन्ते नैवायतनं शून्यमनन्तं प्रपश्यतस्तस्य ।
सदखिलमेव क्षणिकं नायतनं तादृशं तस्य ॥ १०२ ॥

आरूप्यधात्वापन्न प्रथम आकाशानन्त्यादि को आयतन देखेगा। परंतु अन्त में उसका कोई आयतन नहीं रहता। क्यों कि वह शून्य को ही अनन्त देखता है। सत् सभी क्षणिक हैं। क्षणिक आयतन कैसे हो ॥१०२॥

भूतं भावि च शून्यं सत् क्षणिकं वर्त्तमानमखिलमिदम् ।
न ह्यसतः साद्रूप्यं भूतादेः शक्यते मन्तुम् ॥ १०३ ॥

भूत तथा भावी शून्य है। वर्त्तमान सत् है। पर क्षणिक है। असत् भावि आदि को सत्रूप मानना संभव नहीं। तब वह आयतन भी नहीं ॥

केचिदवस्थामाहुर्भूतं भावि क्रियात्मकं त्वपरे ।
कस्यावस्था सेयं कस्य च कारित्रमेवापि ॥ १०४ ॥

वैभाषिकानुयायियों में कई लोग भूत और भावी को अवस्थारूप मानते हैं। और कई लोग क्रियात्मक मानते हैं। पर किसकी ये अवस्था और कारित्र है ?। क्या वर्त्तमान की अवस्था भूत और भावो है। तब वर्त्तमानत्व से व्याघात होगा। भूत भावी है नहीं तब अवस्था आदि क्या हो ? क्रिया क्या हो ॥१०४॥

यदनुत्पन्नं भावि न कारित्रं तस्य नापि नष्टस्य ।
अधुनातनस्य नैव च भूतत्वं नापि भावित्वम् ॥ १०५ ॥

जो उत्पन्न नहीं हुआ वह भावी है। अनुत्पन्न में कारित्र (क्रिया) कैसो? विनष्ट ही भूत है। उस में कारित्र कैसे हो। वर्त्तमान में कारित्र संभव है। पर उस में भूतत्व भावित्व दोनों नहीं है ॥१०५॥

तस्मादसदुत्थं जगदसदन्तं चासदात्म सकलमिदम् ।
असदापत्तिश्चातो निर्वाणं स्वस्वरूपाख्यम् ॥ १०६ ॥

अतः सारा जगत् असत् से उत्पन्न हुआ। असत् में लीन होगा। तब उस की आत्मा असत् ही हुआ। जैसे मिट्टी से उत्पन्न, मिट्टी में विलीन घट की मिट्टी आत्मा है। असद्रूपताप्राप्ति ही निर्वाण है। क्यों कि वही असली स्वस्वरूप है ॥१०६॥

क्लेशादीनां नाशः स्वयमेव भवेदसौ न पुरुषार्थः।
क्लेशानुत्पत्तिः स्यात् पुरुषार्थः साधनैरखिलैः ॥ १०७ ॥

क्लेश क्षणिक होने से उस का नाश स्वयं होगा। वह पुरुषार्थ नहीं है। क्लेशों की उत्तर अनुत्पत्ति ही समस्त साधनों से सम्पादनीय पुरुषार्थ है ॥१०७॥

शून्यादात्मा क्षणिकज्ञानात्मा जायते हि सन्ततया।
सुखदुःखादिश्चैषां सर्वानुत्पत्तिरेवान्ते ॥ १०८ ॥

आत्मा भी शून्य से पैदा हुआ। क्यों कि क्षणिक ज्ञान संतति ही तो आत्मा है। संतानपतित प्रत्येक विज्ञान पूर्व में और पश्चात् असत् है। सुख-दुःखादि की भी यही बात है। तब अन्त में सब की अनुत्पत्ति मात्र साध्य होगा ॥१०८॥

निर्वाति समुत्पन्नं विज्ञानं नो जनिष्यते च परम्।
निर्वाणं तदिदं स्यात् सर्वक्लेशादिनिर्वाणम् ॥ १०९ ॥

उत्पन्न विज्ञान संतति बुझ जायेगी। आगे विज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। वैसे ही क्लेशादि की भी बात है। यही निर्वाण है जो सर्वनिर्वाण-रूप है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना सौत्रान्तिकमन्वदर्शि संक्षेपात्।
मतमखिलदर्शनार्थं बोद्धुं बुद्धस्य सिद्धान्तम् ॥ ११० ॥
शून्यं गमयितुमेवं न्यगदीदधिकारिभेदतो बुद्धः।
प्रथितं तदिदं तेन प्रसीदतु श्रीहरिः स मयि ॥ १११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य महामण्डलेश्वर काशिकानन्द-यतेः कृतौ सौत्रान्तिकदर्शनसंग्रहः

योगाचारदर्शनम्

सोपाधिकभूमावपि परमकरुणया स्थितो जगद् गोप्तुम् ।
चिरमिव यो वन्देमहि बुद्ध सर्वार्थसिद्धं तम् ॥ १ ॥

यद्यपि कोई कर्त्तव्य शेष नहीं था। फिर भी परम कृपा से जगत्-रक्षणार्थ जो चिरकाल तक सोपाधिक भूमि में रहे, निरुपाधि पर नहीं गये उन सर्वार्थसिद्ध भगवान् बुद्ध की हम वन्दना करें ॥१॥

सर्वास्तिवादमुक्त्वा योगाचारस्य सांप्रतं गहनम् ।
विज्ञानमात्रसत्तावादं संक्षेपतो वक्ष्ये ॥ २ ॥

वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक का सर्वास्तिवाद कहने के बाद योगाचार के गहन विज्ञानमात्रसत्तावाद का संक्षेपतः निरूपण करूँगा ॥२॥

स्वाप्नवदखिला अर्था विज्ञानाकारमात्रनिजरूपाः ।
बाह्यवदवभासन्ते सन्तोऽप्यन्तस्तु सांवृतिकाः ॥ ३ ॥

स्वप्नार्थ के समान ही सभी पदार्थ सांवृतिक रूप से अन्दर होने पर भी बाहर जैसे दीखते हैं, जब कि विज्ञानाकार मात्र उनका अपना स्वरूप है ॥३॥

सप्तदश भूमयोऽत्र च योगानां स्वीकृतास्तथाऽऽचरिताः ।
तेन च योगाचारः प्रोक्तो विज्ञानवादी सः ॥ ४ ॥

योग की सत्रह भूमियाँ यहाँ स्वीकारी गयी हैं और विज्ञानवादियों ने उसका अभ्यास किया या उसे आचरणीय माना। इसीलिये वे योगाचार शब्द से अभिहित हो गये ॥४॥

(१) विज्ञानभूमिराद्या विरतिर्यस्यां विवेकविज्ञानात्।
(२) अपरा तु मनोभूमिर्मननाद्विज्ञाननिश्चयिनी ॥ ५ ॥

प्रथम विज्ञान भूमि है। जिसमें वस्तुविवेकविज्ञान अर्थात् क्षणभंगुरत्वादिज्ञान होने से विरति होने लगती है। दूसरी है—मनोभूमि, जिसमें मनन से विवेकविज्ञान दृढ़ निश्चय में परिणत होता है और वैराग्य भी दृढ़ होता है ॥५॥

(३) सवितर्का सविचारा भूमिः स्यात्स्थूलसूक्ष्मयोर्ध्यानात् ।
(४) अवितर्का सविचारा सूक्ष्मार्थध्याननिपुणा या ।। ६ ।।

तृतीय सवितर्क सविचार भूमि है जिसमें स्थूल सूक्ष्म दोनों तत्त्वों में मन स्थिर होता है। अवितर्क सविचार चतुर्थ भूमि है जिसमें सूक्ष्मार्थ के ध्यान में बुद्धि की निपुणता होती है ।।६।।

(५) अवितर्काऽप्यविचारा तदुभयहानेन चेयनाध्यानात् ।
(६) भवति समाहितभूमिश्चित्तसमाधानयत्नाढ्या ।।७।।

पाँचवीं अवितर्क-अविचार भूमि है। जिसमें स्थूल सूक्ष्म दोनों अर्थों को छोड़ कर केवल चैतन्य का ध्यान किया जाता है। छठो समाहित भूमि है जो यत्नपूर्वक एकाग्रता से युक्त होती है ।।७।।

(७) असमहिता तु भूमिर्यत्नेन विना यदा समाधानम् ।
(८-९)स्वविषयबोधेन युता भवति सचित्ताऽयुताऽचित्ता ।।८।।

सातवीं असमाहित भूमि है, जब विना यत्न अनायास ही संकल्पमात्र से चित्तसमाधान हो जाता है। आठवी में मैं चैतन्य का अनुभव कर रहा हूँ इस प्रकार स्वविषयक ज्ञान के साथ समाधि होतो है। उसको सचित्ता कहते हैं। नवमी में स्वविषयक ज्ञान के बिना ही केवल ज्ञानधारा चलती है। उसको अचित्ता भूमि कहते हैं ।।८।।

(१०) एवं समाधियोगे सति संपन्ने मृषानिरासार्था ।
बुद्धादेशश्रवणा भूमिः श्रुतमय्यभिप्रेता ।। ९ ।।

इस प्रकार अभ्यास से अचित्तसमाधियोगपर्यन्त योगी पहुँच जाता है। उसके बाद भी संसारमृषात्वादिनिश्चयार्थं बुद्धोपदेशश्रवण आवश्यक है। यद्यपि इस समाधियोग के बिना भी बुद्धादेश का श्रवण हो सकता है। परन्तु यह योगपद्धतियुक्त होने से विशिष्ट है। क्योंकि योगोत्तरश्रवणजन्य ज्ञान असंभावनादिदोषरहित एवं सुदृढ़ होगा। यह दसवीं भूमि है। इसका नाम श्रुतमयी है ।।९।।

(११) युक्तिभिरस्य विनिश्चयमाहुश्चिन्तामयीं बुधा भूमिम् ।
(१२) अथ भावनामयी स्यात्ताभ्यां सार्धं समाधाने ।।१०।।

ग्यारहवीं चिन्तामयी भूमि है। उसमें श्रुत्त अर्थ का युक्तियों से विषय-निश्चय होता है। श्रवण मनन के साथ समाधि भी करते जाय तो वह

भावनामयी भूमि हो जाती है। यह बारहवीं भूमि है ॥१०॥

यद्वा चिन्ता ध्यानं समाधिरेवास्तु तन्मयी त्वाद्या।
क्षणिकादिभावनायुक् स्यादपरा भूमिरित्यस्तु ॥ ११ ॥

अथ वा चिन्तामयी में चिन्ता ध्यानसमाधि ही है (ध्यै चिन्तायाम्) श्रवणज्ञान समाधिमय हो तो चिन्ताभूमि है। श्रवणध्यान यदि सर्वं क्षणिकं दुःखं इत्यादि भावना सहित हो तो वह भावनामयी है ॥११॥

ध्यानं यद्यपि कुर्वन्त्यन्येऽपि जैनवैदिकादिजनाः।
न तु भावनास्ति तेषां तस्मादत्रास्ति वैशेष्यम् ॥ १२ ॥

यद्यपि ध्यानसमाधि वैदिकादि भी करते हैं। तथापि सर्वं क्षणिकं दुःखं इत्यादि भावना न होने से उनको यथार्थ साक्षात्कार नहीं होता। यहाँ पर होता है। यही यहाँ की विशेषता है ॥१२॥

(१३) श्रावकभूमिर्यस्यां पुरुषो निर्वाणमार्गमधिरुढः।
न पतति कदाचिदेव स लभतेऽर्हत्त्वं क्रमेण परम् ॥१३॥

तेरहवीं श्रावक भूमि है जिसमें पुरुष निर्वाण मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है और पतन उसका कभी नहीं होता। वह क्रमेण अर्हत् पद को प्राप्त होता है ॥१३॥

स्रोतापन्नः सकृदागामी चानागमी तथा चार्हन्।
इति स क्रमेण भूमीस्तीर्त्वार्हत्त्वं लभेत पुमान् ॥ १४ ॥

स्रोतापन्न (कल्याण स्रोत को प्राप्त, जिसको बारह या छः तक और जन्म हो सकते हैं) सकृदागमी (जहाँ पहुँच कर मरने पर सिर्फ एक बार ही आना पड़ता है) अनागमी (पुनरावृत्ति रहित, किन्तु अर्हत्त्व को अप्राप्त) अर्हत् (जब सर्वदुःखनिवृत्ति एवं रागादि मलों की सर्वथा निवृत्ति होती है) इस क्रम से वह अर्हत पद को प्राप्त होता है ॥१४॥

गुरुमनुसरतस्तस्य प्रबोध एवं वितायते क्रमशः।
(१४) प्रत्येकबुद्धभूमिर्यत्र स्फुरणं स्वतोऽर्थानाम् ॥१५॥

श्रावक भूमि में गुरु के अनुसरण से क्रमशः प्रबोध विस्तार होता है। चौदहवीं प्रत्येकबुद्धभूमि है। उसमें सभी अर्थों का स्वतः स्फुरण होने लगता है ॥१५॥

(१५) अथ बोधिसत्त्वभूमिः परकल्याणप्रवीणता यत्र ।
(१६-१७) सोपाधिकनिरुपाधिकभेदेन च बुद्धभूमी द्वे ॥१६॥

इसके आगे पंद्रहवीं बोधिसत्त्व भूमि है। इसमें परकल्याण करने की तत्परता-प्रवीणता आदि रहती है, जो पूर्वभूमि में नहीं रहती। इसके बाद बुद्धभूमि है। वह दो प्रकार की है। उनमें प्रथम सोपाधिक बुद्धभूमि है। जो सोलहवीं है। और सत्रहवीं निरुपाधिक बुद्धभूमि है ॥१६॥

इह दुःखपङ्कमग्नप्राण्युद्धारैकलग्नचित्तस्य ।
सोपाधिकभूम्यां स्यात् परमा करुणा हि बुद्धस्य ॥ १७ ॥

इस संसार में दुःखरूपी पंक में निमग्न प्राणियों को देखकर कृपापराधीन बुद्ध का उनके उद्धार के लिये चित्त लग जाता है। यही सोपाधिक भूमि है ॥१७॥

परममुपशमं प्राप्तो निर्वाणं निर्विकल्पकं शान्तम् ।
निरूपाधिकाख्यभूम्यां सर्वोपरतो भवेद् बुद्धः ॥ १८ ॥

परम उपशम रूप शान्त निर्विकल्पक निर्वाण को प्राप्त हुआ बुद्ध सर्वोपरत होता है। यही निरुपाधिक भूमि है ॥१८॥

इति योगभूमिकानिरूपणम्

योगाचारमतेऽस्मिन् षट् समभिहिता असंस्कृता धर्माः ।
एकादश रूपविधा चित्तं चैवाष्टधा प्रोक्ताः ॥ १९ ॥
एकाधिकपञ्चाशत् चैतसिकाश्चित्तविप्रयुक्तास्तु ।
सन्ति चतुर्विंशतिरिति योगाचारे शतपदार्थी ॥ २० ॥

योगाचार मत में असंस्कृत धर्म छः हैं, रूप ग्यारह हैं। चित्त आठ प्रकार का है। चैतसिक धर्म इक्यावन हैं और चित्तविप्रयुक्त धर्म चौबीस हैं। इस प्रकार कुल सौ पदार्थ हैं ॥ १९-२०॥

तत्रासंस्कृतधर्माः क्षणिकत्वं नोपगम्यते येषाम् ।
आकाशः प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्योत्थौ निरोधौ च ॥ २१ ॥
अचलं संज्ञावेदनयोश्च निरोधस्तथान्तिमा तथता ।
तत्र त्वाकाशादित्रयमिह पूर्वोदितं ज्ञेयम् ॥ २२ ॥

इनमें असंस्कृत धर्म अर्थात् जो क्षणिक नहीं है आकाश, प्रतिसंख्या-निरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध, अचल, संज्ञावेदनानिरोध तथा तथता हैं। इनमें आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्यानिरोध ये तीन वैभाषिकादि मत में जैसा बताया वैसे ही हैं ॥२१-२२॥

सुखदुःखानुत्पत्तिस्तदुपेक्षाद्युद्भवा भवेदचलम् ।
संज्ञावेदनयोस्तु निरोधस्तादृक्समापत्तेः ॥ २३ ॥

सुख और दुःख की अनुत्पत्ति अचलनामक असंस्कृत धर्म है। वह सुख और दुःख की सर्वथा उपेक्षा से एवं समाधि के अभ्यास से होता हैं। (द्रष्टव्य—निरोध ध्वंसस्थानीय है। ध्वंस का ध्वंस नहीं होता। अनुत्पत्ति प्रागभावस्थानीय है। वैसे तो दुःखप्रागभावादि का नाश होता है। वह नाश दुःखस्वरूप है। किन्तु मोक्षोत्तर नैयायिकादि भी दुःखप्रागभावनाश नहीं मानते। किन्तु उनकी अनन्त काल तक अनुवृत्ति ही मानते हैं। वैसे यहाँ भी दुःखानुत्पत्ति की अनुवृत्ति शाश्वत है।) संज्ञा और वेदना का निरोध पाँचवाँ असंस्कृत धर्म हैं। अर्थात् संज्ञा और वेदना की धारा का निरुद्ध हो जाना यह निरोधसमापत्ति करने से होता है ॥२३॥

तथता परमार्था स्यादनिमित्ता भूतकोटिरेषैव ।
अयमेव धर्मधातुः परिपठिता योगिभिर्बुद्धैः ॥ २४ ॥

तथता छठा असंस्कृत धर्म है। यही परमार्थ कहलाता है। यह अनिमित्त है। इसे भूतकोटि भी कहते हैं। धर्मधातु के रूप में इसी को योगी बुद्धों ने बताया है ॥२४॥

नैषा हेतुप्रत्ययजनिता तस्माद्विकाररहितेयम् ।
परमार्थो लोकोत्तरविज्ञानैकप्रकाश्यत्वात् ॥ ३५ ॥

यह तथता हेतुप्रत्ययजनित नहीं है। अतः निर्विकार है। यह परमार्थ है। क्यों कि दिव्य अलौकिक ज्ञान से प्रकाश्य है ॥२५॥

नास्या निमित्तमस्तीत्येषा प्रोक्ता महद्भिरनिमित्ता ।
सत्यस्यान्तो नान्यज्ज्ञेयमतो भूतकोटिरसौ ॥ २६ ॥

पुण्य पापादि कोई इस का निमित्त नहीं है। अतः इसे अनिमित्त कहते हैं। सत्य का अन्त अर्थात् चरम सीमा है। अन्य कोई भी ज्ञेय नहीं है।

अतः इसे भूतकोटि कहते हैं। भूत—सत्य की कोटि—चरमसीमा ॥२६॥

अस्मात् सर्वे धर्मा जायन्तेऽतश्च धर्मधातुरयम्।
का सेति चेद् रहस्यं त्रैकालिकशून्यता नाम ॥ २७ ॥

इसी तथता से सभी धर्म अर्थात् क्षणिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अतः यही धर्मधातु भी है। आखिर यह तथता क्या बला है ? सुनो अति रहस्य। इस को त्रैकालिक शून्यता कहते हैं ॥२७॥

क्षणिकत्वाद् बुद्धीनां शून्यभवाः शून्यगाश्च शून्यलयाः।
शून्यं तस्मादात्मा त्रैकालिकमुच्यते तथता ॥ २८ ॥

बुद्धि (विज्ञान) क्षणिक होने से पूर्व में तथा पश्चात् तो शून्यरूपता निश्चित है। कारण में कार्य रहेगा। अतः शून्य में ही बुद्धियां रहेंगी भी। तब शून्य त्रैकालिक हो गया। वही शून्य बुद्धियों की आत्मा अर्थात् उसकी स्वरूप-मूल है। यही तथता है ॥२८॥

अत एवाऽसङ्गोऽपि न सन्नासन्नान्यथा तथा न तथा।
इति परमार्थं व्याख्याद् यं परमं शून्यवाद्याह ॥ २९ ॥

शून्यता ही तथता है। इसी लिये योगाचार मत के उन्नायक असङ्ग ने परमार्थ की व्याख्या करते हुए कहा कि जो सत् नहीं, जो असत् नहीं जो तथा नहीं और जो अन्यथा नहीं वही परमार्थ तथता है ॥२९॥

इत्यसंस्कृतधर्मनिरूपणम्

रूपं त्वेकादशधा तत्रोक्ताश्चक्षुरादयः पञ्च।
रूपादयश्च पञ्च स्यादेकादश्यविज्ञप्तिः ॥ ३० ॥

रूप ग्यारह प्रकार का है। चक्षुश्रोत्रादि पांच, रूपशब्दादि पांच, और अविज्ञप्ति ये ग्यारह हैं ॥३०॥

कर्मैवाविज्ञप्तिर्ज्ञप्त्यज्ञप्तिप्रभेदभिन्ना सा।
ज्ञप्तिः प्रकटं कर्माऽज्ञप्तिरपूर्वं तदप्रकटम् ॥ ३१ ॥

अविज्ञप्ति कर्म को कहते हैं। वह दो प्रकार की है। एक ज्ञप्तिरूप है दूसरी अज्ञप्तिरूप है। प्रत्यक्षकर्म दान हिंसा आदि प्रकट ज्ञप्तिकर्म है। उस से संस्काररूपी अपूर्व होता है वह अज्ञप्ति कर्म है जो अप्रकट है ॥३१॥

इति रूपनिरूपणम्

द्विविधं प्रमाणमुक्तं प्रत्यक्षं चानुमानमपि बुद्धैः ।
अत्रैवान्तर्भावं शब्दादीनां यतो भवति ॥

बौद्ध मत में प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं ॥

इन्द्रियविषयमनोभिः सालोकैः प्रत्ययैर्भविदाद्यम् ।
अधिपत्यालम्बनसमनन्तरसहकारिसमुपाख्यैः ॥

अधिपतिप्रत्यय—इन्द्रिय, आलम्बनप्रत्यय—विषय, समनन्तरप्रत्यय—मन और सहकारिप्रत्यय—आलोकादि इन चार से प्रत्यक्ष होता है ॥

इन्द्रियजमनोजात्मजयोगजभेदाच्चतुर्विधं तदपि ।
भवति घटादिसुखादिप्रतिभेयातीन्द्रियार्थेषु ॥

घटादि का ऐन्द्रियक, सुखादि का मानस, प्रातिभ अर्थ का आत्मज और अतीन्द्रिय का योगज ऐसे प्रत्यक्ष के चार भेद हैं ॥

लिङ्गसमुद्भवमाहुर्लिङ्गिज्ञानं यथार्थमनुमानम् ।
स्वेक्षितलिङ्गं स्वार्थं भवति परार्थं परार्थोक्तम् ॥

हेतुज्ञानजन्य यथार्थ साध्यज्ञान अनुमान हैं। वह स्वार्थ तथा परार्थ दो प्रकार का है ॥

साध्यं हेतुं व्याप्तिं गमयदवयवत्रयं परार्थे स्यात् ।
तत्रैवान्तर्भावान्न सदवयवपञ्चतयवचनम् ॥

साध्य, हेतु और उदाहरण को बताने के लिये तीन अवयव वाक्य मान्य हैं। पांच अवयव अमान्य हैं ॥

लिङ्गं सदनुपलब्धिस्वभावकार्यात्मकं भवेत्त्रिविधम् ।
नास्ति घटोऽनुपलब्धेस्तरुराम्रतयाऽग्निमान् धूमान् ॥

अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य ऐसे तीन हेतु होते हैं। यथा—घट नहीं है, क्यों कि नहीं दीखता; यह वृक्ष है क्यों कि आम है; आग है क्यों कि धुंआ है।

अत्रासिद्धविरुद्धानैकान्तिकलक्षणास्त्रयः प्रोक्ताः ।
हेत्वाभासा इतरे तेष्वेवान्तर्भवन्ति यतः ॥

असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास हैं। सत्प्रतिपक्षादि इन्हीं में अन्तर्भूत हैं ॥

इति प्रमाणनिरूपणम्

चित्तं विज्ञानाख्यं त्वष्टविधं चाक्षुषं तथा श्रौतम् ।
घ्राणजमपि जैह्वचमपि च कायिकमपि यज्जगुस्त्वाचम् ।।३२।।

चित्त विज्ञान को ही कहते हैं। वह अष्टविध है। चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान और कायिकविज्ञान ये पांच हैं। इन में कायिक को ही त्वाच भी कहते हैं।।३२।।

षष्ठं मानसमुक्तं साप्तमिकं क्लिष्टमानसं कथितम् ।
आलयविज्ञानं स्यादष्टममिति तेऽष्टभेदाः स्युः ।। ३३ ।।

छठा सामान्य मानसविज्ञान है। सप्तम क्लिष्टमानसविज्ञान है। (अक्लिष्ट मनोविज्ञान के पिषय में आगे वक्तव्य होगा) अष्टम आलयविज्ञान है। इस प्रकार विज्ञान के आठ भेद हैं।।३३।।

ग्राह्यग्रहणग्राहकविधया त्रिविधं स्वयं भवेच्चित्तम् ।
विज्ञानादतिरिक्तं नैवान्यद् विद्यते यस्मात् ।। ३४ ।।

ग्राह्य, ग्राहक और ग्रहण रूप से चित्त ही तीन प्रकार से होता है। क्यों कि विज्ञान से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। तथापि प्रतीति के अनुसार ग्रहणरूपता को लेकर पूर्वोक्त अष्ट प्रकार है।।३४।।

यच्चक्षुर्विज्ञानं चक्षू रूपं च तत्र तत्त्रितयम् ।
विज्ञानस्यैव भिदा तदपि च भेदेन निर्दिष्टम् ।। ३५ ।।

चक्षुर्विज्ञान जहां है वहां चक्षु और रूप भी हैं। अतः तीन हो जाते हैं। परन्तु ये तीनों विज्ञान के ही भेद हैं। फिर भी विज्ञान से भिन्न करके निर्देश किया जाता है।।३५।।

युगपज्ज्ञानत्रितयं यद्वा भागत्रयं तदेकस्य ।
भागत्रयपक्षेऽपि न सांकर्यं तत्र वैशेष्यात् ।। ३६ ।।

ग्राह्याकार ग्रहणाकार तथा ग्राहकाकार तीन विज्ञान एक सात होते हैं। अथवा एक ही ज्ञान के ये तीन भाग हो सकते हैं। भागपक्ष में भी तत्तत् आकार की विशेषता होने से सांकर्य नहीं है।।३६।।

सहभूराश्रय उक्तश्चक्षुः समनन्तरो मनः कथितः ।
अथ सर्वबीजकाश्रय आलयविज्ञानमेकमिह ।। ३७ ।।

विज्ञान के तीन आश्रय हैं। एक सहभू आश्रय है। दूसरा समनन्तर आश्रय है। तीसरा सर्वबीजक आश्रय है। जैसे चक्षुर्विज्ञान का सहभू आश्रय चक्षु है। चक्षु चक्षुर्विज्ञान का आश्रय है किन्तु दोनों एक ही साथ उत्पन्न होते हैं अतः सहभूआश्रय है। मन समनन्तर आश्रय है। चक्षुर्विज्ञान के बाद मन से युक्तत्व अयुक्तत्व आदि का ज्ञान होता है। वहां मन समनन्तर आश्रय है। सर्वबीजक आश्रय आलयविज्ञान है। क्यों कि सब का बीज वही है। (स्पष्टीकरण आगे है) ॥३७॥

चाक्षुषमवलम्बनमिह वर्णः संस्थानमप्यविज्ञप्तिः।
नीलाद्यो ह्रस्वाद्यं गमनाद्या चेति तत्त्रितयम् ॥ ३८ ॥

विज्ञान में चाक्षुष आलम्बन तीन हैं। वर्ण (रंग), संस्थान (आकार) और अविज्ञप्ति (कर्म)। नील पीतादि वर्ण है। ह्रस्वदीर्घादि आकार है। गमन आदान आदि अविज्ञप्ति है ॥३८॥

चक्षुश्चाक्षुषधीरपि सह भवतीत्याश्रयः स सहभूः स्यात्।
पश्चान्मनसि ज्ञानं समनन्तर आश्रयस्तदतः ॥ ३९ ॥
सर्वेषां बीजं यत् स आश्रयः सर्वबीजको भवति।
आलयविज्ञानं तत् तस्मादेवाखिलोत्पत्तेः ॥ ४० ॥

चक्षु और चाक्षुष विज्ञान दोनों साथ होते हैं अतः चक्षु सहभूआश्रय है। युक्तायुक्तत्वज्ञान बाद में वहीं होता है, अतः वहां मन समनन्तर आश्रय है। सब का मूल ही सर्वबीजक है। आलयविज्ञान से सब उत्पन्न होते हैं। अतः वह सर्वबीजक आश्रय है ॥३९-४०॥

सहभूः श्रोत्रादीनां विज्ञानानामिहाश्रयास्तावत्।
श्रोत्रं घ्राणं रसना त्वगथ समौ द्वौ तु सर्वत्र ॥ ४१ ॥

श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, रसनाविज्ञान और कायविज्ञान में सहभू आश्रय क्रमशः श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं त्वक् है। दो सर्वत्र समान है। अर्थात् सर्वत्र समनन्तर आश्रय मन और सर्वबीजक आश्रय आलय विज्ञान है ॥४१॥

निजविषयसमवलम्बं स्वलक्षणं वर्त्तमानकालं च।
क्षणिकं चेष्टानिष्टग्रहणफलं चापि विज्ञानम् ॥ ४२ ॥

विज्ञान का स्वविषय रूपादि आलम्बन होता है। वह स्वयं अपना लक्षण है। कोई दूसरा धर्म लक्षणात्मक उस पर नहीं होता। वर्तमानकाल-मात्रवृत्ति होता है। क्यों कि क्षणिक है इष्ट अनिष्ट ग्रहण उसका फल है॥

मानसमुपजनयन्ति च शुद्धमशुद्धं च चाक्षुषादीनि।
हानादानादिमपि प्रवृत्तिमेषां स्वरूपमिदम्॥ ४३॥

ये चाक्षुषादि विज्ञान शुद्ध या अशुद्ध मानस ज्ञान पैदा करते हैं और फिर हान (छोड़ना) उपादान (लेना) आदि प्रवृत्ति भी उत्पन्न करते हैं। यही विज्ञानों का स्वरूप है॥४३॥

मानसविज्ञानं स्यात् षष्ठं तस्मिन् सुखादिरालम्बः।
सहभु मनः समनन्तरमपि च मनस्तेन हि विवेकात्॥ ४४॥

छठा मानस विज्ञान है। उसका आलम्बन सुख-दुःखादि है। सहभू आश्रय मन ही है। क्यों कि सुखादिज्ञान और मन एक साथ होते हैं। समनन्तर आश्रय भी मन ही है। अगले श्लोक में स्पष्ट होगा॥४४॥

भवति सुखाद्यनुभूतौ युक्तायुक्तत्वधीः परस्तात्तु।
तस्मात्प्रवृत्तिरपि चेत्यनन्तरीयाश्रयस्तु मनः॥ ४५॥

सुख-दुःखादि की अनुभूति के बाद मन में हर्ष-क्लेश आदि होते हैं। युक्तत्व-अयुक्तत्व ज्ञान होता है और फिर प्रवृत्ति होती है। अतः समनन्तर आश्रय मन ही है। यहाँ तात्पर्य यह है कि शास्त्रान्तरों में चाक्षुषादि छः प्रत्यक्ष माने हैं। प्रत्यक्ष में विषय कारण है। वही यहाँ पर आलम्बनपद से बताया है। चक्षु आदि रूपादि प्रत्यक्ष का आश्रय है। वैसे ही मानस प्रत्यक्ष का आलम्बन सुखादि है। सुखादिज्ञान का आश्रय मन है। अब इसके बाद समनन्तर को देखो। चाक्षुषादिविज्ञान होते ही यह विषय युक्त है, यह अयुक्त है इत्यादि ज्ञान होता है। यह मानसिक विवेचना है। वही समनन्तर है। उसका आश्रय मन होता है। सुख-दुःखादिप्रत्यक्ष के बाद उस पर भी युक्तायुक्तत्व विचार होता है। यह अदृश्यदर्शनादिसुख अयुक्त है, गुर्वादिदर्शनसुख युक्त है इत्यादि। उसका आश्रय मन ही होगा। अन्य नहीं। अर्थात् समनन्तराश्रय सर्वत्र मन ही है। समनन्तर प्रत्यय आश्रयादि पर क्यों विचार है? इसलिये कि उसी से प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि होती है जो संसारबीजवपन है॥४५॥

तत्र प्रवृत्तयः स्युः सुविषयपरिकल्पनं मुहुर्ध्यानम् ।
उन्मादो निद्रा जागरणं मूर्च्छा तदुद्बोधः ॥ ४६ ॥
कायादीनां कर्मणि बहुधा संयोजनं जनुर्मरणम् ।
एवंरूपाः शुद्धाशुद्धज्ञानोद्भवास्ताः स्युः ॥ ४७ ॥

युक्तायुक्तत्व शुद्धाशुद्धत्वादि ज्ञान से अनेक प्रवृत्तियाँ होती हैं। मन में भी प्रवृत्तियाँ होती हैं। सुविषय अर्थात् प्रासादादि की परिकल्पना मनोराज्य मानस प्रवृत्ति है। इष्ट विषय का बार-बार ध्यान होने लगता है। उसी में कभी उन्माद, कभी निद्रा, कभी सहसा जागरण, कभी मूर्च्छा, फिर सहसा उत्थान, शरीरादि के बाह्यप्रवृत्ति में लगाने की प्रेरणा, जन्म, मरण ऐसी ऐसी नाना प्रवृत्तियाँ मानसिक होती हैं (मैं मरजाऊँ, मैं वहां जन्म लं इत्यादि बार-बार विचार से वैसा ही हो जाता है यही जन्ममरण-प्रवृत्ति है ॥४६-४७॥

मनसां ये किल धर्माः सन्ति मनस्कारवेदनाप्रमुखाः ।
ते तत्र सहायाः स्युर्युक्तायुक्तत्वधीर्येभ्यः ॥ ४८ ॥

मनस्कार वेदना आदि जो मानस धर्म प्रसिद्ध हैं वे यहाँ सहायक होते हैं। जिनसे विषयों में युक्तत्व-अयुक्तत्व आदि बुद्धि होती है।

पञ्च निगदिता धर्मा मनसः सामान्यरूपिणः किं च ।
पञ्च हि विशेषधर्मा इतिदशधर्मं वदन्ति मनः ॥ ४९ ॥

मन के पांच सामान्य धर्म हैं और पांच ही विशेष धर्म भी हैं। इस प्रकार मन को दशधर्मी बताया है ॥४९॥

तत्र खलु मनसिकारः स्पर्शोऽपि च वेदना च संज्ञा च ।
सामान्यधर्मरूपाः संप्रोक्ताश्चेतना चैव ॥ ५० ॥

मनसिकार, स्पर्श, वेदना, संज्ञा और चेतना ये मन के सामान्य धर्म हैं ॥५०॥

एवं पञ्च चछन्दोऽप्यधिमोक्षोऽपिस्मृतिः समाधिरपि ।
मतिरपि च व्याख्याता विशेषधर्मा इमे मनसः ॥ ५१ ॥

छन्द, अधिमोक्ष, स्मृति, समाधि और मति ये पांच मन के विशेष धर्म हैं ॥५१॥

अवधानं मनसिकृतिर्विषयेद्रियसंनिकर्षधीः स्पर्शः ।
सुखदुःखवेदना सा विषयनिमित्तोद्ग्रहणसंज्ञा ।। ५२ ।।
अथ चेतनात्र चित्तप्रस्यन्दो यत्नलक्षणो भवति ।
सामान्यधर्मरूपाण्येवं धीरैर्निरुक्तानि ।। ५३ ।।

मनसिकार सावधानता या एकाग्रता को कहते हैं। विषयेन्द्रियसंनिकर्ष-जन्य प्रथम ज्ञान स्पर्श कहलाता है। सुख-दुःखवेदना ही वेदना है। संज्ञा विषयोद्ग्रहण का नाम है। या अनुसंधान है। चेतना चित्तप्रस्पन्द अर्थात् मानस प्रयत्न को कहते हैं। इस प्रकार सामान्य धर्मों का स्वरूप विद्वानों ने बताया है ।।५२-५३।।

छन्दोऽभिप्रेते यो विषये ह्यभिलाष एष समभाषि ।
आलम्बनस्य गुणतस्त्ववधृतिरधिमोक्ष आख्यातः ।। ५४ ।।
एकालम्बनचित्तप्रबन्धवृत्तिः समाधिराख्यायि ।
स्मरणं मननं चैव स्मृतिमतिशब्दे निगद्येते ।। ५५ ।।

अभिप्रेत अर्थ में जो अभिलाषा होती है वही छन्द है। आलम्बन रूपादि का उत्तमता के रूप में अवधारण अधिमोक्ष है। आलम्बन रूपादि में चित्त की लगातार वृत्ति समाधि है। स्मृति स्मरण को और मति मनन को कहते हैं ।।५४-५५।।

क्लिष्टमनोविज्ञानं सप्तमरूपं न्यगादि चित्तस्य ।
समनन्तराश्रयात्मकमेतत् षण्णां पुरोक्तानाम् ।। ५६ ।।

क्लिष्ट मनोविज्ञान चित्त का सप्तम रूप है। जो छः रूप पूर्व बताये—चक्षुरादिविज्ञान और मनोविज्ञान उन का यह समनन्तर आश्रय रूप है ।।

त्रिविधं तस्य च रूपं नित्याहङ्कारविभ्रमः प्रथमः ।
यस्यालम्बनमालयविज्ञानं यत्किल क्षणिकम् ।। ५७ ।।

क्लिष्टमनोविज्ञान के तीन रूप हैं। प्रथम है—अहं की नित्यता का भ्रम। जिस अहं ज्ञान का आलम्बन (विषय) आलय विज्ञान है, जो क्षणिक है। नित्य नहीं है। (अत एव अहं की नित्यता भ्रम है) ।।५७।।

तेन भवेदात्माहं नित्यो भोगादिमानिति भ्रान्तिः ।
अथ च प्राणिद्रोहप्रभृतिर्दोषः समापतति ॥ ५८ ॥

इस क्लिष्टमनोविज्ञान से मैं आत्मा हूँ नित्य हूँ यह भ्रान्ति होती ही है। ऊपर से भोग मोक्ष भागी हूँ इत्यादि भ्रान्ति भी होती है। भोगार्थंता-भ्रान्ति से प्राणियों का द्रोह आदि दोष भी आ जाते हैं ॥५८॥

सत्कायदृष्टिरस्माद्विचिकित्सा च प्रजायते मनसि ।
शीलव्रतस्य स परामर्शं कुरुते च भोगार्थम् ॥ ५६ ॥

इतना ही नहीं, सत्कायदृष्टि होने लगती है। हर-एक बात में संशय होने लगता है—ऐसा करने पर कहीं भोग में बाधा आ जाय, ऐसा न करने पर भोग प्राप्त न हो इत्यादि। और नानाविध व्रत आदि भी भोगार्थं करने लगते हैं ॥५९॥

कुशलाकुशलोपेक्षाऽऽवरणं तस्य द्वितीयरूपं स्यात् ।
यदनावरणान्न सुखं न च दुःखं बोधिसत्त्वस्य ॥ ६० ॥

कुशल-अकुशल (सुख-दुःख) की उपेक्षारूप एक अवस्था है। उस का आवरण क्लिष्टमनोविज्ञान का दूसरा रूप है। बोधिसत्त्व सुख-दुःख की उपेक्षा करता है, उसका आवरण निवृत्त रहता है तो उसको सुख-दुःख दोनों नहीं होते। वेदनास्कन्ध समाप्त हो जाता है ॥६०॥

युक्तमिदमयुक्तमिदं कुशलमकुशलं प्रहेयमादेयम् ।
इति विषमभावनाऽस्य च विषयेषु तृतीयरूपं स्यात् ॥ ६१ ॥

यह युक्त है, यह अयुक्त है, यह कुशल है, यह अकुशल है, यह हेय है, यह उपादेय है इस प्रकार विषयों में जो विषम भावना होती है यह क्लिष्ट-मनोविज्ञान का तृतीय रूप है ॥६१॥

प्रज्ञा लोभो मोहो मानोऽसम्यग्दृगर्थविक्षेपः ।
स्त्यानं चौद्धत्यमपि च मुषितस्मृतिरप्यसंप्रज्ञा ॥ ६२ ॥
एते दोषाश्चैत्ता येऽन्ये सामान्यधर्मरूपाश्च ।
क्लिष्टमनोविज्ञाने सहायभूता भवन्त्येते ॥ ६३ ॥

प्रज्ञा, लोभ, मोह, अभिमान, असम्यक्दृष्टि (अज्ञान या मिथ्याज्ञान) स्त्यान (अकर्मण्यता) औद्धत्य, विस्मरण, न पहचानना, एवं विक्षेपादि दोष

तथा चित्त के अन्य सामान्य धर्म ये सभी क्लिष्टमनोविज्ञान के सहायक होते हैं ॥६२-६३॥

अत्राऽऽवृता ह्युपेक्षा क्लिष्टं तस्मान्निगद्यते तदिदम् ।
क्लेशान् जनयन् सततं संसारं प्राणिनं प्रणयेत् ॥ ६४ ॥

इस मनोविज्ञान को क्लिष्ट इसलिये कहते हैं कि यहाँ उपेक्षा (सुख-दुःख की उपेक्षा) आवृत रहती है। अतएव क्लेशों को यह उत्पन्न करता हुआ प्राणियों को संसार में पटकता है ॥६४॥

क्लिष्टालययोर्मध्ये यद्यप्यक्लिष्टमस्ति विज्ञानम् ।
नवमं तदपि च रूपं युक्तं चित्तस्य निर्वक्तुम् ॥ ६५ ॥
किन्त्वेतन्निर्वाणं गमयति चित्तं हरत्ततोऽन्यद्धि ।
आलयविज्ञानान्तं सर्वं निर्वापयति यस्मात् ॥ ६६ ॥

यद्यपि क्लिष्ट मनोविज्ञान और आलयविज्ञान के बीच में एक अक्लिष्ट मनोविज्ञान को भी चित्त के नवम रूप के रूप में वर्णन करना उचित है। तथापि अक्लिष्टमनोविज्ञान निर्वाण प्राप्त कराता है—चित्त को हर लेता है, नष्ट करता है, इसलिये उसे चित्त धर्म से पृथक् रखना ही उचित है। आलय-विज्ञानपर्यन्त सब को वह बुझाने वाला है ॥६५-६६॥

इति क्लिष्टमनोविज्ञाननिरूपणम्

आलयविज्ञानं पुनरष्टमपुक्तं समस्तबीजमिदम् ।
सांक्लेशिकधर्माणां बीजस्थानं तदेवोक्तम् ॥ ६७ ॥

आलयविज्ञान चित्त का आठवाँ रूप है। वह सब का बीज है। सांक्लेषिक धर्मों का वह बीजस्थान है ॥६७॥

आलयविज्ञानमिदं बीजमपि च बीजवासना चैव ।
एष विपाकः स्थानमुपादिश्चालम्बनं तस्य ॥ ६८ ॥

यह आलयविज्ञान बीज तथा बीजवासना भी है। इसे विपाक भी कहते हैं। इसका स्थान तथा उपादि दो आलम्बन है ॥६८॥

स तु भूतभौतिकतया परिणमते स्थानमेतदेवोक्तम् ।
बीजं च काय एव च सेन्द्रियकः प्रोच्यत उपादिः ॥ ६९ ॥

वह भूत एवं भौतिक रूप से परिणत (विवर्त्तित) होता है। वही स्थान कहलाता है। बीज, काय एवं इन्द्रिय इनको उपादि कहते हैं। इनके उपादान से ही आलयविज्ञान का अस्तित्व है ॥६९॥

स्पर्शमनस्काराभ्यां वेदनया संज्ञया च चेतनया ।
आलयविज्ञानमिदं सहभूभिः संप्रयुक्तं स्यात् ॥ ७० ॥

स्पर्श (इन्द्रियार्थसंयोगजज्ञान) मनस्कार (निर्णय) वेदना (सुखाद्यनुभूति) संज्ञा (विषयोग्रहण) और चेतना (मानसयत्न) ये सहभू हैं। इन से आलय विज्ञान संप्रयुक्त होता है तो भूत-भौतिक सर्जन करता है ॥७०॥

बीजधृतेश्च विपाकाद् गतियोनिभ्यामुपाद्युपादानात् ।
अपि जीवनोष्मसत्त्वादपि च प्रतिसन्धिमरणाभ्याम् ॥ ७१ ॥
विनिरोधसमापत्तेराहारान्नामरूपविज्ञानात् ।
संक्लेशव्यवदानादालयविज्ञानसिद्धिरिति ॥ ७२ ॥

सांक्लेशिक धर्मादि का बीजधारण निद्रा-मूर्च्छादि में आलयविज्ञान ही कर सकता है। कालान्तरकर्मफल सुखदुःखादिरूपी विपाक सन्तत-प्रवाही आलयविज्ञान के बिना कादाचित्क प्रवृत्तिविज्ञान से नहीं हो सकता। यह संसरण भी उसी के होने से सम्भव हुआ है। स्वर्गादिगति और मानवादि योनि भी विज्ञान से ही होते हैं। अधिष्ठानभूत शरीर के साथ बीजेन्द्रिय का आलयविज्ञान ही उपादान करता है। अन्य शरीर का प्रतिसन्धान तथा पूर्व शरीर का त्याग भी आलयविज्ञान के विना नहीं हो सकते। निरोधसमाधि में कोई भी प्रवृत्तिविज्ञान नहीं है तो वहाँ आलय-विज्ञान मानना ही पड़ेगा। प्रत्येक विषय का प्रत्येक इन्द्रिय से आहरण परस्परेन्द्रिय व्यवधान होने से सन्धायक आलय विज्ञान से हो सकता है। या सर्वाहरण वही कर सकता है। जिसे मैंने देखा उसे छू रहा हूँ इत्यादि एकाहरण प्रतीति की उसी से उपपत्ति है। नाम तथा रूप सबका विज्ञान आलयविज्ञान से ही शक्य है—चक्षुरादि प्रत्येक विज्ञान से नहीं। संक्लेश-व्यवदान से आलयविज्ञान की ही शुद्धि होती है। इन कारणों से आलय-विज्ञान की सिद्धि निश्चित है।

आलीयन्तेऽत्रोपनिबध्यन्ते कार्यभावतो धर्माः ।
कारणभावेनोत स धर्मेष्वालीनविधयाऽऽस्ते ॥ ७३ ॥

सभी धर्म जहां उपनिबद्ध हैं वह घर आलय है। अथवा कार्य में कारण लीन हो कर (छुप कर) रहता है जैसे घटादि में परमाणु। वैसा ही यह विज्ञान सर्वधर्मों में लीन है। अतः आलय है ॥७३॥

उदधिसम आलयोऽयं विषयसमीरेरितोऽप्यनुच्छिन्नः।
विज्ञानततितरङ्गैश्चित्रैर्नृत्यन् प्रवर्त्तेत ॥ ७४ ॥

समुद्र के समान यह आलय विज्ञान है। विषयरूपी झंझावात से उद्वेल्लित होने पर भी उच्छिन्न नहीं होता। चक्षुर्विज्ञानादि विज्ञानसन्तान-तरंगों से नृत्य करता हुआ प्रवृत्ति विज्ञान को प्रकट करता है ॥७४॥

चक्षुर्विज्ञानादिकमखिलं प्रोक्तं प्रवृत्तिविज्ञानम्।
लहरीवत्तच्छमने चालयविज्ञानमब्धिरिव ॥ ७५ ॥

चक्षुरादिविज्ञान को प्रवृत्तिविज्ञान कहते हैं। वह तरङ्गों के समान है। उन का शमन होने पर आलय विज्ञान समुद्रस्थानीय विद्यमान ही रहेगा ॥७५॥

क्षणिको जलप्रवाहः क्षणिकान् काष्ठादिकान्नयति यद्वत्।
प्राणादीन् संज्ञादीन् नयन्नयं धारया वहति ॥ ७६ ॥

जलप्रवाह क्षणिक है। तो क्या हुआ ? क्षणिक काष्ठ (लकड़ी) आदि को बहाता हुआ धारारूप से चलता है। वैसे यह आलय भी प्राण एवं संज्ञा आदि को ले जाता हुआ धारा से प्रवाहित रहता है ॥७६॥

आलयविज्ञानस्य च सहभूर्नैवाश्रयोऽस्ति कश्चिदपि।
निजसामर्थ्यादेव हि सन्तानतया प्रवहतीदम् ॥ ७७ ॥

आलय विज्ञान सब का सहभू आश्रय है। किन्तु आलय विज्ञान का कोई सहभू आश्रय नहीं है। वह अपने सामर्थ्य से सन्तान रूप से प्रवाहित होता रहता है ॥७७॥

इत्यालयविज्ञाननिरूपणं चित्तनिरूपणं च

अथ चैतासिका धर्माः प्रोक्ता एकाधिकास्तु पञ्चाशत्।
षट्चत्वारिंशत्तु प्रागेव निरूपिता बोध्याः ॥ ७८ ॥

अब चैतसिक धर्मों का निरूपण करेंगे। चैतसिक धर्म इक्यावन् हैं। उनमें छेयालीस वैभाषिक मत प्रस्ताव में जो कहे गये हैं—चित्तमहाभूमिक, कुशलमहाभूमिक इत्यादि वे ही हैं ॥७८॥

अनियतभूमिकधर्मे पञ्च किल स्युः शुभाशुभविभगाः ।
तेन तु पञ्चाधिकता योगाचारे मते जाता ।। ७९ ।।

अनियतभूमिक कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क, विचार एवं राग को या यथा सम्भव पांच को शुभ-अशुभ विभाग देने से पांच बढ़ जाते हैं तो वे संख्या में इक्यावन् हो जाते हैं ।।७९।।

इति चैतसिकधर्मनिरूपणम्

अथ चित्तविप्रयुक्ताः प्रागुक्ताः स्युश्चतुर्दश यथावत् ।
दश पुनपरे तत्र प्रवृत्तिराद्या तु संसरणम् ।। ८० ।।

अब चित्तविप्रयुक्त धर्म देखें । प्राप्ति अप्राप्ति, निकाय सभागता आदि चौदह वैभाषिक मत प्रस्ताव में जो आ चुके वे ही हैं । यहां दस अधिक हैं । उन में प्रथम प्रवृत्ति है । यही संसारबन्धन है । यह चित्तधर्मों से विलक्षण है ।।

एवंभागीयोऽन्यः प्रातिस्विकरूपमेष सर्वेषाम् ।
प्रत्यनुबन्धोऽर्थानां सम्बन्धोऽन्योन्यसापेक्षः ।। ८१ ।।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति में अपना-अपना व्यक्तित्व है । ऐसा नहीं कि एक ही विज्ञान एक व्यक्ति को ही हो । यही प्रतिस्विकरूपता एवंभागीयनामक चित्तविप्रयुक्त एक धर्म है । वस्तुओं का अन्योन्य सापेक्ष सम्बन्ध प्रत्यनुबन्ध है । जैसे पिता-पुत्र, कार्य-कारण इत्यादि । यह द्वितीय चित्तविप्रयुक्त है ।।८१।।

परिवर्त्तनं जवन्यः क्रमिकस्थितिरित्यनुक्रमो विवृतः ।
देशः कालः संख्या सामग्र्यन्योन्यसमवायः ।। ८२ ।।

वस्तुओं का विलक्षण परिवर्त्तन क्यों है ? यदि विज्ञान ही सब है । उत्तर है जवन्य नामक तृतीय चित्तविप्रयुक्त धर्म इस में कारण है । सब पदार्थ एक साथ नहीं होते । क्रमशः होते हैं । क्यों ? चतुर्थ अनुक्रमनामक चित्तविप्रयुक्त धर्म से । पांचवाँ है देश । छठा काल । सातवां गणना । अठवां सामग्री । नववां परस्पर समवाय । ये सब चित्तविप्रयुक्त हैं ।।८२।।

भेदः सर्वेषां यः पृथक्त्वभावो य ईक्ष्यते स भवेत् ।
एवं दशभिः सहितास्ते तु चतुर्विंशतिर्धर्माः ।। ८३ ।।

सब में जो पृथक्त्व दिखाई पड़ता है वह भेद नामक चित्तविप्रयुक्त धर्म है । इन दस को प्राप्ति-अप्राप्ति आदि पूर्वोक्त चौदह से जोड़ने पर चित्त-

विप्रयुक्त धर्म चौबीस हो जाते हैं ॥८३॥

इति चित्तविप्रयुक्तधर्मनिरूपणम्

विज्ञानं बुद्धिः स्याद् द्विविधा सा प्रोच्यते विशेषज्ञैः ।
प्रविचयबुद्धिस्त्वेका भवेत्प्रतिष्ठापिका त्वन्या ॥ ८४ ॥

विज्ञान ही बुद्धि है। वह दो प्रकार की है। एक प्रविचय बुद्धि है। दूसरी प्रतिष्ठापिका बुद्धि है ॥८४॥

त्रिविधा सत्ता कथिता मरुतोयान्नोदकादितथतासु ।
परिकल्पित-परतन्त्रक-परिनिष्पन्नप्रभेदेन ॥ ८५ ॥

तीन प्रकार की सत्ता होती है। मरुजलादि में एक है। अन्नोदक (पेयजल) आदि में दूसरी सत्ता है। तथता में तीसरी सत्ता है। प्रथम को परिकल्पित, द्वितीय को परतन्त्र तथा तृतीय को परिनिष्पन्न कहते हैं।८५॥

प्रविचयबुद्धिस्तावन्मरुतोयाद्यात्मना परिस्फुरति ।
परिकल्पिताऽत्र सत्ता बाधो यस्याः प्रतीयेत ॥ ८६ ॥

प्रविचय बुद्धि ही मरुमरीचिकाजलादि रूप से स्फुरित होती है। उसमें परिकल्पित सत्ता है। अर्थक्रियाकारी नहीं। इसका बाद में बाध प्रतीत होता है ॥८६॥

हेतुप्रत्ययजनिता परजातत्वान्न्यगादि परतन्त्रा ।
ग्राह्यग्राहकभेदा स्थापकधीस्तां प्रकाशयति ॥ ८७ ॥

अन्न जल गौ अश्व इत्यादि सभी हेतुप्रत्यय से उत्पन्न हैं। अतः उन की सत्ता परतन्त्र है। विज्ञानवादी के मत में भी हेतुप्रत्ययज्ञान से अन्न-जलादि विज्ञान होता है। अतः परतन्त्र सत्ता है। ग्राह्य, ग्राहक आदि भेद इस सत्ता में होता है। प्रतिष्ठापक बुद्धि उसे प्रकाशित करती है। या उस रूप में ,काशित होती है ॥८७॥

परिनिष्पन्ना सत्ता तथतायां बुद्धिगोचरा नैव ।
बुद्धेराकारः खलु विषयस्तथता न खल्वेवम् ॥ ८८ ॥

परिनिष्पन्न सत्ता तथता की है। वह बुद्धिगोचर नहीं है। बुद्धि-विषय का अर्थ है—बुद्धि का आकार। वह उत्पन्न होता है। नित्यनिष्पन्न नहीं है। तथता नित्यनिष्पन्न है ॥८८॥

परमं शून्यं तथता शून्ये किं नाम भासकं भास्यम् ।
तद्धि ग्राह्यग्रहणग्राहककोटित्रयोन्मुक्तम् ॥ ८९ ॥

तथता परमशून्य को कहते हैं। उसमें कौन भासक और कौन भास्य ? वह तो ग्राह्य, ग्राहक और ग्रहण ऐसी त्रिपुटी से परे है ॥८९॥

सदसद्भ्यामन्यत्तत्तथाऽतथाभ्यां च जन्ममरणाभ्याम् ।
वृद्धिह्रासाभ्यामपि निर्मुक्तं शुद्धयशुद्धिभ्याम् ॥ ९० ॥

वह शून्य सत और असत से भिन्न है। तथा और अतथा शब्द उसके लिये नहीं है। अर्थात् वह न सप्रकार है और न निष्प्रकार ही है। वह जन्म मरण रहित है। वृद्धि और ह्रास से अस्पृष्ट है। तथा शुद्धि और अशुद्धि से सर्वथा दूर है।

तद् भावशून्यरूपं भवति तथाऽभावशून्यरूपमपि ।
प्रकृतित एव च शून्यं तद्विद्वाञ्छून्यविद् भवति ॥ ९१ ॥

वह तथता भावशून्यरूप तथा अभावशून्यरूप भी है। स्वभावतः वह शून्य है। उसे जानने वाला ही शून्यवेत्ता सत्यवेत्ता है ॥९१॥

मौनं तत्र व्याख्या मानं स्यान्निर्विकल्पकस्थानम् ।
तदपि च बौद्धाद्वचनादखिलनिषेधाच्च तद्वित्तिः ॥ ९२ ॥

उस शून्य तथता की व्याख्या मौन ही है। निर्विकल्पक स्थिति ही प्रमाण है। बुद्धवचन से निर्विकल्पकस्थानादि होगा। समग्रनिषेध से शून्यता का अनुभव वा प्राप्ति होगी ॥९२॥

इति त्रिसत्यनिरूपणम्

ननु विज्ञानं यदि तव गृहनीलाद्यं तदा कुतो यत्नः ।
कार्यो, गृहादिविषयो ज्ञानेनोद्भाव्यतां सर्वः ॥ ९३ ॥

प्रश्न—यदि गृह, घट एवं नीलादि ज्ञानाकार ही है तो गृहादि-निर्माणार्थ यत्न क्यों करना चाहिये ? ज्ञान से ही उन्हें क्यों नहीं पैदा करते ? ॥९३॥

मैवं यत्नादिकमपि विज्ञानविशेष एव तज्जनने ।
जायेत गृहादिकमपि तत्र सखे का व्यथा भवतः ॥ ९४ ॥

उत्तर—सुनिये। यत्नादि भी तो विज्ञानविशेष ही है। विज्ञानविशेष-

रूप यत्न से विज्ञानविशेषरूप गृहादि उत्पन्न हुआ। उसके लिये हे मित्र आप को क्यों व्यथा होने लगी ? ॥९४॥

मरुतोयं विज्ञानं विज्ञानं कूपतोयमेवापि ।
कस्मान्मरुतोयान्न पिपासोपशमो भवेद् भवतः ॥ ९५ ॥

प्रश्न—मरुमरीचिका जल भी विज्ञान है। और कुए का जल भी विज्ञान ही है। तब मरुमरीचिका जल से आप की प्यास क्यों नहीं बुझती? दोनों विज्ञान ही तो हैं ॥९५॥

मैवं प्रविचयबुद्ध्याकारो नार्थक्रियां स्फुटं कुर्यात् ।
स्थापकबुद्ध्याकारः क्षमते त्वर्थक्रियां कर्त्तुम् ॥ ९६ ॥

उत्तर—मरुतोय प्रविचयबुद्धि का आकार है। वह स्फुट अर्थक्रिया नहीं करता। रज्जु सर्प से भयादि अर्थक्रिया कदाचित् होती है। पर स्फुट नहीं है। हाँ, प्रतिष्ठापक बुद्धि का आकार अर्थक्रियासमर्थ है ॥९६॥

अत्र स्वभाव एव हि शरणं सर्वस्य तान्त्रिकस्य सतः ।
न पिपासोपशमस्ते कस्मादग्नेर्वद त्वमपि ॥ ९७ ॥

प्रविचय बुद्धि का आकार अर्थक्रियासयर्थं क्यों नहीं ? उसका स्वभाव ही ऐसा है। प्रतिष्ठापकबुद्ध्याकार का स्वभाव है कि वह अर्थ-क्रियाकारी है। इस प्रकार स्वभावाश्रयण ही सबके पास उत्तर है। अन्यथा आप भी बताईये कि पानी से ही प्यास क्यों बुझती है, अग्नि से क्यों नहीं ? यही कहोगे पानो का स्वभाव है प्यास बुझाना। अग्नि का नहीं ॥

स्थापकबुद्धिविशेषः कर्म च तज्जन्यवासना चैव ।
सर्वं व्यवस्थितं स्यात्तेन सुखाद्यं गुणाद्यं च ॥ ९८ ॥

चित्तधर्म ही अविज्ञासि अर्थात् कर्म है। वह स्थापकबुद्धिविशेषरूप ही है। उसके दो विभाग पहले कह चुके हैं। एक प्रकट है, दूसरा अप्रकट है। उसी से सुख-सुखादि एवं गुण-दोषादि की व्यवस्था है ॥९८॥

न सहोपलम्भनियमाद् भेदः खलु नीलतद्धियोर्युक्तः ।
भेदे गौरवदोषः प्रमाणविरहश्च विस्पष्टः ॥ ९९ ॥

नील एवं नीलबुद्धि एक साथ में उपलब्ध हैं। अतः नील में और नीलविज्ञान में कोई भेद नहीं हो सकता। भेद मानने में एक तो गौरव दोष है। दूसरा स्पष्टतया प्रमाणाभाव है ॥९९॥

बाह्यवदवभाति जगद् बाह्याभावे कथं नु वत्कारः ।
बाह्याभ्यन्तरभिदुरं प्रत्युक्तिरियं तदप्यन्तः ॥ १०० ॥

जगत् अन्दर ही है। बाह्यवत् प्रतीत होता है। पर बाह्य है नहीं तो 'बाह्यवत्' का क्या अर्थ है? सुनो। जो बाह्य भीतर ऐसा भेद करता है उसके प्रति यह कथन है। बाह्यत्व भी ज्ञानाकार है। हाँ प्रतिष्ठापक-बुद्धयाकार है ॥१००॥

यत्तु समूहालम्बनबुद्धौ स्यान्नीलपीतसांकर्यम् ।
तदसद् बुद्धयाकाराः संकीर्यन्ते न चित्रमिव ॥ १०१ ॥

जो यह कहते हैं कि "नीलपीतौ" ऐसे समूहालम्बन में ज्ञान एक होने से नील और पीत का सांकर्य होगा। किन्तु यह बात गलत है, ज्ञान के आकारों का कभी सांकर्य नहीं होता। जैसे चित्र में चित्रवर्ण एक है तो क्या हाथी घोड़ा आदि का सांकर्य होता है? सांख्य मत में क्षणपरिणामी होने से क्या उत्तर क्षण में अदला बदली होती है? न्यायमत में भी यत्किंचित् अवयव नाश से अवयविनाश और रूपनाश होकर नवीनरूप होने पर क्या घोड़े के स्थान में हाथी और हाथी के स्थान में घोड़ा हो जाता है? ॥१०१

संस्कारसन्ततिश्च प्रचलति विज्ञानवर्त्तिनी काचित् ।
उद्‌बुध्यति हेतुवशात् स्मरणं तेनोपपद्येत ॥ १०२ ॥

विज्ञान में ही संस्कार नाम का धर्म संतानरूप से चलता है। विशेष हेतु से संस्कार उद्‌बुद्ध होता है तो स्मरण होता है ॥१०२॥

पुत्रस्यानादिभवा सन्ततिरन्या पितुस्तथान्यैव ।
पितुरनुभवतस्तस्मात् स्मरणापत्तिः कथं सुनोः ॥ १०३ ॥

पुत्र की अनादि कालीन विज्ञान संतति अलग है। पिता की अलग है। अतएव स्वजन्य में स्वसंस्कार होता है तो पितृसंस्कार से पुत्र को स्मरण होना चाहिए इत्यादि आपत्ति के लिये कोई स्थान नहीं है ॥१०३॥

स्वप्नवदखिलमपि जगन्नाबाधात्सत्यता खनीलिमवत् ।
बाधन्ते योगयुजो योगाचारा जगदिदं च ॥ १०४ ॥

स्वप्न के समान सारा जगत् ज्ञानाकार है। स्वप्न बाधित होता है। अतः मिथ्या हो, पर जाग्रदर्थ बाधित नहीं होता तो सत्य होना चाहिये ऐसी युक्ति

निरर्थक है। आकाशनीलिमा का प्रात्यक्षिक बाध नहीं होता है तो क्या वह सत्य है ? यौगिक चक्षु से आकाशनीलिमा का बाध होता है कहो तो योगाचार को यौगिक ज्ञान से जगत् का भी बाध होता है ॥१०४॥

दृष्टो नेदृशयोगी नास्त्यत इति चेत्तदा तु दृष्टिकृताम् ।
दृष्टयात्मानं सत्तामङ्गीकुर्वंश्चिरं जीव ॥ १०५ ॥

कुमारिल भट्ट कहते हैं कि ऐसे योगियों को मैंने कहीं नहीं देखा, अतः है ही नहीं। ठीक है। तब तो आपने दृष्टिकृत सत्ता मानी। वह दृष्टिस्वरूप से पृथक् नहीं हो सकती। इस प्रकार आप हमारे ही चिरंजीव हैं ॥१०५॥

नानाविधविज्ञानादतिरिक्तं तेन नैव किंचिदिह ।
क्लिष्टमनोविज्ञानं यदभिध्यानाद् भवेत् पुंसाम् ॥ १०६ ॥

अतः नानाविध विज्ञान से अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं है। जगत के साभिनिवेशचिन्तन से क्लिष्टमनोविज्ञान होता है और उससे संसार बन्धन होता है ॥१०६॥

योगाचरणात् सततं विज्ञानक्षणिकतावबोधाच्च ।
अक्लिष्टं विज्ञानं समुद्भवेद् भावनाभिश्च ॥ १०७ ॥

योगाभ्यासाचरण से, जगत् को क्षणिकविज्ञानरूपता के बोध से और भावनाओं से अक्लिष्टविज्ञान होता है ॥१०७॥

बुद्धानुस्मृतिरद्धा धर्मानुस्मरणमपि च साहाय्यम् ।
तनुते सङ्घानुस्मृतिरपि शीलं यत्समाध्यनुगम् ॥ १०८ ॥

बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति तथा समाधिगामी शील ये सब साक्षात् सहायता करते हैं ॥१०८॥

बुद्धं शरणं गच्छन् धर्मं शरणं तथैव सङ्घं च ।
शीलं शरणं गच्छन् बन्धनमखिलं भिनत्ति पुमान् ॥ १०९ ॥

बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, शीलं शरणं गच्छामि इन नारों के साथ शरणागति स्वीकार करने से पूर्वोक्त साधक समस्त संसार बन्धनों को काट देता है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना योगाचारस्य संन्यरूपि मतम् ।
सम्यग्दर्शनसिद्ध्यै बौद्धं सिद्धान्तमवबोद्धुम् ॥ ११० ॥
संसारजलधिमग्नानुद्धर्तुं यमिममूचिवान् भगवान् ।
तस्य लघुनिबन्धोऽयं प्रीणयतु तमेव भगवन्तम् ॥ १११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयतेः
कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे योगाचारदर्शनम्

माध्यमिकदर्शनम्

करुणापारावारः क्लेशज्वालावलीभिरवलीढान् ।
शून्यामृतदेशनयाऽशमयन्स्तं नुमः सुगतम् ॥ १ ॥

करुणा के सागर जिस भगवान बुद्ध ने क्लेशरूपी दावानल की ज्वालाओं की लपट में फंसे मनुष्यों को शून्योपदेशात्मक अमृत सींचकर शान्त किया निर्वाण प्राप्त कराया उस सुगत भगवान बुद्ध की हम स्तुति करते हैं ॥१॥

वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचाराः क्रमात्समुद्दिष्टाः ।
क्रमिकोत्कर्षास्ते किल परमोत्कर्षास्तु माध्यमिकाः ॥ २ ॥

वैभाषिक, सौत्रान्तिक और योगाचारों का क्रमशः वर्णन हुआ। वे उत्तरोत्तर क्रमिक उत्कर्षातिशययुक्त माने जाते हैं। परमोत्कर्ष तो माध्यमिकों का है ॥२॥

तदिदं माध्यमिकं मतमधुना संक्षेपतः प्रवक्ष्यामः ।
नागार्जुनादयो यत् सम्यग् विस्तारयामासुः ॥ ३ ॥

उस परमोत्कृष्ट माध्यमिक मत का सम्प्रति संक्षेपतः हम वर्णन करने जा रहे हैं जिसे नागार्जुनादि ने सम्यक्रूपेण विस्तारित किया ॥३॥

नोच्छेदवाद उचितः शाश्वतवादोऽपि नैव खलु सम्यक् ।
मध्यममार्गेण ततो जगति जयन्ति स्म माध्यमिकाः ॥ ४ ॥

उच्छेदमार्ग उचित नहीं है। बीच में ज्ञानादि का उच्छेद नहीं होता। और शाश्वतवाद भी ठीक नहीं। आत्मादि शाश्वत नित्य है यह अनुभवविरुद्ध है। अतः मध्यम मार्ग ही सम्यक् है। ज्ञानधारा चलती है। प्रतीत्यसमुत्पाद होता है। यही मध्यम मार्ग है। उस मध्यम मार्ग से जो विजयी हो गये वे माध्यमिक हैं। मध्यमेन जयन्ति—"तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" ॥४॥

जगतोऽस्य हि प्रतीत्यसमुत्पादो मध्यमाभिधो मार्गः ।
सा शून्यता तु जगतः शून्यं निर्वाणमेवापि ॥ ५ ॥

जगत् का प्रतीत्यसमुत्पाद ही माध्यमिक मार्ग है। वही जगत की शून्यता है, जिस को आगे सिद्ध करना है। तथा निर्वाण तो शून्य है ही। फलतः संसार तथा निर्वाण दोनों शून्यरूप है ॥५॥

प्रतिगत्य समुत्पादः स्कन्धानां यः परस्परं भवति ।
नासन्न सन्न सदसन्नानुभयः शून्यमेवातः ॥ ६ ॥

अणु भी स्कन्ध ही है। स्कन्ध का राशि अर्थ ही न समझ लेना। उन अणुओं का परस्पर अभिगमन से आत्मादि का जो उत्पाद है वही प्रतीत्य-समुत्पाद है। यह पूरा जगत् प्रतीत्यसमुत्पादात्मक है। वह न सत् है, न असत् है, न सदसत् है और न अनुभयात्मक है। अतः शून्य है। परमाणु संतान में भी पूर्वपरमाणु में उत्तर परमाणु सत-असत्-सदसत्-एवं अनुभयरूप न होने से शून्यात्मक ही समझना चाहिये ॥६॥

सर्वस्य च शून्यत्वं मुख्यं ज्ञेयं तदेतदुपदेशैः ।
स्वातन्त्रिकास्तु विविदुस्तर्कैः प्रासङ्गिकाश्चैव ॥ ७ ॥

मुख्य ज्ञातव्य जगत की शून्यता है। स्वातन्त्रिक उसे उपदेशों के द्वारा ज्ञातव्य मनते हैं। प्रासङ्गिक तर्कों के द्वारा। अपने तन्त्र अर्थात् शास्त्र से जो समझते हैं वे स्वातन्त्रिक हैं। प्रसञ्जन-प्रसङ्ग है अर्थात् तर्क। उस से जो समझें वे प्रासङ्गिक हैं। कुछ लोग प्रसङ्ग का अर्थ उपदेश और स्वतन्त्र का शास्त्राद्यनपेक्ष स्वीय तर्क करते हैं ॥७॥

नन्वखिलशून्यतायां नो बुद्धो नैव तदुपदेशोऽपि ।
नैव च धर्माचरणं विप्लव एवं भवेन्मैवम् ॥ ८ ॥

यदि सब शून्य है तो न बुद्ध कोई रहा ओर न उपदेश ही। इस प्रकार धर्म एवं उसका आचरणादि कुछ न रहा तो भारी विप्लव होगा। उपदेश एवं धर्माचरणादि व्यर्थ होंगे तो सभी यथेष्टाचारी बनेंगे। इस का परिणाम स्पष्ट है। विप्लवादि को भी शून्य बोल कर उत्तर देना अलग बात है। जगत् की वस्तुस्थिति अलग है ॥८॥

आश्रित्य द्वे सत्ये बुद्धानां धर्मदेशना भवति ।
संवृतिसत्यमिहैकमथान्यत्परमार्थसत्यमिति ॥ ९ ॥

समाधान यह है कि दो प्रकार का सत्य मान कर बुद्धों ने धर्मोपदेश किया है। एक संवृति सत्य है, दूसरा परमार्थ सत्य है ॥९॥

अज्ञानकल्पितानां संवृतिसत्यत्वमेव भावानाम् ।
वागाद्यगोचरं खलु शून्यं परमार्थसत्यं तत् ॥ १० ॥

अज्ञान से कल्पित संसार का संवृतिसत्यत्व ही है। परमार्थ सत्य तो वाणी मन का अविषय है। वही शून्य है ॥१०॥

ननु वक्तव्यं बुद्धैः प्रमाणतो नैव चेत्प्रमत्ताः स्युः ।
मानानां शून्यत्वे कथमधिकारः कथासु भवेत् ॥ ११ ॥

पूर्वपक्ष :–बुद्धिमान को चाहिये कि वह प्रमाण से वार्त्ता करें। अन्यथा उन्मत्तों के बकवास के बराबर होगा। यदि प्रमाण को शून्य मानते हैं तो उस को कथा (शास्त्रचर्चा) में अधिकार ही नहीं होगा। क्यों कि कुछ भी बोले वह शून्य ही है। तब बोलना भी निरर्थक होगा। सांवृतिक सत्य कहना भी एक वाग्जाल मात्र है। सत्य हो तो संवृति क्या है ? ॥११॥

सत्तास्वीकृतितः किं वक्तव्यं व्यावहारिकं मानैः ।
तैरिह सिद्धं यत् स्यात् स्वीकार्यं तद् भवेदुभयैः ॥ १२ ॥

सत्ता स्वीकार मात्र से क्या होगा ? सत्ता स्वीकार करके फिर अप्रामाणिक बकवास करें तो क्या वह स्वीकार्य होगा ? बात इतनी ही है कि व्यवहार में जिन को प्रमाण कहते हैं उन प्रमाणों से बात करनी चाहिये। उनकी सत्ता हो या न हो उससे कोई मतलब नहीं है। उन प्रमाणों से जो सिद्ध होगा वह वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य होना चाहिये ॥१२॥

त्वत्स्वीकृतैः प्रमाणैर्यदि शून्यत्वं तवैव सिद्धं स्यात् ।
सिद्धं तर्हि मनीषितमन्या वार्त्ता वृथैव तव ॥ १३ ॥

मैं सत्ता मान कर चलूं या शून्य मान कर; आप के स्वीकृत प्रमाणों से बोलूंगा। उन्हीं प्रमाणों से यदि शून्य सिद्ध होता हो तो इतना ही हमें चाहिये। इस से अतिरिक्त सत्ता-असत्ता की बात पहले ही करना वृथा है ॥१३॥

न खलु स्वतो न परतो नोभयतो नापि हेतुतो भावाः ।
उत्पद्यन्ते तस्माच्छून्यात्मानोऽखिला अर्थाः ॥ १४ ॥

घटादि पदार्थ स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकते। ऐसा हो तो हमेशा उत्पन्न होते रहते। परतः (वस्त्र-वृक्षादि से) भी नहीं। क्यों कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। अत एव स्व और पर दोनों से भी नहीं हो सकते। यदि कहें

कि मृत्तिका आदि हेतु से उत्पन्न होते हैं तो यह बताओं कि मृत्तिका से ही घट उत्पन्न हो, वृक्ष से नहीं इसमें क्या नियामक है ? मृत्तिका में ही घटोत्पादन शक्ति है, वृक्षादि में नहीं, या कार्यंकारणभाव मृत्तिका के साथ है घट के साथ नहीं, ऐसा कहें तो हम पूछेंगे कि वह शक्ति और कार्यकारणभाव अतीन्द्रिय है, कैसे उसे जाना ? फिर वह शक्ति आदि मृत्तिका में ही क्यों है ? वृक्षादि में क्यों नहीं ? मृत्तिका में घट उत्पन्न होता है, वृक्ष में नहीं, यह प्रत्यक्ष है कहो तो मरुमरीचिका में जल प्रत्यक्ष होने से वहाँ भी जलोत्पादन शक्ति मानो। अच्छा माना कि उत्पादन शक्ति है। तो वृक्ष में भी तो उत्पादन शक्ति है। अन्यथा फल कैसे उत्पन्न होता ? तो घट भी क्यों न उत्पन्न हो ? मृत्तिका में घटोत्पादन शक्ति है। वृक्ष में फलोत्पादन शक्ति है ऐसा शक्तियों में हम विशेषता कहेंगे तो भी नहीं बनता। फल पैदा होने से पूर्व वह शक्ति फलसम्बद्ध नहीं है तो पार्थक्य कैसे करेंगे ? असम्बद्धफलसामर्थ्यं कहें तो असम्बद्धघटसामर्थ्यं ही वह क्यों नहीं ? सामर्थ्य स्वतो व्यावृत्त है, पृथक् पृथक् है, कहने पर भी कार्यासम्बद्ध होने पर नियमन असंभव है। यदि कहें कि घटत्वावच्छिन्नं प्रति मृत्तिकात्वेन कारणता है। घटत्व और मृत्तिकात्व परस्पर सम्बद्ध है तो प्रश्न होगा कि एक मृत्तिका से अनन्त घट एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न होते ?, अतः तद्घट के प्रति तन्मृत्तिका कारण है ऐसा कार्यंकारणभाव मानना ही पड़ेगा। तब असम्बन्ध पूर्ववत् ही होगा। घटत्व और मृत्तिकात्व जाति होने से नित्य सम्बन्धी जैसे तैसे मान लो। पर तद्घट और तन्मृत्तिका का सम्बन्ध दुर्घट ही है। इसलिये, 'दीख रहा है अतः घट है' इतना ही कहो। पर वह अस्तित्व मरुजलास्तित्व से अधिक महत्त्व नहीं रख सकेगा। यह प्रतीत्यसमुत्पादमात्र है। वस्तुतः शून्य है। यही संवृतिसत्त्व है ॥

संवृतिसत्या एते बाह्या आध्यात्मिका इति द्वेधा।
रूपस्कन्धा आद्या भूम्याद्यणुपुञ्जरूपाश्च ॥ १५ ॥

ये ही संवृतिसत्य है। वे बाह्य तथा आध्यात्मिक ऐसे दो प्रकार के हैं। रूपस्कन्ध बाह्य हैं। वे पृथिव्यादिपरमाणुपुञ्जरूप हैं ॥१५॥

आध्यात्मिकः प्रतीत्यसमुत्पादः प्रत्ययाच्च हेतोश्च।
तत्राविद्या नाम प्रथमः स्यात् प्रत्ययो हेतुः ॥ १६ ॥

आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद प्रत्यय से भी होता है हेतु से भी होता है। (प्रत्यय-कारणसमुदाय को कहते हैं। प्रतीत्य की व्याख्या द्रष्टव्य है

हेतु असाधारण कारण को कहते हैं। हेतु प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय, आलम्बन प्रत्यय तथा अधिपति प्रत्यय व्याख्यात हो चुके हैं) इनमें प्रथम अविद्या है जो हेतु प्रत्यय है ॥१६॥

संस्कारास्तु तदुत्था जायेत च तेभ्य एव विज्ञानम् ।
अथ नामरूपमथ च षडायतनमतो भवेत् स्पर्शः ॥ १७ ॥
अथ वेदनाथ तृष्णाथोपादानं भवोऽथ जातिश्च ।
जातेर्जरा च मरणं शोकः परिदेवना चैव ॥ १८ ॥
जातेरेव च दुःखं जायेत च दौर्मनस्यमेवापि ।
तद्वच्चोपायासा जातिनिमित्ता भवन्त्येते ॥ १९ ॥

अविद्या से संस्कार, उस से विज्ञान, विज्ञान से नाम और रूप, उस से षडायतन, उस से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, उस से तृष्णा, उस से उपादान, उससे भव, भव से जाति ये क्रमशः होते हैं। जाति से जरा, मरण, शोक परिदेवना, दुःख, दौर्मनस्य और उपायास (उपक्लेश) होते हैं ॥१७-१९॥

हेतुनिबन्धन उक्तः संप्रति तु प्रत्ययोद्भवं ब्रूमः ।
एष सविज्ञानानां भूम्यादीनां हि समवायात् ॥ २० ॥

हेतु से होने वाले का क्रम बताया। अब प्रत्ययोद्भव को देखो। पृथिवी, जल, तेज, वायु ये आकाश और विज्ञान के समवाय से होते हैं। (यद्यपि आकाश असंस्कृत है वह कारण नहीं होता। तथापि कहीं कहीं उसे कारण रूप से भी वर्णित किया है।) ॥२०॥

षाड्धातुकं शरीरं पृथिवीसलिलादयः सविज्ञानाः ।
धातव उक्ताः षडिमे कायस्तत्प्रत्ययो भवति ॥ २१ ॥

पृथिवी आदि छः से षाड्धातुक शरीर होता है। पृथिवी आदि धातु हैं। शरीर धातुप्रत्यय—धातुसमवायजन्य है ॥२१॥

एको नित्यः पिण्डो ध्रुव आत्मा शाश्वतः सुखः सत्त्वः ।
एवंविधा हि संज्ञा जीवाहङ्कारममकाराः ॥ २२ ॥
एवंविधाश्च संज्ञा अज्ञानं स्याद् वदन्त्यविद्यां याम् ।
रागद्वेषविमोहा अज्ञानभवास्तु संस्काराः ॥ २३ ॥

आत्मा एक है, नित्य है, पिण्डरूप है, ध्रुव है, शाश्वत है, सुखरूप है। जीव है, अहं है, मम है, ऐसी सभी संज्ञायें अज्ञान हैं। इन्हीं को अविद्या कहते हैं। राग, द्वेष, और मोह ये अज्ञान से उत्पन्न तीन संस्कार हैं ॥२२-२३॥

तत्त्वाऽप्रतिपत्तिर्वा मिथ्याप्रतिपत्तिरेव वाऽविद्या।
अभिनिर्वर्त्तन्ते च त्रिविधास्तत एव संस्काराः ॥ २४ ॥
पुण्योपगास्तु केचित् केचिदपुण्योपगास्तु संस्काराः।
आनेञ्ज्योपगरूपाः संस्काराश्चेति ते त्रिविधाः ॥ २५ ॥

अथवा तत्त्व की अप्रतिपत्ति और मिथ्या की प्रतिपत्ति ही अविद्या है। उस से त्रिविध संस्कार होते हैं। पुण्योपग, पापोपग और आनेञ्ज्योपग ये तीन हैं ॥२४-२५॥

तत्राविद्या तृष्णा कर्म च विज्ञानमपि च चत्वारि।
सङ्घातकरणहेतुस्तेन च कायादिकं भवति ॥ २६ ॥

उसमें अविद्या, तृष्णा, कर्म, तथा विज्ञान ये चार संघातोत्पत्ति में हेतु हैं। उस से शरीरादि होते हैं ॥२६॥

वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञानं तस्य सहभुवः स्कन्धाः।
रूपाख्याश्चत्वारो रूपं चत्वारि भूतानि ॥ २७ ॥

वस्तु का सामान्यज्ञान होने पर जो प्रतिविज्ञप्ति होती है अर्थात् प्रतिबिम्ब रूप से या युक्तत्व-अयुक्तत्वरूप से जो ज्ञान होता है वही विज्ञान है। उसके साथी चार स्कन्ध हैं जिनको रूपस्कन्ध कहते हैं। पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार रूप हैं ॥२७॥

तदुभयनिश्रितमिह पुनरिन्द्रियषट्कं जगुः षडायतनम्।
उभयोः सतोः स्वकार्ये सुसमर्थानीन्द्रियाणि स्युः ॥ २८ ॥

विज्ञान तथा रूप पर षडिन्द्रिय रूप षडायतन आश्रित है। क्यों कि इनके होने पर ही इन्द्रियाँ स्वकार्यक्षम होती हैं ॥२८॥

चक्षू रूपं च पुनर्विज्ञानं चेति ये त्रयो धर्माः।
तत्संनिपात उक्तः स्पर्शस्तद्वद्रसादिश्च ॥ २९ ॥

चक्षु, रूप और विज्ञान इन तीन धर्मों का संनिपात ही स्पर्श है।

अर्थात् विलक्षण बोध है। इसी प्रकार रसना रस एवं विज्ञान के मिलने पर विलक्षण बोध होता है ॥२९॥

आयतनान् स्पर्शः स्यात् स्पर्शात्स्याद्वेदना सुखप्रभृतेः ।
तस्या अध्यवसानं तृष्णेति निगद्यते प्राज्ञैः ॥ ३० ॥

मुख्यतया आयतन से ही स्पर्श होता है। स्पर्श से सुखादिवेदना होती है। वह क्रियारूप में परिणत होने जो जा रही हैं वही तृष्णा है ॥३०॥

तज्जन्यमुपादानं तच्च भवेत्तत्प्रसारवैपुल्यम् ।
तत्प्रत्ययं निरूचुर्भवजनकत्वाद् भवं कर्म ॥ ३१ ॥

उपादान तृष्णाजन्य है। वह वस्तुतः तृष्णा का फैलाव ही है। तृष्णा फैल जाती है तो प्रियवस्तु ग्रहणादि होता है। यही उपादान है। उससे होने वाला शुभाशुभ कर्म भव है। क्योंकि वही संसाररूपी भव का कारण है ॥३१॥

प्राग्भवभवतः स्कन्धप्रादुर्भावस्ततश्च जातिमृती ।
म्रियमाणस्य तु शोकस्तस्मात्परिदेवनं खेदः ॥ ३२ ॥

पूर्वजन्मीय भव (कर्म) से स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। उसी से फिर जन्म एवं मरण होता है। मरणासन्न को शोक होता है। शोक से जो रोना-पीटना है वही परिदेवन है ॥३२॥

चक्षुः प्रतीत्य रूपं चालोकं तद्वदेव चाकाशम् ।
तज्जन्यमनसिकारं चक्षुर्विज्ञानमुपजनयेत् ॥ ३३ ॥

इसी को कुछ विस्तार से और प्रकारान्तर से देखें। चक्षु, रूप, आलोक, आकाश, और मनसिकार इन पाँचों के प्रत्यय से (समवाय से) चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है इसी प्रकार रसनादि भी हैं ॥३३॥

हेतुश्चालम्बनमपि समनन्तरमाधिपत्यमेवापि ।
चत्वारो भावानामुच्यन्ते प्रत्यया जनने ॥ ३४ ॥

हेतु प्रत्यय, आलम्बन प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय और आधिपतेय ये चार भावों के जन्म के प्रत्यय हैं ॥३४॥

हेतुर्बीजं भूरालम्बनमुपमर्दनं तु बीजस्य ।
समनन्तरं भवेत्पुनराधिपतेयं तु नियमादि ॥ ३५ ॥

उदाहरणार्थ धान्यादि बीज हेतुप्रत्यय हैं। भूमि आदि आलम्बन-प्रत्यय है। बीजोपमर्दन समनन्तरप्रत्यय है। नियमादि आधिपतेय है ३५॥

चक्षुर्हेतुः प्रोक्तं रूपं त्वालम्बनं च विज्ञानम् ।
समनन्तरं तथा स्यादाधिपतेयं स्वभावादि ॥ ३६ ॥

अध्यात्म में चक्षु हेतु है। रूप आलम्बन हैं। चक्षुर्विज्ञानादि समनन्तर है। स्वभावादि आधिपतेय हैं। यस्मिन सति यद्भवति तदाधिपतेयम् ऐसा लक्षण बौद्ध ग्रन्थों में है। वह नियम या स्वभावादि हो सकता है ॥३६॥

यस्मिन् सति यत्तु स्यादधिपतेयं तदुच्यते बुद्धैः ।
कारणकारणिभावः स स्यात् किं वा स्वभावादिः ॥ ३७ ॥

जिसके होने पर जो हो वह उसके प्रति आधिपतेय है ऐसी व्याख्या बौद्ध विद्वानों ने की है। वह हेतु-हेतुमद्भावरूप नियम या स्वाभावादि हो सकता है ॥३७॥

ये संज्ञा संस्कारो विज्ञानं वेदनेति चत्वारः ।
स्कन्धा नामाख्यास्ते रूपाख्यश्चाणुसमुदायः ॥ ३८ ॥

संज्ञा, संस्कार, विज्ञान और वेदना ये चार नाम स्कन्ध हैं। अणुसमुदायात्मक रूपस्कन्ध है ॥३८॥

स्कन्धान् समुपादाय च पश्च प्रज्ञायमान आत्मा स्यात् ।
यत्राऽऽहितः किलाहंममानः पुद्गलः सोऽयम् ॥ ३९ ॥

स्कन्धों को लेकर प्रज्ञप्यमान ही आत्मा है। जहाँ अहं—मम ये अभिमान होते हैं वही पुद्गल है ॥३९॥

चेतश्चिनुते यस्मान्नियमयति विपाकदानसामर्थ्ये ।
कर्म शुभाशुभमेतद् विज्ञानमनःप्रभृतिसंज्ञम् ॥ ४० ॥

शुभाशुभ कर्मों को स्वफल प्रदान करने के सामर्थ्य में चयन करता है अर्थात् नियमन करता है अतः वह चेत कहलाता है वही मन और विज्ञान भी कहलाता हैं ॥४०॥

कालं सामग्रीं चापेक्ष्य हि कर्माणि तन्वते स्वफलम् ।
भूतं प्रत्युत्पन्नं भावीति भवेत् त्रिधा कालः ॥ ४१ ॥

काल और सामग्री की अपेक्षा रख कर ही कर्म अपना फल देता है। भूत, वर्त्तमान, भविष्य ऐसे तीन काल हैं ॥४१॥

एष च संसारः स्यादैहिकपारत्रिकौ परस्तत्र ।
स्वर्गो दुर्गतिरिति स द्विविधः कर्मानुरूपेण ।। ४२ ।।

यही संसार है जो ऐहिक एवं पारत्रिक फलात्मक है। उनमें परत्र संसार स्वर्ग एवं नरक भेद से दो प्रकार का है। दोनों ही कर्म के अनुरूप ही होते हैं ।।४२।।

लोकान्तरगमनं तु प्रतिविज्ञप्तिर्न वस्तुतो गमनम् ।
दूरस्थितचन्द्रादेः प्रतिबिम्बं दर्पणे यद्वत् ।। ४३ ।।

लोकान्तरगमन प्रतिविज्ञप्तिमात्र है, वस्तुतः गमन नहीं है। जैसे दूरस्थित चन्द्रमा दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है वैसे स्वर्गादि का प्रति-विज्ञप्ति मात्र है ऐसा बौद्ध ग्रन्थों में बताया है ।।४३।।

यदनित्ये नित्यमतिर्दुःखे सुखधीः शुचित्वधीरशुचौ ।
असति सदात्ममनीषा साऽविद्या तद्भवश्च भवः ।। ४४ ।।

अनित्य देहादि में नित्यत्वमति, दुःखरूप संसार में सुखभावना, अशुचि शरीर में शुचित्वमति तथा असत् आत्मा में सत्आत्ममति ये अविद्या हैं। इन्हीं से संसार है ।।४४।।

दुःखं दुःखसमुदयस्तस्य निरोधश्च तदनुगा प्रतिपत् ।
इत्युपदिदिशुर्बुद्धाश्चत्वार्येवार्यसत्यानि ।। ४५ ।।

दुःख, दुःखसाधन, दुःखनिरोध तथा तदनुगामिनी प्रतिपन् ये चार आर्यसत्य माने जाते हैं ।।४५।।

संस्कारः परिणतिरपि पीडोपादानलक्षणः स्कन्धः ।
सकलमपि दुःखरूपं प्रतिभाति सतामिहार्याणाम् ।। ४६ ।।

संस्कारदुःख, परिणामदुःख, पीडादुःख और उपादानस्कन्धदुःख इस प्रकार चार दुःख तो हैं ही। वस्तुतः आर्यों को पूरा संसार ही दुःख-रूप प्रतीत होता है ।।४६।।

ऊर्णापक्ष्म हि करतलसंस्थं दुःखाय नैव कस्यचन ।
अक्षणि तु पीडनकरमार्याश्च किलाक्षिपुटकल्पाः ।। ४७ ।।

रूई आदि हाथ में पड़े तो दुःख हेतु नहीं होता। किन्तु वही यदि आँख में पड़ जाय तो दुःखकारक होता है, अक्षिपात्रसदृश ही आर्य हैं।

अतः अन्य को संसार दुःखरूप भले न दीखे, आर्य को दुःखरूप ही दीखता है ॥४७॥

तृष्णाकर्मक्लेशा दुःखोदयहेतवः समुदयाख्याः ।
दुःखापुनरुत्पादो दुःखनिरोधस्तु निर्वाणम् ॥ ४८ ॥

तृष्णा, कर्म एवं क्लेश दुःखोदय का कारण है। इन्हीं को दुःख-समुदय कहते हैं। दुःख की पुनरुत्पत्ति न होना यही दुःखनिरोध है। वही निर्वाण है ॥४८॥

अष्टाङ्गमार्गलक्ष्मा स्याद्दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत् ।
तत्र परिज्ञा हानं साक्षात्त्वं भावना क्रमशः ॥ ४९ ॥
स्रोतःप्राप्तिः सकृदागामी चानागमी तथैवार्हन् ।
इति फलमेषु च योग्यक्रमिकतया पुद्गला नियताः ॥ ५० ॥

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत् अष्टाङ्गरूपिणी है। परिज्ञा, हान, साक्षात्-कार तथा भावना ये साधनरूपी प्रतिपत् हैं। स्रोतप्राप्ति, सकृदागामी और अनागमी ये फलरूप प्रतिपत् है। (इन सब की व्याख्या पहले आचुकी है।) इनमें योग्य क्रम से पुद्गल (जीव) नियत है ॥४९-५०॥

धारणविधारणाभ्यां धर्माः कुशलादयो दश सहायाः ।
कुगतेर्विधारणास्ते स्रोतःप्राप्त्यादि ते दधति ॥ ५१ ॥

धारण तथा विधारण करने से धर्म कहलाते हैं। कुशल आदि दस धर्म कुगति से विधारण करते हैं अर्थात् बचाते हैं और स्रोतप्राप्त आदि को प्राप्त कराते हैं अतः वे धर्म हैं ॥५१॥

संयमकृदात्मनो यच्चेतोऽनुग्राहकं परस्य च यत् ।
मैत्रमपि च यच्चेतो धर्मत्रितयं तदिदमुक्तम् ॥ ५२ ॥

आत्मसंयमनकारी चित्त, परानुग्रहकारी चित्त, और मैत्रचित्त ये तीन धर्म बताये हैं ॥५२॥

प्रेत्य फलं क्वचन भवेत् क्वचन फलमिहैव भवति धर्मस्य ।
सा चेतना यदन्तः कर्म बहिश्चेतयित्वा च ॥ ५३ ॥

धर्मादि का कहीं तो मरणोत्तर फल होता है और कहीं ऐहिक फल भी होता है। वह दो प्रकार है। एक चेतना है। दूसरा चेतयित्वा है। चेतना मानस कर्म को कहते हैं। चेतयित्वा बाह्य कर्म को कहते हैं ॥५३॥

मानसवाचिककायिकभेदं त्रिविधं तदेव संप्रोक्तम् ।
अन्तर्मानसमेकं द्वे तु बहिश्चेतयित्वाख्ये ॥ ५४ ॥

इसी को मानस, वाचिक और कायिक भेद से त्रिविध भी कहते हैं। अन्दर एक मानस है दो बाहर हैं जिनको चेतयित्वा बताया ॥५४॥

कुशलाकुशला वाक् स्यात् कुशलाकुशलः शरीरनिष्पन्दः ।
कुशलमविज्ञप्त्यात्मकमकुशलमपि चाप्यविज्ञप्तिः ॥ ५५ ॥

कुशल तथा अकुशल वाणी होती है। तथा कुशल और अकुशल शरीर-कर्म भी होता है। कुशल अविज्ञप्तिकर्म और अकुशल अविज्ञप्तिकर्म भी होते हैं ॥५५॥

परिभोगान्वयि पुण्यं परिभोगान्वय्यपुण्यमेवापि ।
अपि चेतनेति कर्म प्रोक्तं बुद्धेन सप्तविधम् ॥ ५६ ॥

परिभोगान्वयी पुण्य और परिभोगान्वयी अपुण्य भी होता है। चेतना मानस कर्म है। ऐसे सात प्रकार के कर्म बुद्ध ने बताये हैं। (१) कुशलाकुशल वाक् (२) कुशलाकुशल शरीरनिष्पन्द (३) कुशल अविज्ञप्ति (४) अकुशल अविज्ञप्ति (५) परिभोगान्वयी पुण्य (६) परिभोगान्वयी अपुण्य और (७) चेतना ये सात कर्म हैं ॥५६॥

विज्ञप्तिसमुत्थापनहेतोर्विज्ञप्तिरुच्यते कर्म ।
अतथाविधं पुनर्यत् कर्माऽविज्ञतिरेवैषा ॥ ५७ ॥

जिससे विज्ञप्ति हो उस कर्म को विज्ञप्ति कहते हैं। जो उससे भिन्न हो वही अविज्ञप्ति कर्म है ॥५७॥

कैवर्त्तादेर्यद्वदविज्ञप्तिस्तद्वदेव भिक्षूणाम् ।
यदविज्ञाय हि कुशलाऽकुशलं ते कुर्वते कर्म ॥ ५८ ॥

मच्छीमार मत्स्यहिंसारूपी अकुशल कर्म स्वभावतः करता है। उसको मालूम नहीं है कि यह पाप है। यह उसका अविज्ञप्ति कर्म है। भिक्षु स्वभावतः परहित में लगा रहता है। उस को यह अनुसन्धान नहीं है कि मैं पुण्य कर्म में लगा हूँ। उस का वह कुशल अविज्ञप्ति कर्म है ॥५८॥

एषामविप्रणाशोऽस्त्यृणपत्रसमः स विप्रयुक्ताख्यः ।
फलपर्यन्तः स भवेदव्याकृत एव स तु बोध्यः ॥ ५९ ॥

इन कर्मों का एक अविप्रणाश कर्म है जो ऋणपत्र के सदृश है। ऋण-पत्र का तब तक मूल्य है जब तक ऋण चुकाया नहीं जाता। ऋण चुकाने पर वह मूल्यहीन होगा। वैसे फलपर्यन्त अविप्रणाश कर्म रहता है। उसको विप्रयुक्त भी कहते हैं। वह अव्याकृत है अर्थात् विशिष्ट आकार रहित है।

पार्थग्जनिकं हेयं दर्शनतो भावनाभिरार्यीयम् ।
धातोर्वातिक्रमणात् कर्मेति समादिशद् बुद्धः ।। ६० ।।

पृथग्जन (अशिक्षित) के विप्रयुक्त कर्मों को दर्शन से समाप्त करना चाहिये। और आर्यों के विप्रयुक्त कर्मों को भावना से समाप्त करना चाहिये ऐसा बुद्ध का वचन है ।।६०।।

इति पदार्थसामान्यनिरूपणम्

अत्र ब्रूमोऽदृष्टो बीजादेरङ्कुरस्वभावोऽयम् ।
परभावादुत्पत्तौ सर्वं जायेत सर्वस्मात् ।। ६१ ।।

इस पूर्वोक्त विवेचना से निरुक्त विषयों के बारे में वक्तव्य क्रमशः यह है कि प्रथम बताया कि बीजादि में अङ्कुर का स्वभाव है, परन्तु यह प्रत्यक्षतः देखने में नहीं आता। अन्यथा बीज देखते ही अङ्कुर का स्वरूप भी दीख जाता। बीज में अङ्कुर का स्वभाव नहीं है, परतः भाव हैं, उससे अङ्कुरोत्पत्ति होती है, ऐसा मानो तो बीज में क्या, सर्वत्र परतः भाव है, इस-लिए सब से सब उत्पन्न होना चाहिए। प्रथम में अप्रत्यक्ष ही बाद में प्रत्यक्ष हुआ ऐसा कहें तो अनङ्कुरस्वभाव से अङ्कुरस्वभाव हो गया ऐसा मानने में क्या हानि ? अतः स्वभाव चर्चा छोड़ो ।।६१।।

नोत्पत्तिक्रियया खलु नोत्पद्येताऽसति क्रियाविरहात् ।
जातस्याजातस्य च नो जन्म न जायमानस्य ।। ६२ ।।

'अङ्कुर उत्पद्यते' यहां उत्पत्तिक्रिया अङ्कुर में प्रतीत होती है उससे अङ्कुर में सत्ता आती है। तो क्या असत् में उत्पत्तिक्रिया हुई ? यह असम्भव है। सत में उत्पत्ति क्रिया व्यर्थ है। जात में जनिक्रिया व्यर्थ है। अजात में जनिक्रिया सम्भव नहीं है। जायमान में भी जनिक्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि जायमान में सत्ता आयी नहीं, केवल आ रही है। अन्यथा जनिक्रिया और सत्ता समकाल होने से कौन किस का प्रयोजक हो ? ।।६२।।

नासन्न च सन्नापि च सदसन्निर्वर्त्तितां ततो हि कथम्।
निर्वर्त्तकस्तु हेतुर्निर्वर्त्यस्यैव शून्यत्वात् ॥ ६३ ॥

असत् उत्पन्न नहीं होता। शशविषाण की उत्पत्ति देखने में नहीं आती। सत् भी उत्पन्न नहीं होता। सत तो सत है ही उत्पन्न क्या होगा। सदसत् विरुद्ध है। अतः वह भी उत्पन्न नहीं होता। तब हेतु कार्य को कैसे उत्पन्न करेगा ? क्योंकि उक्त रीति से उत्पाद्य शून्य ही सिद्ध होता है।

आलम्बनं न हेतू रूपादि हि चाक्षुषादिविज्ञाने।
नाजातस्यालम्बनमुत्पन्नस्य त्वदो व्यर्थम् ॥ ६४ ॥

चाक्षुषादि विज्ञान में रूपादि को आलम्बन मानते हैं। प्रथम विज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ तो आलम्बन किस का हो ? उत्पन्न हो गया तो आलम्बन कारण किस काम में आयेगा ? ॥६४॥

बीजादेरुपमर्दः प्रत्यय इति चेत्कथं ततः कार्यम्।
पूर्वं ह्युपमर्दः स्यान्न तु बीजं प्रत्ययस्तर्हि ॥ ६५ ॥

बीज ज्यों का त्यों पड़ा रहेगा तो अङ्कुर नहीं हो सकता। बीज के फूटने पर ही अङ्कुर होगा। अतः बीजध्वंस को भी अङ्कुरोत्पत्ति के प्रति कारण माना। किन्तु बीजध्वंसक्षण में बीज नहीं रहा तो बीज कारण किस प्रकार हो ? यदि बीज प्रथम क्षण में हो द्वितीय क्षण में बीजोपमर्द और अङ्कुर दोनों हो तो समकालिक उपमर्द कारण नहीं होगा। तब विना फूटे ही अङ्कुर होने लगेगा ॥६५॥

यस्मिन् सति यत्तु स्यादाधिपतेयं तदुच्यते बुद्धैः।
उभयोः सत्त्वाभावे क्वाधिपतेयं प्रवर्त्तेत ॥ ६६ ॥

जिसके अस्तित्व में जिसका अस्तित्व हो वह आधिपतेय कारण बताया किन्तु दोनों ही का अस्तित्व (सत्ता) न हो तो अधिपतेयत्व किस में हो।

द्रष्टरि दर्शनमुदियाद् भवति द्रष्टा च दर्शने जाते।
अन्योन्यापेक्षित्वादुभयोरापद्यतेऽसिद्धिः ॥ ६७ ॥

चक्षु हेतु, रूप आलम्बन ये दोनों हो तो चाक्षुषविज्ञान रूपी दर्शन होता है। द्रष्टा हो तो दर्शन होगा। अद्रष्टा लोष्टकाष्ठादि को दर्शन नहीं होता। दर्शन हो तो द्रष्टा बनेगा। तब दोनों अन्योन्याश्रित हो गये। फलतः द्रष्टा दर्शन दोनों की असिद्धि हो जाती है ॥६७॥

श्रोतरि रसयितरि तथा घ्रातरि च स्प्रष्टरीहमन्तरि च ।
श्रवणादिकमिति सर्वं सापेक्षं निःस्भावमिदम् ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार श्रोता हो तो श्रवण, श्रवण हो तो श्रोता, इस रीति श्रोता, रसयिता, घ्राता, स्प्रष्टा एवं मन्ता में भी सापेक्षता है। अतएव सभी निःस्वभाव सिद्ध होते हैं ॥६८॥

विज्ञानादिचतुष्टयमेवं सति निःस्वाभावमेव स्यात् ।
अपि तृष्णोपादानं भवजातिजरादिकं चैव ॥ ६९ ॥

इस प्रकार विज्ञान, वेदना, संज्ञा एवं संस्कार रूपी चारों स्कन्ध भी निःस्वभाव सिद्ध होते हैं। तब उससे होने वाले तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा एवं मरणादि सभी निःस्वभाव शून्य ही रह जायेंगे ॥६९॥

रूपस्कन्धो नाम चतुर्भ्यो भूतेभ्य उद्भवन् भवति ।
नैव चतुर्भ्यो भिन्नस्तेन विना नैव चत्वारि ॥ ७० ॥

पृथिवी आदि चार भूतों से उद्भूत होने पर रूपस्कन्ध होता है। वह उन चारों से भिन्न नहीं। तब अभिन्न होने से रूप हो तो चार भूत होंगे। चार भूत हों तब रूप होगा। अतः दोनों असिद्ध होंगे। दूसरी बात परमाणु अप्रत्यक्ष होने से रूप से उनकी सिद्धि है। और उनसे रूप की सिद्धि है ऐसा भी अन्योन्याश्रय है ॥७०॥

रूपं सद्वाऽसद्वा भूतान्यर्हन्ति जनयितुं नैव ।
एवं हि वेदनाद्यपि शून्यमतः सर्वमेवेदम् ॥ ७१ ॥

रूप (रूप स्कन्ध) चाहे सत मानो चाहे असत। उसे भूत उत्पन्न नहीं कर सकते। असत् की उत्पत्ति असंभव है। सत तो सत ही है उसको उत्पन्न क्या करना ? इसी प्रकार वेदनादि स्कन्ध भी हैं। अतः सभी शून्य ही है।

भूम्यादिधातवः षड् लक्षणशून्या भवन्ति शून्यपदाः ।
गगनमभावं प्राहुर्भावे सति सोऽसति कथं सः ॥ ७२ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान ये छह धातु कहलाते हैं। परन्तु लक्षण सम्भव न होने से सभी शून्यरूप हैं। पृथिवीत्वादि जाति असिद्ध है। क्योंकि नित्य कोई जाति है ही नहीं। उसे अपोहरूप मानते हैं। गन्धसम्बन्ध आदि लक्षण भी असम्भव है। क्योंकि सम्बन्ध कहीं

बनता ही नहीं। आकाश को अभावरूप माना है। पर भाव सत् हो तब अभाव हो। भाव ही सत् नहीं तो अभाव कहां से आया ॥७२॥

रूपस्कन्धाभावो रूपासिद्धेः कथं नभः सुवचम्।
भावः किल रूपं स्यात् भावोऽभावे सति सुबोधः ॥ ७३ ॥

रूपस्कन्धाभाव गगन है ऐसी मान्यता है। पर रूप ही असिद्ध है तो यह निर्वचन कैसे सम्भव होगा। दूसरी बात, रूप तब भावरूप होना चाहिये। किन्तु अभाव सत् हो तो भाव सम्भव है। अभाव सत् नहीं, अतः भाव भी सत् नहीं हो सकता ॥७३॥

धातूनां शून्यत्वे कथमिव रागादयोऽत्र संक्लेशाः।
रूपे न च सन्नासन् रागो रक्ते न चारक्ते॥ ७४ ॥

धातु शून्य है तो रागादि संक्लेश उनमें सत कैसे हो सकते हैं? रूप में राग सत् है कि असत्? दोनों सम्भव नहीं। और राग रक्त में है कि अरक्त में? रक्त में राग व्यर्थ है। अरक्त में राग असम्भव है ॥७४॥

यदि दर्शनादितः प्राक् पुद्गल आत्मा भवेदुपादाता।
विज्ञानात् प्राक् सत्त्वं तस्य तु केनावबुध्येत ॥ ७५ ॥

पुद्गलरूपी आत्मा को विज्ञानादि का उपादाता मानते हैं तो क्या वह विज्ञानादि से पहले है? यदि है तो विज्ञान के विना वह जाना कैसे गया? विज्ञान तो प्रथम क्षण में है नहीं जो उसे जान सके। वह तो उपादेय पश्चाद्भावी है ॥७५॥

प्रागादाताऽऽदानान्नैव स्याद् यदि च युगपदेवैतौ।
समकालौ सापेक्षौ शून्यत्वं नातिगच्छेताम् ॥ ७६ ॥

आदाता आदान से पहले नहीं है और आदाता से पहले आदान नहीं है। फलतः समकालिक अथ च सापेक्ष हो गये। पर अपेक्षणीय का पहले रहना नियत है। तब शून्य में ही पर्यवसान होगा ॥७६॥

संसर्तृनिबन्धनता संसारस्याथ तन्निबन्धनता।
संसर्तुरनवराग्रः स्वीकृत एवेति शून्यः स्यात् ॥ ७७ ॥

संसर्त्ता हो तब संसार है। और संसार हो तब संसर्त्ता है। संसर्त्ता आदि में नहीं और अन्त में नहीं, तब शून्य ही हुआ ॥७७॥

नादिर्यस्य न चान्तो मध्यं संभाव्यतां कथं तस्य ।
त्रितयविहीनश्चायं संसारः शून्यमेव भवेत् ।। ७८ ।।

जिसका आदि नहीं, अन्त नहीं, उस का मध्य कैसे हो। आदिमध्यान्त-रहित तो शून्य ही होता है। अतः संसार शून्य ही सिद्ध होगा ॥७८॥

सर्वेषां भावानां पूर्वा कोटिर्न विद्यते काचित् ।
नो पश्चिमा ततो न हि भवजातिजरामृतय एव ।। ७९ ।।

भव जाति आदि की कोई पूर्व कोटि नहीं है। कोई उत्तर कोटि भी नहीं है। अतएव भव, जाति, जरा, मरण ये सब शून्य ही है ॥७९॥

एवं संस्कारोऽपि च भवति मृषा मोषधर्मरूपत्वात् ।
द्वेषे रागान्मुषितो रागे द्वेषाद्भवेन्मुषितः ।। ८० ।।

इसी प्रकार संस्कार भी मिथ्या है। क्यों कि वह मोषधर्मवाला है। राग-द्वेष-मोह ही संस्कार है। किसी व्यक्ति पर राग हुआ और बाद में द्वेष हुआ तो राग से वह व्यक्ति निकल गया। राग फिर हुआ तो द्वेष से वह व्यक्ति निकल गया। अतः मोषधर्मा होने से वह मृषा है ॥८०॥

येऽपि च नानाभावा सर्वेऽपि मृषैव मोषधर्मत्वात् ।
यूनि शिशुत्वं मुषितं स्थविरे युवता च शिशुता च ।। ८१ ।।

जो भी नाना भाव है सभी मोषधर्मवान् होने से मृषा हैं। जवानी में बचपन मुषित हुआ। बुढ़ापे में जवानी तथा बचपन दोनों मुषित हुए ॥८१॥

संसर्गश्च न हि सतां न स्वेन न वा परेण संभवति ।
आत्माश्रयादिदोषादनवस्थादोषतश्चैव ।। ८२ ।।

सम्बन्ध भी कहीं भी उपपन्न नहीं है। अपने से अपना सम्बन्ध नहीं होता। हो तो आत्माश्रय है। दूसरे से सम्बन्ध हो तो सम्बन्ध का सम्बन्धान्तर फिर उस सम्बन्ध का तृतीय सम्बन्ध इस प्रकार अनवस्था होगी ॥८२॥

मृष्यामहे मृषा नो ननु वस्तूनां स्वभावसत्त्वेन ।
बीजादानं नृणामङ्कुरजननस्वभावार्थम् ।। ८३ ।।

पूर्वपक्ष :—वस्तुओं में स्वभाव है। बीजों में अंकुर स्वभाव के लिये उनका उपादान होता है। वह कैसे मिथ्या हो ? ॥८३॥

तदसत् स्वभाव एष न कृतकः क्रियतां कथं स बीजेन ।
तस्मान्मृषा स्वभावो मिथ्यात्वादेव शून्यमपि ॥ ८४ ॥

उत्तर :—स्वभाव कृत्रिम होता ही नहीं। बीज से वह उत्पन्न कैसे होगा ? अतः स्वभाव भी मिथ्या एवं शून्य है ॥८४॥

ननु चास्ति बन्ध एवं मोक्षो नो चेत्कुतस्तु शास्त्रमिदम् ।
तदसत् संस्काराणां बन्धो न भवेदनित्यानाम् ॥ ८५ ॥

पूर्वपक्ष :—बन्ध और मोक्ष को सत्य मानना पड़ेगा। अन्यथा शास्त्र व्यर्थ हो जायेगा। उत्तर :—किन्तु यह बन्ध है किसका ? अनित्य संस्कारों को बन्ध नहीं हो सकता ॥८५॥

नोत्पत्तौ संसारो नोत्पन्नानां क्षणप्रणाशित्वात् ।
नैवेष पुद्गलानां स्कन्धेष्वेषामनुपलब्धेः ॥ ८६ ॥

संस्कारों को स्वोत्पत्तिकाल में संसार बन्धन नहीं हो सकता। उत्पन्न होने के बाद नष्ट ही हो जाते हैं तो संसार किस को हो ? यदि यह कहें कि पुद्गलों को संसार होता है। बात सत्य है। पर स्कन्धों में पुद्गल देखने में नहीं आते ॥८६॥

न स्कन्धायतनादिस्वभाव आत्मा न चापि तेभ्योऽन्यः ।
नो तद्वांस्तेष्वपि न स नैवात्मनि तेऽथ कथमात्मा ॥ ८७ ॥

आत्मा स्कन्ध और आयतनादि का स्वभाव हो ऐसी बात नहीं है। क्यों कि स्वभावनिराकरण पूर्व ही किया जा चुका है। स्कन्धादि से आत्मा अन्य भी नहीं है। क्यों कि स्कन्धादि के विना वह उपलब्ध ही नहीं होता। स्कन्धादि विशिष्ट भी नहीं। न स्कन्धों में आत्मा है और न आत्मा में स्कन्ध हैं। कारण इस प्रकार का कोई अनुभव नहीं है। तब आत्मा की सत्ता ही कैसे सिद्ध हो ॥८७॥

मनुजोपादानात् स हि देवोपादानमाप्नुवन्मध्ये ।
निरुपादानः कथमिव लभतामस्तित्वमात्माऽसौ ॥ ८८ ॥

मनुजोपादान स्कन्धादि छोड़ कर देवोपादान को प्राप्त होते समय बीच में यह आत्मा निरुपादान होगा। अतएव पूर्वोक्त सभी विकल्प पक्ष आत्मा के लिये विपरीत पड़ते हैं। अतएव उस समय आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा ॥८८॥

ननु चाव्यवधानेन त्यागोपादानवत्त्वमस्त्वस्य ।
मैवं मध्यं नो चेदैक्यं क्षणयोः समापतति ॥ ८९ ॥

यह कहें कि बीच में व्यवधान के बिना पूर्व स्कन्ध का त्याग और उत्तर स्कन्ध का उपादान होगा, तो भी नहीं बनेगा, क्यों कि क्षण निरवयवकाल है। एक दूसरे से मिलने का अर्थ तादात्म्य होना होगा। दिन का पूरा पूर्वांश रात्रि से संयुक्त नहीं, रात्रि का पूरा उत्तरांश पूर्व दिन से संयुक्त नहीं। तभी तो दिन-रात (चौबीस घंटा) प्रत्येक से (बारह-बारह घंटे वाले दिन और रात से) बड़ा है। वैसे क्षण का असंयुक्त अंश हो तो दो क्षण का काल एक क्षण से बड़ा होगा। निरंश होने से दोनों मिल कर बड़ा नहीं बन सकता। तदर्थ मध्य का व्यवधान मानना पड़ेगा। तब उसी समय आत्मा निरुपादान होगा ॥८९॥

उभयक्षणसंयोगो नैव ह्युभयात्मको भवितुमर्हः ।
तत्र च निरुपादानः कथमिव नात्मा प्रसज्येत ॥ ९० ॥

दो क्षणों का संयोग मान भी लो तो भी वह संयोग उभयक्षणात्मक नहीं होगा। उसी संयोग काल में आत्मा निरुपादान होगा ॥९०॥

ननु संसारोऽसंश्चेत् प्रतियोगि भवेत्कथं नु निर्वाणम् ।
मैवं संस्काराणां नो निर्वाणं न सत्त्वानाम् ॥ ९१ ॥

यदि संसार असत् है तो निर्वाण उस का प्रतियोगी कैसे होगा ? निर्वाण को संसार का प्रतियोगी माना है। इस पर यही वक्तव्य है कि निर्वाण न तो संस्कारों का होता है और न जीवों का ही। वह किसी का प्रतियोगी नहीं है। प्रतियोगी होगा तो सापेक्ष होगा ॥९१॥

नित्यानां निर्वाणं न भवेन्नो वा भवेदनित्यानाम् ।
स्वप्नोपमं ततः स्यान्निर्वाणमपीति निश्चिनुमः ॥ ९२ ॥

नित्य का निर्वाण होता नहीं। अनित्य स्वयं नष्ट होता है। अतः उसे निर्वाण की अपेक्षा नहीं है। फलतः निर्वाण भी स्वप्नोपम है ॥९२॥

ननु कर्म सत्तदीयं फलमपि सद् बन्धनं बुधैर्भणितम् ।
असति तु फले यथेष्टाचरणं नृणां प्रसज्येत ॥ ९३ ॥

पूर्व पक्ष :—कर्म तथा उस का फल बन्धन दोनों को विद्वानों ने सत् माना है। कर्म फल यदि असत है तो मनुष्य यथेष्टाचारी होने लगेंगे और

बड़ा भारी अनर्थ होगा ॥९३॥

कर्मापि निःस्वभावं शाश्वतमेतत् स्वभाववत्त्वे स्यात् ।
अकृतकमपि तेन स्यात् सर्वेषामेव तुल्यमपि ॥ ९४ ॥

उत्तरः—कर्म भी निःस्वभाव तथा शून्य है। स्वभावयुक्त होगा तो शाश्वत होने लगेगा। अकृतक (नित्य) होने लगेगा। अतएव सबके लिये एक बराबर ही होगा—जैसे आकाश सबके लिये एक बराबर है ॥९४॥

अकृताभ्यागम एवं स्यात् किं च ब्रह्मचर्यवैयर्थ्यम् ।
परपापैर्बद्धत्वान्निर्वाणं नैव कस्यचन ॥ ९५ ॥

कर्म शाश्वत एवं सर्वसाधारण हुआ तो अकृताभ्यागम भी होने लगेगा। फिर ब्रह्मचर्य (भिक्षुचर्या) भी व्यर्थ होगा। दूसरे पाप करेंगे तो सर्व साधारण एवं नित्य होने से सभी बन्धन में पड़ जायेंगे और किसी का भी निर्वाण नहीं होगा ॥९५॥

क्लेशात्मकं च कर्म क्लेशाश्चासन्त एव कर्म कुतः ।
कार्यं तयोश्च देहो नास्त्येव च निःस्वभावत्वात् ॥ ९६ ॥

कर्म को क्लेशात्मक बताया है। किन्तु क्लेश स्वयं असत् है। अतः कर्म भी असत् है। क्लेश और कर्म का कार्य शरीर माना जाता है। परंतु निःस्वभाव होने से शरीर भी असत् ही है ॥९६॥

कर्माभावे च कुतः कर्त्ता स्यात्कर्मजं फलं च कुतः ।
अफले भोक्ता को वा सर्वे गन्धर्वपुरतुल्याः ॥ ९७ ॥

जब कर्म ही असत् है तो कर्त्ता और कर्मजन्य फल कहाँ से सत हो। फल नहीं तो भोक्ता कौन होगा। सभी गन्धर्वनगरतुल्य हैं ॥९७॥

भूतं प्रत्युत्पन्नं भावीत्येकैकशो द्विसापेक्षम् ।
भूते कथं नु भावी भाविनि भूतः कथंकारम् ॥ ९८ ॥
कालादृते च न फलं न भवो न भवादृते च कालोऽपि ।
तेन च सर्वं शून्यं क्षणभङ्गो भाव एवापि ॥ ९९ ॥

भूत, वर्त्तमान और भावी इन तीनों में प्रत्येक इतर दो दो की अपेक्षा रखते हैं। व्यतीत काल आज की अपेक्षा और आने वाले कल की अपेक्षा भूत है। एवं दूसरे दो काल भी हैं। किन्तु भूत में वर्त्तमान और भावी

कैसे हों ? यदि नहीं तो अपेक्षा किस प्रकार ? अपेक्षित न हो तो अपेक्षक कैसे होगा ? इस प्रकार काल असिद्ध है तो फल एवं भव (कर्म) भी असत् ही होंगे। कर्म न हो तो काल का क्या प्रयोजन होगा ? इसलिये भी काल असिद्ध है। फलतः क्षणभंग एवं भाव ये सब शून्य ही है ॥९८-९९॥

कर्माणि हि सामग्रीं कालं चापेक्ष्य तन्वते स्वफलम् ।
कालवदेवाऽसिद्धा सामग्री तत् फलं नु कथम् ॥ १०० ॥

सामग्री तथा काल की अपेक्षा रखकर कर्म फल देते हैं। काल के समान सामग्री भी असिद्ध है तो फल किस प्रकार हो ॥१००॥

सामग्र्यां यदि न फलं किं जनयेदस्ति चेच्च किं जनयेत् ।
न हि सिकतायां तैलं जनयति नद्यां न कोऽपि जलम् ॥ १०१ ॥

सामग्री में फल असत है तो क्या उत्पन्न होगा ? यदि सत् है तो क्यों उत्पन्न होगा ? बालू में तेल असत् है उसको कोई पैदा नहीं करता। नदी में जल पहले से सत् हैं उसको भी कोई पैदा नहीं करता ॥१०१॥

सामग्र्याऽभिव्यक्तिर्नखलु सती संभवेन्न चाप्यसती ।
भावस्याभावस्य च संभवविभवौ न सापेक्षौ ॥ १०२ ॥

सामग्री से सत् की ही उत्पत्ति होगी अर्थात् अभिव्यक्ति होगी। ऐसा मानेंगे तो वह अभिव्यक्ति पहले से सती है या असती। सती है तो सामग्री व्यर्थ है। असती है तो वह कैसे पैदा होगी ? सती अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानेंगे तो अनवस्था होगी। और संभव—उत्पत्ति और विभव—नाश भाव का होता है या अभाव का ? भाव का हो तो उसकी फिर उत्पत्ति क्या ? अभाव का हो तो अभाव भाव किस प्रकार होगा ? वैसे भाव का नाश नहीं होगा। अभाव का भी नाश नहीं होगा। दूसरी बात संभव और विभव परस्पर सापेक्ष है। विभव नहीं तो संभव ही संभव होता रहेगा। संभव नहीं तो विभव किस का होगा ? सापेक्ष तो असिद्ध ही होता है यह बता चुके ॥१०२॥

रागो द्वेषो मोहः संसृतिबीजत्वमेति सङ्कल्पात् ।
सङ्कल्पस्तु शुभाशुभवस्तुविषयको विपर्यासः ॥ १०३ ॥
अन्यत्र पूर्वदृष्टं वीक्ष्येतान्यत्र चेद्विपर्यासः ।
नैव क्वचन शुभं वा नित्यं वा को विपर्यासः ॥ १०४ ॥

संकल्प से राग-द्वेष-मोह रूपी संसारबीज होते हैं। शुभाशुभ विपर्यास ही संकल्प है। एवं अनित्य में नित्यमति विपर्यास है। परंतु विपर्यास अन्यत्र पूर्वदृष्ट का अन्यत्र भान होने पर माना जाता है। जैसे अन्यत्र सर्प देखा तो अन्यत्र रज्जु में सर्पविपर्यास हुआ। किन्तु संसार में शुभ है नहीं तो अन्यत्र उसे देखा कहाँ? तथा नित्य वस्तु संसार में नहीं है तो अन्यत्र उसको देखना संभव नहीं तो शरीरादि में उसका विपर्यास किस प्रकार? अतः विपर्यास असिद्ध होने से रागादि भी असिद्ध हैं ॥१०४॥

मरणान्तिका यदैके तर्ह्यन्ये त्वौपपत्तिकाः स्कन्धाः ।
तत्र निरोधप्रादुर्भावौ युगपत् कथङ्कारम् ॥ १०५ ॥

कुछ स्कन्ध नाशकालीन हो तो दूसरे उत्पत्तिकालीन। वहाँ निरोध और प्रादुर्भाव समकालीन होंगे तो कार्य कारण भाव कैसे हो? पूर्वस्कन्ध निरोध से उत्तरस्कन्धोत्पत्ति होती है। सव्येतर विषाणों के समान सम-सामयिकों का हेतुहेतुमद्भाव नहीं होता ॥१०५॥

विसदृशजननान्नैव च संक्रान्तिस्तूत्तरेषु पूर्वेषाम् ।
क्रियते कर्म परीत्तं विपुलविपाकोऽनुभवविषयः ॥ १०६ ॥

यदि कहे कि पूर्वस्कन्ध का उत्तर में संक्रमण है, नहीं, तब वैसादृश्य नहीं होना चाहिये। बालक-युवा-वृद्ध इत्यादि वैसादृश्य क्षण-क्षण में होता रहता है। नानाविध कर्म से नाना विपुल फलविपाक संक्रमण से सिद्ध नहीं होगा ॥१०६॥

योऽभूवं सभवामि स जगति भविष्यामि दृष्टिरेषा या ।
भूतो भवन् भविष्यन्नेत्यपि या ते उभे हेये ॥ १०७ ॥

जो मैं था वही अब हूँ और आगे रहूँगा। इस दृष्टि को और मैं भूत नहीं, वर्त्तमान नहीं, भावी नहीं इस दृष्टि को भी छोड़ देना चाहिये ॥१०७॥

प्रथमा शाश्वतवादाच्चरमा चोच्छित्तिवादतस्तस्मात् ।
हित्वैवंविधदृष्टीः सर्वं शून्यं प्रपद्येत ॥ १०८ ॥

मैं था इत्यादि में शाश्वतवाद आता है। मैं नहीं इत्यादि में उच्छेद वाद आता है अतः ऐसी-ऐसी सभी दृष्टियों को त्याग कर शून्य की शरण में जाना चाहिये अर्थात् शून्य पर स्थिर रहना चाहिये ॥१०८॥

संवृतिसत्यं सकलं तदुपादायैव देशना शास्तुः ।
परमार्थतस्तु शून्यं मायोपरमात्तु निर्वाणम् ॥ १०९ ॥

संवृति सत्य को लेकर ही बुद्ध का धर्मोपदेशादि है। अतः विप्लवादि नहीं है। परमार्थतः शून्य है। माया का उपराम होने पर स्वतः निर्वाण है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना बौद्धः सिद्धान्त एष माध्यमिकः ।
समदर्शि दर्शननां मूर्धन्यस्तर्कमात्रदृशाम् ॥ ११० ॥

अवतीर्य यो हरिः स्वयमद्वयवादी जगज्जगौ शून्यम् ।
तस्मै भवतु भगवते नम इदमनघाय मारजिते ॥ १११ ॥

इति श्रीजयमङ्गलाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे माध्यमिकदर्शनम्

इत्यवैदिकदर्शनषट्कं पूर्वार्धम्

—: o :—

ॐ

द्वादशदर्शनसंग्रहः

अथ वैदिकदर्शनषट्कम्

(उत्तरार्धम्)

वैशेषिकदर्शनम्

आभ्युदयिकमध्वानं निःश्रेयसिकं च योऽदिशद्विशदम् ।
वेदात्मने परस्मै भूम्ने तस्मै नमस्कुर्मः ॥ १ ॥

अभ्युदय का कारण प्रवृत्तिमार्ग तथा निःश्रेयसका कारण निवृत्तिमार्ग जिसने विशद रूप से बताया उस वेदात्मा भूमा परमात्मा को हम नमस्कार करते हैं ॥१॥

नास्तिकदर्शनषट्कं संग्रहतः संप्रदर्श्य संप्रति तु ।
षड् वैदिकानि सम्यग् दर्श्यन्ते दर्शनानि मया ॥ २ ॥

छः नास्तिक दर्शनों को (जो वेदप्रामाण्य नहीं मानते) संग्रह रूप से वर्णन करने के बाद अब छः वैदिक दर्शनों को सम्यक् रूप से हम दिखाते हैं ॥२॥

वैशेषिकमतमाद्यं व्याख्यास्यामोऽखिलैस्तदाश्रयणात् ।
आवापोद्वापाभ्यामर्थविचारे निजमतेन ॥ ३ ॥

इनमें हम प्रथम वैशेषिक मत की व्याख्या करते हैं। क्योंकि अपने-अपने मत से अर्थविचार करते समय सबने आवाप और उद्वाप से वैशेषिक मत का आश्रयण किया है। जैसे द्रव्यादि पदार्थों में विशेषादि को मानना है या नहीं, शक्ति सादृश्यादि को अतिरिक्त मानना है या नहीं। द्रव्यों में आत्मा द्रव्य है या नहीं, शब्दादि भी द्रव्य है या नहीं इत्यादि रीति अन्य दार्शनिक विचार करते हैं। अतएव 'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रमुखं स्मृतम्" प्रसिद्धि है ॥३॥

धर्मोऽनुष्ठेयश्च ज्ञेयश्चेति द्विधाऽत्र बोद्धव्यः ।
कारणमभ्युदयस्य स उक्तो निःश्रेयसस्यापि ॥ ४ ॥

धर्म दो प्रकार का होता है। एक अनुष्ठेय धर्म है। दूसरा ज्ञेय धर्म है। वह अभ्युदय का भी कारण है और निःश्रेयसका भी कारण है— "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" ॥४॥

तत्रानुष्ठेयो यो धर्मविशेषस्तदुद्भवाज्ज्ञानात् ।
विज्ञेयधर्मविषयान्निःश्रेयसमाप्यते सद्भिः ॥ ५ ॥

इनमें अनुष्ठेय जो धर्मविशेष है उससे उत्पन्न ज्ञेयधर्मविषयकविज्ञानसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होता है। "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" ॥५॥

आम्नायवचनबोध्योऽनुष्ठेयस्तस्य तत्प्रमाणत्वात् ।
शास्त्राभ्यासादिवशाद् द्रष्टव्यो ज्ञेयधर्मस्तु ॥ ६ ॥

अनुष्ठेय धर्म वेदवचनों से ज्ञातव्य है। क्योंकि उसमें वही प्रमाण है। "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्"। शास्त्राभ्यास से तथा योगादि से ज्ञेयधर्म का दर्शन होता है। ज्ञेयधर्मदर्शनार्थं ही दर्शनशास्त्र है। प्रत्येक वस्तु का साक्षात् दर्शन योग से होगा। सामान्य रूपसे दर्शन शास्त्राभ्यास से होगा। सामान्य दर्शन से भी मोक्षोपयोगी ज्ञान होगा अतः शास्त्रसार्थक्य है ॥६॥

साक्षात्कारोऽर्थानां योगात्साधर्म्यसंयमाद् भवति ।
तेभ्यो विविक्त आत्मा दृष्टः सन् कल्पते मुक्त्यै ॥ ७ ॥

धारणा, ध्यान, समाधिरूपी संयम योग है। उससे उन उन धर्मों के साथ अर्थ का साक्षात्कार होता है। जैसे "संस्कारसाक्षात्कारात्पूर्वजातिज्ञानं" इत्यादि होता है। अतः तदर्थं साधर्म्यादिधर्मवर्णन आवश्यक है। क्योंकि इस प्रकार अर्थ ज्ञात होने पर उनसे विविक्तरूप से आत्मा का दर्शन होता है। जो मोक्ष का कारण है ॥७॥

एकैकेभ्योऽर्थेभ्यो व्यावृत्यात्मा नृणां न हि सुदर्शः ।
अनुगतधर्मैः क्रोडीकृतवस्तुभ्यस्तु सुज्ञानः ॥ ८ ॥

एक एक वस्तु से पृथक् करके आत्मा का दर्शन करना साधारण मनुष्यों के लिये संभव नहीं है। हाँ, पृथिवीत्व-जलत्वादि अनुगत धर्मों से क्रोडीकरण कर वस्तुओं से आत्मा को पृथक् देखना काफी आसान है।

अतः अनुगत धर्मकथन योगी एवं अन्य साधारण पुरुष सबके लिये उपयोगी है ॥८॥

तस्मात्पदार्थधर्माः संगृह्यन्तेऽत्र चाभ्युदयहेतोः ।
निःश्रेयसहेतोरप्यशरीरात्मस्वरूपदृशे ॥ ९ ॥

इतना ही नहीं। शरीरेन्द्रियादितादात्म्यभ्रम आत्मा में है जो बन्धन-कारण है। तदर्थं शरीरधर्म और आत्मधर्मको पृथक कर जानना आवश्यक है। शरीर में पृथिवीत्वादि है। इन्द्रियों में भी पृथिवीत्वजलत्वादि है। बाह्य पृथिवीजलादि की उपमासे इन सबसे पृथक् कर शरीरेन्द्रियादिभिन्नरूप से आत्मा जाना जा सकता है। उसका फल निःश्रेयस बताया ही। साथ ही अभ्युदयफल भी ज्ञेयधर्म से प्राप्य है। उन धर्मों में संयम करने से जो सिद्धियाँ मिलती हैं उससे अनुष्ठेय धर्म प्राप्य सभी लोक प्राप्त किये जा सकते हैं। "प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्" इस गीतावचन में अविशेषेण सभी पुण्यलोक योगिप्राप्य बताये हैं। इस प्रकार अनुष्ठेय धर्म साक्षात् अभ्मुदय के प्रति और पदार्थधर्मज्ञान द्वारा निःश्रेयसका साधन हैं। योगद्वारा अभ्युदयसाधन है। अतएव प्रशस्तपादाचार्यने—"पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः" इस प्रकार पदार्थ धर्म को महोदय बताया। इनमें अनुष्ठेय धर्म वेदोक्त होने से उसका वर्णन यहाँ उपयोगी नहीं है। वेदों से ही उन्हें जाना जा सकता है। अतः मुख्यतया पदार्थधर्म का ही यहाँ वर्णन है। यही "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" इस प्रतिज्ञासूत्र का भी अभिप्राय है। उनमें वैदिक धर्म केवल इंगनीय है। अतएव सूचीकटाहन्याय से सामान्य लक्षण मात्र से उसका अवगमन "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः" से कराया जो पदार्थधर्म में भी लागू है। इस विवेचन का यहाँ अभिप्राय यही है कि इस अभिप्राय को जाने बिना ही कुछ प्राचीन मीमांसक विद्वानों ने वैशेषिक-सूत्रकार के ऊपर जो यह आक्षेप किया कि—

धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम् ।
सागरं गन्तुकामस्य हिमवद्गमनोपमम् ॥

अर्थात् "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" इस प्रकार धर्मव्याख्यान की प्रतिज्ञा कर "पृथिव्यापस्तेजो वायुः" इत्यादि से आरम्भकर पूरे शास्त्र में षट्पदार्थवर्णन करना ऐसा ही है जैसे सागर जाने के लिये हिमालय पर चढ़ना; वह आक्षेप सर्वथा निराधार है। क्योंकि महर्षि कणादने यहाँ पदार्थधर्मव्याख्यानार्थ ही मुख्यरूपेण प्रतिज्ञा की है। यद्यपि धर्मपद अनुष्ठेय

धर्म तथा पदार्थधर्म दोनों में साधारण है या द्व्यर्थकतया विश्वतोमुख सूत्र में उपात्त है तथापि अनुष्ठेय धर्म की व्याख्या विपुलरूप से वेदों में हो चुकी है, अतः इसका इशारा मात्र करके पदार्थ धर्म को ही मुख्यतया बताना कणादमुनि को अभिप्रेत है। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यं' इस सूत्र से भी यह ध्वनि निकलती है। अतएव पदार्थसंग्रह न कह कर पदार्थधर्मसंग्रह भाष्य कार ने कहा ॥९॥

द्रव्यं गुणश्च कर्म च सामान्यमथो विशेषसमवायौ ।
एते षडिह पदार्थाः प्रोक्तोऽन्यैः सप्तमोऽभावः ॥ १० ॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः पदार्थ वैशेषिक सूत्रों में वर्णित हैं। सप्तम अभाव पदार्थ भी आचार्यों ने माना है ॥१०॥

क्षितिसलिलानलपवनाः सगगनसमया दिगात्ममनसी च ।
द्रव्याणि—

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं।

(द्रव्याण्य)थ रूपरसौ गन्धः स्पर्शश्च संख्या च ॥ ११ ॥
परिमाणपृथक्त्वे सं-योगविभागौ परापरत्वे च ।
बुद्धिः सुखदुःखेच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वं च ॥ १२ ॥
किं च द्रवता स्नेहः संस्कारोऽदृष्टमपि च शब्दश्च ।
एते हि चतुर्विंशति-संख्याकलिता भवन्ति गुणाः ॥ १३ ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द ये चौबीस गुण हैं ॥११-१३॥

उत्क्षेपणमथ चाप-क्षेपणमाकुञ्चनं तृतीयमथ ।
तुर्यं प्रसारणं स्याद् गमनमिति च पञ्च कर्माणि ॥ १४ ॥

उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गगन ये पाँच कर्म हैं ॥१४॥

सामान्यं परमपरं द्विविधमनन्ता भवन्ति तु विशेषाः ।
समवायस्त्वेकविधोऽभावं वक्ष्ये चतुर्धा च ॥ १५ ॥

सामान्य पर और अपर ऐसे दो हैं। विशेष अनन्त हैं। समवाय एक ही है। अभाव चार आगे कहेंगे ॥१५॥

इत्युद्देशग्रन्थः

साधर्म्यं सर्वेषां वाच्यत्वास्तित्वबोध्यता बोध्याः ।
नित्यद्रव्येभ्यः स्यादन्येषामाश्रितत्वं तु ॥ १६ ॥

सभी पदार्थों का वाच्यत्व, अस्तित्व तथा ज्ञेयत्व साधर्म्य है। नित्य द्रव्यों को छोड़कर अन्य सबका आश्रितत्व साधर्म्य है ॥१६॥

द्रव्यादयस्तु पञ्चानेके समवायवन्त एवापि ।
निर्गुणनिष्क्रियभावौ पञ्चानां स्तो गुणादीनाम् ॥ १७ ॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेषों का अनेकत्व और समवायित्व साधर्म्य है। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय का निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व साधर्म्य है ॥१७॥

सत्तासम्बन्धः सामान्यविशेषोऽर्थशब्दवाच्यत्वम् ।
धर्माऽधर्मजनकता द्रव्यादीनां त्रयाणां स्युः । १८ ॥

सत्तासम्बन्ध, सामान्यविशेषत्व, अर्थशब्दवाच्यत्व, धर्मजनकत्व और अधर्मजनकत्व ये द्रव्यगुणकर्म तीन के साधर्म्य हैं ॥१८॥

कार्यत्वमनित्यत्वं कारणभाजां सधर्मता भवति ।
अणुपरिमाणादिभ्यो भिन्नानां कारणत्वं च ॥ १९ ॥

सकारणपदार्थों का कार्यत्व तथा अनित्यत्व साधर्म्य है। अणुपरिमाण आत्मेतरमहत्परिमाण एवं विशेष से भिन्न वस्तुओं का कारणत्व साधर्म्य है ॥१९॥

द्रव्याश्रितत्वमुक्तं नित्यद्रव्येतरस्य सत्त्ववतः ।
सामान्यादित्रितयं नित्यं चाकारणमकार्यम् ॥ २० ॥

नित्य द्रव्यों को छोड़ कर अन्य सबका द्रव्याश्रितत्व साधर्म्य है। सामान्य, विशेष और समवाय का नित्यता, अकारणता और अकार्यता साधर्म्य है ॥२०॥

अर्थपदावाच्यं तत् स्वात्मसदपि बुद्धिलक्षणं चैव ।
निःसामान्यविशेषं सामान्यादित्रयं तद्धि ॥ २१ ॥

उन्हीं सामान्यादि तीन का अर्थपदावाच्यत्व, स्वात्मसत्ता, बुद्धिलक्षणता, निःसामान्यता, निर्विशेषता ये साधर्म्य हैं ॥२१॥

इति पदार्थसाधर्म्यम्

समवायिकारणत्वं गुणवत्त्वं कार्यहेत्ववैरित्वम् ।
अन्त्यविशेषश्चेति क्षित्यादीनां नवानां स्यात् ॥ २२ ॥

नौ द्रव्यों का समवायिकारणत्व, गुणाश्रयत्व, कार्यकारणाविरोधित्व एवं अन्त्यविशेष साधर्म्य है ॥२२॥

स्पर्शो द्रव्यजनकता भवति चतुर्णां पुनः समनसां तु ।
वेगः क्रिया परापरमूर्तत्वाख्यानि पञ्चानाम् ॥ २३ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चारका स्पर्शवत्त्व, द्रव्यजनकत्व ये साधर्म्य हैं। उन्हीं के साथ मनका वेगवत्त्व, क्रियावत्त्व, परत्व, अपरत्व, मूर्तत्व साधर्म्य हैं ॥२३॥

आद्यानां पञ्चानां भूतत्वं चेन्द्रियप्रकृतिता च ।
मूर्तात्मानः षट् स्युरनेकेऽपरजातियुक्ताश्च ॥ २४ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पांच का भूतत्व और इन्द्रिय प्रकृतित्व साधर्म्य है। मूर्त और आत्मा (पृथिवी जल तेज वायु मन आत्मा इन छः) का अनेकत्व और अपरजातिमत्त्व साधर्म्य है ॥२४॥

वैशेषिकगुणयुक्त्वं षण्णां भूतात्मनां तु साधर्म्यम् ।
परममहत्त्वं विभुता गगनादीनां चतुर्णां स्यात् ॥ २५ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, आत्मा का विशेषगुणवत्त्व साधर्म्य है। गगन, काल, दिक्, आत्मा इन चारका परम महत्त्व, विभुत्व साधर्म्य है ॥२५॥

अव्याप्यवृतिरूपः क्षणिको गगनात्मनोर्विशेषगुणः ।
आद्यानां प्रत्यक्षं द्रवता रूपं त्रयाणां तु ॥ २६ ॥

अव्याप्यवृत्तिक्षणिकविशेषगुणवत्त्व आकाश और आत्मा का साधर्म्य है। पृथिवी, जल तेज का प्रत्यक्षत्व, द्रवत्व और रूपवत्व साधर्म्य है ॥२६॥

क्षितिजलयोर्गुरुता क्षिति-वह्न्योर्नैमित्तिकद्रवत्वं च ।
दिक्कालौ कार्याणां निमित्तहेतू च सर्वेषाम् ॥ २७ ॥

पृथिवी और जल में गुरुत्व साधर्म्य है। पृथिवी और तेज का नैमित्तिक द्रवत्व साधर्म्य है। दिक् और कालका सर्वकार्यनिमित्तकारणत्व साधर्म्य है ॥२७॥

एवं साधर्म्यं स्याल्लक्षणिनां लक्षणानि वैधर्म्यम् ।
भवति विपर्ययवशतः सर्वत्रैवेति विज्ञेयम् ॥ २८ ॥

इस रीति अन्य भी साधर्म्य होता है। यह लक्षणयुक्तों का लक्षण भी है। इसका विपर्यय अन्यत्र वैधर्म्य है। इस प्रकार साधर्म्य और वैधर्म्य सर्वत्र अवगन्तव्य है ॥२९॥

पृथिवीत्वात् पृथिवी सा षड्रसयुक्ता च सप्तरूपवती ।
स्पर्शमनुष्णाशीतं पाकजमाप्ता द्विगन्धा सा ॥ २९ ॥

पृथिवीत्वजातियुक्त होने से पृथिवी कहलाती है। छः रस तथा सात रूप उस में हैं। अनुष्णाशीत तथा पाकजस्पर्श भी है। एवं वह दो प्रकार की गन्ध वाली है ॥२९॥

परमाणुलक्षणा सा नित्याऽनित्योदितावयविनी सा ।
कार्येन्द्रियविषयाः स्युर्भेदाः कार्यात्मनस्तस्याः ॥ ३० ॥

परमाणुरूप पृथिवी नित्य है। कार्य पृथिवी अनित्य तथा अवयवी है। कार्यपृथिवी के शरीर, इन्द्रिय एवं विषय तीन भेद हैं ॥३०॥

कायो जरायुजादिर्गन्धाभिव्यञ्जकं तु यद् घ्राणम् ।
इन्द्रियमेतद् विषयो मृत्पाषाणादिकं सर्वम् ॥ ३१ ॥

जरायुज अण्डजादि शरीर है। गन्धाभिव्यञ्जक घ्राण इन्द्रिय है। मृत्तिका पाषाणादि सभी विषय हैं। घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं गन्धमात्रगुणाभिव्यञ्जकत्वात् वायूपनीतसुरभिभागवत् ॥३१॥

आपोऽप्त्वजातिमत्त्वात्तासां रूपं सितं रसो मधुरः ।
स्पर्शः शीतः स्नेहस्तासां सांसिद्धिकी द्रवता ॥ ३२ ॥

जलत्वजातियुक्त होने से जल कहलाता है। जल का शुक्ल रूप है। मधुर रस है। शीत स्पर्श है। जल का स्नेह तथा सांसिद्धिक द्रवत्व भी गुण है ॥३२॥

नित्यानित्यत्वादि क्षितिवत्कायस्तु वारुणे लोके ।
रसभासं खं रसना विषयस्तु सरित्समुद्रादिः ॥ ३३ ॥

पृथिवी के समान जल में नित्यत्व एवं अनित्यत्व है। शरीर वरुण लोक में प्रसिद्ध है। रसव्यञ्जक रसनेन्द्रिय है। विषय नदी समुद्रादि है। रसनेन्द्रियं जलीयं रसगुणमात्रव्यञ्जकत्वाद् जिह्वान्तर्वर्तिजलकणवत्। जीभ सूखने पर रसव्यक्ति नहीं होती। जिह्वान्तर्वर्ती जल कभी प्रगट होता है। अतः अन्दर सूक्ष्म जल कण है ही ॥३३॥

तेजस्त्वजातिमत्त्वात्तेजो रूपं तु भास्वरं शुक्लम्।
उष्णः स्पर्शः पूर्ववदन्यत्तस्येन्द्रियं चक्षुः ॥ ३४ ॥

तेजस्त्वजाति को लेकर तेज व्यवहार है। उसका रूप भास्वर शुक्ल है। उष्ण स्पर्श है। परमाणु नित्य और कार्य अनित्य है। शरीर सूर्यलोकादि में प्रसिद्ध है। इन्द्रिय चक्षु है। चक्षुः तेजसं रूपमात्रगुणव्यञ्जकत्वात् प्रभावत् ॥३४॥

विषयश्चतुर्विधोऽस्य तु भौममुदर्यं च दिव्यमाकरजम्।
काष्ठाग्निर्जठराग्निर्विद्युच्च तथा हिरण्यादिः ॥ ३५ ॥

तेज के विषय भूमिस्थ, उदरस्थ, दिव्य और आकरज ऐसे चार हैं। काष्ठाग्नि, जठराग्नि, विद्युत और सुवर्णादि उन्हें समझें ॥३५॥

वायुत्वजातियोगाद्वायुर्नित्यो भवत्यनित्योऽपि।
अस्यानुष्णाशीताऽपाकजलक्ष्मा भवेत्स्पर्शः ॥ ३६ ॥

वायुत्वजातिवाला वायु है। परमाणुरूप वायु नित्य है। उसका भी अवयवी है, जिस का स्पर्श होता है। वह अनित्य है। अनुष्णाशीत अपाकज वायु का स्पर्श है ॥३६॥

स्पर्शव्यञ्जकमिन्द्रियमस्य त्वक् तेन वायुरध्यक्षः।
अपरेऽनुमेयमाहुर्वायुं स्पर्शादितः प्राज्ञाः ॥ ३७ ॥

वायु का इन्द्रिय त्वक् है। त्वगिन्द्रियं वायुजं स्पर्शगुणमात्रव्यञ्जकत्वात् संप्रतिपन्नवत्। त्वगिन्द्रिय से वायु का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु कुछ पण्डित स्पर्शादि से वायु को अनुमेय मानते हैं ॥३७॥

विषयो बाह्यो वायुः प्राणाद्याश्चान्तरा उपेयन्ते।
प्राणापानव्यानोदानसमानास्तु ते पञ्च ॥ ३८ ॥

वायु का विषय बाह्य वायु तथा आभ्यन्तर प्राणवायु है; जो प्राण, अपान व्यान, उदान और समान रूप से विभक्त है ॥३८॥

परमाणवो हि नित्यास्तत्राऽदृष्टाश्रयात्मयोगेन ।
परमेश्वरेच्छया खलु सृष्ट्यादौ स्यात्क्रिया काचित् ।। ३९ ।।

सभी परमाणु नित्य हैं। सृष्टि के आदि में परमेश्वर की इच्छा से तथा अदृष्टवदात्मसंयोग से परमाणु में क्रिया होती है ॥३९॥

तेनाणुद्वययोगे द्व्यणुकं त्रिभिरेव तैर्भवेत्त्र्यणुकम् ।
एवं स्थूलाः क्रमशो जायन्ते वायुसलिलाद्याः ।। ४० ।।

परमाणु में क्रिया होने पर एक परमाणु से दूसरे परमाणु का संयोग होता है तो द्व्यणुक उत्पन्न होता है। तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक होता है इस क्रम से महावायु महाजल आदि उत्पन्न होते हैं। भाष्यकारने प्रथम वायु की फिर जल पृथिवी एवं तेज की सृष्टि बतायी है। तदनुसार यहाँ वायु सलिलाद्याः कहा ॥४०॥

रात्रावपवर्गे वा द्रुहिणस्य महेश्वरो हि जीवानाम् ।
संसरणखिन्नमनसां विश्रान्त्यै संजिहीर्षति तान् ।। ४१ ।।

ब्रह्माजीकी रात्रि में या अपवर्ग होनेपर महेश्वर संसारपरिभ्रमण से खिन्न जीवात्माओं को विश्राम देने के लिये उन स्थूल वायु आदि का संहार करने की इच्छा करता है ॥४१॥

वृत्तिनिरोधे च तदाऽदृष्टानामणुविभाजनं भवति ।
कार्यद्रव्यविनाशस्तेन भवेत्तं जगुः प्रलयम् ।। ४२ ।।

जीवादृष्ट का उस समय वृत्तिनिरोध (सृष्ट्युन्मुखतानिरोध) हो जाता है तो अणुओं का विभाजन होता है तो द्व्यणुकनाशादिक्रम से सकलकार्य-द्रव्यनाश होता है ॥४२॥

शब्दाश्रयः खमेकं परिशेषात्तस्य चेन्द्रियं श्रोत्रम् ।
नित्यं विभु तदपि भवेद्बाधिर्यं प्राण्यदृष्टहतेः ।। ४३ ।।

शब्दाश्रय आकाश नाम का द्रव्य है। शब्द का अन्य आश्रय न होने से परिशेषानुमान से आकाश की सिद्धि होती है। आकाश का इन्द्रिय श्रोत्र है। यद्यपि आकाश नित्य एवं विभु है। तदभिन्न श्रोत्र का नाश नहीं होता। फिर भी बहरापन होता है। यह शब्दानुभवकारण अदृष्टनाश का ही परिणाम है ॥४३॥

ज्येष्ठकनिष्ठपरादिव्यवहृतिकृत् काल एष एकोऽपि ।
नानोपाधेः सूर्यस्पन्दादेर्हि क्षणाद्याः स्युः ॥ ४४ ॥

ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व एवं परत्व अपरत्वादि व्यवहार का कारण काल है। वह एक होनेपर भी उपाधिवशात् नाना है। सूर्यपरिस्पन्दादि उपाधि हैं। उसी से क्षण दिन मासादि होते हैं ॥४४॥

दूरान्तिकपूर्वादिव्यवहृतिहेतुर्दिगुच्यते सैका ।
औपाधिक्यः संज्ञाः प्राच्याद्याः सूर्ययोगवशात् ॥ ४५ ॥

दूर नजदीक पूर्व पश्चिम आदि व्यवहार का कारण दिक् है। वह एक है। पूर्वादि संज्ञा औपाधिक हैं। वह भी सूर्यसंयोग ही के कारण। जहाँ से सूर्योदय हो वह पूर्व, उससे दाहिना दक्षिण इत्यादि॥४५॥

आत्मत्वाश्रय आत्मा मानससाक्षात्त्वगोचरो नित्यः ।
सुख्यहमिति साक्षात्त्वं सर्वैरनुभूयते स्पष्टम् ॥ ४६ ॥

आत्मत्वजातियुक्त आत्मा है। वह मानसप्रत्यक्षविषय है। नित्य है। मैं सुखी हूँ इत्यादि रीति उसका मानसप्रत्यक्ष सर्वानुभवसिद्ध है ॥४६॥

नात्मा वपुर्मृतस्याचित्त्वात्ख वाऽखिलार्थसन्धानात् ।
न मनः करणतयास्य तु सिद्धेरेभ्यः पृथक् कर्ता ॥ ४७ ॥

यह शरीर आत्मा नहीं है। क्योंकि मृतशरीर में चैतन्य नहीं होता। चैतन्यवान् ही आत्मा है। इन्द्रिय भी आत्मा नहीं है। इन्द्रिय नाना होने से आत्मा नाना होता और परस्परानुभूतार्थ का अनुसन्धान न होता। मन भी आत्मा नहीं है क्योंकि उसकी सिद्धि हो करणरूप से होती है। अतः इन सबसे पृथक् कर्ता ही आत्मा है ॥४७॥

जीवात्मा परमात्मेत्येवं द्विविधः सुखादिमानाद्यः ।
नित्यज्ञानादीनामधिकरणं स्यान्महेशोऽन्यः ॥ ४८ ॥

आत्मा द्विविध है। एक जीवात्मा है दूसरा परमात्मा है। सुखदुःखाद्यधिकरण जीवात्मा है। नित्यज्ञानाधिकरण परमात्मा है ॥४८॥

अर्थेन्द्रियसंयोगे सत्यपि यस्यावधानराहित्यात् ।
न ज्ञानादिस्तदिदं मनस्त्वयोगान्मनः प्रोक्तम् ॥ ४९ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर जिसके अवधान के अभाव से ज्ञानादि नहीं होता वह मन है। मनस्त्वजातियुक्त होने से मन कहलाता है ॥४९॥

एकादश रूपाद्या द्रवगुरुवेगाश्चतुर्दशावन्याः ।
गन्धस्थाने स्नेहात्तावन्तोऽपां गुणा ज्ञेयाः ॥ ५० ॥

रूप रसादि अपरत्व तक ग्यारह; द्रवत्व, गुरुत्व और वेग मिलाकर चौदह गुण पृथवीके हैं। उनमें से गन्ध को हटाकर स्नेह जोड़ने पर चौदह गुण जल के हैं ॥५०॥

रसगन्धगुरुत्वानां विरहादेकादशोचिरेऽग्निगुणाः ।
रूपरसगन्धगुरुताद्रवताविरहान्नव तु वायोः ॥ ५१ ॥

प्रथम चौदह में रस, गन्ध और गुरुत्व को छोड़कर ग्यारह तेज के गुण हैं। रूप, रस, गन्ध, गुरुत्व, द्रवत्व इन पांच को छोड़कर नौ गुण वायु के हैं ॥५१॥

संख्याद्याः पञ्च गुणाः कालदिशोः खे तु तें च शब्दश्च ।
पञ्च तु ते बुद्धीच्छायत्नाश्चाष्टौ महेशगुणाः ॥ ५२ ॥

संख्या परिमाणादि पांच काल और दिशा के गुण हैं। वे पांच और शब्द ऐसे छः आकाश के गुण हैं। वे ही पांच और बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ये आठ गुण ईश्वर के हैं ॥५२॥

तेऽदृष्टभावनासुखदुःखद्वेषास्त्रयोदशान्यस्य ।
मनसः परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च ॥ ५३ ॥

वे आठ और अदृष्ट, भावना, सुख, दुःख, द्वेष ऐसे पांच मिलाकर तेरह गुण जीवात्मा के हैं। परत्व अपरत्व संख्यादि पांच तथा वेग ये आठ गुण मन के हैं ॥५३॥

इति द्रव्य ग्रन्थः

द्रव्याश्रिता गुणाः स्युर्गुणत्वयुक्ता गुणक्रियारहिताः ।
स्पर्शान्ता बुद्ध्याद्याः प्रायो वैशेषिकास्तु गुणाः ॥ ५४ ॥

गुणत्वजातिमान् गुण है। द्रव्याश्रितत्व, निर्गुणत्व, निष्क्रियत्व ये सर्वगुणों का साधर्म्य है। स्पर्शान्त—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा बुद्ध्यादि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, सांसिद्धिक द्रवत्व, स्नेह, संस्कार भावना, अदृष्ट और शब्द ये विशेष गुण हैं। बुद्ध्यादि में गुरुत्व एवं वेगादि छोड़ने के लिये प्रायः कहा। वैशेषिकगुणत्व इनका साधर्म्य है ॥५४॥

संख्याद्यपरत्वान्ताः स्नेहो वेगो द्रवत्वमेवापि ।
द्वीन्द्रियविषयाः प्रोक्ता अतीन्द्रियाः स्युर्गुरुत्वाद्याः ।। ५५ ।।

संख्या परिमाणादि अपरत्वपर्यन्त, स्नेह, वेग, द्रवत्व ये दो इन्द्रियों से ग्राह्य हैं। द्वीन्द्रियग्राह्यत्व इनका साधर्म्य है। गुरुव, संस्कार एवं अदृष्टादि अतीन्द्रिय हैं ।।५५।।

द्वित्वादयस्तु संख्या द्विपृथक्त्वाद्याः परापरत्वे च ।
एतेऽपेक्षाबुद्धिप्रभवाश्चाहेतवश्चैव ।। ५६ ।।

द्वित्वादि परार्धपर्यंत संख्या, द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्वादि, परत्व, अपरत्व, ये अपेक्षाबुद्धिजन्य हैं और अहेतु हैं यही इनका साधर्म्य है ।।५६।।

आत्मविशेषगुणानां केवलमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ।
अव्याप्यवृत्तितैषां संयोगविभागशब्दानाम् ।। ५७ ।।

बुद्धि सुखादि आत्मविशेषगुणों का केवल निमित्तकारणता साधर्म्य है। उन्हीं का और संयोगविभाग एवं शब्द का अव्याप्यवृत्तित्व साधर्म्य है ।।५७।।

रूपत्वरसत्वाद्या अपराः स्युर्जातयस्ततः सर्वे ।
रूपादिव्यवहृतिगा लक्षणमेषां च तद्वत्त्वम् ।। ५८ ।।

रूपत्व, रसत्वादि अपर जाति हैं, रूपादिव्यवहारकारण हैं। ये ही रूपादि के लक्षण भी हैं ।।५८।।

चक्षुर्ग्राह्यस्तु गुणो रूपं तच्छुक्लनीलपीतादि ।
रसनाग्राह्यश्च रसः षोढा मधुराम्ललवणादिः ।। ५९ ।।

चक्षु से ग्राह्य गुण रूप है। शुक्ल, नील, पीतादि भेद से वह सप्तविध है। रसनाग्राह्य गुण रस है। मधुर, अम्ल, लवणादि भेद से वह छः प्रकार का है ।।५९।।

घ्राणग्राह्यो गन्धः सुरभिरसुरभिर्द्विधा स विज्ञेयः ।
त्वग्ग्राह्यः स्पर्शः स्यादुष्णः शीतोऽप्यनुभयश्च ।। ६० ।।

घ्राणग्राह्य गुण गन्ध है। सुगन्ध, दुर्गन्ध, ऐसे उसके दो भेद हैं। त्वचाग्राह्य गुण स्पर्श है। उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत ऐसे उसके तीन भेद हैं ।।६०।।

रूपाद्याश्चत्वारो मह्यां स्युः पाकजा अणुषु पाकः ।
तेजःसंयोगेऽणुक्रियया द्व्यणुकादिनाशवशात् ।। ६१ ।।

पृथिवी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाकज होते हैं। अणुओं में पाक होता है। अग्निसंयोग होने पर अणुओं में क्रिया होती है। तो संयोगनाश होने से द्व्यणुकादि नाश होता है ॥६१॥

अतिदूरगमनविरहात्तत्रैवादृष्टतः पुनर्योगात्।
द्व्यणुकाद्युत्पत्त्यार्थोत्पत्तिं वैशेषिका जगदुः ॥ ६२ ॥

अणुविभाग होने पर भी वे दूर नहीं जाते। पाकोत्तर अदृष्टवशात् पुनः वहीं संयुक्त हो जाते हैं तो पुनः द्व्यणुकादिक्रम से घटादि अर्थों की उत्पत्ति होती है। श्यामघट से रक्तघट की उत्पत्ति इस प्रकार है। ऐसा पीलुपाकवादी वैशेषिकों का कहना है ॥६२॥

एकादिव्यवहृतिकृत् संख्यैकत्वं ध्रुवेषु नित्यं स्यात्।
द्वित्वादयस्त्वपेक्षाबुद्धिप्रभवा अनित्या हि ॥ ६३ ॥

एक दो इत्यादि व्यवहार का कारण संख्या है। नित्य आकाशादि में एकत्व नित्य एवं अनित्य घटादि में अनित्य है। द्वित्वादि अपेक्षावुद्धिजन्य होने से सर्वत्र अनित्य ही है ॥६३॥

मानव्यवहृतिहेतुः परिमाणं तच्चतुर्विधं भवति।
तच्चाणुत्वमहत्वे ह्रस्वत्वं चैव दीर्घत्वम् ॥ ६४ ॥

मानव्यवहार का कारण परिमाण है। वह चार है। अणुत्व, महत्त्व, ह्रस्वत्व और दीर्घत्व ॥६४॥

त्र्यणुकादौ तु महत्त्वं परममहत्त्वं भवेन्नभःप्रभृतौ।
अणुताऽणौ त्र्यणुकादौ सा पुनरापेक्षिकी भवति ॥ ६५ ॥

त्र्यणुकादि में महत्त्व है। परम महत्त्व आकाशादि में है। अणुत्व परमाणु और द्व्यणुक में है। त्र्यणुक में अणुत्व या घटादि में अणुत्व आकाशादि की अपेक्षा है। वास्तविक नहीं। महत्त्व तो परमाणु की अपेक्षा से।आपेक्षिक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व कारण है ॥६५॥

ह्रस्वत्वं त्र्यणुके स्याद्वंशेक्ष्वादावपेक्षया तत्तु।
तत्र तु दीर्घत्वं स्यादपकर्षोत्कर्षरूपेण ॥ ६६ ॥

त्र्यणुक में ह्रस्वत्व रहता है। ईख, बांस आदि में अपेक्षया ह्रस्वत्व है। वहां दीर्घत्व उत्कर्ष अपकर्ष रूप से रहता है ॥६६॥

द्व्यणुके त्र्यणुके संख्याजन्यं परिमाणजन्यमन्यत्र ।
तूलादौ प्रचयभवं त्रिविधं परिमाणमेवं स्यात् ।। ६७ ।।

द्व्यणुक त्र्यणुक में परिमाण संख्याजन्य है। अन्यत्र परिमाणजन्य है। रूई आदि में अवयवसंयोगशैथिल्यरूपी प्रचय से महत् परिमाण होता है। इस प्रकार परिमाण त्रिविध है ।।६७।।

यस्तु पृथक्त्वव्यवहृतिहेतुः स गुणः पृथक्त्वमित्युक्तः ।
एकपृथक्त्वद्विपृथक्त्वादि तु संख्यावदेव स्यात् ।। ६८ ।।

पृथक् ऐसे व्यवहार का कारण पृथक्त्व है। एकपृथक्त्व द्विपृथक्त्व इत्यादि संख्या के समान अपेक्षाबुद्धिजन्य तथा अनित्य है ।।६८।।

अप्राप्तयोर्भवेद्या प्राप्तिः संयोग एष स त्रिविधः ।
अन्यतरोभयकर्मजसंयोगजभेदतः प्रोक्तः ।। ६९ ।।

अप्राप्त की प्राप्ति संयोग है। वह तीन प्रकार का है। एककर्मज (वृक्षश्येनसंयोगादि) उभयकर्मज (मेषद्वयसंयोग) तथा संयोगज (हस्त-पुस्तकसंयोग से कायपुस्तकसंयोग) ।।६९।।

या प्राप्तिपूर्विका स्यादप्राप्तिः स त्रिधा विभागः स्यात् ।
अन्यतरोभयकर्मविभागजभेदात् स च क्षणिकः ।। ७० ।।

प्राप्तिपूर्वक अप्राप्ति विभाग है। वह भी त्रिधा है। एककर्मज, उभय-कर्मज और विभागज। सभी क्षणिक होते हैं ।।७०।।

परमपरमितिव्यवहृतिहेतू द्विविधे परापरत्वे स्ताम् ।
कालकृते देशकृते ते चापेक्षामतिप्रभवे ।। ७१ ।।

परव्यवहारहेतु तथा अपरव्यवहारहेतु परत्व तथा अपरत्व है। वह द्विविध है। देशकृत तथा कालकृत। दोनों अपेक्षाबुद्धिजन्य हैं ।।७१।।

बुद्धिर्ज्ञानं प्रत्यय उपलब्धिर्व्यक्तिहेतुरखिलस्य ।
विद्याऽविद्याभेदाऽविद्या तु चतुर्विधा बोध्या ।। ७२ ।।

बुद्धि ज्ञान को कहते हैं। उसी को प्रत्यय एवं उपलब्धि भी कहते हैं। सकल वस्तु की अभिव्यक्ति में हेतु है। वह दो प्रकार है। विद्या तथा अविद्या। इनमें अविद्या चार प्रकार है ।।७२।।

संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नभेदभिन्नत्वात् ।
स्थाणुर्वा पुरुषो वा स्थाणुरयं को न्वयं नैद्रम् ॥ ७३ ॥

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न भेद से वह चार प्रकार है। मन्दान्धकार में पुरुष को देख कर स्थाणुर्वा पुरुषो वा ऐसा संशय होता है। यह स्थाणु है ऐसा विपर्यय होता है। यह कौन होगा ऐसा अनध्यवसाय होता है। निद्रा में स्वप्न ज्ञान होता है ॥७३॥

विद्यापि चतुर्धा स्यात् प्रत्यक्षं लैङ्गिकं स्मृतिश्चार्षम् ।
अर्थेन्द्रियसम्बन्धात् प्रत्यक्षं पञ्च सम्बन्धाः ॥ ७४ ॥

विद्या चार प्रकार की है। प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्ष। इन्द्रियार्थ-सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है। पांच संनिकर्ष हैं। (अभाव वर्णन को लेने पर छः माने जायेंगे ॥७४॥

संयोगः संयुक्ते समवायस्तद्वतश्च समवायः ।
समवायः समवेते समवायश्चेति ते पञ्च ॥ ७५ ॥

संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय ऐसे वे पांच हैं ॥७५॥

लिङ्गज्ञानप्रभवाल्लिङ्गिज्ञानादपूर्वविज्ञानम् ।
अनुमानं द्विविधं तद् दृष्टं सामान्यतोदृष्टम् ॥ ७६ ॥

लिङ्गज्ञान से लिङ्गिज्ञान होता है। उससे अपूर्व अर्थ का विशिष्ट ज्ञान होता है। यही अनुमान है। वह दृष्ट तथा सामान्यतोदृष्ट भेद से दो प्रकार का है ॥७६॥

धूमज्ञानाद्वह्नेर्गिर्यादौ यद्धवेदपूर्वस्य ।
यागादिफलस्वर्गप्रभृतेश्च यदेव ते खलु ते ॥ ७७ ॥

दृष्ट जैसे—धूम ज्ञान से पर्वत में अपूर्व वह्नि का ज्ञान। अदृष्ट जैसे यागादि से पूर्व अदृष्ट स्वर्गादि का। ये ही वे दो हैं ॥७७॥

लिङ्गत्वं व्याप्यत्वं मेयावच्छेदकाश्रयत्वं तत् ।
मेयाभावव्यापकविरहप्रतियोगिता वा सा ॥ ७८ ॥

लिङ्ग का अर्थ है व्याप्य। व्याप्यता दो प्रकार से है। अन्वय से और व्यतिरेक से। उससे मेयसम्बन्धी व्याप्य है। धूमत्वावच्छेदेन वह्निसम्बन्ध

है। अतः धूम मेयावच्छेदक धूमत्वाश्रय होने से व्याप्य है। यह अन्वयव्याप्ति है। मेयाभावव्यपकाभावप्रतियोगित्व व्यतिरेकव्याप्ति है ।।७८।।

साभिप्रायः शक्तः शब्दोऽर्थैकान्तिकोऽनुमानमतः ।
औपम्यादिकमेवं द्वाभ्यां न भवेत्पृथङ्मानम् ।। ७९ ।।

साभिप्राय शब्द लिङ्ग है। उससे लिङ्गी-अर्थ का स्मरण होता है। क्योंकि साभिप्राय शब्द अर्थैकान्तिक होता है। तब उससे अपूर्व अर्थ का बोध होता है। अतः शब्दज्ञान अनुमान ही है। प्रतिदिन की आदत होने से अनुमानसा लगता नहीं यह अलग बात है। जैसे प्रातः कहते हैं—सूर्योदय होने वाला है। तो यह अनुमान होने पर भी प्रत्यक्षसा लगता है। अतएव कोई पूछें कि क्या आप सूर्योदय का अनुमान कर रहे हैं ? जवाब मिलेगा—अनुमान क्या, प्रत्यक्ष है, अब होगा ही। वैसे शब्द स्थल में भी गामानय शब्द सुनकर गवानयनाज्ञामयं करोति तादृशशब्दवत्त्वाद् ऐसा अनुमान होने पर अनुमानसा लगता नहीं। उपमा आदि में भी यही स्थिति है। अतः दो ही प्रमाण हैं ।।७९।।

स्वार्थं परार्थमिति च द्विविधं पुनरुच्यतेऽनुमानमिदम् ।
पञ्चावयवोपेतं वाक्यं न्यायः परार्थकरः ।। ८० ।।

अनुमान स्वार्थ परार्थ भेद से पुनः द्विविध है। पञ्चावयवयुक्त वाक्य न्याय है। वही परार्थ है ।।८०।।

अनुमेयोद्देशो यस्त्वविरोधी सोच्यते प्रतिज्ञाऽत्र ।
प्रत्यक्षादिविरुद्धो नैव हि युक्तः प्रतिज्ञातुम् ।। ८१ ।।

अनुमेय वह्नि आदि का उद्देश, जो प्रत्यक्षादिविरुद्ध नहीं है, न्याय में प्रतिज्ञा है ।।८१।।

अनुमेयव्याप्यो यः साधकविधयोच्यतेऽयमपदेशः ।
नासिद्धो न विरुद्धः सन्दिग्धोऽनध्यवसितो वा ।। ८२ ।।

साधक के रूप में अनुमेयव्याप्य को जो कहते हैं उसे अपदेश कहते हैं। बशर्ते कि वह असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध या अनध्यवसित न हो ।।८२।।

साधर्म्याद्वैधर्म्यादुत तत्कथनं निदर्शनं द्विविधम् ।
तद्विरहस्य तु कथनं भवति खलु निदर्शनाभासः ।। ८३ ।।

साधर्म्यं या वैधर्म्यं से साध्य-साधन का कथन निदर्शन है। वह दो प्रकार का माना गया है। साधर्म्यं या वैधर्म्यं न हो तो वह निदर्शनाभास होगा। पूर्व भी विरोधी हो तो प्रतिज्ञाभास तथा हेत्वाभास हैं ॥८३॥

दृष्टान्तदृष्टसाध्यव्याप्यानयनं किलानुसन्धानम् ।
प्रत्याम्नानं हेतोः पुनरिव साध्यप्रतिज्ञानम् ॥ ८४ ॥

दृष्टान्त में दृष्ट साध्यव्याप्य का पक्ष में आनयन अनुसन्धान है। हेतुकथनपूर्वक साध्य का पुनरुक्तिसमान प्रतिज्ञा करना प्रत्याम्नान है। [प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान और प्रत्याम्नान को ही न्याय में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन शब्द से बताया गया है]।

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं त्वनुभूतगोचरं स्मरणम् ।
आर्षं प्रातिभमुक्तं पुण्यप्रचयोद्भवं महताम् ॥ ८५ ॥

अनुभूतविषयक संस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मरण है। आर्ष ज्ञान प्रातिभ को कहते हैं, जो पुण्याधिक्य से महापुरुषों को होता है। (जिससे ऋषि मन्त्रद्रष्टा हुए) ॥८५॥

अनुकूलवेदनीयं सुखमेवं वैपरीत्यतो दुःखम् ।
अप्राप्तार्थनमिच्छा भेदः कामाभिलाषादिः ॥ ८६ ॥

अनुकूल वेदनीय सुख है। प्रतिकूलवेदनीय दुःख है। अप्राप्त की प्रार्थना इच्छा है। काम अभिलाषा इत्यादि इच्छा के ही भेद हैं ॥८६॥

प्रज्वलनात्मा द्वेषः संरम्भोत्साहशब्दभाग् यत्नः ।
जीवनपूर्वः कश्चित् कश्चित्त्विच्छादिपूर्वः स्यात् ॥ ८७ ॥

अन्तःप्रज्वलन द्वेष है। यत्नको संरभ उत्साह आदि शब्दों से कहते हैं। लक्षण तो द्वेषत्व, यत्नत्व आदि जाति का सम्बन्ध ही है। यत्न दो प्रकार का है—जीवनयत्न तथा इच्छापूर्वक यत्न। श्वासोच्छ्वासादि में जीवनयत्न कारण है। अन्य यत्न इच्छापूर्वक होता है ॥८७॥

प्रथमप्रपतनहेतुर्भवति गुरुत्वं ह्यतीन्द्रियं तच्च ।
आद्यस्यन्दनहेतुर्द्विविधं प्रोक्तं द्रवत्वं तु ॥ ८८ ॥

प्रथमपतनहेतु गुरुत्व है। (द्वितीय पतन में वेग भी कारण है।) वह अतीन्द्रिय है। आद्यस्यन्दनहेतु द्रवत्व है। वह दो प्रकार का है ॥८८॥

सांसिद्धिकद्रवत्वं तद्वन्नैमित्तिकं द्रवत्वं च ।
प्रथमं सलिले बोध्यं चरमं क्षितितेजसोश्चैव ॥ ८९ ॥

एक सांसिद्धिक द्रवत्व है। दूसरा नैमित्तिक द्रवत्व है। प्रथम जल में है। द्वितीय पृथिवी और तेज में है ॥८९॥

संग्रहहेतुः स्नेहस्तोये संस्कार उच्यते त्रिविधः ।
वेगश्च भावना च स्वस्थितिसंस्थापकश्चैव ॥ ९० ॥

चूर्णादिपिण्डीभाव हेतु जलगत गुण स्नेह है। संस्कार तीन प्रकार का है। वेग, भावना और स्थितिस्थापक । शकटादि में वेग है। आत्मा में भावना है। वृक्षशाखा झुकाकर छोड़ने पर अपने स्थान पर फिर पहुँचतो है तो स्थितिस्थापक से ॥९०॥

धर्मो यागादिभवः स्वर्गादेः साधनं तथाऽधर्मः ।
हिंसाचौर्यादिभवो नरकादेः साधनं चैव ॥ ९१ ॥

यागादिजन्य स्वर्गादिसाधन धर्म है। तथा हिंसाचौर्यादिजन्य नरकादि-साधन अधर्म है ॥९१॥

श्रोत्रग्राह्यस्तु गुणः शब्दो ध्वनिवर्णभेदतो द्विविधः ।
शङ्खादेर्ध्वनिरुक्तो वर्णः प्रोक्तः ककारादिः ॥ ९२ ॥

श्रोत्रग्राह्य गुण शब्द है। वह ध्वनि एवं वर्ण भेद से दो प्रकार का है। शंखादिध्वनि प्रसिद्ध है। ककारादि वर्ण है ॥९२॥

इति गुणनिरूपणम्

कर्मत्वजातियोगात् कर्म तदुत्क्षेपणादिकं प्रोक्तम् ।
मूर्तैकद्रव्यस्थं निर्गुणमपि निष्क्रियाद्यपि च ॥ ९३ ॥

कर्मत्वजातिमान कर्म है। उसका उत्क्षेपणादि भेद कहा जा चुका है। वह मूर्तद्रव्यस्थ तथा एकद्रव्यस्थ है। निर्गुण निष्क्रिय आदि भी है ॥९३॥

यत्नात् कर्मोद्भूतिर्भवति गुरुत्वद्रवत्ववेगैश्च ।
संयोगविभागासम-वायिनिदानं तदेवोक्तम् ॥ ९४ ॥

कर्म प्रयत्न से होता है। गुरुत्व, द्रवत्व, और वेग से भी कर्मोत्पत्ति होती है। सर्गादि में परमाणुक्रिया तो अदृष्टवदात्मसंयोग से मानी है। यह कर्म संयोग तथा विभाग का असमवायि कारण है ॥९४॥

इति कर्मनिरूपणम्

सामान्यं परमपरं द्विविधं ध्रुवमप्यनेकसमवेतम् ।
सत्ता परा घटत्व-प्रभृतिस्वपरेतरोभयथा ।। ९५ ।।

सामान्य पर-अपर भेद से दो प्रकार का है, नित्य एवं अनेक समवेत है। सत्ता पराजाति है, घटत्वादि अपरा जाति है, अन्य पृथिवीत्व-द्रव्यत्यादि उभयात्मक जाति है ।।९५।।

यद्यपि सामान्यमिदं स्यादपरिच्छिन्नदेशमेवमपि ।
सामग्र्युपलक्षणयोर्नियमात् समवैति तु क्वचन ।। ९६ ।।

यद्यपि यह सामान्य क्रियारहित एवं उत्पत्तिरहित होने से उत्पन्न घट में कैसे हुआ यह प्रश्न होगा। क्योंकि वह कहीं से आया नहीं, और वहाँ उत्पन्न भी नहीं हुआ। तथापि व्यापक जैसा अपरिच्छिन्न होने से दोष नहीं है। तन्तु आदि सामग्री के नियम से पटत्व पट में समवेत होता है। तथा क्वचित् उपलक्षण (व्यञ्जक) नियत होने से जाति वहीं समवेत होगी। आत्मा आदि नित्य होने से आत्मत्वादि जाति स्वभावतः वहीं समवेत होगी।

इति सामान्यनिरूपणम्

व्यावर्त्तका विशेषा नित्यद्रव्यस्थितास्तु पृथगन्त्याः ।
द्रव्यत्वात् पृथिवीत्वात् कलशत्वात्सर्वतश्चान्त्याः ।। ९७ ।।

नित्य द्रव्यों में स्थित अन्तिम व्यावर्त्तक पृथक् तत्त्व विशेष है। सत्ता से द्रव्यत्व विशेष हैं। द्रव्यत्व से पृथिवीत्व विशेष है। वह इतर द्रव्य-जलादि का व्यावर्त्तक है। पृथिवीत्वापेक्षया कलशत्व विशेष है। वह इतर पार्थिव का व्यावर्त्तक है। उस की अपेक्षा तत्तदवयव विशेष है। द्व्यणुकावयव परमाणु इतरद्व्यणुकव्यावर्त्तक है। एक परमाणु से इतर परमाणु का व्यावर्त्तक अन्तिम विशेष है ।।९७।।

स्वयमेव व्यावृत्ता एते तद्योगतस्तु गगनाद्याः ।
शुनमांसमशुद्धं स्वयमन्यत्तद्योगतो यद्वत् ।। ९८ ।।

ये विशेष स्वयमेव व्यावृत्त है (एक विशेष से दूसरे विशेष को व्यावर्त्तित करने के लिये विशेषान्तर आवश्यक नहीं है।) इन के समवाय से गगनादि नित्यद्रव्य परस्पर व्यावृत्त हैं। जैसे श्वानमांस के संयोग से इतर वस्तु पात्रादि अशुद्ध होते हैं। श्वानमांस तो स्वतः अपवित्र है ।।९८।।

इति विशेषनिरूपणम्

समवायो नामायुतसिद्धानां कोऽपि नित्यसम्बन्धः ।
आधाराधेयत्वनियामकरूपेण संसिद्धः ॥ ९९ ॥

कपाल में घट है इत्यादि आधाराधेय भाव के नियामक के रूप में अयुत सिद्ध वस्तुओं का जो सम्बन्ध सिद्ध होता है वह समवाय है। ('कोऽपि' का मतलब है कि वैशेषिक मत में वह अप्रत्यक्ष है ॥९९॥

अविनश्यदेकमपराश्रितमेव वितिष्ठते द्वयोश्चेत्तौ ।
गुणगुण्यंशांश्याद्यौ विबुधैरुक्तावयुतसिद्धौ ॥ १०० ॥

अविनाशी अवस्था में एक दूसरे के आश्रय में ही जहाँ रहते हैं वे अयुत सिद्ध कहे जाते हैं। गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि अयुतसिद्ध हैं ॥१००॥

समवायैकत्वेऽपि ह्याधाराधेयभावनियमस्तु ।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तेर्भेदात् प्रावोचि भाष्यकृता ॥ १०१ ॥

समवाय एक होने पर भी आधाराधेय भाव में नियामक व्यङ्ग्यव्यञ्जक शक्ति को भाष्याकार ने बताया। इसी के आधार पर नव्य लोगों ने आधारत्व, आधेयत्व, प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व आदि को शक्तिविशेष माना और शक्ति का भी अस्तित्व स्वीकारा ॥१०१॥

इति समवायनिरूपणम्

सप्तममाहुः सन्तोऽभावपदार्थं चतुर्विधं तमपि ।
प्रागत्यन्तान्योन्यध्वंसाभावास्तु ते बोध्याः ॥ १०२ ॥

वैशेषिक विद्वानों ने अभाव को सप्तम पदार्थ बताया और उस को भी चतुर्विध निरूपित किया। प्रागभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव और प्रध्वंसाभाव ऐसे चार अभाव हैं ॥१०२॥

सादिरनन्तो ध्वंसोऽनादिः प्राग्विरह उच्यते सान्तः ।
त्रैकालिकसंसर्गाभावस्त्वत्यन्तविरहः स्यात् ॥ १०३ ॥
तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिकशून्यता तु भेदः स्यात् ।
सोऽन्योन्याभाव इति प्रोक्तो वैशेषिकाचार्यैः ॥ १०४ ॥

सादि अनन्त अभाव ध्वंस है। अनादि सान्त अभाव प्रागभाव है। त्रैकालिक जो संसर्गावच्छिन्नाभाव है वह अत्यन्ताभाव है। तादात्म्या--

वच्छिन्नप्रतियोगिक अभाव भेद हैं। उसे ही वैशेषिकाचार्यों ने अन्योन्याभाव कहा है ॥१०३-१०४॥

स्यात्प्रागभावनाशः प्रतियोग्यात्मा परे तु पृथगाहुः ।
प्रतियोगी पृथगुत वा ध्वंसीयप्रागभावोऽपि ॥ १०५ ॥

घट प्रागभाव का ध्वंस घटरूप ही होता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। दूसरे लोग उसे घट से अतिरिक्त अनन्त मानते हैं। एवं घटध्वंस का प्रागभाव घटरूप कुछ लोग मानते हैं, अन्य उसे घट से पृथक् ही अनादि मानते हैं। (प्रागभावध्वंस घटरूप हो तो वह अनन्त नहीं होगा। घटध्वंस-प्रागभाव घटरूप हो तो वह अनादि नहीं होगा) ॥१०५॥

अत्यन्ताभावीयोऽभावः प्रतियोगिरूप आख्यायि ।
अन्योन्याभावीयस्तत्तावच्छेदकः स तथा ॥ १०६ ॥

अत्यन्ताभाव का अभाव प्रतियोगिस्वरूप है (जैसे घटाभावाभाव घटरूप है) अनोन्याभाव का वह (अभाव) प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूप है। जैसे घटभेदाभाव घटत्वरूप है। तथा—यह भी पूर्ववत् है। अर्थात् कोई इन्हें प्रतियोग्यादि रूप मानते हैं और दूसरे अतिरिक्त मानते हैं ॥१०६॥

एतेषामर्थानां बोधः सामान्यतस्तु शास्त्रात् स्यात् ।
तत्संयमनात् साक्षात्कारः किल योगिनां भवति ॥ १०७ ॥

इन सात पदार्थों का शास्त्र से सामान्यतः (साधर्म्य से) ज्ञान होता है। उन में संयम करने से योगियों को विशेष साक्षात्कार होता है ॥१०७॥

अन्येषां तु निरन्तरशास्त्राभ्यासात्तथैव च ध्यानात् ।
स्फुटमात्मदर्शनं स्यादिन्द्रियकायाद्यसङ्कीर्णम् ॥ १०८ ॥

अयोगियों को निरन्तर शास्त्राभ्यास, मनन, एवं निदिध्यासन से स्पष्टरूप से आत्मदर्शन संपन्न होगा जो शरीरेन्द्रियादितादात्म्यभ्रान्ति-रहित है ॥१०८॥

तन्निःश्रेयसजनकं मिथ्याज्ञानादिनाशनद्वारा ।
तेन कृतार्थः पुरुषः परमं कैवल्यमाप्नोति ॥ १०९ ॥

वह आत्मदर्शन मिथ्याज्ञाननाशादि करता हुआ निःश्रेयस का साधन होता है जिससे मनुष्य कृतकृत्य होता है और कैवल्यभागी होता है ॥१०९॥

उद्धरति स्वात्मानं परमपि योगी निजप्रभावेण ।
जीवन्मुक्तो नित्यं विचरति सोऽयं विशेषोऽस्य ॥ ११० ॥

फिर योगी में क्या विशेषता ? यही कि योगी अपना उद्धार करता है परोद्धार भी करता है। और नित्य जीवन्मुक्त हो विचरण करता है ॥११०॥

योगाचार विभूत्या भक्त्या च महेश्वरं प्रसाद्य भृशम् ।
वैशेषिकशास्त्रं यश्चक्रे तस्मै नमो मुनये ॥ १११ ॥

योगाचारविभूति से तथा भक्ति से महर्षि कणाद ने महेश्वर को प्रसन्न किया। और परार्थ यह वैशेषिक शास्त्र बनाया। उन महामुनि को यह प्रणाम हो ॥१११॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता ।
विज्ञाय कृत्स्नशात्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥११२ ॥
शास्त्रार्थविवित्सूनामल्पायासादनल्पबोधाय ।
प्राणायि निबन्धोऽयं प्रीणातु महेश्वरस्तेन ॥ ११३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्काशिकानन्द-[यतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे वैशेशिकदर्शनसंग्रहो नाम सप्तमः

न्यायदर्शनसंग्रहः

कारं कारं हरते हारं हारं तनोति भुवनं यः।
क्रीडन्निव कोऽपि स नः पुरमथनः पातु भयशमनः ।। १ ।।

जो बार-बार भुवनों को बनाकर तोड़ता है और बार-बार तोड़कर फिर बनाता है, मानो कोई बालक जैसा खेल रहा है वह वाचामगोचर त्रिपुरारी भयहारी परमात्मा हमको संसारभय से मुक्तकर हमारी रक्षा करे।

सर्वेषा शास्त्राणां मुखमिव वैशेषिकं प्रववृते यत्।
व्याख्याय दर्शयामः संप्रति नैयायिकं शास्त्रम् ।। २ ।।

सर्वशास्त्रमुखसदृश वैशेषिकमत की व्याख्या कर अब हम नैयायिक शास्त्र को दिखाते हैं ।।२।।

तत्त्वविचारः कार्यः प्राज्ञैर्येनाध्वना तमध्वानम्।
तत्त्वं च गौतमो मुनि-रवदत्तदिह प्रवक्ष्यामः ।। ३ ।।

जिस प्रमाणादि मार्ग द्वारा तत्त्वविचार करना चाहिये उस मार्ग को और तत्त्व को भी गौतममुनि ने बताया। उसी पर हम यहाँ प्रवचन करते हैं ।।३।।

।। इत्युपक्रमः ।।

तत्र प्रमाणमाद्यं प्रमेयमथ संशयः प्रयोजनवत्।
दृष्टान्तः सिद्धान्तोऽवयवस्तर्को विनिर्णयो वादः ।। ४ ।।
जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानम् ।
तत्त्वज्ञानादेषां सम्यङ् निश्रेयसाधिगमः ।। ५ ।।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान ये षोडश पदार्थ हैं ।।४-५।।

इति पदार्थसामान्यनिरूपणम्

तत्सम्बन्धिविशेष्यकतत्सम्बन्धित्वधीः प्रमा भवति।

तत्करणं तच्चापि प्रमाणशब्दभिधेयं स्यात् ॥ ६ ॥

रजतत्वसम्बन्धी रजत विशेष्य और रजतत्व प्रकार हो ऐसी बुद्धि प्रमा होती है। इसी प्रकार अन्य भी समझें। उस प्रमा को और प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। (प्रमाण शब्द में अण प्रत्यय (यु प्रत्यय) भाव तथा करण दोनों अर्थ में है) ॥६॥

प्रत्यक्षादनुमानादुपमानाच्छब्दनः क्रमाद् भवति ।
प्रत्यक्षमनुमितिश्चाप्युपमितिरपि शाब्द्यपि प्रमितिः ॥ ७ ॥

करणव्युत्पन्न प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये प्रमाण हैं। इनसे भावव्युत्पन्नप्रमाणार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दी ये प्रमिति (प्रमाण) क्रमशः उत्पन्न होती हैं ॥७॥

प्रत्यक्षप्रमितिः स्यादर्थेन्द्रियसन्निकर्षजन्यमतिः ।
अव्यपदेश्यं चाव्यभि-चारिव्यवसाय एवापि ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्षप्रमिति है। वह दो प्रकार का है। अव्यपदेश्य अर्थात् निर्विकल्पक एक है। दूसरा अव्यभिचारिव्यव-साय अर्थात् अभ्रान्त विशेषणविशिष्ट ज्ञान है। प्रमा का निरूपण होने से अव्यभिचारी विशेषण है। निर्विकल्पक भ्रान्तिरूप नहीं होता। अतः वहाँ यह विशेषण नहीं है ॥८॥

संयोगः संयुक्ते समवायस्तद्युते च समवायः ।
समवायः समवेते समवायोऽर्थे विशेषणता ॥ ९ ॥
षोढैष सनिकर्षस्तेन स्यादिन्द्रियार्थसम्बन्धः ।
आत्मा मनसा युञ्ज्याद्युञ्ज्यान्मन इन्द्रियैस्त्वाद्यम् ॥ १० ॥

संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, सम्बद्धार्थविशेषणता ये छः सन्निकर्ष हैं। इनसे इन्द्रियार्थसम्बन्ध होता है। प्रथम तो आत्मा मन से और मन इन्द्रिय से सम्बद्ध होता है ॥९-१०॥

कलशस्य तद्गुणस्य च तद्गतजातेश्च किं च शब्दस्य ।
शब्दत्वस्य च किं चाभावस्य निदर्शनीयोऽयम् ॥ ११ ॥

घट के साथ चक्षुआदि का संयोग रूपादि के साथ संयुक्तसमवाय, रूपत्वादि के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय, शब्द के साथ समवाय, शब्दत्व

के साथ समवेतसमवाय, घटाभावादि के साथ सम्बद्धभूतलादिविशेषणता इसप्रकार संनिकर्ष उदाहरणीय है ॥११॥

सामान्यलक्षणाख्योऽलौकिक उदहारि संनिकर्षोऽयम् ।
इन्द्रियसम्बद्धाश्रितधर्मज्ञानं स्वविषयवतः ॥ १२ ॥

सामान्यलक्षणानामक अलौकिक संनिकर्ष एक माना गया है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय से सम्बद्ध घट में आश्रित घटत्व का ज्ञान स्वयं सकल घटों का संनिकर्ष है ॥१२॥

अपरमलौकिकमाहुः स्वसंनिकर्षं स्वगोचरं ज्ञानम् ।
सा ज्ञानलक्षणा स्यात्तद्भवमुपनीतभानं स्यात् ॥ १३ ॥

दूसरा अलौकिक संनिकर्ष ज्ञानलक्षणा है। स्वविषयक ज्ञान स्वका संनिकर्ष है। जैसे सुगन्धिस्मरण हुआ तो संमुखस्थ चन्दन का सुगन्धित्व-सहित प्रत्यक्ष होता है—'सुरभिचन्दनमिदम्' ॥१३॥

योगजमपि च तृतीयं द्विविधं युञ्जानयुक्तयोगिभिदा ।
ध्याने युञ्जानस्याखिलमपरस्यानिशं भाति ॥ १४ ॥

तीसरा योगज संनिकर्ष भी अलौकिक है। वह युञ्जान और युक्त योगियों के भेद से द्विविध है। युञ्जानयोगी को ध्यान लगाना पड़ता है तब सर्वभान होता है। युक्तयोगी को वैसे ही सर्वभान होता है ॥१४॥

ननु सर्वासंयोगान्न प्रत्यक्षं परं तदनुमानम् ।
नैवमवयवी सिद्धो ह्येकस्तद्दर्शनं सुघटम् ॥ १५ ॥

पूर्वपक्ष है—सामने आदमी खड़ा है तो आगे का भाग उपलब्ध होगा। पीछे के भाग का अनुमान ही करना पड़ेगा। तब यह आदमी है ऐसा ज्ञान अनुमान हुआ। प्रत्यक्ष नहीं। उत्तर यह है कि अवयवों में अवयवी एक है। वह दीख गया। सभी अवयव दीखें या नहीं, यह तो अवयवों की बात है, अवयवी की नहीं ॥१५॥

सेनावनादिवत्स्यादेकत्वमतिः कुतोऽवयवि भिन्नम् ।
नैवमणूनां न भवेत्प्रत्यक्षत्वं कथंचिदपि ॥ १६ ॥

पूर्वपक्ष—अवयवी असिद्ध है। यदि कहें कि अवयव अनेक होने से एक घट, एक मनुष्य इत्यादि प्रतीति नहीं होगी। उत्तर है—एक सेना,

एक वन ऐसी प्रतीति कैसे होती है जबकि सैनिक अनेक हैं, वृक्ष अनेक हैं। वैसे यहाँ भी होगी। उत्तर—परमाणुरूपी अवयव अतीन्द्रिय होने से तत्समुदायरूपी घटादि का प्रत्यक्ष ही सर्वथा नहीं होगा। अतः अवयवों में अवयवी पृथक् उत्पन्न होता है ॥१६॥

इति प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपणम्

अनुमितिकरणं लिङ्गं लिङ्गमतिर्वा भवेत्तदनुमानम् ।
अन्वयि च व्यतिरेकि च केवलमुभयात्मकं चापि ॥ १७ ॥

अनुमिति का कारण अनुमान है। वह लिङ्ग या लिङ्गज्ञान है। केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि, अन्वयव्यतिरेकि इस प्रकार लिङ्ग त्रिविध होता है ॥१७॥

लिङ्गाश्रयपक्षमतिर्द्वारं तत्रोदितः परामर्शः ।
साध्यवदन्यावृत्तिर्व्याप्तिर्व्याप्त्याश्रयो लिङ्गम् ॥ १५ ॥

लिङ्गविशिष्टपक्षज्ञान द्वार है, वही परामर्श कहलाता है। व्याप्ति का आश्रय ही लिङ्ग है। साध्यवान से अन्यत्र हेतु का न रहना व्याप्ति है ॥१८॥

साधनसमानदेशाभावाऽप्रतियोगिभूतसाध्यस्य ।
सामानाधिकरण्यं हेतुगतं वान्वयव्याप्तिः ॥ १६ ॥

हेतु के आश्रय में साध्य का अभाव न हो ऐसे साध्य का हेतुगत सामानाधिकरण्य अन्वयव्याप्ति है ॥१९॥

साध्याभावव्यापकविरहप्रतियोगिता च हेतुगता ।
व्यतिरेकव्याप्तिरिति न्यायाचार्यैः समाख्यातम् ॥ २० ॥

साध्यभाव का व्यापक हेत्वभाव हो तो ऐसे हेतु में व्यतिरेकव्याप्ति समझो ॥२०॥

सन्दिग्धसाध्यकत्वं पक्षत्वं कथितमनुमितेर्हेतुः ।
अथवाऽस्तु सिसाधयिषाविरहसहितसिद्ध्यभावः सः ॥ २१ ॥

पक्षता भी अनुमितहेतु है। पक्ष में साध्यसन्देह पक्षता है। अथवा सिसाधयिषाविरहसहित सिद्धि का अभाव पक्षता है ॥२१॥

इत्यनुमानप्रकरणम्

गोसदृशो गवय इति श्रुत्वा वनमेत्य पश्यतो गवयम् ।
गवयपदवाच्यताधीरुदयति सोक्ता प्रमोपमितिः ॥ २२ ॥

किसी आरण्यक पुरुष से 'गोसदृश गवय होता है' सुना। जंगल में जानेपर गोसदृश को देखा। तब यह गवय (गवयपदवाच्य) है ऐसी मति होती है। वह प्रमा है। उपमिति है ॥२२॥

इत्युपमानप्रकरणम्

आप्तोपदेश उक्तः शब्दो वाक्यार्थधीः फलं प्रमितिः।
साक्षात्कृतधर्माणस्त्वाप्ता पदधीः प्रमाकरणम् ॥ २३ ॥

आप्तोपदेश शब्द है। उसका फल वाक्यार्थज्ञानरूप प्रमिति है। अर्थसाक्षात्कार जिनको हुआ हो वे आप्त हैं। उनके वचनानुकरण से साक्षात्काररहितको भी कहीं आप्त कह देते हैं। करणरूप से तो पदज्ञान को ही समझना चाहिये, पद को नहीं ॥२३॥

न ज्ञायमानशब्दो मानं कृतकस्य तस्य नाशित्वात्।
त्रिः शब्दः पठितः इति त्रिर्नृत्यं दृष्टमितिवत्स्यात् ॥ २४ ॥

शब्दज्ञान करण है, ज्ञायमान शब्द नहीं। क्योंकि वह अनित्य होने से कार्यपूर्व में दुर्लभ है। शब्द नित्य है यह मीमांसकों का कहना है। तीन बार यही शब्द पढ़ा, यहाँ शब्द अनित्य होता तो वही तीन बार कैसे पढ़ते यह उनकी युक्ति है। परन्तु तीन बार वही नृत्य मैंने देखा इसकी उपपत्ति कैसे होगी? नृत्यक्रिया को सभी क्षणिक मानते हैं। वहाँ सजातीय में तात्पर्य है तो शब्द में भी वैसा माना जा सकता है ॥२४॥

ईश्वरसङ्केतात्मा शक्तिः सहकारिणी पदेऽर्थस्य।
जातिव्यक्त्याकृतयः पदशक्यत्वात्पदार्थो नः ॥ २५ ॥

पद में अर्थ की शक्ति मानी जाती है। वह शाब्दबोध में सहकारिणी है। ईश्वरसंकेत ही शक्ति है। शक्य होने से जाति, आकृति और व्यक्ति तीनों पदार्थ हैं, ऐसा नैयायिकमत है ॥२५॥

वेदानां प्रामाण्यं परमं परमाप्तभगवदुक्तित्वात्।
मन्त्रो ब्राह्मणमिति च द्वेधा वेदाः समाख्याताः ॥ २६ ॥

वेदों को परम प्रमाण माना है। क्योंकि परम आप्त भगवान का यह वचन है। मन्त्र और ब्राह्मण ये वेद के दो भेद हैं ॥२६॥

अर्थस्मारकरूपा मन्त्रा विधिमर्थवादमनुवादम्।
ब्राह्मणरूपाण्याहुः कर्मादिविधायकस्तु विधिः ॥ २७ ॥

स्तुतिनिन्दापरकृतयः सपुराकल्पाः स्युरर्थवादाख्याः ।
ज्ञातार्थस्य च वचनं जगुरनुवादं महामुनयः ॥ २८ ॥

मन्त्र अर्थस्मरणकारी होते हैं। विधि, अर्थवाद, अनुवाद ऐसे ब्राह्मण भाग के तीन रूप हैं। कर्म आदि का विधायक विधि है। स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प ये चार अर्थवाद के प्रकार हैं। ज्ञात अर्थका कथन अनुवाद है ॥२७-२८॥

मन्त्रायुर्वेदानां प्रामाण्यमिव श्रुतेश्च तत्सिद्धम् ।
आप्तप्रामाण्यवशात् सकलमपि ततश्च चतुरश्रम् ॥ २९ ॥

मन्त्र और आयुर्वेद के समान श्रुति का भी प्रामाण्य आप्तप्रामाण्य से सिद्ध है। अतः सभी समञ्जस हैं ॥२९॥

ऐतिह्यार्थापत्तिप्रभृति तु नैवं पृथक् प्रमाणार्हम् ।
प्रत्यक्षादिष्वन्तर्भावात् क्वचनाऽप्रमाणत्वात् ॥ ३० ॥

ऐतिह्य, अर्थापत्ति आदि अलग प्रमाण नहीं है। कहीं वह प्रत्यक्षादि में अन्तर्भूत है। कहीं अप्रमाणरूप भी है ॥३०॥

इति शब्दप्रमाणप्रकरणम्

इति प्रमाणपदार्थः

अथ प्रमेयम्

प्राहुः प्रमेयमात्मखवपुरर्थमतीर्मनःप्रवृत्ती च ।
दोषप्रयातभावावपि फलदुःखापवर्गांश्च ॥ ३१ ॥

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रयातभाव (प्रेत्यभाव) फल, दुःख, अपवर्ग ये प्रमेय कहे जाते हैं ॥३१॥

सुखदुःखज्ञानकृतिद्वेषेच्छाः स्पष्टमात्मनो लिङ्गम् ।
सर्वत्राहंसामानाधिकरण्यानुभवसिद्धेः ॥ ३२ ॥

सुख, दुःख, ज्ञान, प्रयत्न, द्वेष और इच्छा आत्मा के स्पष्ट लिङ्ग हैं। इन सब में अहंप्रत्यय का समानाधिकरण्य अनुभवसिद्ध है—मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि ॥३२॥

अस्ति मृतेऽपि शरीरं नैव सुखाद्यास्ततो न वपुरात्मा ।
न च खं द्रष्टृस्प्रष्ट्रोरेकत्वप्रत्यभिज्ञानात् ॥ ३३ ॥

मृत होने पर भी शरीर रहता है। किन्तु सुखादि नहीं होते। अतः शरीर आत्मा नहीं है। द्रष्टा और स्प्रष्टा आदि में एकत्वेन प्रत्यभिज्ञान होता है। जो मैंने देखा वही मैं स्पर्श कर रहा हूँ। अतः इन्द्रिय भी आत्मा नहीं है। चक्षु, त्वक् आदि भिन्न हैं ॥३३॥

नापि मनस्तद्धि यतः करणत्वेनैव सिद्धमणुरूपम् ।
बुद्धिः पुनरुपलब्धेर्वाच्यमनर्थान्तरं पश्चात् ॥ ३४ ॥

मन भी आत्मा नहीं है। क्योंकि वह अतीन्द्रिय होने से करणरूप से सिद्ध ही होता है। बुद्धि भी आत्मा नहीं है। क्योंकि वह उपलब्धि (ज्ञान) है ॥३४॥

नित्यश्चात्मा मृतिभयदृष्टेः स्तन्येप्सुता यतश्च शिशौ ।
कृतनाशाऽकृतपरिणतिरिति दोषोऽप्यन्यथाऽऽपतति ॥ ३५ ॥

आत्मा अविनाशी, नित्य भी है। क्योंकि मरणभय देखने में आता है। इस जन्म में मरे नहीं तो अननुभूत मरण का भय कैसा ? बालक में स्तन्यपानेच्छा होती है। प्रवृत्ति भी होती है। आहार में इष्टसाधनताज्ञान न हो तो उसमें प्रवृत्ति कैसे हो ? इहकृतपुण्यपाप का नाश होगा और पूर्व में अकृत पुण्य-पाप का फल अब मानना होगा, यदि आत्मा को नित्य न मानें ॥३५॥आत्मा॥

यत् स्याच्चेष्टेन्द्रिययोरर्थस्याप्याश्रयः शरीरं तत् ।
पार्थिवमेतत्तु वपुरुपष्टम्भन्त्यप्रभृतयस्तु ॥ ३६ ॥

चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय शरीर है। यह शरीर पार्थिव है। जल आदि उपष्टम्भकमात्र है ॥३६॥ शरीर ॥

घ्राणं रसनं चक्षुस्त्वक् श्रोत्रं चेन्द्रियाणि भूतेभ्यः ।
गन्धाद्येकैकमभिव्यञ्जयति गुणं किलैकैकम् ॥ ३७ ॥

घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र ये पाँच पाँच भूतों से हुए, क्योंकि पृथिवी आदि एक-एक के मुख्य गुण को एक-एक इन्द्रिय अभिव्यक्त करती है। घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं गन्धमात्राभिव्यञ्जकत्वात् वायूपनीतसुरभिभागवत् इत्यादि पाँच अनुमान वैशेषिक में द्रष्टव्य हैं ॥३७॥

उद्भूतत्वं हेतुर्ग्रहणे गन्धादिकस्य सर्वस्य ।
रूपग्रहणेऽभ्यधिको हेतुस्त्वालोकसंयोगः ॥ ३८ ॥

गन्धादिग्रहण में उद्भूतत्व आवश्यक है। रूपग्रहण में आलोक संयोग अधिक कारण है ॥३८॥ इन्द्रिय ॥

पृथिवी सलिलं तेजो वायुर्गगनं च पञ्च भूतानि ।
गन्धो रसोऽथ रूपं स्पर्शः शब्दस्तदर्थाः स्युः ॥ ३९ ॥

पृथिवी, जल, तेज वायु, आकाश ये पाँच भूत हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इनके अर्थ हैं ॥३९॥ अर्थ ॥

विषयप्रकाशहेतुर्बुद्धिः सैवोपलब्धिरित्युक्ता ।
ज्ञानं तत्क्षणिकं खल्वात्मगुणात्मा न पुनरात्मा ॥ ४० ॥

विषयप्रकाशकारी बुद्धि कहलाती है वही उपलब्धि एवं ज्ञान कहा जाता है। वह क्षणिक है। आत्मगुणस्वरूप है, आत्मा नहीं ॥४०॥

यत्तु तृतीयक्षणगध्वंसप्रतियोगि तद्धि नः क्षणिकम् ।
क्षणभङ्गभङ्गिवादे नार्थप्रत्यक्षता सुवचा ॥ ४१ ॥

जो तृतीय क्षण में नष्ट होता है उसे ही हम क्षणिक कहते हैं। क्षण-नाशनाशीको नहीं। क्योंकि क्षण भर ही अर्थ रहे तो उसके साथ संनिकर्ष और ज्ञान कब होगा ? तब तक वस्तु नष्ट हो जाती है तो उसका प्रत्यक्ष ही दुर्घट होगा। समकालिक होकर वस्तु अर्थ प्रत्यक्ष में कारण है ॥४१॥

सर्वस्य क्षणिकत्वं न विरोधात्प्रत्यभिज्ञया सार्धम् ।
यत्रोपचयादिः स्यात्तत्र न तत्त्वं निषिध्यामः ॥ ४२ ॥

सभी वस्तु क्षणिक नहीं हैं। क्योंकि उस पक्ष में प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध होगा। वही यह घट है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। आत्मा यदि क्षणिक हो तो अनुभविता प्रत्यभिज्ञाता नहीं होगा। तब प्रत्यभिज्ञा ही क्या हुई। हाँ जहाँ उपचय अपचय देखने में आता है, जैसे वृक्ष लतादि या नदी प्रवाहादि वहाँ क्षणिकत्व (तृतीयक्षणनाश) का हम निषेध नहीं करते ॥४२॥ बुद्धिः ॥

साक्षात्कृतौ सुखादेः करणं तु म[1]नस्तदेकमणु चैव ।
युगपज्ज्ञानानुद्भवहेतोस्तच्चेन्द्रियं षष्ठम् ॥ ४३ ॥

सुखादि साक्षात्कार में करण मन है। वह अणुरूप और एक है।

१. पा० मनोऽणुरूपमेकं तत्

(प्रतिपुरुष एक-एक हैं) एक साथ अनेक ज्ञान नहीं होता। अतः वह अणु-रूप है। षष्ठ इन्द्रिय है ॥४३॥ मनः ॥

सुखदुःखावच्छेदकरूपः कायो विभोरदृष्टभवः।
हेतुः प्रवृत्तिरत्र च वाग्बुद्धिकलेवरारम्भः॥ ४४ ॥

विभु आत्मा का यह शरीर सुखदुःखादि का अवच्छेदक है। यह अदृष्ट से उत्पन्न है। उस अदृष्ट में हेतु वाणी, बुद्धि एवं शरीर का कर्मारम्भ है। यही प्रवृत्ति है ॥४४॥ प्रवृत्तिः ॥

तत्रापि भवति हेतुर्दोषः सोऽयं प्रवर्तनारूपः।
तत्त्रैराश्यं रागो द्वेषो मोहश्च बहुरूपः॥ ४५ ॥

उस प्रवृत्ति में हेतु दोष है। उसे प्रवर्तनारूप कहते हैं। दोष तीन राशि में विभक्त है। राग-राशि, द्वेषराशि और मोहराशि। अतएव बहुरूप है। काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ इत्यादि रागराशि है। क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष इत्यादि द्वेषराशि है। मिथ्याज्ञान, संशय, मान, प्रमाद आदि मोहराशि है ॥४५॥ दोषः ॥

पुनरुत्पत्तिर्नाम पुनर्जन्म प्रेत्यभाव इत्युक्तः।
नित्यो ह्यात्मा पूर्वां तनुमुज्झित्वाऽपरां धत्ते॥ ४६ ॥

पुनरुत्पत्ति, पुनर्जन्म, प्रेत्यभाव ये सब पर्याय हैं। आत्मा नित्य है। वह पूर्व शरीर छोड़कर दूसरा जो लेता है यही प्रेत्यभाव है ॥४६॥

बीजोपमर्दतोऽङ्कुरजनिवन्नाशोर्ध्वमात्मनो जन्म।
ये मन्यन्ते तदसद् बीजविनाशेऽङ्कुरानुदयात्॥ ४७ ॥

लोग जो बीजमर्दनोत्तर अङ्कुरोत्पत्तिवत् आत्मनाशोत्तर आत्मान्त-रोत्पत्ति मानते हैं, वह असंगत है। क्योंकि बीज को नष्ट किये जाने पर उससे अंकुर पैदा नहीं होता ॥४७॥ प्रेत्यभाव॥

दोषप्रवृत्तिजनितं फलमेतत्स्यात्सुखादि भवनादि।
तदसत्प्राक् पश्चात्सन्न सतः सत् कर्मवैफल्यात्॥ ४८ ॥

प्रवृत्ति और दोष से जो परिणाम होता है वह फल है। सुख-दुःखादि तथा भवन-हिरण्यादि सभी फल हैं। वह पूर्व में असत् होता है। बाद में सत् होता है। असत् से सदुत्पत्ति है। न कि सत् से सदुत्पत्ति। फल पहले ही सत् हो तो कर्मवैयर्थ्य होगा ॥४८॥फल॥

दुःखं बाधनमिन्द्रियतनुबुद्धिभवं तदेकविंशतिकम् ।
कामात्कामान्तरमिति सुखमपि दुःखं हि तद्गर्भम् ।। ४९ ।।

बाधारूप ही दुःख है। इन्द्रिय, शरीर और बुद्धि से पैदा होता है। इक्कीस दुःख माने गये हैं। सुखसे उसकी कामना पुनः कामनान्तर इस प्रकार सुख के भी पेट में दुःख छिपा है। अतः सुख भी दुखात्मक है ॥४९॥

देहः षडिन्द्रियाणि च षड्विषयाश्चापि बुद्धयः षट् च ।
सुखमपि दुःखमपि तथा दुःखं स्यादेकविंशतिधा ।। ५० ।।

शरोर, छः इन्द्रियाँ, छः विषय, छः बुद्धियाँ, सुख और दुःख ये इक्कीस दुःख हैं ॥५०॥ दुःख॥

दुःखात्यन्तविमोक्षं परमपुमर्थं प्रचख्युरपवर्गम् ।
नित्यसुखाभिव्यक्ति केचन तत्रोचिरे विबुधाः ।। ५१ ।।

दुःख से पूरा छुटकारा परमपुरुषार्थरूप है। वही अपवर्ग है। उसमें नित्य सुख की अभिव्यक्ति कुछ विद्वान् मानते हैं ॥५१॥

ननु चर्णानां तद्वत्क्लेशानां बहुविधप्रवृत्तीनाम् ।
अनुबन्धादपवर्गो दुर्गम एवेति चेन्नैवम् ।। ५२ ।।

शंका:—ऋणानुबन्ध, क्लेशानुबन्ध और कर्मानुबन्ध होने से अपवर्ग दुर्लभ है ॥५२॥

तदृणमृषीणां वा स्याद् देवानां वा तथा पितॄणां वा ।
कामवतामेव स्यान्न पुनः कामाद्विरक्तानाम् ।। ५३ ।।

उत्तरः—वह ऋण देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण ऐसे तीन हैं। परंतु ये सब कामयुक्त पुरुष के लिये ही हैं। न कि विरक्तों के लिये ॥५३॥

क्लेशा येऽनादिभवा रागद्वेषादयो भवन्त्येषाम् ।
नाशः खलु योगवशाद् बीजतरुपरम्परावत् स्यात् ।। ५४ ।।

यद्यपि रागद्वेषादि क्लेश अनादि हैं। अनादि भाव का नाश नहीं होना चाहिये। किन्तु स्वरूपतः अनादि के लिये वह नियम है। प्रवाह अनादि के लिये नहीं। जैसे बीज-वृक्षपरम्परा अनादिकालीन है। किन्तु बीज जला दो तो उस बीज में आकर वह परम्परा समाप्त होती है। वैसे योगाग्नि से क्लेशपरम्परा भी समाप्त हो सकती है ॥५४॥

क्लेशविमोके जाते निर्वीर्याः स्युः प्रवृत्तयः सर्वाः ।
एवं प्रवृत्त्यभावे जन्मभावात्तदपवर्गः ॥ ५५ ॥

जहाँ क्लेशविमोक्षण हुआ वहाँ प्रवृत्तियां निर्वीर्य होकर नष्ट होती हैं। प्रवृत्ति के न होने से जन्माभाव होगा तब दुःख का अपवर्जनात्मक मोक्ष होगा ॥५५॥ अपवर्गः ॥

इति प्रमेयनिरूपणम्

अथ संशयः

एकस्मिन्सापेक्षविरुद्धानेकप्रकारकं ज्ञानम् ।
संशयमाहुः स स्याद्विशेषविज्ञानविनिवर्त्यः ॥ ५६ ॥

एक ही धर्मी में विरुद्ध परस्परसापेक्ष अनेकधर्मप्रकारक ज्ञान संशय है, जो विशेष ज्ञान से निवृत्त होता है। निर्वह्निः पर्वतो वह्निमान् इस आहार्य विपर्यय में अतिव्याप्तिवारणार्थ सापेक्ष कहा। स्थाणुर्वा पुरुषो वा यहाँ स्थाणुत्वप्रकारता और पुरुषत्वप्रकारता परस्परावच्छिन्न है अतः उन्हें सापेक्ष माना जाता है ॥५६॥

साधारणस्य चासाधारणधर्मस्य चोपपत्तेः सः ।
विप्रतिपत्तेर्ज्ञान—प्रामाण्यतदन्यसंशयतः ॥ ५७ ॥

स्थाणुपुरुषसाधारण उच्चैस्त्वादि धर्म के ज्ञान से, अअसाधारण धर्म शब्दत्वादि से, शब्दो नित्यो न वा ऐसी विप्रतिपत्ति से, इदं ज्ञानं प्रमा न वा इस प्रामाण्यसंशय से और इदं ज्ञानमप्रमा न वा इस अप्रामाण्यसंशय से विषयसंशय होता है ॥५७॥

इति संशयप्रकरणम्

अथ प्रयोजनम्

तद्धि प्रयोजनं स्यादुद्दिश्य तु यत् प्रवर्तते लोकः ।
दुःखनिवृत्तिश्च सुखा-वाप्तिश्च तदीयहेतुश्च ॥ ५८ ॥

जिसको उद्देश्य रखकर लोगोंकी प्रवृत्ति होती है वह प्रयोजन है। दुःखनिवृत्ति, सुखप्राप्ति और उन दोनों का साधन ये तीन प्रयोजन हैं ॥५८॥

फलमित्युक्तं यत्प्राक् तत्र तु दुःखं सुखं च कर्मभवम् ।
दुःखं पृथगुक्तं तद्विदुषामुद्वेगविषयत्वात् ॥ ५९ ॥

पहले प्रमेयनिरूपणावसर में जो फल बताया वह कर्मपरिणामसुखदुःखोभयरूप है। जो दुःख पृथक् कहा वह विवेकियों के लिये उद्वेगविषय होने से त्याज्यत्वबोधक है। इसीको "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" ऐसे योगसूत्र में, "योगिनमेवोद्वेजयति। कस्मात्। अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्" इस प्रकार योगभाष्य में भी कहा। कर्मजन्यतावच्छेदकता वैराग्यजनकतावच्छेदकता ये भेदक धर्म हैं ॥५९॥

इति प्रयोजननिरूपणम्

अथ दृष्टान्तः

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन् स्याद् बुद्धिसाम्यसमर्थे सः।
दृष्टान्तस्तद्दोषे प[१]रपक्षः स्यात्प्रतिक्षेप्यः ॥ ६० ॥

लोक तथा शास्त्रार्थकर्ता दोनों जिसे समानरूप से समझते हैं वह दृष्टान्त है। उसमें दोष हो तो प्रतिपक्षी का प्रतिक्षेप किया जा सकता है ॥६०॥

इति दृष्टान्तनिरूपणम्

अथ सिद्धान्तः

सम्यक् स्थितिस्तु यस्मिन् वादसमाप्तिः स एष सिद्धान्तः।
तान्त्रिक आधिकरणिके चाभ्युपगमिकेऽथवार्थे सः ॥ ६१ ॥

जिसमें सम्यक् स्थिति है अर्थात् वाद नहीं रहता, विकल्प नहीं किया जाता, वह सिद्धान्त है। यह स्थिति कहीं तन्त्रार्थ में, कहीं अधिकरणार्थ में और कहीं अभ्युपगमार्थ में होता है ॥६१॥

सर्वस्मिंस्तन्त्रे वा प्रत्येकस्मिन् द्विधा भवेदाद्यः।
इतरावेकैकविधौ त्रितयान्यातमत्वमिह तत्त्वम् ॥ ६२ ॥

तन्त्रसिद्धान्त दो प्रकारका है। सर्वतन्त्रसिद्धान्त और प्रतितन्त्रसिद्धान्त। बाद के दो एक-एक प्रकार के हैं। उक्त त्रितयान्यतमत्वं सिद्धान्तत्वं ऐसा लक्षण है। (यह भाष्यानुसारी पन्था है) ॥६२॥

सर्वेषामविरोधी तन्त्रगतः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः।
घ्राणादिकमिन्द्रियमिति विषयो गन्धादिरिति चैवम् ॥ ६३ ॥

१. पा० प्रतिपक्षः

तन्त्र (शास्त्र) में प्रतिपादित हो सर्वतन्त्र अविरोधी हो वह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है। जैसे घ्राणादि इन्द्रिय हैं। गन्धादि विषय हैं। इत्यादि। उसमें कोई वादविवाद नहीं करता ॥६३॥

यत्तुल्यतन्त्रसिद्धः परतन्त्राणामसिद्ध एवापि।
समवायविशेषादिः स भवेत्प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥ ६४ ॥

जो समानतन्त्र में सिद्ध है, किन्तु परतन्त्र में असिद्ध है वह प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है। जैसे समवाय विशेषादि पदार्थं। चक्षुरादि प्राप्यकारी है इस शास्त्रार्थं में घटादि के साथ चक्षुःसंयोग चाहिये या नहीं यह विचारा जायेगा। वह संयोगेन रहेगा या तादात्म्येन यह प्रतितन्त्र सिद्धान्त होने से उसे विवादविषय नहीं बनाते। द्रव्यगुणादि में वैशेषिक-नैयायिकों का शास्त्रार्थं नहीं होगा। क्योंकि समानतन्त्रसिद्ध है ॥६४॥

यत्सिद्धौ प्रकृतस्य तु सिद्धिः स्यात्सोऽधिकरणसिद्धान्तः।
सर्वज्ञतेशितुः स्यात्तेन विना हीशितुरसिद्धेः ॥ ६५ ॥

जगत्सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत् इस शास्त्रार्थं में वह कर्ता सर्वज्ञ होना ही चाहिये। अन्यथा जगत्कर्तृत्व ही सिद्ध नहीं होगा। यह अधिकरण-सिद्धान्त है ॥६५॥

अपरोक्षितमुपगम्य च सविशेषपरोक्षणं यदा क्रियते।
सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः शास्त्रार्थविचारवृद्धिकरः ॥ ६६ ॥

प्रकृत शास्त्रार्थं को आगे बढ़ाने के लिये अपरीक्षित को स्वीकारकर जो विशेष परोक्षण किया जाता है यह अभ्युपगमसिद्धान्त है ॥६६॥

शब्दं द्रव्यं केचिज्जगदुस्तदिदं यथा तथा वास्तु।
नित्योऽनित्यो वायं शब्द इति परीक्षणं कुर्मः ॥ ६७ ॥

विचार चल रहा है शब्दो नित्यो न वा। इस पर विचारान्तर आया शब्दो द्रव्यं न वा। वीचीतरंगन्याय से यदि शब्द द्रव्य हो तो हम विचार कर सकते हैं ऐसा आग्रह होने पर वादो स्वोकार कर कहता है, चलो हम मान लेते हैं। विचार आगे बढ़ाओ। शब्द के द्रव्यत्व में सामयिक वाद-समाप्ति होने से वह भी एक प्रकारका सिद्धान्त हुआ ॥६७॥

इति सिद्धान्तनिरूपणम्

अथावयवाः

द्विविधं स्यादनुमानं स्वार्थपरार्थप्रभेदतस्तत्र ।
स्वानुमितिनिदानं यत् स्वार्थं व्याख्यातमनुमानम् ।। ६८ ।।

स्वार्थ परार्थ भेद से अनुमान दो प्रकारका है। स्वार्थानुमान उसे कहते हैं जो स्वानुमिति का कारण है ।।६८।।

पञ्चावयवोपेतं यत्तु परार्थं प्रयुज्यते वाक्यम् ।
न्यायोऽसावनुमानं परार्थमुचितानुपूर्वीकम् ।। ६९ ।।

उचितानुपूर्वी के साथ पञ्चावयवसहित जो वाक्य प्रयुक्त होता है वह परार्थ अनुमान है, वही न्याय कहलाता है ।।६९।।

उचितः क्रमः प्रतिज्ञाहेतुरुदाहरणमप्यथोपनयः ।
निगमनमिति पञ्चानां न्यायान्तर्गाम्यवयवानाम् ।। ७० ।।

प्रथम प्रतिज्ञा, फिर हेतु, बाद में उदाहरण, अनन्तर उपनय, अन्त में निगमन ऐसे न्यायान्तर्गत अवयवों का उचित क्रम माना गया है। ऐसे उचितक्रम से युक्त पांच वाक्य ही न्याय का लक्षण है ।।७०।।

न्याये स्थितं प्रतिज्ञाद्यघटकवाक्यं भववेदयवाख्यम् ।
स्यादुभयघटकभागद्वयघटितं पञ्चसु न चेत्तत् ।। ७१ ।।

न्यायघटक वाक्य अवयप कहलाता है। किन्तु प्रतिज्ञादि का घटक (अन्तर्गत अवान्तर) न हो या प्रतिज्ञा में से आधा, हेतु आदि में से आधा लेकर जोड़ा हुआ न हो ।।७१।।

बोधयते वैशिष्टचं पक्षे साध्यस्य यत्पुनर्वाक्यम् ।
सा प्रोच्यते प्रतिज्ञा यदि तु न्यायावयवरूपा ।। ७२ ।।

जो वाक्य पक्ष में साध्यवैशिष्ट्य का बोधन कराये जैसे "पर्वतो वह्निमान्", वह प्रतिज्ञा है, बशर्ते कि पह न्यायावयव हो ।।७२।।

साध्यान्वयि बोध्यत्वं स्वार्थंविभक्त्यन्तहेतुवचनं यत् ।
न्यायावयवः सोऽयं हेतुरिति प्रोच्यते प्राज्ञैः ।। ७३ ।।

साध्य के साथ अन्वित होनेवाला बोध्यत्व जिसका स्वार्थ है ऐसा, विभक्ति से युक्त का कथन न्यायावयव हो तो हेतु कहलाता है। जैसे धूमात्। इस पंचमी का बोध्यत्व अर्थ है। वह भी वह्निनिष्ठबोध्यत्व। धूमज्ञाप्यो वह्निः यह अर्थ है ।।७३।।

साधर्म्याद्वैधर्म्यादुत वा व्याप्त्यन्तबोधमुद्दिश्य ।
दृष्टान्तोक्तिर्न्यायिगवाक्येन स्यादुदाहरणम् ।। ७४ ।।

यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यो न वह्निमान् स न धूमवान् इस प्रकार साधर्म्य या वैधर्म्य से साध्यहेतुव्याप्तिपर्यन्त बोध कराने के लिये जो न्यायान्तर्गत दृष्टान्त कहा जाता है वह उदाहरण है। यथा महानसं, यथा ह्रदः, ऐसा दृष्टान्त होता है ।।७४।।

यत्सापेक्षं साध्यव्याप्याश्रयपक्षबोधकं वाक्यम् ।
उपनयनं तत्तु तथा न तथेति हि वा भवेन्न्याये ।। ७५ ।।

वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वत बोधक सापेक्ष वाक्य उपनयन है। तथा चायं, न तथा चायं, ऐसा सर्वनामपदप्रयोग होता है ।।७५।।

हेतूकृत्योपनयं पक्षे साध्यप्रदर्शनं वचनम् ।
निगमनमाहुस्तदपि स्यान्न्यायान्तर्गतं प्राग्वत् ।। ७६ ।।

उपनयन को ही हेतु बनाकर पक्ष में साध्यप्रदर्शन करानेवाला न्यायान्तर्गत वाक्य निगमन है। जैसे वह्निव्याप्यधूमवत्त्वाद् वह्निमान् इस अर्थ में तस्मात्तथा ऐसा सर्वानामप्रयोग होता है ।।७६।।

इत्यवयवनिरूपणम्

अथ तर्कः

स्यात् कारणोपपत्त्या तत्त्वज्ञानार्थमूहनं तर्कः ।
वह्नौ सति धूमः स्यान्नो चेन्न स्यात्तदुद्भूतेः ।। ७७ ।।

तत्त्वज्ञान के लिये कारण का उपपत्ति से ऊहन करना तर्क है। वह्नि होने पर ही धूम हो सकता है। यदि वह्नि न हो तो धूम नहीं होना चाहिये। क्योंकि धूम वह्निजन्य है। यह तर्क है ।।७७।।

इति तर्कनिरूपणम्

अथ निर्णयः

पक्षप्रतिपक्षाभ्यां यत्तु विमृश्यावधारणं भवति ।
अर्थस्य निर्णयोऽसौ वादादावन्यदविमर्शम् ।। ७८ ।।

प्रथम संशयपूर्वक पक्ष तथा प्रतिपक्ष का ग्रहण कर वादी और प्रतिवादी जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह निर्णय है। यह वाद, जल्पादि स्थल की

बात हुई। अन्यस्थल में विना विमर्श भी अर्थ निष्कर्ष निकाले जाने पर निर्णय होता है ॥७८॥

इति निर्णयनिरूपणम्

अथ वादः

न्यायोपेतः साधनबाधनयुक्तः प्रमाणतर्काभ्याम् ।
सिद्धान्तपरः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥ ७९ ॥

जिस वार्ता में प्रमाण तथा तर्क से परस्पर साधन-बाधन होता है, जो न्यायसहित होता है, ऐसा अपने सिद्धान्त से अविरुद्ध सिद्धान्तनिर्णयनोद्देश्यक पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह वाद कहलाता है ॥७९॥

इति वादनिरूपणम्

अथ जल्पः

तत्रैव च बाधादिः क्वचन च्छलजातिनिग्रहस्थानैः ।
विजिगीषुतया चेत्स्यात् सोऽयं जल्पो बुधैरुक्तः ॥ ८० ॥

उसी पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह में कभी-कभी बाधन-साधन छल, जाति एवं निग्रहस्थान से भी हो और लक्ष्य विजय हो तो वह जल्प है ॥८०॥

इति जल्पनिरूपणम्

अथ वितण्डा

प्रतिपक्षस्थापनया हीनः स निगद्यते वितण्डेति ।
एतत्त्रितयान्यतमा विख्याता सा कथा लोके ॥ ८१ ॥

जल्प ही जब प्रतिपक्ष की स्थापना के बिना होता है तो वितण्डा कहलाता है ॥ ये तीन कथा कही जाती हैं ॥८१॥

इति वितण्डानिरूपणम्

अथ हेत्वाभासः

हेत्वाभासं प्राहुः सव्यभिचारं विरुद्धमेवापि ।
सत्प्रतिपक्षमसिद्धं बाधितमिति पञ्चसंख्याकम् ॥ ८२ ॥

सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित ये पाँच हेत्वाभास बताये गये हैं ॥८२॥

साध्यवदन्यस्थितिकः सव्यभिचारो निगद्यते हेतुः ।
साध्यव्यापकविरहप्रतियोगी स्याद्विरुद्धः सः ॥ ८३ ॥

साध्याश्रय से अन्यत्र हेतु रहे तो वह सव्यभिचार कहा जाता है। जहाँ साध्य है वहाँ हेतु कभी भी न हो तो वह विरुद्ध हेतु कहा जाता है।

सत्प्रतिपक्षः साध्याभावव्याप्यो यदीतरो हेतुः ।
त्रिविधाऽऽश्रयाद्यसिद्धिप्रभेदतः स्यादसिद्धिस्तु ।। ८४ ।।

साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु उपस्थित हो तो हेतु सत्प्रतिपक्ष माना जाता है। आश्रयासिद्ध्यादि भेद से असिद्ध तीन प्रकार का है ॥८४॥

पक्षादौ ताद्धर्म्यं यदि न स्यात्तर्हि साश्रयासिद्धिः ।
हेतोस्तथा स्वरूपासिद्धिः पक्षे न चेद्धेतुः ।। ८५ ।।

पक्षादि में यदि पक्षधर्म साध्यधर्मादि न हो तो वह आश्रयासिद्धि हेतु का दोष है। पक्षमें हेतु न हो तो वह स्वरूपासिद्धि दोष है ॥८५॥

सोपाधिकहेतुत्वं व्याप्यत्वासिद्धिमूचिरे सुधियः ।
प्राहुरुपाधिं साध्यव्यापकमव्यापकं हेतोः ।। ८६ ।।

सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध माना जाता है, उपाधि वह है जो साध्य का व्यापक हो और साधनका अव्यापक हो। जैसे धूमवान् वह्नेः यहाँ गीली लकड़ी का संयोग धूमस्थल में अवश्यंभावी होने से वह धूम व्यापक है। किन्तु वह्निस्थल में अवश्यंभावी नहीं है। अयोगोलक में वह्नि है, वहाँ गीली लकड़ी कहाँ है ? वही गीली लकड़ी का संयोग उपाधि है ॥८६॥

साध्याभावविशिष्टः पक्षश्चेद् बाधितं जगुर्हेतुम् ।
अनुमां तत्करणं वा प्रतिबध्नीयुर्ह्यमी दोषाः ।। ८७ ।।

साध्याभाववान पक्ष हो तो हेतु बाधित माना जाता है। अनुमिति के या परामर्श के प्रतिबन्धक होने से ये दोष कहलाये ॥८७॥

इति हेत्वाभासनिरूपणम्

अथ छलम्

तात्पर्यविरुद्धार्थं परिकल्प्य परस्य दूषणं यत्तत् ।
छलमित्युक्तं तच्च त्रिविधं स्याद्वाक्छलप्रभृति ।। ८८ ।।

वक्ता के तात्पर्य से विरुद्ध अर्थ की परिकल्पना कर दूषण कहना छल है। वाक्छल, सामान्यछल और उपचार छल ऐसे वह तीन है ॥८८॥

शक्यार्थान्तरवशतो दूषणकथनं तु वाक्छलं भवति ।
अत्र द्विज इत्युक्ते शकुनो नास्तीति यत्कथनम् ॥ ८९ ॥

अनेकार्थस्थल में अनभिप्रेत शक्यार्थ को लेकर दोष कहना वाक्छल है। जैसे 'यहाँ द्विज हैं' कहनेपर 'यहाँ कहाँ पक्षी हैं' ऐसा निषेध करना वाक्छल है। क्योंकि द्विज पक्षी को भी कहते हैं ॥८९॥

सामान्यच्छलमुक्तं सामान्योक्तौ विशेषविनिषेधात् ।
विप्रोऽयं विद्यावान् व्रात्योऽपि भवेत्तव तु विद्वान् ॥ ९० ॥

सामान्यरूप से जहां कथन किया वहां विशेष को लेकर निषेध सामान्यच्छल है। विप्र विद्यावान् है ऐसा विप्रत्वसामानाधिकरण्येन सामान्योक्ति है। तिसपर कहें कि तुम्हारे मत में व्रात्य (अध्ययनहीन) भी विद्वान होना चाहिये ॥९०॥

उपचारच्छलमुक्तं दोषोक्तिः शक्तिलक्षणाऽन्यथनात् ।
नित्योऽस्म्यहमित्युक्ते जन्मतिथिस्तेऽस्त्यसद्वाक् त्वम् ॥ ९१ ॥

शक्ति या लक्षण से प्रयोग किया। उसे उलटाकर दोष कहना उपचार छल है। जैसे मैं नित्य हूँ ऐसा आत्मा को लेकर कहा। प्रतिवादी कहने लगा—तुम्हारी जन्मतिथि है, तुम अनृतवादी हो ॥९१॥

इति च्छलनिरूपणम्

अथ जातिनिग्रहस्थाने

प्रतिषेधः साधर्म्याद् वैधर्म्याद्वा स्वाघातको जातिः ।
विप्रतिपत्तिश्चाप्रतिपत्तिः स्यान्निग्रहस्थानम् ॥ ९२ ॥

साधर्म्य या वैधर्म्य को लेकर स्वव्याघातक उत्तर कहना जात्युत्तर है। जिससे विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति हो वह निग्रहस्थान है ॥९२॥

साधर्म्यं वैधर्म्यं चोत्कर्षश्चाप्यथापकर्षश्च ।
वर्ण्यावर्ण्यविकल्पाः प्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गाश्च ॥ ९३ ॥
साध्यं प्रतिदृष्टान्तोऽनुत्पत्तिः संशयः प्रकरणं च ।
हेतुश्चार्थापत्ति— र्ह्यविशेषश्चोपपत्तिश्च ॥ ९४ ॥
उपलब्धिरनुपलब्धिर्नित्यमनित्यं तथैव कार्यं च ।
एतैः समा निरुक्ता जातय इति सा दुरुत्तरता ॥ ९५ ॥

साधर्म्यादि से सम साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा इत्यादि समझना चाहिये। उदाहरण अन्यत्र द्रष्टव्य है ॥९३-९५॥

इति जातिनिरूपणम्

अथ निग्रहस्थानम्

यस्योद्भावनतः स्यात्पराभवस्तद्धि निग्रहस्थानम्।
हानिर्विरोध एवं संन्यासश्च प्रतिज्ञायाः ॥ ९६ ॥
अन्या सा, हेत्वन्तरमर्थान्तरमपि निरर्थकं चैव।
किं चाविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं च ॥ ९७ ॥
न्यूनं चाधिकमपि पुनरुक्तानुनुभाषणं तथाऽज्ञानम्।
अप्रतिभा विक्षेपस्तद्वत्प्रोक्ता मतानुज्ञा ॥ ९८ ॥
पर्यनुयोज्योपेक्षणमनुयोगो निरनुयोज्यपुरुषस्य।
अपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्चैते तथा कथिताः ॥ ९९ ॥

इति निग्रहस्थाननिरूपणम्

जिसके उद्भावन से प्रतिवादी का पराभव होता है वह निग्रहस्थान है। प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास और प्रतिज्ञान्तर चार तथा हेत्वन्तर आदि सभी निग्रहस्थान हैं ॥९६-९९॥

एते कथिता मुनिना संग्रहतो विस्तरादपि पदार्थाः।
तत्त्वज्ञानादेषां भवति हि निःश्रेयसाधिगमः ॥ १०० ॥

संक्षेप एवं विस्तार से गौतममुनि ने इन पदार्थों को बताया। इनके तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है ॥१००॥

तत्त्वज्ञाने जाते मिथ्याज्ञानं निवर्तते पुंसाम्।
आत्मादिद्वादशकप्रमेयविषयं विशेषेण ॥ १०१ ॥

तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्याज्ञान निवृत्त होता है जो (मिथ्याज्ञान) विशेष रूप से आत्मा शरीर इन्द्रियादि पूर्वोक्त दस प्रमेय विषयक होता है।

आत्मनि शून्यमिति तनुप्रभृतावात्मेति सुखमिति क्लेशे।
अर्थे भोग्यमिति मतिः पुण्यादिमतिश्च पापादौ ॥ १०२ ॥

आत्मा शून्य है, शरीरादि ही आत्मा है। यह क्लेश सुख ही है।

शब्दादि विषय भोग्य है, इत्यादि मति तथा पुण्य यज्ञादि में पापमति तथा पाप में पुण्यमति इत्यादि सभी मिथ्याज्ञान है ॥१०२॥

कायः षडिन्द्रियाणि च षड् विषयाः षड्धियः सुखं दुःखम् ।
तत्त्वात्तद्धेतुत्वाद् दुःखं स्यादेकविंशतिकम् ॥ १०३ ॥

शरीर छः, इन्द्रिय, छः विषय, छः उन विषयों के ज्ञान, सुख तथा दुःख ये इक्कीस दुःख समुदाय है। इनमें दुःख स्वयं दुःखरूप हैं। बाकी सभी दुःखहेतु होने से दुःखरूप हैं ॥१०३॥

सुखसाधनताबुद्धिः सुखबुद्धिश्चैव बन्धने हेतुः ।
दुःखनिदानं दुःखं सकलमिति मतिर्विमोक्षकरी ॥ १०४ ॥

यद्यपि सुख स्वयं सुखरूप है। तथा धनदारादि सुखसाधन है। पर, वैसा समझना या चिन्तन करना बन्धनकरण है। सारा जगत् दुःखसाधन वा दुःख है ऐसा समझना और चिन्तन करना मोक्षकारण है॥१०४॥

सर्वं बाधनया स्याद्दुःखमिति समाधिभावनं कार्यम् ।
वैराग्यं तु ततः स्याद् दोषापायस्ततस्तस्य ॥ १०५ ॥

अतएव सभी बाधनालक्षण है, दुःख है ऐसा समाधिभावन करना ही उचित है। उससे वैराग्य होगा। तब दोषापाय होगा ॥१०५॥

तस्य न पुण्यापुण्यप्रवृत्तिरस्तीति नैव जन्म स्यात् ।
जन्मापाये दुःखापायश्चात्यन्तिको भवति ॥ १०६ ॥

दोष के अपाय से पुण्य-पापात्मक प्रवृत्ति नहीं होगी (सामान्य प्रवृत्ति होने पर भी वह पुण्यपापजनक नहीं होगी) उससे जन्मापाय होने पर आत्यन्तिक दुःखापाय होगा ॥१०६॥

दुःखात्यन्तापायादपवर्गो भवति परमपुरुषार्थः ।
निःश्रेयसं तदुक्तं स्वात्मावस्थानमेतदिति ॥ १०७ ॥

दुखात्यन्तापाय से परम पुरुषार्थ अपवर्ग होगा। वही निःश्रेयस व स्वात्मावस्थान है ॥१०७॥

अध्येयं शास्त्रमिदं शिष्यगुरुसवर्णिभिश्च सुविचार्यम् ।
तैः सह सद्भिश्चाप्युपसर्तव्यो महायोगी ॥ १०८ ॥

इस शास्त्र का अध्ययन करो। शिष्य, गुरु एवं सब्रह्मचारियों के साथ विचार करो। और कोई महान् योगी भाग्यवश मिला तो इन सब के साथ उस योगी के पास जाकर बोध प्राप्त करो ॥१०८॥

शास्त्राभ्यासपटुतया सद्गुरुकृपया च लब्धविज्ञानः।
निःश्रेयसमधिगम्य हि कृतकृत्यो जायते पुरुषः ॥ १०९ ॥

शास्त्राभ्यास के पाटव से तथा सद्गुरुकृपा से विज्ञान पाकर निःश्रेयस-भागी बना पुरुष कृतकृत्य होता है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥ ११० ॥
शास्त्रार्थविचारार्थं प्रमेयतत्त्वावगाहनार्थं च।
व्याख्यातमतः सन्तस्तुष्यन्तु पुरान्तकश्च मम ॥ १११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे न्यायदर्शनसंग्रहो नामाष्टमः।

१६

सांख्यदर्शनम्

अविवेकनिबन्धन भवबन्धनहानाय करुणया शास्त्रम् ।
सांख्यं जगाद विमलं यस्तं वन्दे मुनिं कपिलम् ।। १ ।।

अविवेकहेतुक भवबन्धनकी निवृत्ति के लिये दया से जिन्होंने निर्मल सांख्यशास्त्र कहा उन मुनि कपिल की हम वन्दना करते हैं ।।१।।

रोगश्च स्वास्थ्यं च द्वे तु भवेतां यथैव लोकस्य ।
संसारो मोक्षोऽपि च तद्वत् सर्वस्य वेदोक्तः ।। २ ।।

रोग तथा स्वास्थ्य जिस प्रकार सबके दो होते हैं वैसे संसार और मोक्ष भी सबके लिये वेदों में बताये हैं ।।२।।

लोहितदोषनिवृत्त्यै प्रकृतिः पिटकं यथा प्रचर्कर्ति ।
एवं कर्मनिवृत्त्यै दुःखं निर्माति सा प्रकृतिः ।। ३ ।।

खून खराब होता है तो उसे निकालने के लिये शरीर में प्रकृति फोड़ा-फुन्सी आदि पैदा करती । है वैसे कर्मनिवृत्ति के लिये प्रकृति दुःखनिर्माण करती है ।।३।।

पुण्यमपि परम्परया मोक्षविरोधीति तच्च परिहर्तुम् ।
प्रकरोति सुखमपीयं यद्वा पुरुषार्थरूपेण ।। ४ ।।

मोक्ष ही प्रकृति के लिये मुख्य उद्भावनीय है अतः परम्परया उस मोक्ष के विरोधी पुण्यको भी परिहार करने के लिये प्रकृति सुख उत्पन्न करती है । अथवा भोगरूपी पुरुषार्थनिमित्त सुख उत्पन्न करती है ।।४।।

यदनादिपरम्परया कर्माणि सवासनानि लोकानाम् ।
तदिदं रोगनिदानं तस्य निवृत्तिः फलाभ्यां स्यात् ।। ५ ।।

अनादिपरम्परा से कर्म तथा वासना चली आ रही है । यही संसार-रोगनिदान है । उसकी निवृत्ति सुखदुःखरूपी फल से होती है ।।५।।

सुखदुःखाभ्यां कर्मनिवृत्तिर्नात्यन्तिको तु संभवति ।
कर्मान्तरकरणेनानन्तत्वात् संचितानां च ।। ६ ।।

परंतु सुख और दुःख से कर्म की पूर्णतया निवृत्ति नहीं होती। कारण, नये कर्म लोग करते रहते हैं। दूसरी बात, संचित कर्म अनन्त हैं, उनकी निवृत्ति सर्वथा होगी भी कैसे ? ॥६॥

प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं नैवेष्यते तथा लोकैः।
अध्यात्मजमधिभूतजमधिदेवजमैहिकं त्रिविधम् ॥ ७ ॥

और भी बात, दुःख प्रतिकूलवेदनीय होने से उसे कोई चाहता भी तो नहीं है, जिससे उसे आमन्त्रण देकर कर्म निवृत्त किया जाये। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ऐसा ऐहिक तीन प्रकार का दुःख है ॥७॥

ननु च स्वर्गः सौख्यं निरपाधि निरन्तरं च निर्दुखम्।
तत्र प्रयतेत पुमान्न तु विज्ञाने दुराराध्ये ॥ ८ ॥

यह प्रश्न करें कि यागादिजन्य स्वर्ग सुख अविनाशी है, निरन्तर है और दुःखरहित है। तदर्थ मनुष्य प्रवृत्त हो सकता है। दुष्प्राप्य विज्ञान के लिये क्यों यत्न करें ॥८॥

मैवं क्षयी स तत्र स्यात्स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः।
सप्रत्यवमर्शोऽतो नासौ परमो हि पुरुषार्थः ॥ ९ ॥

इसका उत्तर यह है कि स्वर्ग भी कल्पान्तविनाशी है। उसमें भी पापसांकर्यप्रयुक्त दुःख होता है। भले प्रायश्चित्त से कुछ का परिहार हो परंतु प्रायः सहनीय ही होता है। अतः स्वर्ग भी परम पुरुषार्थ नहीं है ॥९॥

कर्मसु सत्सु च तेषां नात्यन्तिकहानिरस्ति संभाव्या।
तस्माज्जिज्ञासा स्यात्कर्मफलात्यन्तविनिवृत्त्यै ॥ १० ॥

कर्मों के रहते दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति संभव नहीं है। अतः कर्म और फल की अत्यन्तनिवृत्ति कैसे हो यह जिज्ञासा स्वभावतः होती है ॥१०॥

पुरुषप्रयत्नवशतः शास्त्राभ्यासादितो यदा ज्ञानम्।
तदपेक्षा प्रकृतिः खलु कर्माण्यत्यन्तमुच्छिन्ते ॥ ११ ॥

इसका समाधान यह है कि योगादि पुरुषप्रयत्न तथा शास्त्राभ्यास से जब ज्ञान होता है तब उससे सहायप्राप्त प्रकृति कर्मों का अत्यन्त उच्छेद करती है ॥११॥

भोगापवर्गहेतोरित्थं नित्यं प्रवर्तते प्रकृतिः ।
संपन्नयोस्तयोश्च स्वयमेवैषा निवर्तेत ॥ १२ ॥

इसप्रकार भोग और अपवर्ग प्राप्त कराने के लिये प्रकृति नित्य प्रवृत्त रहती है। दोनों संपन्न होने पर स्वयं निवृत्त होती है। ऐसा सांख्याचार्यों का मत है ॥१२॥

भोगस्तु न मुख्योऽर्थो भोगात्तस्याः कृतार्थतापत्तेः ।
मोक्षोत्तरमपि मा सा भोगं साधीदचरितार्था ॥ १३ ॥

परंतु भोग मुख्य अर्थ नहीं है। यदि ऐसा हो तो भोग ही देकर प्रकृति कृतार्थ हो जाती। यदि कहें कि यावदर्थ देने पर ही कृतार्थ होती है तो मोक्ष होने पर फिर अचरितार्थ होकर भोगार्थ सृष्टि करने लगती। अनन्त कर्म होने से भोग भी अनन्त प्रदेय हैं। दूसरी बात अन्वयव्यतिरेक से मोक्ष से ही चरितार्थता देखने में आती है तो भोग को अर्थ मानना अनुपयोगी है। अतः भोग भी कर्मनिवृत्ति के द्वारा मोक्षार्थ ही है यह प्रथमोक्त बात ही सुसंगत है।

इति शास्त्रारम्भसमर्थनम्

प्रकृतिः पुरुषश्चैवानादी प्रकृतेर्महानहङ्कारः ।
तन्मात्राः पञ्चैकादश खानि च पञ्चभूतानि ॥ १४ ॥

प्रकृति तथा पुरुष दोनों अनादिसिद्ध हैं। प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पांच तान्मात्रा और ग्यारह इन्द्रियां और पंचतन्मात्रा से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं ॥१४॥

मूलप्रकृतिस्तावत् त्रिगुणा गुणसाम्यलक्षणा भवति ।
सृष्टिं स्थितिं लयं चातनुते जगतो यथाकर्म ॥ १५ ॥

मूलप्रकृति त्रिगुणात्मिका, सो भी गुणसाम्यरूपिणी होती है। वही प्राणिकर्मानुसार सृष्टि स्थिति एवं संहार करती है ॥१५॥

पुरुषस्तु निर्विलेपः शुद्धः स्वच्छः स्वयंप्रकाशात्मा ।
सोऽनादिवासनातः प्रकृतेस्तादात्म्यमुपयाति ॥ १६ ॥

पुरुष निर्लेप, शुद्ध, स्वच्छ एवं स्वयंप्रकाश होता है। वह अनादिवासनावश प्रकृतितादात्म्यापन्न रहता है ॥१६॥

---

१. पा० तत्र।

कर्तृत्वादिकमखिलं प्रकृतिगतं चावभाति पुरुषेषु ।
चैतन्यं पुरुषगतं तादात्म्याद् भाति बुद्ध्यादौ ॥ १७ ॥

कर्तृत्वादि प्रकृतिस्थ होने पर भी पुरुष में भासित होते हैं और पुरुषस्थ चैतन्य बुद्धि आदि में भासित होता है उस तादात्म्य के ही कारण।

एवं सति च प्रकृतिर्भोगार्थं सकलसृष्टिमाधत्ते ।
मोक्षार्थमपि च सैषा तदुभयमध्यासतः पुरुषे ॥ १८ ॥

इसप्रकार भोगार्थं तथा मोक्षार्थ प्रकृति सृष्टि करती है। भोगमोक्ष दोनों ही पुरुष में अध्यासतः ही है ॥१८॥

प्रकृतेस्तु महत्तत्त्वं स महान् सा बुद्धिरित्यपि प्रथितम् ।
प्रतिपुरुषं भिन्नमपि च समष्टिरूपेण जायेत ॥ १९ ॥

प्रकृति से महत्तत्त्व होता है। उसे महान एवं बुद्धि भी कहते हैं। वह प्रतिपुरुष भिन्न होने पर भी प्रथम समष्टिरूप से उत्पन्न होता है ॥१९॥

तदहङ्कारं जनयेत्सैव स्यादस्मिता स च प्राग्वत् ।
प्रतिपुरुषान्यत्वेऽपि च समष्टिरूपेण संपन्नः ॥ २० ॥

वह महत्तत्त्व अहंकार को पैदा करता है। उसी को अस्मिता भी कहते हैं। वह भी पूर्ववत् प्रतिपुरुष भिन्न होने पर भी समष्टिरूप से प्रथम उत्पन्न होता है ॥२०॥

तस्याः पुनः समष्टेस्तन्मात्राः पञ्च संप्रजायन्ते ।
व्यष्टेरेकादश च प्रतिपुरुषं खानि जायन्ते ॥ २१ ॥

समष्टिरूप अहंकार से पांच तन्मात्रायें होती हैं और व्यष्टि से प्रतिपुरुष भिन्न एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। क्योंकि तन्मात्रा और भूत सर्व-साधारण हैं। इन्द्रियां प्रतिव्यक्ति पृथक् हैं ॥२१॥

वैकारिकात्तु तस्माज्जायन्ते धीन्द्रियाणि च मनश्च ।
कर्मेन्द्रियाणि रजसस्तन्मात्रास्तामसाच्चास्मात् ॥ २२ ॥

सात्त्विक अहंकार से ज्ञानेन्द्रिय तथा मन हुआ। राजस से कर्मेन्द्रियां हुई। और तामस अहंकार से तन्मात्रा हुई ऐसा विभाग समझो ॥२२॥

श्रोत्रत्वगक्षिरसनाघ्राणानि तु धीन्द्रियाणि पञ्चाहुः ।
वाक्पाणिपादपायू-पस्थान् कर्मेन्द्रियाणि तथा ॥ २३ ॥

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥२३॥

शब्दः स्पर्शो रूपं रस एवं गन्ध इति च संज्ञाभिः ।
तन्मात्रा यास्ताभ्यः पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ २४ ॥

शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्ध-तन्मात्रा ये पांच तन्मात्रायें हैं। इनसे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी ऐसे पांच भूत उत्पन्न होते हैं ॥२४॥

शब्दात्तन्मात्रात् खं शब्दयुतात्स्पर्शतो भवेद्वायुः ।
ताभ्यां सह रूपात्स्यात्तेजस्तद्वद्रसादापः ॥ २५ ॥
शब्दादिभिश्चतुर्भिः सहिताद् गन्धान्मही तु तन्मात्रात् ।
एवं चैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि भूतानि ॥ २६ ॥

शब्दतन्मात्रा से आकाश, शब्दसहितस्पर्शतन्मात्रा से वायु, शब्दस्पर्श-सहित रूपतन्मात्रा से तेज, शब्दस्पर्शरूपसहित रसतन्मात्रा से जल और शब्दस्पर्शरूपरससहित गन्धतन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न होती है। यही कारण है कि आकाश में शब्द एक गुण, वायु में शब्द स्पर्श दो गुण, तेज में शब्द स्पर्श रूप तीन गुण, जल में शब्द स्पर्श रूप रस चार गुण और पृथिवी में शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध पांच गुण माने गये हैं ॥२५-२६॥

भूतेभ्यो ब्रह्माण्डं तत्र च लोकाश्चतुर्दश प्रोक्ताः ।
ऊर्ध्वं सप्त च सप्त च लोकास्तदधो भवन्त्यत्र ॥ २७ ॥

पंच भूतों से ब्रह्माण्ड एवं उसमें ऊपर के सात और नीचे के सात ऐसे चौदह लोक होते हैं ॥२७॥

ऊर्ध्वं भूश्च भुवश्च स्वश्च महोऽथो जनस्तपः सत्यम् ।
अतलादयस्तथा स्युः सप्तैवाधोभवा लोकाः ॥ २८ ॥

भूः भुवः स्वः महः और जन तप सत्य ये सात ऊर्ध्वलोक हैं, अतल, वितलादि नीचे के सात हैं ॥२८॥

भूरिति मध्यो लोकः षट्कं तूर्ध्वं च सप्तकं तदधः ।
इत्थं प्रकल्पनेन त्रैलोक्यं विश्रुतं शास्त्रे ॥ २९ ॥

भूलोक मध्यलोक है। छः ऊर्ध्वलोक हैं। सात आधोलोक हैं इस प्रकल्पना को लेकर त्रिकोलव्यवहार है ॥२९॥

भुवि तु समुत्पद्यन्ते गात्राणि चतुर्विधानि भोग्यानि ।
तानि जरायुजमण्डजमुद्भिज्जं स्वेदजं चैव ॥ ३० ॥

भूलोक में जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज ऐसे चार भोग्य शरीर होते हैं ॥३०॥

द्विविधं शरीरमुक्तं स्थूलं सूक्ष्मं च तत्र च स्थूलम् ।
मातापितृजं प्रायः सूक्ष्मं सूक्ष्मार्थसंभूतम् ॥ ३१ ॥

स्थूल, सूक्ष्म ऐसे दो शरीर हैं। स्थूल प्रायः (स्वेदजादि को छोड़कर) मातापिता से उत्पन्न होता है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्मतत्त्वों से उत्पन्न होता है ॥३१॥

तन्मात्राः पञ्चैकादश खानि तथास्मिता महांश्चैतैः ।
अष्टादशभिस्तत्त्वैः सूक्ष्मः सम्पद्यते कायः ॥ ३२ ॥

पांच तन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियां, अहंकार और महत्तत्त्व इन अष्टादश तत्त्वों से सूक्ष्म शरीर होता है ॥३२॥

अत्र शरीरं तावत्तन्मात्रैरेव निर्मितं युक्तम् ।
तत्रैवाङ्गविधतया निविशन्तेऽन्यानि तत्त्वानि ॥ ३३ ॥

यहाँ सूक्ष्मशरीर तन्मात्राप्रधान है। उसमें अंगों के रूप में अन्य तत्त्व प्रविष्ट हैं। यही युक्त है ॥३३॥

यद्वा वृक्षो यद्वच्छाखापत्रादिसकलसमुदायः ।
शाखादीनामाश्रय एवमिहाप्येव मन्तव्यम् ॥ ३४ ॥

अथवा शाखापत्रादि का समुदाय वृक्ष है, वह शाखादि प्रत्येक का आश्रय है। वैसे यहाँ भी समझा जा सकता है ॥३४॥

सकलं व्याप्य शरीरं तिष्ठति सूक्ष्मं तदाकृति ह्येतत् ।
सङ्कोचविकासाभ्यां हस्तिन्यपि पुत्तिकायां च ॥ ३५ ॥

पूरे स्थूल शरीर में व्याप्त होकर तदाकार सूक्ष्म शरीर रहता है। संकोच विकास होने से हाथी में और फतींगे में भी योग्य व्याप्ति रहती है ॥३५॥

तत्रोपचयापचयौ तन्मात्रैरेव संभवितुमर्हौ ।
नैव महत्तत्त्वादेर्युज्येते ताविति वदामः ॥ ३६ ॥

किन्तु उपचय और अपचय तन्मात्राओं को लेकर ही संभव है। महत्तत्त्वादि को लेकर नहीं ॥३६॥

प्रत्यक्षत्वाद्युक्तं स्थूलं कस्मात्तु सूक्ष्ममास्थेयम् ।
कथमाधारेण विना लोकान्तरमाप्नुयात्करणम् ॥ ३७ ॥

स्थूल शरीर प्रत्यक्ष होने से मानना निश्चित है। पर सूक्ष्मशरीर क्यों मानना ? इसलिये कि आधार के विना करण लोकान्तरगामी नहीं हो सकता। बिखर कर तन्मात्रा इन्द्रियां आदि अलग-अलग जाने लगेंगे ॥३७॥

भोगायतनं स्थूलं शरीरमेतद् भवेच्च भोग्यमपि ।
स्यात्कर्तृभोक्तृकरणव्रातात्मा सूक्ष्मदेहस्तु ॥ ३८ ॥

स्थूल शरीर भोगायतन है औ भोग्य भी है। सूक्ष्म शरीर कर्तृभोक्तृ-करणसंघातरूप है ॥३८॥

गिरिगृहनदीसमुद्राः शब्दस्पर्शादयश्च भोग्याः स्युः ।
जीवा अपि जीवानां भोग्यास्तावद् भवन्त्येव ॥ ३९ ॥

पहाड़, घर, नदी, समुद्र, शब्द स्पर्शादि सभी भोग्य हैं। जीव भी जीवान्तर के भोग्य हैं ही ॥३९॥

इति सामान्यपदार्थनिरूपणम्

तत्रेन्द्रियाणि विषयानादाय समर्पयन्ति मनसे तु ।
आलोचनात्मकं स्याज्ज्ञानं यत्त्विन्द्रियोद्भूतम् ॥ ४० ॥

भोग का क्रम इस प्रकार है कि इन्द्रियां विषयों को लेकर प्रथम मन को समर्पित करती हैं। इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान केवल आलोचनात्मक होता है। (आलोचन को कुछ लोग निर्विकल्पक मानते हैं। वस्तुओं को जोड़कर विशिष्टरूप से जानने का काम मन का है। दूसरे मानते हैं—शोभिन-अशोभन आदि भावरहित ज्ञान इन्द्रियों से होता है। शोभनादि अध्यास अन्तःकरण का है) ॥४०॥

मनसः सङ्कल्पात्मकमुक्तं ज्ञानं क्वचिद्विकल्पात्म ।
एवमिदं वस्तु भवेदेवमनेवं नु वेति तथा ॥ ४१ ॥

मन का संकल्पात्मक ज्ञान होता है। कहीं विकल्पात्मक होता है। यह ऐसा होना चाहिये यह संकल्प है। यह ऐसा कि ऐसा यह विकल्प है ॥४१॥

तदहङ्काराय पुनर्विषयान् स्वनिरूपितान्मनो यच्छेत् ।
सोऽहङ्कारस्तत्र ह्यहं ममेत्येवमातनुते ।। ४२ ।।

वह मन स्वनिरूपित विषयों को अहंकार को समर्पित करता है। अहंकार उसमें मैं, मेरा करने लगता है ॥४२॥

चैत्रोऽहं मम विषया धनदाराद्या इति प्रतन्वानः ।
स खलु प्रयच्छतीमान् बुद्ध्यै सर्वार्थसाधिन्यै ।। ४३ ।।

शरीर को लेकर मैं चैत्र हूँ ऐसा अहं होता है। मुझे सुख हुआ, दुःख हुआ, मेरा शत्रु, मेरा मित्र इसप्रकार ममकार होता है। इन सबको लेकर अहंकार सर्वार्थसाधिनी बुद्धि को समर्पित करता है ॥४३॥

तत्र च सुखदुःखाद्या भावा नानाविधाः प्रजायन्ते ।
सा चात्मने तदानीं सर्वानेतान् प्रदर्शयति ।। ४४ ।।

बुद्धि में सुख, दुःख आदि नानाविध भाव उत्पन्न होते हैं। वह बुद्धि इन सब को आत्मा को प्रदर्शित करती है ॥४४॥

तत्प्रतिबिम्बं पुरुषे निर्विकृतौ कर्मशक्तिवशतः स्यात् ।
भोगोऽयमिति प्रोक्तः कैश्चित्सांख्यैर्विपश्चिद्भिः ।। ४५ ।।

बुद्धिगत उन सब का प्रतिबिम्ब निर्विकार भी पुरुष में कर्मशक्तिवशात् पड़ जाता है। यही भोग है। ऐसा विज्ञानभिक्षु आदि कुछ सांख्य विद्वान् मानते हैं ॥४५॥

अपरे त्वध्यासात्किल पुरुषे ते खल्वनादिसिद्धात् स्युः ।
सोऽयं भोगो नामेत्येवं व्याचक्षते विबुधाः ।। ४६ ।।

दूसरे आचार्य यह मानते हैं कि अनादिसिद्ध अध्यास से प्रकृतिगत सुखादि पुरुष में प्रतीत होते हैं यही भोग है ॥४६॥

इति भोगनिरूपणम्

तत्र प्रकृतिर्नाम त्रिगुणमयी गुणसाम्यरूपिणी नित्या ।
सत्त्वं रजस्तमश्च प्रोक्ता एते गुणाः प्रकृतेः ।। ४७ ।।

उक्त पदार्थों में प्रकृति त्रिगुणमयी, गुणसाम्यस्वरूपिणी और नित्य है। सत्त्व, रज और तम ये प्रकृति के तीन गुण हैं ॥४७॥

सुखदुःखमोहरूपाः सितलोहितकृष्णलक्षणाश्चैव ।
साम्यावस्थायां च क्षणपरिणामाः स्वरूपेण ॥ ४८ ॥

वे सत्त्वादि गुण सुख-दुःख-मोहरूप होते हैं, शुक्ल-रक्त-कृष्णरूप होते हैं। साम्यावस्था में भी स्वस्वरूपेण परिणत होते रहते हैं ॥४८॥

सत्त्वाज्ज्ञानं शान्तिर्लाघवमपि च प्रकाश एवापि ।
ऊर्ध्वक्रमणं त्यागो दानं वैराग्यमेवापि ॥ ४९ ॥

सत्त्वगुण की वृत्ति—ज्ञान, शान्ति, लघुता, प्रकाश, ऊर्ध्वगति, त्याग, दान, वैराग्य आदि हैं ॥४९॥

रजसो लोभः कर्मारम्भो रागः प्रवृत्तिरपि तृष्णा ।
अशमो मध्यभ्रमणं चलता द्वेषश्च दुःखादिः ॥ ५० ॥

रजोगुण को वृत्ति—लोभ, कर्मारम्भ, राग, प्रवृत्ति, तृष्णा, अशान्ति, मध्यलोकभ्रमण, चञ्चलता, द्वेष एवं दुःखादि है ॥५०॥

तमसो निद्राऽऽलस्यं मोहश्चैवं प्रमाद आवरणम् ।
नीचैः पतनं गुरुताऽप्रवृत्तिरप्यप्रकाशश्च ॥ ५१ ॥

तमोगुण की वृत्ति—निद्रा, आलस्य, मोह, प्रमाद, आवरण, अधःपतन, गुरुत्व, अप्रवृत्ति एवं अप्रकाशादि हैं ॥५१॥

अधमं तमसो [1]मध्यमरूपं रजसस्तथोत्तमं सत्त्वात् ।
द्रव्यादिकं स भक्तिज्ञानादिकमूचिरे मुनयः ॥ ५२ ॥

तम से अधम, रज से मध्यम, और सत्त्व से उत्तम द्रव्यादि तथा ज्ञानादि का वर्णन भागवतादि में मुनियों ने किया है ॥५२॥

अन्योन्याभिभवोद्भवमिथुनाश्रयवृत्तयो भवन्त्येते ।
दधति जगदिमे कायं यद्वत्कफपित्तवाता हि ॥ ५३ ॥

ये तीन गुण परस्पर अभिभव और उद्भव भी करते हैं, परस्पर जुड़ते भी हैं, परस्पर आश्रित भी होते हैं, परस्परवृत्ति भी हैं। जैसे वात-पित्त-कफ परस्पर उद्भवादिकर्ता होने पर भी शरीर धारण के हेतु हैं। वैसे गुण भी जगत का धारण करते हैं ॥५३॥

---

१. पा० मध्यममखिलं

कार्यं सकलं दृश्यं त्रिगुणात्मकमेव दृश्यते तस्मात् ।
कारणमपि तद्वत्स्यात्तन्मात्रादि प्रकृत्यन्तम् ।। ५४ ।।

धन, गृहादि सभी कार्य सुखदुःखमोहरूप दीखते हैं। अतः तन्मात्रा से लेकर प्रकृत्तिपर्यंन्त सभी कारण भी त्रिगुणात्मक ही होना चाहिये ॥५४॥

तत्र प्रकृतिः केवलपरसत्त्वरजस्तमःस्वरूपैव ।
तत्त्वान्तरपरिणामात् प्रकृतिः साऽवोचि महदादेः ।। ५५ ।।

कारणपरम्परा में अन्तिम कारण प्रकृति केवल सत्त्वरजतमरूप रह जाती है। तत्त्वान्तरपरिणाम होने से उसे प्रकृति कहा। महदादि तत्त्वान्तर हैं ॥५५॥

तत्त्वान्तरं च सत्त्वप्रभृतिकरूपं च भवति महदादेः ।
नान्यानुगतं त्रिगुणं तद्रूपाऽतो भवेत्प्रकृतिः ।। ५६ ।।

महत्तत्त्व में महत्तत्त्वादि अपना रूप और प्रकृति के सत्त्वरज आदि दोनों होते हैं। त्रिगुण में अनुगत अन्य कुछ नहीं है। अतः प्रकृति केवल त्रिगुणरूप है ॥५६॥

नन्वस्तीत्यखिलेष्वपि सत्तानुगताऽनुभूयते तस्मात् ।
सत्तैव प्रकृतिः स्यात्त्रिगुणस्यापीति चेन्मैवम् ।। ५७ ।।

प्रकृतिः अस्ति, महत्तत्त्वमस्ति, सत्त्वमस्ति, रजोऽस्ति ऐसे सत्ता-अनुगत है। अतः प्रकृति का मूल सत्ता क्यों नहीं ? सुनो ॥५७॥

नास्ति घटो नास्ति पटो नास्त्यन्नादीति चास्ति बोधोऽतः ।
किमसत्तामपि मूलं मन्येथास्त्वं प्रपञ्चस्य ।। ५८।।

घटो नास्ति, पटो नास्ति इत्यादि अनुगत प्रतीति को मानकर क्या आप असत्ता को भी मूल मानने को तैयार हैं ? ॥५८॥

नास्त्येव घटः क्वेवाऽसत्ता त्वनुवर्ततां भगो शृणु मे ।
को वाऽसन्तं ब्रूते घटमिह सद्वादिनो हि वयम् ।। ५९ ।।

घटो नास्ति-घट ही नहीं तो असत्ता की अनुवृत्ति किसमें आपादित कर रहे हैं ? भगवन् सुनिये। घटको असत् कौन कहता है ? हम सद्वादी हैं। घट उत्पन्न होने से पूर्व तथा पश्चात् भी घट सत् है। उसमें नास्ति की प्रतीति हुई। तब असत्ता मूल मानना पड़ जाएगा ॥५९॥

असतो न ह्युत्पत्तिर्मा जनि खसुमं सकृच्च मा सकलम् ।
सम्बद्धं जनयेदिति सिद्धं पूर्वं हि तत्सत्त्वम् ।। ६० ।।

असत् की उत्पत्ति नहीं होती। ऐसा हो तो गगनकुसुम भी उत्पन्न होने लगेगा। फिर अनुत्पन्न सभी असत् है तो एक साथ सभी क्यों नहीं उत्पन्न होते। अतः सम्बद्ध की ही उत्पत्ति माननी पड़ेगी। अतएव बालू में से तेल नहीं होता। तब पूर्व ही कार्य करण में सत सिद्ध होगा ।।६०।।

सर्वं कार्यं सन्नः सत्ता भिद्येत चेदसत् कार्यम् ।
सत्तायां तत्त्वान्तरपरिणामो नैव युज्येत ।। ६१ ।।

सभी कार्य हमारे मत में सत् हैं। सत्ता भिन्न हो कार्य से तो कार्य सत्ताभिन्न असत् होगा। अतः सत्ता पृथक् तत्त्व नहीं है। सर्व जगत् रूप ही है। यदि सत्ता में तत्त्वान्तरपरिणाम हो तो सत् से तत्त्वान्तर असत् ही होगा। अतः सत् में तत्त्वान्तरपरिणाम नहीं होगा। फलतः प्रकृति ही मूलकारण है ।।६१।।

इति प्रकृतिः

प्रकृतेस्तु महत्तत्त्वं तां बुद्धिं संप्रचक्षते सांख्याः ।
अध्यवसायस्तस्या वृत्तिस्तां चोचिरे बुद्धिम् ।। ६२ ।।

प्रकृति से महत्तत्त्व होता है। उसको सांख्याचार्य बुद्धि भी कहते हैं। उसकी वृत्ति अध्यवसाय (निश्चय) है। उसे भी वे बुद्धि कहते हैं ।।६२।।

बुद्धेः सात्त्विकरूपं धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
अज्ञानमवैराग्यमधर्मोऽनैश्वर्यमिति तमसः ।। ६३ ।।
रागो भोगो विषयोत्साहो लोभादि राजसं तस्याः ।
प्रत्ययसर्गः सर्वस्तस्याः खलु वृत्तयः प्रोक्ताः ।। ६४ ।।

बुद्धि का सात्त्विक रूप—धर्म, ज्ञान, वैराग्य ओर ऐश्वर्य है। तामस रूप—अज्ञान, अवैराग्य, अधर्म और अनैश्वर्य है। राजसरूप—राग, भोग, विषयोत्साहादि है। आगे कहा जानेवाला प्रत्ययसर्ग भी बुद्धि की वृत्ति है।

इति बुद्धिः

अभ्युदयकरो धर्मो यागादिभ्यः समुद्भवत्येषः ।
अष्टाङ्गयोगजनितो निःश्रेयसकृत्तथा धर्मः ।। ६५ ।।

यागादि जन्य धर्म अभ्युदय(स्वर्गादि)कारी है। और अष्टाङ्गयोग-जनित धर्म निःश्रेयसकारी है ॥६५॥

ज्ञानं परोक्षममलं गमयत्यमलाँस्तदूर्ध्वगाँल्लोकान् ।
अपरोक्षं मोक्षकरं गुणपुरुषविवेकविज्ञानम् ॥ ६६ ॥

ज्ञान दो प्रकारका है। एक परोक्ष है, दूसरा अपरोक्ष। परोक्ष सत् ज्ञान ऊर्ध्वलोकदायी है। अपरोक्ष गुणपुरुषविवेक ज्ञान मोक्षदायी है ॥६६॥

त्रिविधा प्रमाणवृत्तिः प्रत्यक्षं चानुमा च शाब्दी च ।
एवं विपर्ययश्च स्मृतिरपि बुद्धेर्भवेद्वृत्तिः ॥ ६७ ॥

बुद्धि की तीन प्रमाणवृत्ति होती है। प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्दी। तथा एक विपर्यय वृत्ति होती है और एक स्मृतिर्वृत्ति भी ॥६७॥

विषयाकारायां यत् चैतन्यं प्रतिफलेत् स्फुरद्वृत्तौ ।
तद्धि फलं बोध इति स्फुरणमिति च भण्यते लोकैः ॥ ६८ ॥

विषयाकारवृत्ति में जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है वही ज्ञान फल है। उसीको बोध स्फुरण आदि कहते हैं ॥६८॥

यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियसंज्ञाः क्रमेण सम्पद्य ।
वैराग्यं परिपुष्यद् भवति वशीकारसंज्ञेति ॥ ६९ ॥

वैराग्य—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा और एकेन्द्रियसंज्ञारूप से क्रमशः परिपुष्ट होकर वशीकारसंज्ञा को प्राप्त होता है ॥६९॥

ऐश्वर्यं स्यादणिमा महिमा लघिमा तथैव गरिमापि ।
प्राप्तिः प्राकाम्यं चेशित्वं च वशित्वमेवापि ॥ ७० ॥

ऐश्वर्य आठ हैं। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ॥७०॥

एतत्कारणभूता शक्तिर्या बुद्धिगा तदैश्वर्यम् ।
एतच्चतुष्टयस्य तु विपरीतं स्यादधर्मादि ॥ ७१ ॥

इन आठ अणिमादिका कारण बुद्धिनिष्ठ शक्तिविशेष ऐश्वर्य है। इन चारके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य है ॥७१॥

बुद्धेरुद्भूतस्याऽहंकारस्याभिमानवृत्तिः स्यात् ।
व्यष्टौ कायोत्पत्तेरनन्तरं सा प्रजायेत ॥ ७२ ॥

बुद्धि से उत्पन्न अहंकारतत्त्वको अभिमानरूपी वृत्ति होती है वह वृत्ति शरीरादि उत्पत्ति के बाद उसमें प्रविष्ट व्यष्टि में होती है ॥७२॥

महदहमोर्द्वेधा पुनरस्मिन् काये निवेश एष्टव्यः ।
स्थूलोपादानतया सूक्ष्मशरीरानुघटकतया ॥ ७३ ॥

महत्तत्त्व और अहंकारका इस शरीर में द्विधा प्रवेश मानना होगा। स्थूल शरीर के उपादान कारण के रूप में एक है। क्योंकि स्थूल का कारण तन्मात्रा और उसका अहंकार और महत्तत्त्व हैं। दूसरा सूक्ष्मशरीर-घटकरूप से। उसमें अभिमान और अध्यवसाय होता है। सुषुप्ति मूर्च्छा आदि में स्थूल शरीरोपादान अहंकारादि के शरीर में होने पर भी अभिमान तथा अध्यवसाय नहीं होता। अभिभूत सूक्ष्म शरीर उद्‌भूत होता है तो ही अभिमानादि होता है ॥७३॥

इत्यहंकारः

तदहंकारोत्पन्नं संकल्पविकल्पवृत्तिकं तु मनः ।
आलोचिते हृषीकैः संकल्पादिं तनोति मनः ॥ ७४ ॥

उस अहंकार से उत्पन्न मन संकल्पविकल्पादि वृत्तिवाला होता है। विषयों से आलोचित अर्थों में मन संकल्प-विकल्प करता है ॥७४॥

ननु यत्र संशयः स्यात्तत्रैव च निश्चयो विरोधी स्यात् ।
मनसि यदि विकल्पः स्याद् बुद्धौ कस्माद्विरोध्युदियात् ॥ ७५॥

पूर्वपक्षः—यदि मनमें संशय होता हो और अध्यवसाय-निश्चय बुद्धि का धर्म हो तो व्यधिकरण होने से निश्चय संशयनाशक नहीं होगा ॥७५॥

सत्यं न हि खलु बुद्धेर्भिन्नं स्यात्सर्वथा मनस्तत्त्वम् ।
कारणभिन्नं कार्यं नैवाभिमतं हि सांख्यानाम् ॥ ७६ ॥

बात सत्य है। परंतु मनतत्त्व बुद्धि से सर्वथा भिन्न नहीं है। क्योंकि सांख्यों को कार्य कारण से भिन्न मान्य नहीं है ॥७६॥

प्राप्त्यप्राप्तिविरहतस्तद्धर्मत्वाच्च तन्मयत्वाच्च ।
अपृथग्गुरुत्ववदृष्टेर्नो भिन्नं कारणात् कार्यम् ॥ ७७ ॥

कारण में कार्य की न प्राप्ति होती है (बाहर से कार्य नहीं आता) और न अप्राप्ति रहती है। कारण का धर्म है कार्य। और वह कारणमय होता है। अतः कारणभिन्न नहीं होता। सुवर्णधर्म सुवर्णमय कुण्डल

असुवर्णं नहीं होता। यदि पृथक् हो तो सुवर्णं का वजन और कुण्डल का वजन अलग होना चाहिये (चार तोले सुवर्णं का कुण्डल बनाने पर आठ तोला हो जाना चाहिये)। पर ऐसा नहीं होता ॥७७॥

ननु यदि कारणमेव हि कार्यं प्रागेव कारणं व्यक्तम्।
व्यापारः कस्मात्स्यान्नोत्पत्तेर्नाप्यभिव्यक्तेः ॥ ७८ ॥

पूर्वपक्षः—यदि कारण ही कार्यं हो तो पहले से ही कारण व्यक्त है। तो तदभिन्न कार्यं भी व्यक्त है। तब कार्योत्पादनव्यापार किसलिये हो? न उत्पत्ति के लिये और न व्यक्तता के लिये ॥७८॥

नैवमभिव्यक्तं नो बीजं कार्यात्मना तदर्थमतः।
व्यापारः सफलः स्यात्कार्यात्मत्वं ह्यभिव्यङ्ग्यम् ॥ ७९ ॥

उत्तरः—बीज कारणरूप से अभिव्यक्त है, पर अङ्कुररूप से नहीं। अतः अङ्कुरादि कार्यरूप से अभिव्यक्त करने के लिये सेचनादि व्यापार सफल है। कार्यात्मता ही अभिव्यङ्ग्य है ॥७९॥

जायन्तेऽहंकाराद्दश खानि च पञ्च धीन्द्रियाण्यत्र।
श्रवण-स्पर्शन-दर्शन-रसन-घ्राणैः सवृत्तीनि ॥ ८० ॥

अहंकार से ही दस इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं। उनमें पांच ज्ञानेन्द्रियों की श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, रसास्वादन और सूंघना ये वृत्तियाँ हैं। इनसे वे सवृत्तिक हैं ॥८०॥

कर्मेन्द्रियाणि तत्र च राजसरूपाणि वाक्करादीनि।
वचनादानव्रजनविसर्गानन्दैः सवृत्तीनि ॥ ८१ ॥

वागादि कर्मेन्द्रिय वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्दरूपी वृत्तियों से सवृत्तिक हैं ॥८१॥

उभयफलं तु मनः स्यात्संकल्पनमस्य तु स्वतन्त्रतया।
तेनेन्द्रियमिन्द्रियपतिरपि च मनः प्रोच्यते विबुधैः ॥ ८२ ॥

मन उभयवृत्ति है। ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय दोनों की वृत्ति मन में है। स्वतन्त्र संकल्पवृत्तिवाला भी है। इसलिये मनको इन्द्रिय तथा इन्द्रियपति दोनों कहते हैं ॥८२॥

विषयास्तेषां शब्दः स्पर्शो रूपं रसश्च गन्धश्च।
वाच्यादेयव्रज्यविसृज्यानन्द्याः ससङ्कल्प्याः ॥ ८३ ॥

इन एकादश इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा वाच्य, आदेय, व्रजनीय, विसृज्य, आनन्दनीय तथा संकल्प्य हैं ॥८३॥

वृत्तिस्त्रयोदशानां करणानां प्राणनादिकं ज्ञेयम् ।
तद्भावे तद्भावात्तदभावे चैव तदभावात् ॥ ८४ ॥

ग्यारह इन्द्रिय, अहंकार और बुद्धि इन त्रयोदश करणों का प्राणन अपानन आदि वृत्ति हैं। क्योंकि इन्द्रियां हो तो प्राणनादि हैं अन्यथा नहीं ऐसा अन्वयव्यतिरेक देखने में आता है ॥८४॥

पक्षाघातप्रभृतौ नैव व्यानादयो यथावत् स्युः ।
कश्चित् क्वचन विशेषं भजते वृत्तौ तु वागादौ ॥ ८५ ॥

पक्षाघातादि में इन्द्रियशैथिल्य से व्यानादिशैथिल्य देखने में आता है। वागादि त्रयोदश में किसी में प्राण विशेषतया है, किसी में अपान विशेषतया है। प्राणनादि वृत्ति होने के कारण तत्त्वों में इनकी पृथक् गणना नहीं है। प्राणनादि शक्तिविशेष है। वह इन्द्रियों में है। स्पष्ट वृत्तिरूप होने से वायुक्रिया होने लगती है। प्रत्यक्षवायुसंचलन परिणाममात्र है वह इन्द्रियों की वृत्ति नहीं है ॥८५॥

इति प्रकृत्यादिवृत्तिनिरूपणम्

अथ पुरुषनिरूपणम्

सांसिद्धिकास्तु भावा सन्ति भवप्रत्यया हि धर्माद्याः ।
ते तु विदेहप्रकृतिलयानां सम्यङ् महर्षीणाम् ॥ ८६ ॥

बुद्धि के ही स्वरूप धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य दो-दो प्रकार के हैं। एक भवप्रत्यय है। दूसरा उपायप्रत्यय है। उनमें भवप्रत्यय-जन्मसिद्ध सांसिद्धिक भाव विदेह एवं प्रकृतिलीन जो जन्म लेकर आते हैं ऐसे महर्षियों के ही होते हैं ॥८६॥

नैमित्तिकास्तु भावास्त उपायप्रत्यया मुमुक्षूणाम् ।
एवमधर्माद्या अपि भावाः पापानुसारेण ॥ ८७ ॥

ये धर्मादि भाव मुमुक्षुओं के उपायप्रत्यय होते हैं। श्रद्धावीर्यादि उपाय योगशास्त्रीय द्रष्टव्य हैं। इसी के विपरीत पापानुसार अधर्मादि भाव समझना चाहिये ॥८७॥

अष्टसु भावेष्वन्तर्भूताः पञ्चाशदीरिता भावाः ।
तत्र विपर्ययभेदाः पञ्च तु तम आदयः प्रोक्ताः ॥ ८८ ॥

धर्मादि एवं अधर्मादि आठ भावों में पचास भाव अन्तर्गत हैं। उनमें विपर्यय (अज्ञान) के तम मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र ऐसे पाँच भेद हैं ॥८८॥

तत्र तमोमोहौ स्तामष्टविधौ दशविधो महामोहः ।
अष्टादशभेदयुतौ किल तामिस्रान्धतामिस्रौ ॥ ८९ ॥

उनमें तम और मोह के आठ-आठ भेद हैं। महामोह के दस भेद हैं। तामिस्र और अन्धतामिस्र के अठारह-अठारह भेद हैं ॥८९॥

अव्यक्तादिष्वष्टस्वात्ममतेरष्टधा तमो गदितम् ।
अष्टैश्वर्याभिमतेर्देवानामष्टधा मोहः ॥ ९० ॥

अव्यक्तादि आठ में आत्मबुद्धि होने से तम आठ प्रकार का है। आठ ऐश्वर्यों में अभिमान होने से देवताओं का मोह अष्टधा है। (अन्यत्र धन-दारादिप्रयुक्त मोह समझना होगा) ॥९०॥

दिव्यादिव्यविभागाच्छब्दादेर्दशविधो महामोहः ।
शब्दादावणिमादावष्टादशधा च तामिस्रः ॥ ९१ ॥

शब्दस्पर्शादि दिव्य-अदिव्य भेद से दस हैं। तद्विषयक रागात्मक महामोह भी दस हैं। शब्दादि दस, अणिमादि आठ ऐसे अठारह में तामिस्र अठारह प्रकारका है ॥९१॥

तन्नाशभयात्तत्र ह्यष्टादशधा तथान्धतामिस्रः ।
एते पञ्च तथाष्टाविंशतिरुक्ता किलाशक्तिः ॥ ९२ ॥

उपरोक्त अठारह के नाशभय से अन्धतामिस्र अष्टादश प्रकार का है। ये हो गये पांच विपर्यय। इसके साथ अठाईस अशक्ति जोड लीजिये ॥९२॥

ऐन्द्रियकाशक्तिः स्यादेकादशधाथ बुद्धयशक्तिश्च ।
तुष्टीनां सिद्धीनां विपर्ययात्सप्तदशधा स्यात् ॥ ९३ ॥

एकादश इन्द्रियाशक्ति और सत्रह बुद्धयशक्ति मिलाकर अट्ठाईस अशक्तियां हैं। एकादश इन्द्रिय प्रसिद्ध हैं। उनके वध से एकादश अशक्ति हैं। वक्ष्यमाण नौ तुष्टि और आठ सिद्धियों के वैपरीत्य से बुद्धयशक्ति हैं।

प्रकृतौ चोपादाने काले भाग्ये चतुष्टयी तुष्टिः ।
पञ्चभ्यो विषयेभ्यश्चोपरमात्पञ्च नव तेन ॥ ९४ ॥

प्रकृति स्वयं करेगी मोक्षादि, संन्यासादिग्रहण से ही हो जायेगा, समय पर सब कुछ होगा, भाग्य से सब होता है ये चार तुष्टियां हैं। पांच विषयों से उपराम होने से पांच तुष्टियां हैं। मिलाकर नौ हो गयीं ॥९४॥

अध्ययनं शब्दाप्तिरथोहः सुहृदाप्तिरपि च दानमपि ।
दुःखत्रयहननमपि च परिगणिताः सिद्धयोऽत्राष्टौ ॥ ९५ ॥

अध्ययन, शास्त्र प्राप्ति, मनन, सब्रह्मचारी आदि विचारक सुहृत् की प्राप्ति, विद्यादान, दुःखत्रय के तीन नाश ये आठ सिद्धियां हैं (ये क्रम और व्याख्या वाचस्पत्यानुसार है) ॥९५॥

एष प्रत्ययसर्गः कथितस्तन्मात्रसर्ग उक्तः प्राक् ।
अन्योन्यसहायत्वादुभयः सर्गो हि संसारः ॥ ९६ ॥

यह प्रत्ययसर्ग कहलाता है। तन्मात्रासर्ग पहले कहा जा चुका है। ये दोनों परस्पर सहायक हैं। एक के विना दूसरा नहीं होता। अतः दोनों ही मिलकर संसार समझना चाहिए।।९६॥

इति प्रत्ययसर्गः

पुरुषो नैव प्रकृतिर्नापि च विकृतिर्न च त्रिगुणरूपः ।
चैतन्यैकशरीरो भिन्नः प्रायः प्रतिशरीरम् ॥ ९७ ॥

पुरुष प्रकृति या विकृति नहीं। त्रिगुणरूप भी नहीं। चैतन्यमात्रस्वरूप है। योगियों के नाना शरीर से अन्यत्र प्रतिशरीर भिन्न है ॥९७॥

न ह्येकस्मिन्दुःखिनि भीते क्रुद्धे तथैव सर्वे स्युः ।
भेदोऽतः पुरुषाणां भवति हि पुरुषार्थभेदाच्च ॥ ९८ ॥

पुरुष यदि एक होता तो एक दुःखी हुआ, डरा, क्रुद्ध हुआ तो सभी ऐसे होने लगते अतः पुरुषभेद है। पुरुषार्थ की भिन्नता से भी पुरुषभेद सिद्ध होता है। अन्यथा एक के मुक्त होने से सभी मुक्त होते। या कोई भी अब तक मुक्त न होता ॥९८॥

ननु दुःखादिकमखिलं बुद्धौ बुद्धिश्च भिन्नरूपैव ।
कस्मात्पुरुषविभेदस्तदुपादायेति चेन्मैवम् ॥ ९९ ॥

प्रश्नः—दुःखादि सभी बुद्धि में हैं न कि पुरुष में। बुद्धियां भिन्न ही हैं। अतः उसको लेकर पुरुषभेद मानने की क्या जरूरत ? ॥९९॥

अध्यासः पुरुषेषु हि भिन्नस्तेनैव बन्धमोक्षौ स्ताम् ।
एकत्वे पुरुषस्य त्वध्यासो नैव भिद्येत ॥ १०० ॥

उत्तर :—पुरुषों में सुखादि का अध्यास भिन्न-भिन्न ही है। उसीसे बन्धमोक्ष की भी व्यवस्था है। यदि पुरुष एक हो तो अध्यास भेद सिद्ध ही नहीं होता ॥१००॥

एतेन जननमरणप्रभृतिर्नानाशरीरवर्त्यपि च ।
अध्यासप्रतिनियमात्पुरुषभिदां साधयत्येव ॥ १०१ ॥

इस न्याय से जन्ममरणादि भले शरीरादि के धर्म हो, फिर भी अध्यास प्रतिव्यक्ति नियत होने से वे भी पुरुषभेदसाधक ही हैं ॥१०१॥

नन्वविकारी पुरुषो बन्धो मोक्षः सुखादिकं चैव ।
बुद्धावेव पुमांस्तु प्रतिबिम्बमुखेन दीपयति ॥ १०२ ॥
कस्मात्पुरुषविभेदो बद्धो मुक्तोऽहमिति च बुद्धिरपि ।
बुद्धावेव न पुंसीत्यभिहितनियमो न पुंभेदी ॥ १०३ ॥

प्रश्न :—पुरुष सर्वथा अविकारी है। बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख आदि कोई भी विकार पुरुष में सम्भव नहीं है। ये सभी बुद्धि में ही हैं। पुरुष केवल बुद्धिगत इन सब को प्रतिबिम्ब के द्वारा प्रकाशित करता है। अतः पुरुषभेद क्यों मानना चाहिये ? बल्कि बद्ध हूं, मुक्त हूँ इत्यादि बुद्धि भी बुद्धि में ही है। पुरुष में नहीं। अतः पूर्वोक्त नियमादि पुरुषभेदकारी नहीं हैं।

मैवं बुद्धेरात्यन्तिकविलयस्तर्हि भवति पुरुषार्थः ।
स्वलयं को वा वाञ्छेत् पुरुषार्थत्वं कथं तस्य ॥ १०४ ॥

उत्तर :—बुद्धि ही अगर बद्ध और मुक्त होती है तो मुक्त होने वाली वह स्वयं नष्ट होती है। वही अहं पदार्थ है। अपना नाश कैसा पुरुषार्थ है ? अपना लय कौन चाहेगा ? ॥१०४॥

पुरुषे तस्माद्बन्धप्रभृतेरध्यास एव योऽनादिः ।
सोऽयं पुंसो बन्धस्तस्य विमोक्षस्तु पुरुषार्थः ॥ १०५ ॥

अतः पुरुष में अनादि सिद्ध बन्धाद्यध्यास है। अनादि होने ही से वह पुरुष में कैसे हुआ यह प्रश्न नहीं उठता। उसकी निवृत्ति ही मोक्षरूपी

पुरुषार्थ है ॥१०५॥

तत्रादृष्टनियमतस्तत्तद्बुद्धेर्गुणाः किलाध्यस्ताः ।
तत्तत्पुरुषे तत्तन्मोक्षस्तत्तत्स्वबुद्धिलयात् ॥ १०६ ॥

अदृष्ट नियामक होने से एक-एक बुद्धि के गुणों का नियमतः एक-एक पुरुष में अध्यास होता है। उस-उस बुद्धि के विलय से उस-उस पुरुष का मोक्ष होता है ॥१०६॥

इति पुरुषनिरूपणम्

ऊर्ध्वं सात्त्विकबहुला राजसबहुलाश्च मध्यतः सर्गे ।
मूले तामसबहुला ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः ॥ १०७ ॥

ऊर्ध्व लोक में सात्त्विक अधिकतर हैं। मध्यसृष्टि में राजस अधिकतर हैं। अधोलोक में अधिक तामस हैं। ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त इस प्रकार सृष्टि है ॥१०७॥

त्रिविधं सर्वत्रैव च तत्र जरामरणदुःखघातभवम् ।
तस्य च विनिवृत्त्यर्थं प्रकृतिर्यतते परार्थमियम् ॥ १०८ ॥

वैसे तो सात्त्विक राजस तामस सर्वत्र है। अतएव जरामरणाद्याघातादिजन्य त्रिविध दुःख भी सर्वत्र है। उसकी निवृत्ति के लिए परार्थ यह प्रकृति प्रवृत्त होती है ॥१०८॥

शास्त्रश्रवणे मनने ध्याने च कृते सहायमासाद्य ।
अधिगम्यौषधमिव सा संसाररुजां निवर्तयति ॥ १०९ ॥

शास्त्रों का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन किये जाने पर प्रकृति को सहारा मिल जाता है। जैसे औषध का सहारा मिलने पर प्रकृति रोग को मिटाती है वैसे इस सहारे से संसार रोग को मिटाती है ॥१०९॥

कृतकार्या नैव पुनर्महदादिशरीरसृष्टिमारभते ।
व्रणपूर्तौ न हि धातुं पुनरपि परिपूरयेत् प्रकृतिः ॥ ११० ॥

अपवर्ग कार्य पूरा होने पर प्रकृति पुनः सृष्टि नहीं करती। शरीर में घाव होने से प्रकृति उसे भरती है। किन्तु भरने के बाद भी भरती ही रहे, और टीला बना दे, ऐसा प्रकृति नहीं करती ॥११०॥

आरम्भाद्विनिवृत्तावप्यारब्धं शरीरमाऽऽरब्धम् ।
संस्कारवशात्तिष्ठति चक्रभ्रमिवद्विमुक्तस्य ॥ १११ ॥

सृष्टि रचना से प्रकृति भले निवृत्त हो, फिर भी आरब्ध जो शरीर है वह, जब तक प्रारब्ध है तब तक, मुक्त का वैसा ही रहता है। जैसे चक्र घुमाकर छोड़ देने पर जब तक वेग है तब तक घूमता रहता है ॥१११॥

प्रारब्धपरिसमाप्तौ विलयमुपगते तथैव संस्कारे ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमाप्नोति परं स कैवल्यम् ॥ ११२ ॥

प्रारब्ध समाप्त होने पर संस्कार भी विलीन होता है तब ऐकान्तिक आत्यन्तिक कैवल्य को वह प्राप्त होता है ॥११२॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता ।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥ ११३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दगिरेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे सांख्यदर्शनम्

योगदर्शनम्

विनिहतनिखिलक्लेशं भक्तजनानुग्रहात्तबहुवेशम् ।
भोगीशमपि तमीडे योगीशमशेषमपि शेषम् ।। १ ।।

सकल क्लेशरहित, भक्तजनानुग्रहार्थं नानारूपधारी भोगीश (सर्पों के ईश्वर) भी योगीश्वर तथा किसी का शेष न होने पर भी शेष रूप, उस भगवान की हम स्तुति करते हैं ॥१॥

सांख्यं संख्याय मतं योगं प्रायस्तदर्थसंयोगम् ।
संप्रति संप्रतिपन्नं सर्वेषां संग्रहाद्वक्ष्ये ।। २ ।।

सांख्यमत निरूपण कर प्रायः उसी में प्रतिपादित प्रमेयार्थयुक्त सर्व-संप्रतिपन्न योग को अब हम संक्षेप से कहेंगे ॥२॥

चित्तस्य भूमयः स्युः क्षिप्तं मूढं तथैव विक्षिप्तम् ।
एकाग्रं च निरुद्धं यत्र समाधिर्जनानां स्यात् ।। ३ ।।

चित्त की पांच भूमियां हैं। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। जहां लोगों को समाधि होती है ॥३॥

मदकलनात्परिकुण्ठितमुक्तं मूढं समाहितं तमसा ।
कामिन्यादिसमाहितमभिहितमिह योगिभिः क्षिप्तम् ।। ४ ।।

भांग आदि मदकारी वस्तु से चित्त कुण्ठित होकर तमोगुण से समाहित होता है। उसको मूढ कहते हैं। शब्द स्पर्शादि एवं मनोनुकूल कामिनी आदि की प्राप्ति में चित्त थोड़ी देर के लिए स्थिर समाहित होता है वह क्षिप्त है ॥४॥

चित्तं यतोयतो निश्चरति ततो वशयतस्तु विक्षिप्तम् ।
क्षिप्ताद्विशिष्टमपि तन्न योगपक्षे किमुत पूर्वे ।। ५ ।।

"यतो यतो निश्चरति" इत्यादि गीतावचनानुसार जहां से भी चित्त बहिर्निःसरण करता है वहां से वापिस लाकर आत्मा में जोड़ते रहना विक्षिप्त है। वह भी योगपक्ष में नहीं माना जाता तो पूर्व दो (क्षिप्त और मूढ) भला योगपक्षीय कैसे हो सकते हैं ? ॥५॥

यहि वितर्कविचारानन्दास्मित्वानुगमनमेकाग्रम् ।
संप्रज्ञातसमाधिः संप्रोक्तो योगिभिर्योगः ॥ ६ ॥

जब वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से अनुगत चित्त एकाग्र होता है तब की उस संप्रज्ञात समाधि को योगी योग मानते हैं ॥६॥

सद्भूतार्थं प्रथयन् क्षपयन् क्लेशान् विकर्म विश्लथयन् ।
स निरोधाभिमुखं स्वं कुरुते चित्तं समाधिरयम् ॥ ७ ॥

यह संप्रज्ञात समाधि सत्य (ऋत) अर्थ को प्रद्योतित करता है। क्लेशों को क्षीण करता है। कर्मों को शिथिल करता है। चित्त को निरोधसमाधि के अभिमुख करता है ॥७॥

तत्र श्रुतानुमानादतिरिक्ता स्यादृतंभरा प्रज्ञा ।
तज्जः संस्कारोऽपरसंस्कारान् बाधते क्लिष्टान् ॥ ८ ॥

उस संप्रज्ञात समाधि में संप्रज्ञा-ऋतंभरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। उससे उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य क्लेशयुक्त संस्कारों को बाधित करता है ॥८॥

तस्याभ्यासवशात् स्यात् प्रज्ञावैशद्यलक्ष्म वैराग्यम् ।
तेनासंप्रज्ञातो योगः स्यात् सर्वविनिरोधः ॥ ९ ॥

उस संप्रज्ञात का अभ्यास करते रहने से प्रज्ञावैशद्य होगा। वही पर-वैराग्य है। उससे सर्वनिरोधरूप असंप्रज्ञात समाधियोग होगा ॥९॥

सोऽयमसंप्रज्ञातोऽखिलवृत्तिनिरोधलक्षणो योगः ।
संस्काराणामपि च निरोधे तु स एव निर्बीजः ॥ १० ॥

सकलवृत्तिनिरोध होने से ही असंप्रज्ञात है। उसमें फिर सर्व संस्कार का भी निरोध हो जाये तो वही निर्बीज भी कहलाता है ॥१०॥

अत्र चतस्रोऽवस्थास्तत्र मधुमती मधुप्रतीका च ।
प्रज्ञाज्योतिश्च स्युः क्रमशः संस्कारशेषा च ॥ ११ ॥

यहां तक चार अवस्थायें होती हैं। मधुमती, मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति और संस्कारशेषा ॥११॥

मधुसंस्पर्शादाद्या भवति वितर्के तथा विचारेऽपि ।
आनन्दानुगता स्यान्मधुप्रतीका मधुमयी सा ॥ १२ ॥

वितर्कानुगत और चिचारानुगत में मधुस्पर्श-परमसुखसंबन्ध होने से मधुमती है। आनन्दानुगता में मधु ही मधु है। अतः मधुमयी होने से मधुप्रतीका-मधुशरीरा वह है ॥१२॥

अनुविद्यात्मानमणुं यत्रास्मीत्येष संप्रजानीते ।
प्रज्ञाज्योतिर्नाम विशोका सैषास्मितानुगता ॥ १३ ॥

'तमणुमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते' इस पञ्चशिखाचार्य वचन से अस्मिता जीवात्मारूप है। उसको जान कर समाधि लगाने पर अस्मि ऐसा अविमिश्रित संप्रज्ञान होता है। इसे प्रज्ञाज्योति एवं विशोका कहते हैं। यही अस्मितानुगता भी है ॥१३॥

संस्कारमात्रशेषा चरमाऽतिक्रान्तभावनीयैषा ।
न हि भावनीयमस्यां किमपि ह्यवशिष्यते विदुषः ॥ १४ ॥

चौथो संस्कारमात्रशेषा है। इसी को अतिक्रान्तभावनीया भी कहते हैं। यही असंप्रज्ञात समाधि है। इसमें योगी के लिए भावनोय कुछ भी नहीं रह जाता है ॥१४॥

कृतकृत्यत्वाद्योगी तर्हि च कैवल्यपरमभागी सः ।
तस्यायं मुख्योऽर्थो गौणोऽर्थः सिद्धयः सर्वाः ॥ १५ ॥

उस समय योगी कृतकृत्य हो जाने से कैवल्य का सर्वोत्तम अधिकारी होता है। यह कैवल्य ही उसका परम प्रयोजन है। सिद्धियां तो गौण प्रयोजनमात्र हैं ॥१५॥

इति शास्त्रोपक्रमः

योगार्थाः सर्वेऽपि पदार्था प्रणिधानसंयमार्थवशात् ।
उभयविधयोगहेतोस्तेऽतः शास्त्रेऽनुवर्ण्यन्ते ॥ १६ ॥

प्रकृति, महत्तत्त्वादि सभी पदार्थ योगार्थ हैं। ईश्वरादि में प्रणिधान, अन्यत्र वितर्कविचारादिसमाधि-अर्थ पदार्थज्ञान आवश्यक है। कैवल्यार्थ योग हो या सिद्धयर्थ योग हो, दोनों के लिए तत्तत्पदार्थज्ञान चाहिए। अतः योगशास्त्र में पदार्थवर्णन किया गया है। अतएव योगशास्त्रोक्त पदार्थों को पूर्णतया तात्पर्यविषय मानना भी आवश्यक नहीं है। शालग्राम शिला में विष्णुत्वप्रणिधान किया जाता है। अतः योगालम्बनार्थ पदार्थवर्णन है। अतएव योगस्वीकृतपदार्थखण्डन भी अनुपयुक्त है। 'एतेन योगः प्रत्युक्तः'

यह बादरायणसूत्र भी योगोक्तत्वेन परमार्थ है ऐसे मानने वालों के निराकरणार्थ है। अन्यथा "दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः मानसास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः पूर्णं वर्षसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तका" इत्यादि शास्त्र अप्रामाणिक होने लगेगा। यथाप्रतिपादित चिन्तन में तात्पर्य है, न कि वस्तुताद्रूप्य में ॥१६॥

ईश्वरगुणजीवाः स्युस्तत्त्वानि त्रीणि परमपुरुषस्तु ।
अपरामृष्टः क्लेशैः कर्मविपाकाशयैरीशः ॥ १७ ॥

मुख्यतया तीन तत्त्व हैं। ईश्वर, प्रकृति और जीव। इनमें क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अपरामृष्ट पुरुष ईश्वर है। अपरामृष्ट अर्थात् जो कदापि संश्लिष्ट न हुआ हो ॥१७॥

चैतन्यैकरसोऽसौ नित्यानन्दस्वरूपपरितृप्तः ।
नानाविधरूपाणि विधत्ते भक्तानुकम्पी सन् ॥ १८ ॥

वह ईश्वर चैतन्यैकरस सर्वज्ञ है। नित्यानन्दपरितृप्त है। भक्तानुकम्पी होकर नानारूप भी ग्रहण करता है। "तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या" ऐसा व्यासभाष्य में कहा है। वाचस्पत्यवित्ररण में थोड़ा विस्तार भी किया है। अतः आगमानुकूल स्वरूपस्वीकार योगशास्त्रानुकूल होने से यहां का विषय अनतिशङ्कनीय है ॥१८॥

सातिशयाः सर्वज्ञा बहवः सन्तीह योगिनो भुवने ।
निरतिशयं सार्वज्ञं क्वचन भवेत्सोऽयमीश इति ॥ १९ ॥

कोई एक ब्रह्माण्ड जानता है, कोई दस जानता है इत्यादि रीति सातिशय सर्वज्ञता योगियों में प्रसिद्ध है। उसकी अवधिरूप से कोई निरतिशय सर्वज्ञ भी होना चाहिये। जैसे परम महान् आकाशादि वैसे परमसर्वज्ञ ईश्वर है ॥१९॥

करुणापारावारो भक्तित आवर्जितः स परमेशः ।
भावयति खलु समाधिं भक्तानां योगलिप्सूनाम् ॥ २० ॥

वह परमेश्वर दया का सागर है। भक्ति से आकर्षित होता है। वैसे आकर्षित होने पर वह योगेच्छुक भक्तों को समाधि लाभ कराता है ॥२०॥

भक्त्यर्थं स च बहुधा रूपं धत्ते स कर्मसचिवः सन् ।
रचयति भुवनान्यवति च संहरति च सर्वशक्तियुतः ॥ २१ ॥

भक्तिसंपादनार्थ वह नानारूपों को धारण करता है। प्राणिकर्मानुसारेण जगत की रचना करता है, रक्षा और संहार भी करता है। वह सर्वशक्ति-युक्त है ॥२१॥

पूर्वेषामपि स गुरुः कालेनासौ [1]यतोऽपरिच्छिन्नः ।
ज्ञानक्रियादिशक्तिषु सर्वेऽप्यन्ये त्ववच्छिन्नाः ॥ २२ ॥

वह पूर्वतन हिरण्यगर्भादि के भी गुरु, उपदेष्टा हैं। क्योंकि वह कालाऽ-परिच्छिन्न है। ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति आदि अमुक काल में उससे युक्त रही, अमुक काले में नहीं रहीं, ऐसी बात नहीं है। अन्य सब की ज्ञानादि शक्ति कालावच्छिन्न है ॥२२॥

प्रणवोऽभिधानमस्य प्रियतममेष प्रसीदति जनेषु ।
तज्जपतदर्थभावनपरिकर्मयुतेषु भक्तेषु ॥ २३ ॥

ईश्वर का प्रियतम अभिधान (नाम) प्रणव है। उसका जप और अर्थ-चिन्तनरूपी परिकर्म करने वाले भक्तजनों पर ईश्वर प्रसन्न होता है और कार्यसिद्धि संपन्न करता है ॥२३॥

इतीश्वरनिरूपणम्

सत्त्वरजस्तमसां किल गुणनामजुषां विशेषमविशेषम् ।
लिङ्गमलिङ्गं चापि प्राहुश्चत्वारि पर्वाणि ॥ २४ ॥

सत्त्व, रज, तम ये गुणनामवाले हैं। इनके चार पर्व हैं। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग ॥२४॥

दृश्यं प्रकाशचलनस्थितिशीलं शान्तघोरमूढात्म ।
भूतेन्द्रियं विशेषाः षोडश भोगापवर्गार्थाः ॥ २५ ॥

प्रकाश, चलन एवं स्थितशील, शान्त, घोर, मूढस्वरूप भूतेन्द्रियसमु-दाय दृश्य है। ये ही सोलह विशेष कहलाते हैं। जो भोग तथा अपव-र्गार्थ हैं ॥२५॥

उभयोरविशेषतया तन्मात्राश्चाप्यहङ्कृतिश्चैव ।
तन्मात्रापञ्चकतो भूतमहङ्कारतः खानि ॥ २६ ॥

भूत तथा इन्द्रियरूपी विशेष के अविशेष तन्मात्रा एवं अहङ्कार है। पांच तन्मात्राओं से भूत तथा एक अहङ्कार से इन्द्रियां हो गयीं ॥२६॥

१. यतोऽनवच्छिन्न इति पाठाण्तरम् ।

तदुभयहेतुर्लिङ्गं न तु मात्राः सांख्यवत्त्वहङ्कारात् ।
लयशीलं लिङ्गमिदं तद्धि महद् बुद्धितत्त्वमुत ॥ २७ ॥

तन्मात्रा और अहङ्कार दोनों का हेतु लिङ्ग है। न कि सांख्यों के समान लिङ्ग से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्च तन्मात्रा। यह लिङ्ग लय-शील है। यही महत्तत्त्व या बुद्धिवत्त्व भी कहलाता है ॥२७॥

या तु गुणानां साम्यावस्थाऽलिङ्गं तदेव सा प्रकृतिः ।
प्रलये साम्यावस्था साम्यासाम्योभयी सृष्टौ ॥ २८ ॥

जो गुणों की साम्यावस्था है वही अलिङ्गरूप गुणपर्व है। उसी को प्रकृति भी कहते हैं। प्रलय में साम्यावस्था तो होती ही है। सृष्टि में साम्य असाम्य दोनों अवस्थायें हैं। अन्यथा प्रकृति नष्ट मानी जाती और उसमें अलिङ्गत्व भी नहीं रहता ॥२८॥

गुणगानामपि तासां सक्रमसव्युत्क्रमौ हि सृष्टिलयौ ।
मृत्सासमुपाश्रितयोर्यद्वद्धि कपालघटयोस्तौ ॥ २९ ॥

पर्वं गुणगत हैं तो अलिंग से लिंग, उससे अविशेष, फिर विशेष, यह सृष्टि-क्रम और प्रलय विपरीतक्रम ऐसा क्यों ? एक साथ सब होना चाहिए। नहीं। मृत्तिका में ही कपाल और घट हैं। फिर भी क्रम रहता है। वैसे यहां भी है ॥२९॥

नासदलिङ्गमतुच्छं न सदपि पुरुषार्थहेतुताविरहात् ।
पुरुषार्थपरिसमाप्तिर्बुद्धेर्भोगापवर्गजुषः ॥ ३० ॥

अलिङ्ग असत् नहीं है। क्योंकि तुच्छ नहीं है। सत् भी नहीं है। क्यों कि पुरुषार्थहेतुता उसमें नहीं है। समस्त पुरुषार्थ को परिसमाप्ति बुद्धि में हो जाती है। क्योंकि भोग और अपवर्ग उसी में हैं ॥३०॥

इष्टानिष्टावधृतेरविभागो भोग उच्यते भोक्तुः ।
अपवर्गस्तु विभक्तस्वरूपबोधश्च तस्यैव ॥ ३१ ॥

इष्टानिष्ट सुखदुःख के अवधारण का पुरुष में अविभाग होने पर भोग कहलाता है। इन सबसे विभक्त पुरुषस्वरूप का बोध अपवर्ग है ॥३१॥

ग्रहणं धारणमूहोऽपोहस्तत्त्वज्ञताप्यभिनिवेशः ।
एते बुद्धौ सन्तोऽध्यारोप्यन्ते मुधा पुरुषे ॥ ३२ ॥

वस्तुज्ञान, स्मृति, ऊहन, अपोहन, तत्त्वज्ञान, हानोपादानज्ञान ये सभी बुद्धि में हैं और पुरुष में वृथा आरोपित करते है ॥३२॥

जायन्ते तन्मात्राश्चाहङ्कारश्च बुद्धितो युगपत् ।
अविशेषाः सर्वे ते प्रोक्ताः शान्ताद्यनात्मत्वात् ॥ ३३ ॥

बुद्धि से युगपत् तन्मात्रा और अहङ्कार होते हैं। ये शान्तादि रूप न होने से अविशेष कहलाये ॥३३॥

श्रोत्रादि च वागादि च मन एवापीन्द्रियाणि कथितानि ।
पृथिवीजलतेजोऽनिलगगनानि तथैव भूतानि ॥ ३४ ॥

श्रोत्रादि पांच, वागादि पांच, मन ये इन्द्रियां है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ये भूत हैं ॥३४॥

तत्त्वान्तरपरिणामो नैषां तन्नाविशेषरूपाणि ।
धर्मावस्थालक्षणपरिणामा एव तेषां स्युः ॥ ३५ ॥

भूतों के तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होते। अत एव वे अविशेष रूप नहीं हैं। उनके धर्मपरिणाम, अवस्थापरिणाम और लक्षणपरिणाम ही होते हैं।

पिण्डाकारं त्यक्त्वा प्रतिलभते मृत् स्फुटं घटाकारम् ।
व्युत्थानाच्च निरोधं चित्तमयं धर्मपरिणामः ॥ ३६ ॥

मिट्टी पिण्डाकार को छोड़कर घटाकार को प्राप्त होती है। एवं चित्त व्युत्थानपरिणाम को छोड़ कर निरोधपरिणाम को प्राप्त होता है यह धर्मपरिणाम है ॥३६॥

लक्षणपरिणामः स्यात् त्र्यध्ववतोऽनागतागतगतस्य ।
एष्यत्येति व्येति ह्यैकाग्र्यं चैव सार्वार्थ्यम् ॥ ३७ ॥

लक्षण परिणाम तीन काल से युक्तों का है। अनागतलक्षण, आगत-लक्षण और गतलक्षण। चित्त में यह है। एकाग्रता आयेगी या आ गयी। और सर्वार्थता (सर्वविषयवृत्ति) गयी ॥३७॥

सोऽवस्थापरिणामः परिणमते यत् प्रतिक्षणं सदृशम् ।
तुल्यप्रत्ययधारा चित्तस्योदेति शाम्यति च ॥ ३८ ॥

अवस्थापरिणाम वह है जो प्रतिक्षण सदृशपरिणाम को प्राप्त होता है घट प्रतिक्षण घटरूपेण परिणत होता है। चित्त में तुल्य प्रत्ययधारा उत्पन्न

होती है और समाप्त भी होती है ॥३८॥

इति गुणनिरूपणम्

युतसिद्धायुतसिद्धौ संघौ सेनावनादिकः प्रथमः।
वृक्षो देहः परमाणुरिति परस्तत् किल द्रव्यम् ॥ ३९ ॥

इस परिणाम से युतसिद्ध और अयुतसिद्ध ऐसे दो प्रकार का सङ्घ होता है। सेना, वन इत्यादि युतसिद्ध सङ्घ है। वृक्ष, देह, परमाणु इत्यादि अयुतसिद्ध सङ्घ है। इसी को द्रव्य कहते हैं ॥३९॥

उभयोर्विविधा शक्तिर्ब्रह्माण्डं चापि लोकसङ्घातम्।
यत्र चतुर्दशलोका व्यवतिष्ठन्तेऽध ऊर्ध्वञ्च ॥ ४० ॥

दोनों सङ्घातों में पृथक् प्रकार की शक्ति होती है। ब्रह्माण्ड भी लोक-सङ्घात है जहां चौदह लोक ऊपर नीचे व्यवस्थित हैं ॥४०॥

क्लेशैर्युक्तः कर्मभिरनुसंदृब्धः सितो विपाकैश्च।
आशयजालनिगडितो जीवो बद्धोऽन्यथा मुक्तः ॥ ४१ ॥

क्लेश, कर्म विपाक, आशययुक्त जीव बद्ध है। इससे रहित जीव मुक्त है ॥४१॥

क्लेशाः पञ्चाऽविद्या क्षेत्रं तज्जास्मिता च रागश्च।
द्वेषोऽभिनिशोऽतः साऽविद्या पञ्चपर्वोक्ता ॥ ४२ ॥

क्लेश पांच हैं। इनमें क्षेत्ररूप प्रथम अविद्या और उससे उत्पन्न अन्य चार अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश हैं। अत एव पञ्चपर्वा अविद्या कहते हैं ॥४२॥

यदनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यः शुचिः सुखं चात्मा।
इति बुद्धिः साऽविद्या तदिदं तम ऊचिरे सुधियः ॥ ४३ ॥

अनित्य में नित्यमति, अशुचि में शुचिमति, दुःख में सुखमति और अनात्मा में आत्ममति यह अविद्या है। इसको तम भी कहते हैं ॥४३॥

दृग्दर्शनशक्त्योर्यत्तादात्म्यं भोक्तृभोग्ययोः सैषा।
उक्तास्मिता स मोहो रागस्तावत्सुखानुशयी ॥ ४४ ॥
दुःखानुशयी द्वेषस्तन्वनुबन्धो भवेदभिनिवेशः।
एते च महामोहस्तामिस्रश्चान्धतामिस्रः ॥ ४५ ॥

दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति रूप भोक्ता-भोग्य का तादात्म्य ही अस्मिता है। यही मोह है। सुखानुशयी राग है। वही महामोह है। दुःखानुशयी द्वेष है। वही तामिस्र है। शरीरभय अभिनिवेश है वही अन्धतामिस्र है।

पुण्यं पापं मिश्रं कर्म त्रिविधं विपाक एतस्य।
जात्यायुर्भोगाः स्युः सति मूले क्लेशसद्भावे ॥ ४६ ॥

पुण्य, पाप और मिश्र ऐसे तीन कर्म हैं, जिसका जन्म, आयु और सुख-दुःखभोग विपाक हैं। मूल क्लेश होने पर ही विपाक होता है ॥४६॥

ये तु विपाकानुगुणा आशेरत आशया मनोभूमौ।
ते वासनाभिधाना भोगकरा भोगजन्मानः ॥ ४७ ॥

जो विपाक के अनुगुण मनोभूमि में शयन करते हैं, वे आशय हैं। वासना भी उन्हें कहते हैं। वे भोगकारी भी हैं। और भोगजन्य भी हैं। इस प्रकार जीवात्मा संसारबद्ध है ॥४७॥

इति जीवनिरूपणम्

एतैर्बद्धो जीवो वृत्तिषु विततासु वृत्तिसारूप्यात्।
वृत्तिनिरोधे क्लेशोच्छेदान्मुक्तः स्वरूपस्थः ॥ ३८ ॥

(एतैः क्लेशादिभिर्वृत्तिषु विततासु तत्सारूप्याज्जीवो बद्धो भवतीत्यन्वयः।) इन क्लेशादि से वृत्तियों के विस्तृत होने पर जीवात्मा वृत्तिसारूप्य को प्राप्त होता है। और (क्लेशादि से) बद्ध होता है। वृत्तिनिरोध होने पर क्लेशादि का उच्छेद (विवेकख्याति द्वारा) होता है तो वह मुक्त होता है ॥४८॥

क्लिष्टाः क्लेशनिदानाः क्लेशनिदानानि पञ्चतय्यस्ताः।
यत्नाद्विनिरोद्धव्या अक्लिष्टा वृत्तयश्चापि ॥ ४९ ॥

वृत्तियां पांच होती हैं जो क्लेशजन्य हो ओर क्लेशजनक हो उन क्लिष्ट वृत्तियों को यत्न से रोकना चाहिए। बल्कि जो अक्लिष्ट हैं उनको भी निर्विकल्पक समाध्यर्थ रोकना चाहिए ॥४९॥

तास्तु प्रमितिविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिस्वरूपाः स्युः।
प्रत्यक्षादनुमानादागमतश्चोद्भवेत् प्रमितिः ॥ ५० ॥

वे पांच वृत्तियां-प्रमिति, भ्रान्ति, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति है। प्रत्यक्ष अनुमान और आगम से प्रमिति होती है ॥५०॥

इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं लिङ्गजन्यमनुमानम् ।
स्फोटोद्भवश्च बोधः प्रमितिः स्यादागमिकरूपा ।। ५१ ।।

इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। लिङ्गजन्य ज्ञान अनुमान है। स्फोटजन्य बोध आगमिक है ।।५१।।

क्रमिकैर्वर्णसमूहैः स्फोटो यः स्यात्स वाचकोऽभिमतः ।
संस्कारवैपरीत्यात्तद्युक्तो नान्त्यवर्णस्तु ।। ५२ ।।

क्रमिक वर्णसमूह से अभिव्यक्त स्फोट ही वाचक है। पूर्वपूर्ववर्णसंस्कार-सहित उत्तर वर्ण वाचक नहीं है ।।५२।।

धर्मिग्राहकमानात्स्फोटमते नैष दोष आपतति ।
एकैकवर्णयोगेनैकस्योद्बोधनाच्चैव ।। ५३ ।।

स्फोट मत में यह दोष इसलिए नहीं है कि धर्मिग्राहक मान से यथार्थ स्फोट ही अभिव्यक्त होगा। दूसरी बात एक-एक वर्ण से एक ही स्फोट की आंशिक अभिव्यक्ति होकर चरम वर्ण से पूर्णाभिव्यक्ति होती है ।।५३।।

तद्रूपेऽतद्रूपालम्बं ज्ञानं विपर्ययः कथितः ।
निर्वस्तुको विकल्पः शब्दज्ञानानुपाती यः ।। ५४ ।।

शुक्तितत्त्वरूपवाले में अतद्रूप रजतत्वादि को आलम्बन करने वाला ज्ञान विपर्यय है। शशश्रृङ्ग आदि बोलने पर विना वस्तु ही जो वृत्ति पैदा होती है वह विकल्प है ।।५४।।

निद्रा वृत्तिरभावप्रत्ययसालम्बना न निर्वृत्तिः ।
प्रत्यवमर्शः किंचिन्नावेदिषमित्यभावस्य ।। ५५ ।।

निद्रा अभावप्रत्ययालम्बन वृत्ति है। निर्वृत्ति नहीं। उठने पर न किंचिदवेदिषं ऐसे अभाव या अभावप्रत्यय का प्रत्यवमर्श (अनुसन्धान) देखने में आता है ।।५५।।

अनुभूतानधिकविषयबोधः संस्कारसंभवः स्मरणम् ।
एतासां वृत्तीनां विनिरोधो योग इत्युदितः ।। ५६ ।।

अनुभूत से अधिक विषय न हो और संस्कारजन्य हो तो ऐसा ज्ञान स्मरण है। प्रत्यभिज्ञा और पुनदर्शन दोनों की व्यावृत्ति दो विशेषणों से है। इन वृत्तियों का खास निरोध योग कहलाता है ।।५६।।

अभ्यासाद्वैराग्यादपि च निरोधोऽभ्यधायि वृत्तीनाम् ।
चित्तनदी यदुभयतोवाहिन्यशिवं शिवं चाभि ॥ ५७ ॥

अभ्यास तथा वैराग्य से वृत्तिनिरोध बताया है। क्योंकि यह चित्त-नदी अशिव तथा शिव दोनों ओर बहती है ॥५७॥

वैराग्यादुद्भूताद्विषयस्रोतोऽवरोधनं भवति ।
उद्घाट्यते विवेकस्रोतश्चाभ्यासपाटवतः ॥ ५८ ॥

इनमें वैराग्य से विषयस्रोत का अवरोधन होगा और अभ्यास को पटुता से विवेक-स्रोत का उद्घाटन होता है ॥५८॥

निर्वृत्तितया चित्तप्रवाहिता स्यात् स्थितिस्तदर्थं यः ।
यत्नश्चिन्ताहानविषयकोऽविरतोऽयमभ्यासः ॥ ५९ ॥

अभ्यास उसको कहते हैं कि वृत्तियों के विना चित्त की जो प्रशान्त-वाहिता है तदर्थ यत्न करना। वही यत्न है जो चिन्तन को छोड़ने का निर-न्तर प्रयास है ॥५९॥

दृष्टानुश्रविकेभ्यो विषयेभ्यः सर्वथा वितृष्णस्य ।
वैराग्यं हि परापरभेदि वशीकारसंज्ञा स्यात् ॥ ६० ॥

ऐहिक तथा श्रुतिज्ञात आमुष्मिक विषयों से विरक्त पुरुष को वशीकार-संज्ञा रूपी वैराग्य होता है जिसके पर और अपर दो भेद हैं ॥६०॥

इति वृत्तितन्निरोधनिरूपणम्

वैराग्येण वितर्काद्यभ्यासेनापि वृत्तिविनिरोधे ।
संप्रज्ञातसमाधिः प्रागुक्तो जायते प्रथमम् ॥ ६१ ॥

वैराग्य तथा वितर्कादि के अभ्यास से वृत्तिनिरोध होने पर प्रथम संप्रज्ञात समाधि होती है। वितर्क-स्थूलतत्त्व। विचार-सूक्ष्मतत्त्व ॥६१॥

ग्राह्ये स्थितस्य यत्स्यात्तदञ्जनत्वं तदाभचित्तस्य ।
ग्राह्यसमापत्तिः सा स्थूले सूक्ष्मे च भूतादौ ॥ ६२ ॥
ग्रहणे स्थितस्य तद्वद् ग्रहणसमापत्तिरिन्द्रिये कथिता ।
तद्वद्ग्रहीतरि स्यादस्मित्वाख्ये समापत्तिः ॥ ६३ ॥

स्थूल भूतादि एवं सूक्ष्म तन्मात्रादि में स्थित चित्तकी जो तदाभासता (वस्त्वाभासता) और तदञ्जनता (वस्त्वाकारता) है वह ग्राह्यसमापत्ति-रूप सविकल्प समाधि है। ग्रहण अर्थात् इन्द्रियों में वैसी ही समापत्ति हो तो वह ग्रहणसमापत्तिरूप समाधि है। अस्मितारूपी ग्रहीता में वैसी समापत्ति होने पर वह ग्रहीतृसमापत्तिरूप समाधि है ॥६२-६३॥

सवितर्का शब्दार्थज्ञानविकल्पैरियं हि सङ्कीर्णा।
तदसङ्कीर्णैकार्थविनिर्भासा निर्वितर्का च ॥ ६४ ॥

यह स्थूलविषयकसमापत्ति शब्द, अर्थ और ज्ञान से मिश्रित हो तो सवितर्क समापत्ति होती है। और उनसे असंकीर्ण होने पर निर्वितर्क समापत्ति होती है। मनुष्य ध्यान करते समय ध्येय के बारे में (अन्दर) ही अन्दर घुनघुनाता रहेगा और आकार का स्मरण करता रहेगा। अभ्यास पाटवसे इसकी जरूरत न रहने पर शब्द और ज्ञान छूट जायेंगे, केवल अर्थ हो भासित रहेगा ॥६४॥

अणुतन्मात्रप्रभृतिकमखिलं सूक्ष्मं भवेत्प्रकृत्यन्तम्।
सङ्कीर्णा सविचारा ततोऽन्यथा निर्विचारा च ॥ ६५ ॥

परमाणु तन्मात्रा आदि से लेकर प्रकृति तक सभी सूक्ष्म हैं। प्रथम अभ्यास में अन्दर शब्द बोलते हुए, स्मरण करते हुए जब समाहित करते हैं तब वह सविचार समापत्ति है। अभ्यास पाटव से अर्थमात्र निर्भास होने पर निर्विचार समापत्ति है। 'निष्क्रुष्टो वितर्कः शब्दज्ञानविकल्पाभ्यां, निष्क्रुष्टो विचारस्तथा' ऐसा यहां विग्रह है ॥६५॥

एष सबीजस्तज्जात् प्रज्ञातिशयात् पराख्यवैराग्यात्।
निर्बीजस्तु समाधिर्विरामहेतोस्तथाभ्यासात् ॥ ६६ ॥

ये पूर्वोक्त सबीज समाधि हैं। उस से प्रज्ञावैशद्य (ऋतंभरा) रूपी पर-वैराग्य होगा। उससे तथा विरामहेतु (विरामप्रत्यय) सर्वचिन्तनत्याग के अभ्यास से निर्बीज समाधि होगा ॥६६॥

ये तु विदेहा भूताद्युपास्तितो ये प्रकृत्युपास्तेस्तु।
प्रकृतिलयाश्च समाधिर्भवति भवप्रत्ययस्तेषाम् ॥ ६७ ॥

भूतेन्द्रियादि की उपासना रूपी योग से जो विदेह हो गये और जो प्रकृति की उपासना से प्रकृतिलय हो गये वे जब जन्म लेते हैं तो उनको भवप्रन्यय (जन्मसिद्ध) निर्बीज समाधि होती है ॥६७॥

श्रद्धावीर्यस्मरणसमाधिप्रज्ञाकृतः समाधिर्यः ।
स पुनरुपायप्रत्यय इतरेषां तारतम्येन ।। ६८ ।।

इतर पुरुषों के लिये उपाय प्रत्यय (उपायसाध्य) निर्बीज समाधि होती है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञाप्रसाद इस उपायक्रमपरम्परा से समाधि होगी ।।६८।।

मृदुमध्यतीव्रभेदाच्छ्रद्धादीनां तथा विरागस्य ।
दूरश्चासन्नश्चासन्नतरश्च स समाधिः स्यात् ।। ६९ ।।

श्रद्धादि एवं वैराग्य के मृदु, मध्य, अधिमात्र भेद से धीरे, जल्दी और अतिशीघ्र इस क्रम से समाधि सिद्ध होती है ।।६९।।

ईशप्रणिधानादपि निर्बीजसमाधिरेष लभ्यः स्यात् ।
प्रत्यक्चितोऽधिगमनं निरन्तरायत्वमपि चातः ।। ७० ।।

ईश्वर प्रणिधान (ध्यान, ॐकार जपादि) से भी निर्बीज समाधि प्राप्त हो सकती है। प्रत्यक्-चेतना का बोध और अन्तरायों की (विघ्नों की) निवृत्ति भी उस से होती है ।।७०।।

व्याध्यादयोऽन्तराया योगस्य भवन्ति चित्तविक्षेपाः ।
तत्सहभावा दुःखप्रभृतय एतेन शीर्यन्ते ।। ७१ ।।

व्याधि, स्त्यान आदि योग के अन्तराय हैं, वे चित्तविक्षेपकारी हैं। उनके सहभावी दुःखदौर्मनस्यादि हैं। ये सभी ईश्वर प्रणिधान से दूर होते हैं ।।७१।।

इति सविकल्पनिर्विकल्पसमाधिनिरूपणम्

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाः सुखदुःख पुण्यपापवताम्[1] ।
परिकर्म योगिनः स्याद्येन च चित्तप्रसादः स्यात् ।। ७२ ।।
प्राणायामेनोत स विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना ।
ज्योतिष्मती विशोका चित्तं वा वीतरागपरम् ।। ७३ ।।
स्वप्नाद्यालम्बनमुत मनसः स्थितिमुत्तमां निबध्नाति ।
भवति यथामतदेवध्यानाद्वा सर्वमेवेदम् ।। ७४ ।।

१. पुण्यपापेषु इति पाठान्तरम्

चित्तपरिकर्म :—सुखियों से मैत्री, दुःखियों में करुणा, पुण्यवानों के प्रति मुदितावृत्ति, पापियों के प्रति उपेक्षावृत्तिकरने पर चित्त प्रसन्न होगा। प्राणायाम से भी यह संभव है। विषयवती प्रवृत्ति हो या विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति हो, या वीतराग पुरुष में चित्त लगा लें, या स्वप्ननिद्रादि आलम्बन लेकर चिन्तन करें तो भी मनःस्थिति प्राप्त होती है। यथाभिमत इष्टदेव ध्यान से ये सभी संपन्न होते हैं ॥७२-७४॥

एवं लब्धस्थितिकं परमाणौ परममहति वा क्वापि ।
अप्रतिहतगति चित्तं सुसमापद्येत योगेच्छोः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार चित्त स्थितिको प्राप्त होता है तो पूर्वोक्त समापत्ति आसानी से होती है। परमाणु से परम महत् तक सर्वत्र समापन्न होगा तो क्रमशः निर्बीज समाधि भी प्राप्त होगी ॥७५॥

इति परिकर्मनिरूपणम्

परिणामतापदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधतश्च दुःखमिदम् ।
सकलं विवेकिनः स्याद् दुःखं हेयं तदनुपेतम् ॥ ७६ ॥

परिणाम दुःख तथा तापदुःख से एवं गुणों के वृत्तिविरोध से पूरा संसार दुःखरूप है। अनागत दुःखको ही दूर करना है ॥७६॥

दृग्दृश्ययोगजं तद् दृश्यं भोगापवर्गतो युङ्क्ते ।
द्रष्टारमविद्यातो दृश्यस्यात्मा परार्थ इति ॥ ७७ ॥

द्रष्टा और दृश्य के संयोग से दुःख होता है। पुरुष को भोग तथा अपवर्ग पहुँचाने के लिये दृश्य द्रष्टा पुरुष से युक्त होता है। यह संयोग अविद्याप्रयुक्त है। दृश्य परार्थ होने से ये दोनों कार्य वह करेगा ही ॥७७॥

यर्हि विवेकख्यातिर्योगाङ्गानुष्ठितेरशुद्धिहतेः ।
नष्टेऽज्ञाने दृश्यं नश्यत्यपवर्गचरितार्थम् ॥ ७८ ॥

योगाङ्गनुष्ठान से अशुद्धिक्षय होने से विवेकख्याति होती है। उस से अविद्या नष्ट होने से दृग्दृश्यसंयोगनाश, दुःखनाश और अपवर्ग हो जाते हैं। तब चरितार्थ हुआ दृश्य नष्ट हो जाता है ॥७८॥

नष्टमपि कृतार्थं प्रति तदनष्टं प्रोच्यतेऽन्यसामान्यात् ।
तत्संयोगाभावो हानं तच्चैव कैवल्यम् ॥ ७९ ॥

दृश्य कृतार्थं के प्रति नष्ट होने पर भी अन्यसाधारण होने से अनष्ट है। उसका संयोगाभाव हान है, वही कैवल्य है ॥७९॥

यमनियमासनमरुदायामाः प्रत्याहृतिश्च धारणया ।
ध्यानेन सह समाधिश्चाष्टावङ्गानि योगस्य ॥ ८० ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के आठ अंग हैं ॥८०॥

तत्राहिंसासत्यमथास्तेयं ब्रह्मचर्यमेवापि ।
अपरिग्रहोऽपि चैवं पञ्च यमा योगिभिः प्रोक्ताः ॥ ८१ ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं ॥८१॥

शौचं संतोषतपःस्वाध्याया ईश्वरार्चनं चैव ।
प्रोक्ता नियमाः स्थिरसुखमासनमपि सिद्धपद्माद्यम् ॥ ८२ ॥

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरार्चन ये नियम हैं। स्थिर सुख आसन है जो सिद्धासन पद्मासन आदि हैं ॥८२॥

आसनसिद्धिरनन्तं सन्दधतो भवति शिथिलयत्नस्य ।
फणधृतधरणीकं वा गगनं वाऽनन्तभुवनं वा ॥ ८३ ॥

उस को आसनसिद्धि प्राप्त होती है जो शिथिल प्रयत्न होकर अनन्त का चिन्तन करता है। अपने फण पर अणु के समान जिसने भुवनों को उठा रखा है ऐसे शेष का ध्यान करो। या अनन्त गगन का ध्यान करो। या अनन्त भुवन का ध्यान करो ॥८३॥

पूरक-कुम्भक-रेचकभेदात्त्रिविधं तु वायुसंयमनम् ।
एक-चतु-र्द्विक्रमतः कालादिर्यत्र परिदृष्टः ॥ ८४ ॥

पूरक, कुम्भक, रेचक ऐसा त्रिविध प्राणायाम है। एक, चार, दो इस क्रम से काल रखना चाहिये ॥८४॥

तत्र कनिष्ठाद् द्विगुण-त्रिगुणौ चेन्मध्यमोत्तमौ स्याताम् ।
विपलसपादशताहितकुम्भकवानुत्तमोऽभिमतः ॥ ८५ ॥

कनिष्ठ प्राणायाम से दुगुना कुम्भक होने पर मध्यम और तिगुना होने पर उत्तम होता है। सवा सौ विपल में उत्तम कुम्भक होता है। उसका दो तिहाई मध्यम, एक तिहाई कनिष्ठ समझो ॥८५॥

यत्र न बाह्याभ्यन्तरपरिदृष्टिः केवलः स कुम्भः स्यात् ।
क्षीयेतावरणमतः स्याच्च मनो धारणायोग्यम् ॥ ८६ ॥

बाहर कहाँ तक श्वास का अभिघात होता है। भीतर कहाँ तक होता है इत्यादि दृष्टि के विना ही कुम्भक मात्र किया जाता है। तो वह केवल कुम्भक चतुर्थ प्राणायाम है। इन प्राणायामों से प्रकाशावरणक्षय होता है और मन धारणा के योग्य होता है ॥८६॥

चित्तस्वरूपमखिलान्यनुकुर्वन्तीव यर्हि खानि स्युः ।
प्रत्याहारः स भवेत् स्वकविषयाऽसंप्रयोगेण ॥ ८७ ॥

अपने विषयों से असंयुक्त होने से इन्द्रियाँ मानो चित्तस्वरूप का अनुकरण करने लगी हैं ऐसी स्थिति प्रत्याहार है। ध्येय का चिन्तन चल रहा है। किन्तु लगेगा आँखों से देख रहा हूँ, कानों से उसकी आवाज सुन रहा हूँ इत्यादि ॥८७॥

नाभीचक्रप्रभृतौ सूर्यादौ चित्तवृत्तिबन्धश्च ।
वृत्त्यैकतानता च क्रमशः स्तां धारणाध्याने ॥ ८८ ॥

नाभीचक्रादि में या सूर्यादिदेश में चित्तवृत्तिको बाँधना धारणा है। और वहीं चित्तवृत्तिकी एकतानता हो तो वह ध्यान है ॥८८॥

ध्यानं स्वरूपशून्यवदेव स्यादर्थमात्रनिर्भासम् ।
संप्रज्ञातसमाधिः सोऽङ्गं निर्बीजकसमाधेः ॥ ८९ ॥

ध्यान ही जब अपना भी स्वरूपस्फुरण छोड़ कर अर्थमात्राभास होता है तो वह संप्रज्ञात समाधि है। वह निर्बीज समाधि का अंग है अतः योगाङ्गों में उसकी परिगणना है ॥८९॥

इति योगाङ्गनिरूपणम्

संयम एकत्रान्त्यत्रयमस्य जयाद्विशारदी प्रज्ञा ।
तस्य यथोत्तरभूमिषु विनियोगो योगसिद्धयर्थः ॥ ९० ॥

अन्तिम तीन—धारणा, ध्यान, समाधि को एकत्र करने पर संयम कहलाता है। उससे विशारद प्रज्ञा होती है। उस संयम का उत्तरोत्तर क्रमेण भूमियों में विनियोग करने पर योगसिद्धि होती है ॥९०॥

तत्तद्देशे संयमकरणात् सिध्यन्ति सिद्धयो नाना ।
तास्तु समाधौ सर्वा उपसर्गा नादरसमर्हाः ॥ ९१ ॥

तत्तद्देश सूर्य-चन्द्र-बलादि में संयम से नाना सिद्धियाँ मिलती हैं। किन्तु वे समाधिविघ्नकारी होने से आदरार्ह नहीं हैं ॥९१॥

स्थूलादिसंयमात् स्याद् भूतजयश्चाणिमादयश्चैव ।
ग्रहणादिसंयमात् स्तामिन्द्रियविजयप्रधानजयौ ॥ ९२ ॥

उत्तरोत्तर भूमि अर्थात् स्थूलादि (स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय अर्थवत्त्व) में संयम करने से भूतजय तथा अणिमादि ऐश्वर्य होता है। ग्रहणादि (ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व) में संयम करने से इन्द्रियजय तथा प्रधानजय होता है ॥९२॥

स्वार्थे तु पौरुषेये संयमनात्प्रत्यये पुरुषबोधः ।
तेभ्योऽपि च वैराग्ये दोषोच्छेदेन कैवल्यम् ॥ ९३ ॥

बौद्ध प्रत्यय परार्थ है। पौरुषेय प्रत्यय स्वार्थ है। उस में संयमन करने से पुरुषज्ञान होगा। इन सबसे वैराग्य होने पर दोष का उच्छेद (दोषबीजनाश) होने से कैवल्य होता है ॥९४॥

इति विभूतिनिरूपणम्

चित्तं व्यापकमेतद् वृत्तिस्तस्योच्यते परिच्छिन्ना ।
सैकैकस्मिन् काये व्यज्येत न चैव सर्वत्र ॥ ९४ ॥

वैसे तो चित्त व्यापक है। उस में अहमादि वृत्ति परिच्छिन्न होती है। वह एक-एक शरीर में अभिव्यक्त होती हैं। सर्वत्र नहीं ॥९४॥

युगपद् बहुतरकर्मविपाकं भुक्त्वा निरस्तकर्मासौ ।
मोक्षं प्रतियात्यस्य प्रयोजकं चित्तमेकं स्यात् ॥ ९५ ॥

क्यों निर्माण चित्त बनाना ? इसलिये कि एक साथ बहुत सारे कर्मफल को भोग कर योगी कर्म रहित हो कर मोक्ष पा सकेगा। इन निर्माण चित्तों में प्रयोजक एक चित्त रहता है ॥९५॥

जात्यन्तरपरिणामो वपुषामापूरणात्प्रकृत्यैव ।
वरणापसरणमात्रं योगेन विधीयते तत्र ॥ ९६ ॥

जहाँ योगी शरीर में जात्यन्तर परिणाम करता है जैसे नन्दिकेश्वर देव हो गये, विश्वामित्र ब्राह्मण हो गये इत्यादि वहाँ प्रकृति से ही देवत्वादिमात्राओं का पूरण होता है। प्रकृति सब कुछ करने बैठी है। किन्तु बीच में वरण (प्रतिबन्धक) रहता है। उसे योगी हटा सकता है ॥९६॥

प्रायणसमये कर्माभिव्यक्तिर्वासनानुसारेण ।
जन्मनि तु वासनाभिव्यक्तिः कर्मानुसारेण ॥ ९७ ॥

प्रायणसमय में वासनानुसार कर्म अभिव्यक्त होगा, तदनुरूप जात्यन्तरादि जन्म होगा। जन्म होनेपर कर्मानुसार वासनाभिव्यक्ति होगी ॥९७॥

चित्तं दृश्यत्वान्न स्वाभासं दृश्यते च भीतोऽहम् ।
क्रुद्धोऽहमिति हि तस्मात् पुरुषो नित्यश्चिदात्मासौ ॥ ९८ ॥

चित्त दृश्य होने से स्वप्रकाश नहीं है। मैं भीत हूँ, मैं क्रुद्ध हूँ इत्यादिरीति चित्त की दृश्यता स्पष्ट है। उसका प्रकाशक पुरुष नित्य निर्विकार चिदात्मा है ॥९८॥

चित्प्रतिफलनाच्चित्तं जडमपि भासेत चेतनमिवैतत् ।
सर्वार्थं च द्रष्टा दृश्यैरपि चोपरक्तत्वात् ॥ ९९ ॥

चैतन्य प्रतिबिम्ब से जड भी चित्त चेतनवत् भासित होता है। वह चित्त सर्वार्थ भी है। द्रष्टा का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है। दृश्य का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतः वह सर्वोपरक्त है ॥९९॥

तत्रासंख्येयाः स्युरनादिभवा वासनास्ततश्चित्रम् ।
अपि च परार्थं ताभिः सगुणैः संहत्यकारित्वात् ॥ १०० ॥

उस चित्त पर दृश्य एवं द्रष्टा के प्रतिबिम्ब को लेकर असंख्य वासनायें रहती हैं जो अनादिकालीन हैं। अत एव वह विचित्राकार है। उन वासनाओं से और तीन गुणों से चित्त संहत है। अत एव संघातात्मक होने से वह परार्थ भी है ॥१००॥

जन्मादियुक् तु चित्तं नात्मेति विशेषदर्शिनः सुधियः ।
कैवल्यप्राग्भारं विवेकनिम्नं भवेच्चित्तम् ॥ १०१ ॥

जन्मादियुक्त चित्त ही है, आत्मा नहीं, ऐसे विशेषदर्शनवाले विवेकी का चित्त विवेक की ओर झुका हुआ कैवल्य की ओर बढ़ता है ॥१०१॥

संस्कारेभ्यो यानि तु जायन्ते प्रत्ययान्तराण्यत्र ।
क्लेशवदेषां हानं प्रज्ञासंस्कारदार्ढ्येन ॥ १०२ ॥

पूर्व संस्कारों से बीच-बीच में अन्य प्रत्यय भी आने लगते हैं तो प्रज्ञासंस्कारों की दृढ़ता संपादन कर क्लेशों के समान ही दबाना चाहिये ॥१०२॥

यस्य विनिर्मलबोधादकुसीदत्वं ह्यपि प्रसंख्याने ।
तस्य समाधिः परमो यं प्राहुधर्ममेघ इति ॥ १०३ ॥

निर्मल बोध होने से जिसको प्रसंख्यान की भी आवश्यकता नहीं रह जाती है उसको 'धर्ममेघ' नामक परमसमाधि प्राप्त होती है ॥१०३॥

सर्वेषां क्लेशानां तस्य भवेत्कर्मणां च विनिवृत्तिः ।
सर्वावरणापायाज्ज्ञानानन्त्यं च तस्य भवेत् ॥ १०४ ॥

धर्ममेघ समाधिमान पुरुष के समस्त क्लेश एवं कर्मों की निवृत्ति होती है। सकल आवरण निवृत्त होने से उसका ज्ञान अनन्त हो जाता है। ज्ञेय अल्प हो जाता है ॥१०४॥

न गुणानां परिणामक्रम एतस्योद्भवेत्कृतार्थत्वात् ।
अपरान्तो न गुणानां परिणामेऽप्येव नित्यत्वात् ॥ १०५ ॥

कृतार्थं होने से गुणों का परिणामक्रम धर्ममेघसमाधिमान के लिये नहीं होता है। किन्तु परिणामी होने पर भी गुणों का अपरान्त (नाश) नहीं होता। वे नित्य हैं ॥१०५॥

पुरुषार्थविरहितानां भवति गुणानामतः प्रतिप्रसवः ।
प्रकृतौ विलयः सोऽयं कैवल्यमितीर्यते विबुधैः ॥ १०६ ॥

परिणाम क्रम भी नहीं, नाश भी नहीं तो क्या होगा ? पुरुषार्थरहित होने से गुणों का प्रतिप्रसव होगा। समस्त कार्यों का प्रकृति में हमेशा के लिये विलय होगा। यही कैवल्य है ॥१०६॥

अभ्यस्यतः समाधिं संपद्यन्ते निरोधसंस्काराः ।
तैश्च प्रतिबध्यन्ते नानाव्युत्थानसंस्काराः ॥ १०७ ॥

कैवल्यक्रम इस प्रकार है कि—समाधि का अभ्यास होते रहने पर निरोध संस्कार पैदा होते हैं और व्युत्थान संस्कार प्रतिबद्ध होते हैं ॥१०७॥

कर्माशुक्लाकृष्णं मेघवदस्य प्रतायते सघनम् ।
त्रिविधमुपमर्द्यतेऽतो विनिरोधः सर्ववृत्तीनाम् ॥ १०८ ॥

धर्ममेघसमाधि के अभ्यास से अशुक्ल-अकृष्ण धर्म मेघ के समान विस्तृत हो जाता है। तो त्रिविध कर्म (शुक्ल, कृष्ण, मिश्र कर्म) का उपमर्दन होता है। इसप्रकार कर्म तथा वासना के उपमर्दन से सर्ववृत्तियों का उठना बंद हो जाता है ॥१०८॥

उभयोस्तयोश्च विलयो मनसि मनश्च प्रलीयतेऽस्मित्वे ।
तल्लिङ्गे यद्वा ते लिङ्गे लिङ्गं प्रधाने च ॥ १०९ ॥

निरोधसंस्कार और अशुक्लाकृष्ण कर्म का मन में विलय होगा। मन अस्मिता (अहंकार) में विलीन होगा। अहंकार लिङ्ग (महत्तत्त्व) में लीन होगा। यह वाचस्पत्य व्याख्यानुसार है। परंतु यह तभी संभव है यदि वृत्तियां एवं धर्माधर्मादि मन में माना जाये। यदि मन केवल अन्य इन्द्रियों के समान करणमात्र है, ज्ञान धर्माधर्मादि सभी महत्तत्त्वरूपी बुद्धि में माना जाता है तो इन सबका विलय बुद्धि में ही साक्षात् माना जाना चाहिये। "यद्वा ते लिङ्गे" का यही अर्थ है। लिङ्ग प्रधान में विलीन होता है ॥१०९॥

वृत्तेर्विरहात्तर्हि च पुरुषस्य न भवति वृत्तिसारूप्यम् ।
संस्कारस्याभावात्तदनुदयान्नो भविष्यति च ॥ ११० ॥

वृत्तियों के न होने से पुरुष का वृत्तिसारूप्य नहीं होता। संस्कारों के न होने से आगे भी वृत्तियों के उदय की संभावना न होने से भविष्य में कभी वृत्तिसारूप्य न होगा ॥११०॥

तर्हि च चितिशक्तिः सा प्रतितिष्ठति केवले स्वरूपे स्वे ।
तदिदं शास्त्राभिमतं परमं पुरुषस्य कैवल्यम् ॥ १११ ॥

वृत्तिसारूप्याभाव से चितिशक्ति स्वरूपप्रतिष्ठित होती है। यही शास्त्राभिमत परम कैवल्य है ॥१११॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता ।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥ ११२ ॥
सर्वेषामुपकृतये शास्त्रमिदं विरचितं पतञ्जलिना ।
तत्संक्षेपोऽत्र कृतस्तेन स भगवान् प्रसीदतु मे ॥ ११३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्तश्रीविभूषिताचार्यमहामण्डलेश्वर
श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे
योगदर्शनम्

मीमांसादर्शनम्

विज्ञानामृतवपुषे सोमार्धजुषे पुरद्विषे सततम् ।
निर्धूताखिलतमसे श्रुतिमहसे श्रेयसेऽस्तु नमः ॥ १ ॥

विज्ञान ही जिसका नाशरहित शरीर है ऐसे श्रुतिप्रकाश सर्वान्धकार-निरासी सोमर्धधारी त्रिपुरारी भगवान को श्रेय की प्राप्ति के निमित्त सतत नमस्कार है ॥१॥

धर्मं व्याचक्षाणैः पूर्वैर्मीमांसकैर्विपश्चिद्भिः ।
अङ्गीकृताः पदार्थाः दर्श्यन्ते संग्रहेणात्र ॥ २ ॥

धर्मव्याख्याता पूर्व मीमांसक विद्वानों ने जिन पदार्थों को स्वीकार किया संक्षेप से वे यहां बताये जायेंगे ॥२॥

धर्माधर्मौ द्वाविह जिज्ञास्यौ स्तां तदङ्गविधया च ।
द्रव्यगुणाद्याः सर्वे विज्ञातव्याः पदार्थाः स्युः ॥ ३ ॥

धर्म और अधर्म ही इस संसार में मुख्यतया जिज्ञास्य हैं। अन्य द्रव्य गुणादि उनके अङ्गों के रूप में ही ज्ञातव्य हैं ॥३॥

यश्चोदनाधिगम्यो यश्च प्रतिचोदनाधिगम्यस्तौ ।
यागादिर्हिंसादिर्धर्माधर्मावपूर्वे वा ॥ ४ ॥

जो विधिवाक्य से अवगत यागादि हैं और निषेधवाक्य से अवगत हिंसादि हैं वे ही क्रमशः धर्म और अधर्म कहलाते हैं। प्रभाकर मत में यागादि तथा हिंसादि से उत्पन्न अपूर्व ही धर्म और अधर्म हैं। भट्ट मत में भी अपूर्व तो है ही ॥४॥

द्रव्यं गुणश्च कर्म च सामान्यं चापि शक्तिसादृश्ये ।
संख्यासमवायौ चाभावश्चैते पदार्थाः स्युः ॥ ५ ॥

द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य उभय मत में चार पदार्थ हैं। प्रभाकर मत में शक्ति, सादृश्य, संख्या और समवाय ये चार अधिक होने से आठ पदार्थ हैं। और भट्ट मत में अभाव एक ज्यादा होने से पांच पदार्थ हैं ॥५॥

इति विषयसामान्योद्देशः

अथ प्रमाणविचारः

अत्र निमित्तपरीष्टिः प्रथमं यस्याः प्रमेयसिद्धिः स्यात् ।
दृष्टानुमानशब्दा उपमार्थापत्त्यभावास्ते ॥ ६ ॥

यहां निमित्त (प्रमाण) की परीक्षा प्रथम होना चाहिए। जिससे प्रयेय की सिद्धि होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये छः प्रमाण हैं। प्रभाकर मत में अभाव न होने से पांच ही प्रमाण है। यह अन्तर्ग्राह्य है। [यहां तक—अथातो धर्मजिज्ञासा, चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, तस्य निमित्तपरीष्टिः इन तीन सूत्रों का तात्पर्यार्थं बताया गया है]।

यदबाधितमनधिगतमसन्दिग्धं गाहते प्रमा सोक्ता ।
तत्करणं सा च बुधैराख्यायेते प्रमाणमिति ॥ ७ ॥

जो ज्ञान अबाधित, अज्ञात, असन्दिग्ध अर्थ को विषय करे वह प्रमा कहलाता है। उस को और उसके करण को प्रमाण कहते हैं ॥७॥

स्वत एव प्रामाण्यं नो चेदनवस्थितिः स्फुटा भवति ।
अप्रामाण्यं परतो भट्टस्य मते विसंवादात् ॥ ८ ॥

प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति स्वतः होती है। अन्यथा प्रामाण्यज्ञान के प्रमात्व का ज्ञान और उसके भी प्रमात्व का ज्ञान इस प्रकार अनवस्था होगी। प्रभाकर के मत में अप्रमा है ही नहीं, अतः उस पर भट्ट मत से ही सोचना है। उनके मत में अप्रामाण्य ज्ञान विसंवादी प्रवृत्ति आदि से अनुमेय है—अर्थात् परतः है ॥८॥

प्रत्यक्षं मुनिरगदीदर्थेन्द्रियसंप्रयोगजं ज्ञानम् ।
मितिमातृमेयरूपत्रिपुटीविषयं तदाह गुरुः ॥ ९ ॥

इन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्य ज्ञान को जैमिनि मुनिने प्रत्यक्ष बताया। वह हमेशा प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमीति इस त्रिपुटी को विषय करता है ऐसा गुरु का कहना है ॥९॥

अविकल्पकसविकल्पकभेदादिः स्यात्कणादवत्[1] सकलम् ।
समवाये तादात्म्यं भट्टस्य तु संनिकर्षस्थम् ॥ १० ॥

---

१. प्रायः इति पाठान्तरम्

ज्ञान दो प्रकार है—अनुभूति और स्मृति। प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार है। निर्विकल्पक और सविकल्पक। संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय इत्यादि संनिकर्ष प्रायः वैशेषिकमतसदृश ही प्रभाकर मत में है। भट्ट मत में समवाय न होने से उसकी जगह तादात्म्य जोड़ना चाहिये। प्रभाकरमत में नाद शब्दस्थानीय है। और शब्द स्वतन्त्र पदार्थ नादाभिव्यङ्ग्य है॥

इति प्रत्यक्षविचारः

अनुमानमसंयुक्ते स्याज्ज्ञानाद् व्याप्तिपक्षधर्मतयोः।
निरुपाधिकसम्बन्धो हेतोर्व्याप्तिस्तु साध्यस्य॥ ११॥

असंनिकृष्ट अर्थ का अनुमान होता है। वह व्याप्तिज्ञान तथा पक्ष धर्मता ज्ञान से होगा। जहां विशिष्ट परामर्श है उसके अन्तर्गत ये दो हैं ही। अतः विशिष्ट परामर्श को पृथक् कारण मानना व्यर्थ है। पर्वतीयत्वादि उपाधि के बिना ही हेतुतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसम्बन्ध व्याप्ति है॥११॥

न्यायो भवेत् प्रतिज्ञा हेतुरुदाहरणमिति च यत्त्रितयम्।
दृष्टान्तमन्वयं गुरुराह व्यतिरेकमपि भट्टः॥ १२॥

प्रतिज्ञा, हुतु, उदाहरण ये तीन न्यायवाक्य हैं। अन्वयदृष्टान्त ही प्रभाकर को मान्य है। अन्वय व्यतिरेक दोनों भट्ट मानते हैं॥१२॥

सव्यभिचारविरुद्धासिद्धा बाधश्च हेतुदोषाः स्युः।
सत्प्रतिपक्षो न पृथग् व्यभिचारव्याप्यवद्दोषः॥ १३॥

सव्यभिचार, विरुद्ध, असिद्ध, बाधित ये चार हेतु दोष हैं। सत्प्रतिपक्ष साध्याभावरूपी बाध से गतार्थ है। क्योंकि वह साध्याभावव्याप्य है। अन्यथा व्याप्त्यभावव्याप्य, हेत्वभावव्याप्यादि भी कहना पड़ेगा॥१३॥

इत्यनुमानविचारः

अथशब्दविचारः

द्विविधः शब्दो लौकिकवैदिकभेदः प्रमाणमिति भट्टः।
मानं वैदिकमेकं लौकिकमनुमानमिति तु गुरुः॥ १४॥

लौकिक वैदिक दोनों शब्द प्रमाण हैं, यह भट्ट मत है। वैदिक शब्द ही प्रमाण है, लौकिक शब्दों में वैशेषिकवत् अनुमान है, ऐसा प्रभाकरमत है॥

शक्त्या लक्षणया वा गौण्या वा शाब्दधीर्भवेद् वृत्त्या।
तात्पर्ययोग्यतासत्त्याकाङ्क्षाणां हि सहकारात्॥ १५॥

तीन वृत्तियां होती हैं। शक्तिवृत्ति, लक्षणावृत्ति और गौणीवृत्ति । ये पदार्थस्मारण के द्वारा शाब्द बोध में कारण हैं। तात्पर्यज्ञान, योग्यता आसत्तिज्ञान और आकांक्षा ये चार सहकारी कारण हैं ॥१५॥

शक्तिस्तु जात्युपाध्योर्न व्यक्तौ सा मता तदानन्त्यात् ।
आग्नेयादौ क्वचन व्यक्तावप्यन्यगतिविरहे ॥ १६ ॥

गौ आदि पद की शक्ति गोत्वादि जाति में; तथा अभाव, गुण आदि पद कीं अभावत्वादि उपाधि में है। व्यक्ति में नहीं। व्यक्ति अनन्त होने से शक्तिग्रह अशक्य है। व्यक्ति का बोध लक्षणा से हो सकता है। हां कहीं अन्य गति न हो तो व्यक्ति में भी शक्ति होती है। जैसे आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते यहां आग्नेयीत्व जाति न होने से दाशतयी आग्नेयी का ग्रहण नहीं है ॥१६॥

अन्वेत्यर्थोऽभिहितो भाट्टेऽन्यमतेऽन्विताथर्मभिधत्ते ।
शब्दाध्याहारः स्यादाद्येऽर्थाध्याहृतिस्तु गुरोः ॥ १७ ॥

पदों से अर्थअभिहित होने पर उक्त अर्थ का अर्थान्तर से आकांक्षाबलात् अन्वय भट्ट मत में है। प्राभाकर मत में इतरान्वित स्वार्थ में शक्ति है। अर्थात् अन्वय (पदार्थद्वयसम्बन्ध) में भी शक्ति है। इन्हें अन्वितार्थवादी कहते हैं। भट्ट मत में शब्दाध्याहार है। गुरु मत में अर्थाध्याहार है ॥१७॥

इत्यन्वयविचारः

स्यादिष्टसाधनत्वं विध्यर्थः प्रेरणोत वा प्रथमे ।
कार्यत्वं विध्यर्थः स नियोगोऽलौकिकश्चरमे ॥ १८ ॥

लिङर्थं विधि का इष्टसाधनत्व या प्रेरणा अर्थ भट्टमत में है। प्रभाकर-मत में कार्यता विधिका अर्थ है। और वह कार्यता अलौकिक नियोग है।

वैदिकनियोगसिद्ध्यै यागाद्यर्थे प्रवर्तते पुरुषः ।
सन्ध्यादि तत्प्रयुक्तं यागाद्यपि तेन तु फलं स्यात् ॥ १९ ॥

वैदिक नियोगसिद्धि के लिए ही यागादिकार्य में पुरुष प्रवृत्त होता है। नियोगप्रयुक्त ही सन्ध्यावन्दनादि तथा यागादि है। हाँ, यागादि से स्वर्गादि फल होगा। क्योंकि वैसा श्रुतिं कहती है (स्वर्गप्रयुक्त यागादि नहीं है। ऐसा हो तो संध्यादि में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः नियोगप्रयुक्त ही प्रवृत्ति है।)

लोके क्रियाख्यकार्ये प्रथमं शक्तिग्रहो भवेत्तदपि ।
पश्चान्मुख्ये ज्ञात्वा लक्षणया लौकिकं वेत्ति ॥ २० ॥

यद्यपि लोक में प्रथम बालक गवानयनादिकार्यता में ही लिङादि की शक्ति ग्रहण करता है। किन्तु बाद में मुख्य नियोग में शक्ति ग्रहण कर लौकिक कार्य को लक्षणा से समझता है ॥२०॥

व्यक्तौ शक्तिः प्रथमं गृह्येत तथापि लाघवाज्जातौ ।
शक्तिं निश्चित्य ततो लक्षणया बुध्यति व्यक्तिम् ॥ २१ ॥

बल्कि अन्य स्थल में भी प्रायः यही क्रम है। गामानय इत्यादि सुनकर बालक प्रथम व्यक्ति में शक्ति ग्रहण करता है। किन्तु बाद में लाघवात् जाति में शक्ति ग्रहणकर व्यक्ति को लक्षणा से जानने लगता है ॥२१॥

सिद्धार्थबोधकानां प्रामाण्यं नेष्यतेऽत्र वाक्यानाम् ।
कार्यान्वयिताहेतोरतदर्थानां तथात्वं स्यात् ॥ २२ ॥

सिद्धार्थ बोधक वाक्यों को मीमांसा में प्रमाण नहीं माना है। वेदों में ऐसे अर्थवादादि वाक्यों को विधिवाक्यैकवाक्यता करके प्रमाण माना है॥

तत्र लिङादेरर्थः शाब्दी चार्थी च भावना तत्र ।
पुरुषप्रवृत्तिजनिका प्रथमा वाच्या लिङंशेन ॥ २३ ॥

भट्ट मतानुसार उत्तर ग्रन्थ है। प्रमाणवाक्यघटक लिङादि का शाब्दी भावना तथा आर्थीभावना दोनों अर्थ हैं। पुरुषप्रवृत्त्यनुकूल व्यापार लिङ्-वाच्य शाब्दो भावना है। इसी को प्रवर्तना भी कहते हैं ॥२३॥

लोके प्रवर्तना सा पुरुषाभिप्रायभेद एव स्यात् ।
वेदे पुरुषाभावात् सा शक्तिः शब्दनिष्ठैव ॥ २४ ॥

जो प्रवर्तना है, वह लोक में पुरुषनिष्ठ अभिप्रायविशेष होता है। वेद में पुरुष न होने से शब्दनिष्ठ शक्तिविशेष ही वह है ॥२४॥

एषा साध्यं साधनमितिकर्तव्यं त्रयं समाकाङ्क्षेत् ।
यागादिभावना लिङ्ज्ञानं प्राशस्त्यमिति तत्स्यात् ॥ २५ ॥

यह शाब्दी भावना साध्य, साधन और इतिकर्तव्य (कर्तव्यप्रकार) इन तीन की अपेक्षा रखती है। यागादि भावना (आर्थीभावना) साध्य है। लिङ्ज्ञान प्रवर्तना का साधन है। प्राशस्त्यादि कर्त्तव्यप्रकार है ॥२५॥

आख्यातांशस्तावद्दशसु लकारेषु तुल्यवर्त्यार्थीम् ।
यागादिभावनां स ब्रूते चांशत्रयोपेताम् ॥ २६ ॥

लिङादि में द्वितीय आख्यातांश है। वह दस लकार में समान है। और वह अंशत्रययुक्त आर्थीभावना का वाचक है ॥२६॥

स्वर्गादिकं तु यागादिभिः प्रयाजादिकप्रकारयुतैः ।
स हि भावयेदिति स्वं ब्रूतेऽन्वीयेतरैरर्थम् ॥ २७ ॥

प्रयाजादि कर्तव्यप्रकार से युक्त यागादियों से स्वर्ग उत्पन्न करे इस प्रकार इतरांश से अन्वित होकर आर्थीभावना को आख्यातांश कहेगा ॥२०॥

इति लिङाद्यर्थविचारः

विधिमन्त्रनामधेयप्रतिषेधा अर्थवाद इति भेदैः ।
वेदः पञ्चविधः स्यादज्ञातार्थर्पिकोऽत्र विधिः ॥२८ ॥

विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध, अर्थवाद इसप्रकार वेद पञ्चविध है। अज्ञातार्थज्ञापक विधि है ॥२८॥

योऽप्राप्तार्थं ब्रूते सोऽपूर्वविधिर्यथैव यागादेः ।
पक्षाऽप्राप्तप्रापी नियमविधिश्चावघातादेः ॥ २९ ॥
उभयप्राप्तौ सत्यामितरनिवृत्तिप्रयोजकस्तु विधिः ।
परिसंख्याऽसौ स यथाऽपञ्चनखप्सानविनिवृत्तेः ॥ ३० ॥

अप्राप्तार्थप्रापक विधि अपूर्वविधि है। जैसे 'यजेत' यह यागविधि है। पक्ष में अप्राप्तका प्रापक नियमविधि है। जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' धान के ऊपर की भूसी रगड़कर और कूटकर अलग की जा सकती है। रगड़ने के पक्ष में कूटना अप्राप्त है। नियमविधि कहता है। कूटकर ही भूसी अलग करो। दो एक साथ प्राप्त होने पर एक का निवर्तक परिसंख्या विधि है। जैसे मांसभोजियों को कहा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'। यहाँ जरूर खाओ ऐसा अर्थ नहीं। पंचनखों को ही यदि खाना हो तो खाओ, अन्य को नहीं यह अर्थ है ॥३०॥

साक्षादपूर्वजनकोऽपूर्वविधिस्तत्सहायको नियमः ।
परिसंख्याविधिरेष प्रतिषेधसमान एव स्यात् ॥ ३१ ॥

'स्वर्गकामो यजेत', समिधो यजति' इत्यादि साक्षात् अपूर्वजनक विधि है। अपूर्वोत्पत्ति में सहायक सहकारी कारणबोधक नियमविधि है। अवघात न होने पर यागापूर्व ही नहीं होगा। परिसंख्याविधि प्रतिषेध के समान है। अपञ्चनख भक्षण करेंगे तो अनिष्ट होगा। 'इमामगृभ्णन्' यह

गर्दभरशनापरिसंख्या है। उसमें क्रतुवैगुण्य अनिष्ट है। जैसे 'न गिरा गिरेति ब्रूयात्' इस निषेध में ॥३१॥

परिसंख्याया दोषत्रितयं तावन्निगद्यते विबुधैः ।
श्रुतहानिरश्रुतार्थग्रहणं च प्राप्तबाधश्च ॥ ३२ ॥

परिसंख्या में तीन दोष होते हैं। श्रुतहानि, अश्रुतनिषेधार्थग्रहण तथा प्राप्त का बाध ॥३२॥

इति विधित्रयम्

अथ उत्पत्तिविधिः

उत्पत्तिर्विनियोगोऽप्यधिकारश्च प्रयोग एवापि ।
विधिरत्राद्यः कर्मस्वरूपमात्रावबोधकरः ॥ ३३ ॥

उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि और प्रयोगविधि ये विधि के चार प्रकार हैं। कर्मस्वरूपमात्रबोधक उत्पत्तिविधि है ॥३३॥

कर्मस्वरूपमात्रं वदति जुहोत्यग्निहोत्रमिति वाक्यम् ।
आहात्रेष्टं जनयेन्ननु होमेनाग्निहोत्रेण ॥ ३४ ॥

'अग्निहोत्रं जुहोति' यह उत्पत्तिविधि है। अग्निहोत्र होम से इष्ट सिद्ध करो यही अर्थ है ॥३४॥

अथ विनियोगविधिः

अङ्गप्रधानयोर्यो ब्रूते सम्बन्धमेष विनियोगः ।
दध्ना जुहोति निगदति दध्ना खलु भावयेद्धोमम् ॥ ३५ ॥

अङ्ग और प्रधान का सम्बन्ध बतानेवाला विधि विनियोगविधि है। 'दध्ना जुहोति' यहाँ दधि अंग है, होम प्रधान है। दोनों का सम्बन्ध है जन्यजनकभाव। दधि से होम संपादित करो यह अर्थ है ॥३५॥

सहकारीण्यत्र श्रुतिलिङ्गे वाक्यं तथा प्रकरणं च ।
स्थानं तथा समाख्या षडवोचिषत प्रमाणानि ॥ ३६ ॥

विनियोगविधि के सहकारी छः प्रमाण बताये गये हैं। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, एवं समाख्या ॥३६॥

अभिधात्री व्रीह्यादिश्रुतिरथ च लिङादिका विधात्री तु ।
विनियोक्त्री श्रुतिरङ्गप्रधानसम्बन्धबोधकरी ॥ ३७ ॥

यद्यपि व्रीहि आदि अभिधात्री एवं लिङादि विधात्री श्रुति कहलाती है। किन्तु अङ्ग और प्रधान के संबंध को बतानेवाली ही यहाँ विनियोक्त्री श्रुति समझना चाहिये ॥३७॥

एकाभिधानरूपा सैकपदात्मा विभक्तिरूपा च।
तत्र विभक्तिश्रुतयः सन्ति तृतीयाद्वितीयाद्याः ॥ ३८ ॥

विनियोक्त्री श्रुति तीन प्रकार की है। एकाभिधानरूपा, एकपदरूपा और विभक्तिरूपा। द्वितीया तृतीया आदि विभक्ति श्रुतियां हैं ॥३८॥

एकाभिधानरूपा पशुनेत्येकत्वपुंस्त्वयोजनिका।
एकपदश्रुतितः स्याद्यजमानैक्यं यजेतात्र ॥ ३९ ॥
अन्त्या सोममरुणया क्रीणाति व्रीहिभिर्यजेतेति।
व्रीहीन् प्रोक्षत्यवहन्त्याहवनीये जुहोतीति ॥ ४० ॥

पशुना यजेत यहां तृतीया विभक्ति से एकत्व और पुंस्त्व दोनों कहे जाते हैं। वह एकाभिधान श्रुति है। यजेत यह एकपद है। प्रत्यय से एकत्व बताया। वह आक्षेपलभ्य कर्ता में और यागभावना में अन्वित है। अरुणया सोमं क्रीणाति, व्रीहिभिर्यजेत, व्रीहीन् प्रोक्षति, व्रीहीनवहन्ति, आहवनीये जुहोति इत्यादि में आरुण्य, व्रीहि आदि में अङ्गत्व द्वितीया-तृतीया आदि श्रुति से है ॥३९-४०॥

द्रव्यपरिच्छेदेन स्यादारुण्यं क्रयाङ्गमाद्यं तु।
यागस्य पुरोडाशद्वारा च तृतीयया व्रीहिः ॥ ४१ ॥

आरुण्य साक्षात् क्रयसाधन नहीं है। एकहायनी द्रव्य का परिच्छेद कर वह क्रयाङ्ग होगा। व्रीहि भी साक्षात् नहीं, किन्तु पुरोडाशद्वारा यागाङ्ग होगा ॥४१॥

प्रोक्षणमपूर्वजननद्वाराङ्गं स्याद् द्वितीयया श्रुत्या।
अवघातो दृष्टफलो यागापूर्वोद्भवो नियमात् ॥ ४२ ॥

प्रोक्षण अपूर्व जनन के द्वारा अंग है। अवघात दृष्टफलक है। किन्तु यागपूर्व की उत्पत्ति में हेतु है। क्योंकि नियमविधि है ॥४२॥ श्रुतिः।

अर्थप्रकाशने यत्सामर्थ्यं लिङ्गमोरितं तदिह।
बर्हिर्दामीति मनुर्बर्हिर्लवनाङ्गमेतेन ॥ ४३ ॥

अर्थप्रकाशनसामर्थ्यं जो मन्त्रादि में है वह लिङ्ग है। 'बर्हिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र कुशलवनार्थप्रकाशक होने से उसीका अङ्ग है। कुशकर्तन यह मन्त्र बोलकर करना चाहिये ॥४३॥

[1]लिङ्गाच्छ्रुतिरधिकबलोपतिष्ठते गार्हपत्यमैन्द्र्येति ।
नेन्द्रस्योपस्थाने सैषापि तु गार्हपत्यस्य ॥ ४४ ॥

लिङ्ग से श्रुति बलवती है। अत एव 'नेन्द्रसश्चसि दाशुषे' यह ऐन्द्री ऋचा लिङ्ग से इन्द्रोपस्थानाङ्गतया प्राप्त होने पर 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस तृतीयाश्रुतिबल से गार्हपत्योपस्थानार्थ है ॥४४॥ लिङ्गम्।

समभिव्याहारः स्याद्वाक्यमतः पर्णता हि जुह्वङ्गम् ।
पर्णमयी यस्य जुहूरिति समभिव्याहृतेर्हेतोः ॥ ४५ ॥

वाक्यप्रमाण समभिव्याहार को कहते हैं। 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' इस समभिव्याहार से पर्णता जुहू का अंग है ॥४५॥

वाक्याल्लिङ्गं बलवत्तेन च सदनं कृणोमि मन्त्रोऽयम् ।
सदनकरणाङ्गमिष्टं वाक्यान्न स्थापनाद्यङ्गम् ॥ ४६ ॥

वाक्य से लिङ्ग बलवान है। अत एव 'स्योनं ते सदनं कृणोमि तस्मिन् सीद' इत्यादि मन्त्र में प्रथम भाग सदन करण का अंग है, न कि वाक्य से सादनस्थापनादि का अङ्ग ॥४६॥ वाक्य प्रमाण।

उभयाकाङ्क्षा प्रकरणमेतस्माद्दर्शपूर्णमासाङ्गम् ।
समिधो यजतीत्यादिः स्यादुपकार्योपकारकयोः ॥ ४७ ॥

परस्परसाकाङ्क्ष वाक्यद्वय प्रकरण है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'। 'समिधो यजति' ये दो वाक्य उपकार्य उपकारक साकाङ्क्षार्थ बोधक हैं। अतः समिदादि याग (प्रयाज) दर्शपूर्णमास का अङ्ग है ॥४७॥

सन्दंशपतितमङ्गं स्यादङ्गानामवान्तरात्तस्मात् ।
तेनाभिक्रमणादिकमङ्गं भवति प्रयाजादेः ॥ ४८ ॥

अवान्तरप्रकरण से संदंशपतित कार्य अङ्गों का अङ्ग होगा। जैसे आगे पीछे प्रयाज के अङ्ग बताये। मध्य में 'अभिक्रामं जुहोति' यह अभिक्रमण प्रयाज का ही अंग होगा। प्रधान दर्शपूर्णमास का नहीं ॥४८॥

वाक्यं प्रकरणतोऽधिकबलवत्स्याद्दर्शपूर्णमासेऽतः ।
स्यादिन्द्राग्नी हविरिति मन्त्रो दर्शस्य न ह्युभयोः ॥ ४९ ॥

---

1. श्रुतिबलवत्त्वादैन्द्रयाऽनलमुपतिष्ठेत गार्हपत्यमिति ।
लिङ्गान्नेन्द्रस्योपस्थानेऽपि तु गार्हपत्यस्य ॥

प्रकरण से वाक्य बलवान है। "इन्द्राग्नी इदं हविः" इत्यादि मन्त्र दर्शपूर्णमास प्रकरण में है। किन्तु इन्द्र अग्नि दो दर्श में ही होने से उसी का वह अंग होगा, दर्शपूर्णमास दोनों का नहीं ॥४९॥ प्रकरण प्रमाण।

स्थानं क्रम ऐन्द्राग्नं वैश्वानरमेवमादिके क्रमिके।
विनियोगस्तेन यथा-संख्यं याज्यानुवाक्यानाम् ॥ ५० ॥

क्रमको स्थान प्रमाण कहते हैं। उससे क्रमपठित ऐद्राग्न वैश्वानर आदि की याज्या और अनुवाक्या भी यथासंख्य होगी ॥५०॥

प्रकरणविरहे सति यत् सांनिध्यं तदपि कथ्यते स्थानम्।
फलवत्सन्निध्यामनहोमोऽतः सांग्रहण्यङ्गम् ॥ ५१ ॥

प्रकरण न होने पर भी संनिधि से स्थान होता है। फलवत्संनिधौ अफलं तदङ्गं" इस प्रकार आमनहोम सांग्रहणी का अङ्ग हो जाता है॥

प्रकरणपठिते बलवत् प्रकरणमिति-देवनादयो धर्माः।
अभिषेचनीयसंनिधिपठिता अपि राजसूयाङ्गम् ॥ ५२ ॥

स्थान से प्रकरण बलवान है। अतएव अभिषेचनीय की संनिधि में पठित भी "अक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनाति" इत्यादि राजसूयाङ्ग हैं। प्रकरण राजसूय का है ॥५२॥ स्थानप्रमाण।

भवति समाख्या वैदिकलौकिकभेदो हि यौगिकः शब्दः।
स्याद्धोतृचमसवचसा होतुश्चमसादनाङ्गत्वम् ॥ ५३ ॥

लौकिक और वैदिक द्विविध यौगिक शब्द ही समाख्या है। होतृचमसः इस वैदिक समाख्या से होता चमस भक्षण का अङ्ग है ॥५३॥ समाख्या।

शुन्धनमन्त्रः पौरोडाशिकसंज्ञोऽपि बलवतः स्थानात्।
सांनाय्यभाजनाङ्गं न खलु पुरोडाशपत्राङ्गम् ॥ ५४ ॥

'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' इस शुन्धन मन्त्र की यद्यपि 'पौरोडाशिक' ऐसी समाख्या है तथापि संनिधि बलवान होने से संनिधिपठित सांनाय्य (दही-दूध) के पात्र का वह अङ्ग है। पुराडोश पात्र का नहीं ॥५४

कर्माङ्गं द्रव्यादि तु सिद्धं साध्यात्मकं क्रियारूपम्।
दृष्टार्थमदृष्टार्थं दृष्टादृष्टार्थरूपं च ॥ ५५ ॥

द्रव्यादि जो कर्माङ्ग है वह सिद्धरूप है। क्रिया साध्यरूप है। वह कहीं दृष्टार्थ, कहीं अदृष्टार्थ और कहीं दृष्टादृष्टार्थ होता है ॥५५॥

गुणकर्म संनिपत्य ह्युपकुरुते प्रोक्षणादि यागादौ ।
आरादुपकारं स्यात्प्रधानकर्म प्रयाजादि ॥ ५६ ॥

व्रीहिप्रोक्षणादि गुणकर्म संनिपत्योपकारक है। प्रधान के साथ एक-लोलीभूत होता है। प्रधानकर्म प्रयाजादि याग में आरादुपकारक हैं। स्वतन्त्र रहकर उपकारक हैं ॥५६॥

अथ प्रयोगविधिः

कार्याशुभावधीका-यङ्गक्रमबोधकः प्रयोगविधिः ।
विततिविशेषः पौर्वापर्यात्मा च क्रमो नाम ॥ ५७ ॥

कर्तव्यों के आशुभाव (अविलम्बता) का बोधक अर्थात् अङ्गक्रमबोधक विधि प्रयोगविधि है। क्रम का मतलब एक प्रकार की सजावट, जो पौर्वापर्यरूप है ॥५७॥

श्रुतिरर्थः पाठश्च स्थानं मुख्यक्रमः प्रवृत्तिश्च ।
अत्र प्रमाणषट्कं क्रमपरवचनं श्रुतिस्तत्र ॥ ५८ ॥

प्रयोग विधि में श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्यक्रम और प्रवृत्तिक्रम ये छः प्रमाण हैं। क्रमबोधकवचन श्रुति है ॥५८॥

वेदं कृत्वा वेदिं कुरुते क्रममत्र हि श्रुतिः प्राह ।
दशमो गृह्यत आश्विनमिति गीः पाठक्रमं धुनुते ॥ ५९ ॥

वेद (दर्भमुष्टि) बना कर वेदि बनावे। यहां स्वयं श्रुति क्रम बताती है। 'आश्विनं दशमं गृह्णाति' यहां पाठक्रम से श्रुति बलवती है ॥५९॥ श्रुतिः।

जुहुयान्नरोऽग्निहोत्रं पचति यवागूमिति क्रमः पाठे ।
अर्थक्रमाद्यवागूं पचति प्रागग्निहोत्रमथ ॥ ६० ॥

'अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति' ऐसा पाठक्रम है। परन्तु अर्थतः अग्निहोत्र यवागूपाचन के बाद होगा। अन्यथा यवागूपाक अदृष्टार्थ होने लगेगा ॥६०॥ अर्थक्रम।

वाक्यानां क्रम एव च पाठक्रम उच्यतेऽर्थसंस्मरणम् ।
तेन यथा स्यात्तेन क्रमेण सर्वेऽप्यनुष्ठेयाः ॥ ६१ ॥

वेद वाक्यों का जो क्रम है वही पाठक्रम है। उससे अर्थस्मरण जिस क्रम से होगा उसी क्रम से पदार्थानुष्ठान किया जाता है ॥६१॥

आग्नेयोपांश्वग्नीषोमीयाणां हि मन्त्रपाठेन ।
विज्ञायते क्रमोऽथ च तत्तद्याज्यानुवाक्यानाम् ॥ ६२ ॥

आग्नेय, उपांशुयाग और अग्निषोमीय इनका तथा इनके याज्या एवं अनुयाज्या मन्त्रों का क्रम मन्त्रपाठ से अवगत होता है ॥६२॥

ब्राह्मणपाठक्रमतः समिदादीनां क्रमः प्रयाजानाम् ।
बलवान् मन्त्रस्त्वर्थस्मरणापेक्षं ह्यनुष्ठानम् ॥ ६३ ॥

"समिधो यजति", "इडो यजति" इत्यादि ब्राह्मणपाठक्रम से समिदादि प्रयाजों का क्रम है। किन्तु ब्राह्मणापेक्षया मन्त्र बलवान् है। क्योंकि अनुष्ठान अर्थस्मरणापेक्ष है। अर्थस्मरण मन्त्रों से होता है ॥६३॥ पाठक्रम।

स्थानमुपस्थितिमाहुर्ज्योतिष्टोमीयविकृतिसाद्यस्क्रे ।
सह पशुविधानमुक्तं सवनीये तद्धि मध्ये स्यात् ॥ ६४ ॥
सवनीयपशुः प्रथमं स्थानात्तस्मिन् भवेदनुष्ठेयः ।
कार्यः पश्चादग्नीषोमीयश्चानुबन्ध्यश्च ॥ ६५ ॥

ज्योतिष्टोम की विकृति साद्यस्क्र में अतिदेशप्राप्त तीन पशुओं का 'सह पशूनालभेत' इस विधि से सहानुष्ठान प्राप्त है। वह मध्य में अर्थात् सवनीय में होगा वहां सवनीय पशु स्थान प्राप्त होने से प्रथम होगा। वैसे तो ज्योतिष्टोम में अग्निषोमीय, सवनीय, आनुबन्ध्य इस क्रम से तीन का अनुष्ठान प्राप्त था ॥६४-६५॥ स्थानप्रमाण।

मुख्यक्रमं प्रधानक्रमकृतमङ्गक्रमं वदन्ति बुधाः ।
आग्नेयैन्द्रौ क्रमशः शेषे तेनाभिघार्येते ॥ ६६ ॥

प्रधानक्रमानुसारी अङ्गक्रम को मुख्यक्रम कहते हैं। अग्नि और इन्द्र का यजन मुख्यक्रम है। शेषाभिघारण आग्नेय और ऐन्द्र का क्रमशः होगा।

प्रथमाङ्गानुष्ठानक्रमतोऽङ्गानीतराणि कुर्युश्चेत् ।
आहुर्बुधाः प्रवृत्तिक्रममेतं तद्धि च न्याय्यम् ॥ ६७ ॥

प्रथम अङ्ग जिस क्रम से किया उसी क्रम से अन्य अङ्गों को भी करे तो वह प्रवृत्ति क्रम है। वही न्याय्य है ॥६७॥ मुख्यक्रम।

कृत्वा हि वैश्वदेवीं प्राजापत्यैश्चरन्ति तेषां च ।
एकैकोपाकरणं चैकैकनियोजनं क्रमशः ॥ ६८ ॥

वैश्वदेवी के बाद सत्रह प्राजापत्य पशुओं का सहानुष्ठान होता है। वहां मुख्य अमुख्य कोई नहीं है। एक-एक पशु का उपाकरण (उपस्पर्शन) वह किसी भी क्रम से होगा। किन्तु पर्यग्निकरणादि (दर्भज्वाला परिक्रमणादि) जिस क्रम से उपाकरण हुआ उसी क्रम से होगा ॥६८॥ प्रवृत्तिक्रम।

अथाधिकारविधिः

अधिकारविधिः प्रोक्तः कर्मफलस्वाम्यबोधको हि[1] विधिः।
स्वर्गार्थ्यधिकार्युदितो भवति यजेत्स्वर्गकाम इति ॥ ६९ ॥

कर्मफल के स्वाम्य (भोक्तृत्व) का बोधक विधि अधिकरविधि है। 'स्वर्गकामो यजेत' इस वचन से स्वर्गार्थी को अधिकारी बताया गया है ॥६९॥

शुचिविहितकालजीवी सन्ध्यादेः प्रत्यवायनाशेच्छुः।
स्वाराज्यकाम एव च राजैव च राजसूयस्य ॥ ७० ॥

शुचि हो, विहितकाल में जीवित हो वैसा प्रत्यवायनिवारणेच्छुक सन्ध्यावन्दनादि का अधिकारी है। राजसूय का स्वाराज्यकाम क्षत्रिय ही अधिकारी है ॥७०॥

अथ मन्त्रः

मन्त्राः प्रयोगसमवेतार्थस्मृतिकारका ऋगाद्यास्ते।
मन्त्रैरेव स्मरणं कार्यं तदिदं तु नियमविधेः ॥ ७१ ॥

यागादि प्रयोग में समवेत अर्थ के स्मारक ऋगादि मन्त्र से ही देवतादि स्मरण करने की नियम विधि है ॥७१॥

अथ नामधेयम्

उद्भिच्चित्रादिपदं पशुकामो ह्युद्भिदा यजेतेति।
मत्वर्थलक्षणाभयहेतोः स्यान्नामधेयमिह ॥ ७२ ॥

'उद्भिदा यजेत पशुकामः' 'चित्रया यजेत' इत्यादि में उद्भित्, चित्रा आदि यागनामधेय हैं। अन्यथा उद्भित् का उद्भिद्वान में लक्षणा होगी ॥

दधिमध्वादेः प्राप्तेः पशुकामश्चित्रया यजेतेति।
गुणफलविधिरेष स्याद्यदि तु तदा वाक्यभेदः स्यात् ॥७३॥

१. पा० यस्तु।

'चित्रया यजेत पशुकामः' यह नामधेय है। 'दधि मधु घृतं' इत्यादि से गुण प्राप्त है। यहां गुण विधान और फलविधान दोनों मानेंगे तो वाक्य भेद होगा ॥७३॥

अग्निप्रापकवाक्यं तत्प्रख्यं विद्यतेऽन्यशास्त्रमिति ।
भवति खलु नामधेयं यदग्निहोत्रं जुहोतीति ॥ ७४ ॥

'यदग्नये च प्रजापतये च' इत्यादि अग्निप्रापक वाक्य होने से "अग्नि-होत्रं जुहोति" में नामधेय है। अग्नये होत्रं इस व्युत्पत्ति से गुणविधि नहीं।

श्येनौपम्यकथनतः श्येनेन ह्यभिचरन् यजेतात्र ।
तद्व्यपदेशाच्छ्येनो न गुणवचो नामधेयं तत् ॥ ७५ ॥

'श्येनेनाभिचरम् यजेत' यहां श्येन यागनामधेय है। क्योंकि अर्थवाद में श्येनोपमा दी गई है। उपमा तद्भिन्न की होती है ॥७५॥

अथ निषेधः

उक्त्वा निवर्तनामाक्षिपति निषेधो ह्यनिष्टसाधनताम् ।
नरमपनयति निषेध्यान्न कलञ्जं भक्षयेदिति गीः ॥ ७६ ॥

'न कलञ्जं भक्षयेत्' यह निषेधरूपी वचन निवर्तनारूपी अर्थ को कहकर अनिष्टसाधनता के आक्षेप से मनुष्य को निषेध्य कलञ्जभक्षण से निवृत्त करता है ॥७६॥

[१]भावनया लिङ्ङर्थेनान्वीय नञेष तद्विरोध्यर्थम् ।
ब्रूते निवर्तनाख्यं धर्मविरोधी यथाऽधर्मः ॥ ७७ ॥

लिङ्के अर्थ को भावना से अन्वित कर नञ् तद्विरोधी निवर्तना को बतायेगा। जैसे अधर्म माने धर्म विरोधी पदार्थ, न कि धर्माभाव ॥७७॥

क्वचन च धात्वर्थेन हि नक्षेतोद्यन्तमर्कमित्यादौ ।
सोऽनीक्षणसङ्कल्पं तस्य व्रतमित्युपक्रमणात् ॥ ७८ ॥

कहीं धात्वर्थ के साथ भी अन्वय होता है। "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं" यहां अनीक्षण संकल्प अर्थ है। 'तस्य व्रतं' ऐसा उपक्रम होने से ऐसा अर्थ किया जाता है। व्रत भाव पदार्थ होता है। ईक्षणाभाव नहीं ॥७८॥

---

१. प्रेरणया।

क्वचन विकल्पापत्तावपि चाश्रीयेत पर्युदासोऽसौ ।
यजतिषु हि ये यजामहमातनुतें नानुयाजेषु ।। ७९ ।।

कहीं विकल्पप्रसक्ति होने से पर्युदास अर्थ किया जाता है। जैसे यागों में 'ये यजामहे' प्रयोग करो, अनुयाज में मत करो ।।७९।।

अनुयाजेषु निषेधो विधिरपि युगपत् प्रवर्तते तस्मात् ।
आपतति विकल्प इति तदर्थो ह्यनुयाजभिन्नेषु ।। ८० ।।

अनुयाज भी याग है। वहां विधि और निषेध दोनों उपस्थित हुए तो विकल्प होने लगेगा। अतः 'अनुयाजभिन्न' अर्थ करो। अनुयाज भिन्न यागों में 'ये यजामह' का प्रयोग करो ।।८०।।

यत्र तु न पर्युदासः संभवति विकल्प एव तत्र स्यात् ।
अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णात्यथ तं न गृह्णाति ।। ८१ ।।

जहां पर्युदास सम्भव नहीं है वहां विकल्प ही होगा। जैसे 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'। यहां विकल्प है। षोडशिपात्र का ग्रहण करो या न करो ।।८१।।

क्रत्वर्थत्वादत्र निषेधस्यानर्थहेतुता नास्ति ।
अक्रत्वर्थनिषेधेऽनर्थाय भवेन्निषेध्यं तु ।। ८२ ।।

'न गृह्णाति' यहां ग्रहण यागार्थ होने से निषेध अनर्थसाधनार्थक नहीं है। अयागार्थ निषेध का अनर्थहेतुत्व अर्थ होगा ।।८२।।

न ददाति दीक्षितो न च पचतीत्यादौ तु दानपचनादि ।
अक्रत्वर्थमनर्थो क्रतुवैगुण्यं प्रसाध्नोति ।। ८३ ।।

'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि में दान होमादि क्रत्वर्थ न होने से उसका निषेध क्रतुवैगुण्यरूपी अनर्थहेतुत्व को बतायेगा ।।८३।।

अथार्थवादः

प्राशस्त्यं निन्दा वा प्रव्यञ्जयदर्थवादवाक्यं स्यात् ।
विधिशेषः क्वचन स तु क्वचन स च निषेधशेषः स्यात् ।। ८४ ।।

प्राशस्त्य या निन्दा को अभिव्यक्त करनेवाला वाक्य अर्थवाद है। वह कहीं विधिशेष होता है और कहीं निषेधशेष होता है ।।८४।।

वायव्यमालभेत बर्हिषि रजतं न देयमित्यनयोः ।
वायुर्वै क्षेपिष्ठा यदरोदीत्तेन रुद्रत्वम् ॥ ८५ ॥

'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस विधि का शेष प्राशस्त्य है—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' । 'बर्हिषि रजतं न देयं' इस निषेध के लिए निन्दा है—'यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' । रुदनोद्भूत रजत शोभन नहीं ॥८५॥

गुणवादस्तु विरोधे ह्यनुवादोऽर्थेऽवधारिते भवति ।
अनुभयरूपे तु पुनः सोऽयं भूतार्थवादः स्यात् ॥ ८६ ॥

प्रमाणान्तरविरोध होने पर गुणवाद होता है । प्रमाणान्तर से निश्चित होने पर अनुवाद होता है । विरोध, निश्चय दोनों न होने पर भूतार्थवाद होता है ॥८६॥

आदित्यो यूप इति भेषजमग्निर्हिमस्य भवतीति ।
वज्रं वृत्रायेन्द्रो ह्युदयच्छदिति क्रमात्त्रितयम् ॥ ८७ ॥

यज्ञपशुस्तम्भ सूर्य है । अग्नि ठंढी की दवा है । इन्द्र ने वृत्रवधार्थ वज्र उठाया ये तीन क्रमशः उदाहरण हैं ॥८७॥

इति शब्दप्रमाणम्

गवयो गोसदृगितिगोःश्रवणाद् गवयस्य दर्शनाच्च तथा ।
एतत्सदृशी मम गौरिति बोधो यस्तदुपमानम् ॥ ८८ ॥

गोसदृश गवय है ऐसा सुनने से और गोसदृशरूप से उसे देखने से मेरी गौ गवयसदृश है ऐसा जो ज्ञान होता है वह उपमान है ॥८८॥ इत्युपमानम् ।

व्यतिरेकव्याप्तिवशादर्थापत्तिर्भवेद् द्विधा सा च ।
श्रुतदृष्टार्थविभेदादिति भट्टोऽत्राद्यमेव गुरुः ॥ ८९ ॥

व्यतिरेक व्याप्ति से अर्थतः जो सिद्ध हो वह अर्थापत्ति प्रमाण है । श्रुतार्थापत्ति और दृष्टार्थापत्ति भेदसे वह दो प्रकार की है ऐसा भट्टमत है । श्रुतार्थापत्ति एक ही है ऐसा प्रभाकरमत है ॥८९॥

सोमेन यजेतात्र विशिष्टविधानाद्विशेषणेऽर्थात्तत् ।
अध्यापनविधिना स्यादध्ययनविधिस्तथैवार्थात् ॥ ९० ॥

'सोमेन यजेत' यहाँ सोमविशिष्टयागविधान है । सोमविधान अर्थात् सिद्ध है । 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमध्यापयीत' यह अध्यापनविधि है । अध्ययन न हो तो अध्यापन क्या हो अतः अध्ययन अर्थसिद्ध है ॥९०॥ अर्थापत्तिः

सिंहो विपिने नासीदिति चानुपलब्धितो भवेद्बोधः ।
न प्रत्यक्षं तदिदं भट्टः प्राह प्रमाणमिदम् ॥ ९१ ॥

जंगल में सिंह का ख्याल नहीं था। ग्राम में आने पर किसी ने पूछा जंगल में सिंह था ? प्रतियोगिज्ञान होते ही बोला—नहीं था। यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। अतः अनुपलब्धिप्रमाण पृथक है ॥९१॥ अनुपलब्धिः

इति प्रमाणनिरूपणम्

अथ प्रमेयविचारः

वक्ष्ये प्रमेयमधुना द्रव्यं सगुणं सकर्मसामान्यम् ।
भट्टोऽभावेन गुरुः संख्यासमवायशक्तिसादृश्यैः ॥ ९२ ॥

अब प्रमेय कहते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य चार पदार्थ उभयमत में हैं। भट्ट मत में पाँचवाँ अभाव है। गुरुमत में संख्या, समवाय, शक्ति, सादृश्य मिलाकर आठ हैं ॥९२॥

क्षितिसलिलानलपवना सगगनसमया दिगात्ममनसी च ।
द्रव्याण्युभयमते स्युर्भट्टमते शब्दतमसी च ॥ ९३ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये दोनों मत में समान हैं। भट्ट मत में शब्द और तम भी द्रव्य हैं ॥९३॥

एकोऽध्यक्षं वायुं दिक्कालनभांस्युपाधिना च तथा ।
चत्वार्य्यनुमेयानि प्राह प्राभाकरस्तानि ॥ ९४ ॥

भट्टमत में वायु प्रत्यक्ष है। आकाशे बलाका इत्यादि रीति उपाधिके साथ आकाश काल दिक् का भी प्रत्यक्ष होता है। प्रभाकर मत में ये चारों अनुमेय हैं ॥९४॥

इन्द्रियपञ्चकमुभये क्वचन मनोऽणु क्वचिद्विभु प्रोक्तम् ।
कर्ता भोक्ता ज्ञाता प्रतिदेहं भिन्न एवात्मा ॥ ९५ ॥

पाँच इन्द्रिय उभयसंमत हैं। प्रभाकर मत में मन अणु है। भट्टमतानुसार कोई उसे अणु और कोई विभु मानता है। आत्मा कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता, प्रतिशरीर भिन्न एवं विभु है ॥९५॥

मोक्षो वैशेषिकवत् स तु कर्मज्ञानयोः समुच्चयतः ।
भोगेन ज्ञानेन क्षपयित्वा प्राप्नुयान्मोक्षम् ॥ ९६ ॥

दुःखात्यन्तनिवृत्ति मोक्ष है। वह कर्म और ज्ञान के समुच्चय से होगा। अर्थात् नित्यनैमित्तिकादि से प्रत्यवायानुत्पत्ति तथा प्रायश्चित्त से पापनाश होगा। भोग से प्रारब्धनाश होगा। ज्ञान से वासनानाश होगा। तब मोक्ष होता है ॥९६॥

वैशेषिकवत्तु जडं प्राहुः प्राभाकराः किलात्मानम्।
चिदचिद्रूपं प्राहुर्भाट्टाः सुप्तावुभयदृष्टेः ॥ ९७ ॥

प्राभाकरमत में आत्मा वैशेषिकसमान है। भट्ट मत में चिदचिद्रूप है। सुषुप्ति में मैं अपने को नहीं जानता ऐसा ज्ञान अज्ञान दोनों का भान देखने में आता है ॥९७॥

नेश्वरममंसतैते फलदं किन्तु प्रमाणचिन्तायाम्।
प्रामाणिकं पुराणं जगुरीशं सावतारं च ॥ ९८ ॥

यद्यपि मीमांसकों ने मीमांसा में फलदाता ईश्वर को नहीं माना। परन्तु पुराणप्रामाण्य पर विचार करते-करते भट्टाचार्य ने तो ईश्वर के अवतारों को भी पूर्णतया प्रामाणिक माना ॥९८॥

अनुमेयं ज्ञाततया ज्ञानं ज्ञातार्थवर्तिधर्मेण।
इति भट्टो गुरुरूचे ज्ञानं हि स्वप्रकाशमिति ॥ ९९ ॥

ज्ञातार्थ में ज्ञातता नाम का धर्म उत्पन्न होता है। उस से ज्ञान अनुमेय है यह भट्टमत है। गुरु ने ज्ञान को स्वयंप्रकाश माना ॥९९॥

नीलं चलति तम इति प्रत्ययतः स्यात्तमः पृथग् द्रव्यम्।
आलोकरहितचक्षुर्ग्राह्यमिति प्राह भट्टस्तु ॥ १०० ॥

नीला अन्धकार चल रहा है इस प्रत्यय से गुणक्रियाश्रय तम को भट्ट ने पृथक् द्रव्य माना। आलोकनिरपेक्ष चक्षु से वह ग्राह्य है ॥१००॥

वर्णात्मकं तु शब्दं द्रव्यं स गुरुस्तु गगनगुणमाह।
उभयमतेऽसौ नित्यो वायुगुणस्तु ध्वनिरनित्यः ॥ १०१ ॥

वर्णात्मक शब्द द्रव्य है। ऐसा (सः) भट्ट ने माना। गुरु उसे गगन का गुण कहते हैं। दोनों मत में शब्द नित्य है। दोनों मत में ध्वनि वायुगुण है, अनित्य है और शब्दाभिव्यञ्जक है ॥१०१॥

वेदा अपौरुषेयास्ते च गुरुपरम्परापरिप्राप्याः ।
प्रलयाभावान्नित्या निर्दोषमतः प्रमाणमिति ॥ १०३ ॥

इति द्रव्यनिरूपणम्

वेद अपौरुषेय हैं। गुरुपरम्परा अनादि है। उसी से वह प्राप्य है। महाप्रलय होता नहीं। अतएव नित्य भी है। पौरुषेय दोष रहित होने से निर्मल प्रमाणरूप भी है ॥१०२॥

प्राकटयशक्तिमेको निजगाद गुणं कणादवत्त्वितरान् ।
गुरुरेनां नो मेने संख्याशक्ती पृथक् त्वथौं ॥ १०३ ॥

भट्ट ने प्राकटय शक्ति को गुण माना। अन्य गुग कणादोक्तसमान है। गुरु ने प्राकटयशक्तिरूपी गुण को नहीं माना। हाँ, शक्ति और संख्या को पृथक् पदार्थ हो मान लिया है। क्योंकि संख्या सामान्यादि में भी है, अतः वह गुण नहीं हो सकता ॥१०३॥

रजतं स्मर्यते शुक्तिर्वीक्ष्या न ज्ञायते त्वसंसर्गः ।
अख्यातिरतस्तु गुरोर्भट्टस्य किलान्यथाख्यातिः ॥ १०४ ॥

शुक्ति में रजत ज्ञान जो होता है वहाँ रजत का स्मरण है। शुक्ति का प्रत्यक्ष है। दोनों का असंसर्ग अज्ञात रहता है, यही भ्रान्ति है। यह अख्यातिवाद गुरु का है। भट्ट अन्यथाख्याति को मानते हैं ॥१०४॥

प्रत्यक्षं कर्मैकः कल्प्यं त्वपरोऽन्यदेशसंयोगात् ।
द्रव्यत्वादिर्जातिर्न तु सत्ता साऽऽकृतिव्यङ्ग्या ॥ १०५ ॥

भट्ट मत में कर्म प्रत्यक्ष है। गुरु वस्तु का अन्यदेशसंयोग देख कर कर्म का अनुमान मानते हैं। द्रव्यत्व घटत्वादि जाति है। सत्ता जाति नहीं है। आकृतिव्यङ्ग्या जाति है। सत्ता किस आकृति से व्यङ्ग्य हो ॥१०५॥

न गुणत्वं कर्मत्वमनाकृति जातिस्ततो ह्युपाधी तौ ।
सकृदाख्यानव्यङ्ग्या जातिः स्याद् ब्राह्मणत्वादिः ॥ १०६ ॥

गुणत्वकर्मत्वादि आकृति न होने से जाति नहीं, किन्तु उपाधि है। एक बार यह ब्राह्मण है आदि कहने पर ब्राह्मणत्वादि की अभिव्यक्ति होती है वह जाति है ॥१०६॥

समवायमुवाच गुरुस्तादात्म्यं भट्ट आह तत्रैव ।
संख्या सर्वगतत्वान्न गुणः शक्तिश्च पृथगेव ॥ १०७ ॥

प्रभाकर ने समवाय माना। उसके स्थान में भट्ट ने तादात्म्य माना। संख्या एवं शक्ति सर्वगत पृथक् पदार्थान्तर गुरु मत में है ॥१०७॥

सादृश्यमपि च तद्वद् भट्टोऽभावं जगाद तार्किकवत् ।
अतिरिक्तमाहुरेकेऽधिकरणरूपं परे शिष्याः ॥ १०८ ॥

गुरु ने सादृश्य को भी सर्ववर्ती होने से पदार्थान्तर माना। भट्टमत में अभाव की चतुर्विधता तार्किक मत के समान है। उनके कुछ शिष्यों ने अभाव को अतिरिक्त माना और कुछ ने अधिकरणरूप ॥१०८॥

वैशेषिकमततुल्यं प्रायस्तु परं परात्मविज्ञानम् ।
सम्यग् जायेत सतां वेदान्तनिषेवणादेव ॥ १०९ ॥

प्रायः वैशेषिकों के समान ही पदार्थविवेचना है। परन्तु कुमारिल भट्ट का कहना है कि परम आत्मविज्ञान वेदान्त को पूर्णतया अपनाने से ही होगा ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता ।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादित सूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥
वेदार्थविवित्सूनामुपकृतयेऽस्मिन्निर्दर्शितं किञ्चित् ।
तेन प्रसीदतु मयि त्र्यक्षः सोमार्धधारी सः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-आचार्य महामण्डलेश्वर
श्रीमत्काशिकानन्दयतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे
पूर्वमीमांसादर्शनम्

रामानुजसिद्धान्तः

सर्वज्ञं करुणाकरमखिलतनुं भक्तवत्सलं श्रीलम् ।
निषिषेविषामहे तं नारायणमीशमाराध्यम् ।। १ ।।

सृष्टिकर्त्ता सर्वज्ञ; रक्षणकर्त्ता दयालु; सर्वशरीर प्रकारी—अद्वैतरूप; भक्तिसाधनागम्य; भक्तवत्सल; श्रीपति-ईश्वर; आराधनीय नारायण की देहपातोत्तर साक्षात् सेवा करें ऐसी अभिलाषा हम करते हैं—देह पातोत्तर किंकरभाव से सकलभोग प्राप्तिरूप मोक्ष चाहते हैं ।।१।।

रामानुजयतिकलितं व्याकुचितं वेङ्कटादिभिः कविभिः ।
आचक्ष्महे विशिष्टा-द्वैतं संक्षेपतोऽत्र मतम् ।। २ ।।

रामानुजयतीन्द्र के द्वारा कलिका के रूप में आकलित तथा वेङ्कटादि कवियों के द्वारा विकसित विशिष्टाद्वैत मत को हम कहने जा रहे हैं ।।२।।

तत्त्वं द्विविधं द्रव्यं गुण इति तत्र चेश्वरो जीवः ।
नित्यविभूतिर्ज्ञानं प्रकृतिः कालोऽपि च द्रव्यम् ।। ३ ।।
सत्त्वं रजस्तमोऽथ च शब्दस्पर्शौ च रूपरसगन्धाः ।
संयोगः शक्तिरिति प्रोक्ता दशधा गुणा विबुधैः ।। ४ ।।

द्रव्य और गुण ये दो ही तत्त्व हैं। ईश्वर, जीव, नित्यविभूति, ज्ञान, प्रकृति एवं काल ये छः द्रव्य हैं। सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग एवं शक्ति ये दस गुण हैं। ये ही प्रमेय हैं ।।३-४।।

इति तत्त्वसामान्यनिरूपणम्

चिदचिद्विशिष्ट ईशः सर्वाधारश्च सर्वशेषी च ।
द्वेधाऽवतिष्ठतेऽसौ कारणकार्यात्मना देवः ।। ५ ।।

चित् एवं अचित् से विशिष्ट चेतन ही ईश्वर है। जो सर्वाधार तथा सर्वशेषी है। वह कारणरूप से कार्यरूप से इस प्रकार द्विधा अवस्थित है ।।५।।

सूक्ष्मोपाधिविशिष्टः कारणरूपो भवत्युपादानम् ।
सङ्कल्पविशिष्टोऽसौ निमित्तरूपश्च जगतोऽस्य ।। ६ ।।

सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ईश्वर कारणरूप है, जगत् का उपादान है। और सृष्ट्यादिसंकल्पविशिष्ट ईश्वर निमित्त कारण है ॥६॥

स्थूलोपाधिविशिष्टः कार्यात्मैक्याद्विशिष्टयोश्च तयोः ।
भवति विशिष्टाद्वैतं देहविशिष्टैक्यतश्चैव ॥ ७ ॥

स्थूलचिददद्विशिष्ट चेतन कार्यरूप ईश्वर है। इन दो विशिष्टों की अर्थात्—सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट की एकता होने से विशिष्टाद्वैत कहलाया। तथा जीव जगत् रूपी शरीर से विशिष्ट चेतन ईश्वर एक होने से भी विशिष्टाद्वैत हुआ। जैसे एक देवदत्त यहां है ऐसा व्यवहार होता है। जबकि देवदत्तआत्मा और देवदत्तशरीर दो वहां है। फिर भी वहां शरीरविशिष्ट आत्मा एक होने से एकत्व व्यवहार होता है ॥७॥

तस्य शरीरं ज्ञानं स्वरूपमेतद्विभु त्रयं भवति ।
स परो व्यूहो विभवोऽप्यन्तर्यामी तथार्चा च ॥ ८ ॥

उस ईश्वर का शरीर, ज्ञान एवं स्वरूप ये तीनों व्यापक है। (जगत-रूपी शरीर में आकाश तो कम से कम व्यापक है ही) तथा स्वयं व्यापक होने से ज्ञान भी व्यापक है और स्वरूप (ज्ञानाधारात्मक द्रव्य चैतन्य) भी व्यापक है। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चा इस प्रकार ईश्वर पांच प्रकार से स्थित है ॥८॥

दिव्यायुधादियुक्तः श्रीभूनीलानिषेवितस्तु परः ।
मुक्तोपसृप्य उक्तः सोऽखिलकल्याणगुणशाली ॥ ९ ॥

दिव्य आयुध शङ्ख-चक्रादि से, दिव्य पीताम्बर-कुण्डल-कटक-मुकुट-वनमालादि से युक्त एवं श्री देवी, भू देवी और नीला देवी से सेवित ईश्वर पर है। वह मुक्त पुरुषों का प्राप्य वैकुण्ठवासी है। वह हेयप्रत्यनीक सौन्दर्य-सौशील्यादि अखिल कल्याण गुणों से सम्पन्न है ॥९॥

सोऽण्डान्तं स्वयमकरोद्ब्रह्मादिषु संस्थितस्ततः सोऽयम् ।
सृष्टिस्थितिसंहारान् कुरुते नारायणो देवः ॥ १० ॥

अण्डपर्यन्त (ब्रह्माण्ड तक) की सृष्टि स्वयं नारायण करता है। इसके बाद प्राणियों की सृष्टि, स्थिति एवं संहार ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र में स्थित होकर करता है ॥१०॥

स च वासुदेवसङ्कर्षणसप्रद्युम्नसानिरुद्धभिदा ।
अवतिष्ठते चतुर्धोपासनहेतोरसौ व्यूहः ॥ ११ ॥

वही नारायण वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध रूप में चार प्रकार से अवस्थित होता है। उपासनार्थ ही यह अवस्थान है। इसी को व्यूह कहते हैं ॥११॥

ज्ञानबले अपि वीर्यैश्वर्ये अपि शक्तितेजसी षडिमे।
प्रोक्ता गुणा हरेस्तैः पूर्णः स्याद्वासुदेवाख्यः ॥ १२ ॥

ज्ञान-बल, वीर्य-ऐश्वर्य, शक्ति-तेज ये तीन द्विक अर्थात् छः गुण हरि के बताए गये हैं। इन छहों गुणों से वासुदेव पूर्ण है ॥१२॥

सङ्कर्षणे त्विहाद्यौ प्रद्युम्ने मध्यमौ तथा चरमौ।
अनिरुद्धे विपुलौ स्तामन्ये सामान्यतश्चैव ॥ १३ ॥

संकर्षण में प्रथम दो (ज्ञान-बल) प्रद्युम्न में मध्यम दो (वीर्य-ऐश्वर्य) और अनिरुद्ध में अन्तिम दो (शक्ति-तेज) पूर्णतया हैं। अन्य गुण भी हैं, पर अपूर्ण ॥१३॥

विभवास्त्ववताराः स्युर्मत्स्यः कूर्मो वराहनृहरी च।
अथ वामनश्च रामद्वितयं कृष्णश्च कल्की च ॥ १४ ॥

विभव अवतारों को कहते हैं। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, दो राम (परशुराम और श्रीराम या 'रामत्रितय' बलराम को भी मिला कर तीन राम) कृष्ण और कल्कि ये मुख्य अवतार हैं ॥१४॥

अवतारा एते किल मुख्याः प्रोक्तास्तथापरे बहुधा।
नरनारायणकपिलाऽऽत्रेयहयग्रीवहंसाद्याः ॥ १५ ॥

उक्त अवतार मुख्य विभव हैं। और भी अनेक अवतार हैं, वे भी विभव ही हैं। जैसे नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयग्रीव एवं हंस आदि ॥१५॥

पृथिवीप्रभृतौ हृदयेऽप्यन्तर्यामी वितिष्ठते यमयन्।
योगिभिरेष ध्येयोऽनुपलिप्तो देहदोषगणैः ॥ १६ ॥

पृथिवी-जलादि में तथा हृदय में अन्तःस्थित होकर जो जगत् को नियमित करता है वह अन्तर्यामी है। इसका ध्यान योगी करते हैं। यह देहों के गुण दोषों से लिपायमान नहीं होता ॥१६॥

भक्तोपकल्पितेषु प्रतिमादिषु वर्त्तते शरीरितया।
अर्चावतार एष च पूजकफलदोऽखिलसहिष्णुः ॥ १७ ॥

भक्तों के द्वारा प्रतिष्ठाविधि से प्रतिष्ठापित प्रतिमादि में शरीरी होकर जो रहता है वह अर्चावतार है। वह पूजकों को फल देता है। परंतु सर्वसहिष्णु है। शत्रु आदि को आयुध लेकर नहीं मारता। भले वे मूर्ति पर प्रहार करें। यद्यपि क्वचित् मूर्ति में से आविर्भूत होकर शत्रुहननादि करता है, फिर भी मूर्ति स्वयं प्रहारादि नहीं ही करती ॥१७॥

अर्चोपास्या प्रथमं विभवोऽतो व्यूह इष्यते पश्चात्।
अन्तर्यामी परमिति कल्मषहानिक्रमादाहुः ॥ १८ ॥

प्रथम अर्चा (प्रतिमादि) की उपासना कर कठोर कल्मष नष्ट करना चाहिए। फिर सूक्ष्म, सूक्ष्मतरादि कल्मषों को नष्ट करना चाहिए। तदर्थं अर्चोपासनानन्तर विभव की, फिर व्यूह की, बाद में अन्तर्यामी की उपासना होती है ॥१८॥

शक्त्या स्वरूपतो वा परिपूर्णतयायांऽशतोपि वाऽविश्य।
व्यूहादिषु हि चतुर्ष्वपि परमः पर एव तिष्ठति सः ॥ १९ ॥

कहीं शक्तितः, कहीं स्वरूपतः, कहीं पूर्णरूपेण और कहीं अंशरूपेण पूर्वोक्त अर्चा-व्यूहादि में परम, पर ईश्वर ही स्थित है। अर्थात् इनमें उपास्य का भेद नहीं समझना चाहिए ॥१९॥

इतीश्वरस्वरूपनिरूपणम्

अणवो जीवा नित्याः स्वयंप्रकाशाश्च परपराधीनाः।
परसङ्कल्पोऽदृष्टं फलसम्बन्धाय कल्पेत ॥ २० ॥

जीवात्मा अणु है। नित्य है। स्वयंप्रकाश है। और परमात्मा के पराधीन है। (कभी भी स्वतन्त्र नहीं)। यदि अणु है तो स्वादृष्टानुसार अनाज-पानी आदि कैसे पैदा होंगे ? कण्टकादि कैसे पैदा होंगे ? न्यायादि मत में आत्मा व्यापक होने से स्वाश्रयात्मसंयोग रूपी सम्बन्ध फलादि के साथ संभव है। क्योंकि आत्मा व्यापक है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हमारे मत में अदृष्ट जीवनिष्ठ गुण नहीं है। 'इसने यह कर्म किया, इसका फल इसको यह दूं' इत्यादि ईश्वरसंकल्प ही अदृष्ट है। ईश्वर व्यापक होने से उसका स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से अदृष्टवैशिष्टय फलादि के साथ सुगम है।

देवनरतिर्यगचराः स्वेदाण्डोद्भिज्जरायुजा जीवाः।
बद्धा मुक्ता नित्याः केचिच्चायोनिजास्तेषु ॥ २१ ॥

जीवों के देव, नर, तिर्यंक् एवं स्थावर शरीर भेद से प्रथम चार भेद समझो। फिर स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज और जरायुज ऐसे चार भेदों को समझो। फिर बद्ध, मुक्त और नित्य ऐसे तीन भेदों को देखो। कुछ लोगों को अयोनिज और योनिज ऐसे दो भेद भी अभिमत हैं ॥२१॥

ब्रह्मादिस्तम्बान्ता बद्धास्तेषु द्विधा मुमुक्षुजनाः ।
मुक्ताश्चातो द्वेधा ज्ञानेन च भक्तिमार्गेण ॥ २२ ॥

ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी बद्ध हैं। उनमें मुमुक्षु और बुभुक्षु ऐसे दो भेद हैं। केवल मुमुक्षु पर विशेष चिन्तन आवश्यक है। मुमुक्षु दो प्रकार के हैं अत एव मुक्त भी दो प्रकार के ही हैं। एक ज्ञान मार्ग से और दूसरा भक्ति मार्ग से ॥२२॥

ज्ञानात्कैवल्यं स्याद्विसरज्ज्ञानप्रभा न तूर्ध्वसुखम् ।
भक्त्योत वा प्रपत्त्या मुक्तास्त्वानन्दभाजः स्युः ॥ २३ ॥

ज्ञानमार्ग से कैवल्य होगा जब ज्ञान प्रकाशव्यापक असंकुचित रहेगा। पर परमसुख की प्राप्ति नहीं होगी। भक्ति या प्रपत्ति से मुक्ति होतो है तो उसमें ज्ञानप्रभा व्यापक होती है, परमानन्द की भी प्राप्ति होती है। (यहां ज्ञान और कर्म सहकारिमात्र होने से कैवल्य का साक्षात् कारण नहीं इत्यादि मतान्तर है) ॥२३॥

भक्तिर्भवति विवेकविमोकाभ्यासक्रियाभिरभिरामा ।
कल्याणानवसादानुद्धर्षैश्चात्मनि परस्मिन् ॥ २४ ॥

भक्ति सात साधनों से होती है। आहार शुद्धि से सत्त्वशुद्धि होने पर प्रथम विवेक होता है। उससे संसारकामनानिवृत्ति रूप विमोक होता है। सदा तद्भावभावना अभ्यास है। श्रौत-स्मार्त्त कर्म क्रिया है। सत्यादि कल्याण है। अदीनता अनवसाद है अर्थात् आत्मबल है। और शान्तो दान्त इत्यादिश्रुतिकथित शमादिलक्षण तुष्टि अनुद्धर्ष है। इनसे परमात्मा में परा भक्ति होती हैं। (साधन भक्ति इनके बिना भी संभव है) ॥२४॥

अनुकूलः सर्वेषामप्रतिकूलोऽवने च विश्वस्तः ।
गोप्तास्त्विवति संप्रार्थ्यं स्वात्मानं यस्तु निक्षिपति ॥ २५ ॥
अतिदैन्यं कार्पण्यमगर्वं तन्वन् हरौ प्रपत्तिमसौ ।
व्रजति विमुक्तिनिदाने एते भक्तिप्रपत्ती द्वे ॥ २६ ॥

जो सबके अनुकूल चलने का प्रयत्न करता है, हिंसा आदि प्रतिकूल कार्य नहीं करता, भगवान मेरी रक्षा करेंगे इस प्रकार पूर्णविश्वास है, हे भगवान मेरी रक्षा करो इत्यादि रीति जो सम्यक् प्रार्थना करते हुए अपने आत्मा को हरि में समर्पित करता है, अति दैन्यरूपी या गर्वपरिहाररूपी कार्पण्य रखने वाला है वही शरणागत भक्त माना जाता है। "आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षोढा तु शरणागतिः" इत्यादि बताया है। पूर्वोक्त भक्ति और यह प्रपत्ति ये दो ही मोक्ष के मूल कारण हैं ॥२५-२६॥

कृतमीमांसः साङ्गां भक्तिं विदधन्निगद्यते भक्तः।
शूद्रो नात्राधिकृतस्तस्य तु मुक्तिः प्रपत्त्यैव ॥ २७ ॥

पूर्व मीमांसा से जिसने वेदार्थ निर्णय किया और साङ्ग भक्ति जो करता है वही भक्त है। इस भक्ति में शूद्र को अधिकार नहीं है। यह ब्रह्मसूत्र में अपशूद्राधिकरण में बताया। शूद्र की मुक्ति प्रपत्ति से ही हो सकती है ॥२७॥

सत्सङ्गेन विवेके निर्विण्णः क्षणिकवस्तुषु मुमुक्षुः।
विष्णुं प्रपद्यते योऽकिंचनगतिरेष शूद्रोऽपि ॥ २८ ॥

सत्सङ्ग से नित्यानित्यवस्तुविवेक होने पर क्षणिक सांसारिक वस्तुओं से वह विरक्त होकर मुमुक्षु बन जाता है। तब अकिंचनगति हो भगवान विष्णु की शरण में आता है ऐसा क्रम है। ऐसा तो शूद्र भी हो सकता है। त्रैवर्णिक भी इस प्रकार शरणागत हो सकता है, यह अपिकार का अर्थ है।

एकान्त्यन्यदपि फलं वाञ्छेन्नान्यत् फलं तु परमः सः।
सद्योमुक्त्यर्थ्यार्त्तः कर्मक्षयवीक्षणो दृप्तः ॥ २९ ॥

एकान्ती, परमैकान्ती, आर्त्त और दृप्त ये भक्तके चार भेद हैं। एकान्ती भक्त मुक्ति के साथ अन्यफल-संसार सुख भी चाहता है। परमैकान्ती मुक्ति के सिवाय अन्य कोई फल नहीं चाहता। संसार ताप से तप्त होकर शीघ्र मुक्ति चाहने वाला आर्त्त भक्त है। दृप्त भक्त कहता है जितना प्रारब्ध हो भोग लेंगे, आगे जन्म न हो, भगवत्प्राप्ति हो। इस प्रकार कर्मक्षय की प्रतीक्षा करने वाला दृप्त भक्त है ॥२९॥

अग्निज्योतिःप्रभृतिप्रायणसृत्या स याति वैकुण्ठम्।
स्त्रीभिर्यानादिभिरपि विहरेत् ससुखं स विष्णुसमः ॥ ३० ॥

अग्नि, ज्योति, दिन एवं शुक्लपक्ष-उत्तरायणादि प्रकृष्ट अयन-उत्तम मार्ग से भक्त वैकुण्ठ जाता है। वहां दिव्यस्त्री-दिव्ययानादि भोग्य वस्तुओं का उपभोग करता हुआ भोगों में विष्णु समान होकर विहरण करता है। ऐसे लोग मुक्त हैं ॥३०॥

विष्वक्सेनोऽनन्तो गरुडाद्याश्च प्रकीर्त्तिता नित्याः ।
तेषामवतारः स्यादीशितुरिव हीच्छया निजया ॥ ३१ ॥

बद्ध एवं मुक्त जीव बताये। अब नित्यजीवों को सुनो। विष्वक्सेन, अनन्त एवं गरुडप्रभृति नित्य जीव हैं। भगवान के समान इनके भी अपनी इच्छा से अवतार होते हैं। अत एव इनका कहीं कहीं जन्म बताया तो भी वे नित्य ही हैं। अवतारों को लेकर जन्मता है ॥३१॥

इति जीवनिरूपणम्

नित्यविभूतिः शुद्धं सत्त्वं तत्तूर्ध्वतोऽपरिच्छिन्नम् ।
भोगस्थानं भोगोपकरणमपि भोग्यमेवापि ॥ ३२ ॥

नित्यविभूति शुद्ध सत्त्व को कहते हैं। वह ऊर्ध्वदेश में अपरिच्छिन्न है, (अधोदेश में क्वचित् क्वचित् रहता है) भोगस्थान, भोगोपकरण और भोग्य ये तीन शुद्ध सत्वात्मक नित्य विभूति हैं ॥३२॥

प्राकृतसत्त्वात् पृथगिदमुक्तं सत्त्वं स्वयंप्रभं शुद्धम् ।
अप्राकृतशब्दादिस्वरूपमानन्दरूपं च ॥ ३३ ॥

यह शुद्ध सत्त्व प्राकृत सत्त्व से पृथक है। स्वयंप्रकाश है। अप्राकृत शब्दादिविषय परिणामी है। और आनन्दकारी है ॥३३॥

कौस्तुभमात्मा प्रकृतिः श्रीवत्सोऽथो महान् गदा चक्रम् ।
मन इति रीत्या दिव्यास्तत्र भवन्ति प्रकृत्याद्याः ॥ ३४ ॥

कौस्तुभरूपी आत्मा; श्रीवत्सरूपी प्रकृति; गदारूपी महत्तत्त्व; मनरूपी चक्र, सात्त्विकाहंकारात्मक शंख; तामसाहंकारात्मक शार्ङ्ग; ज्ञानरूपी खड्ग; शररूपी ज्ञानेन्द्रिय; वनमालारूपी स्थूल-सूक्ष्म भूत वहां (वैकुण्ठ में) हैं। अर्थात् इह लोक में जो भी हैं वह वहां दिव्यरूप में हैं ॥३४॥

वैकुण्ठश्चामोदः संमोदश्च प्रमोद एवापि ।
तस्या भवन्ति भेदा वैकुण्ठं वैष्णवं नगरम् ॥ ३५ ॥

तत्रालय आनन्दस्तत्र च मणिमण्डपः सहस्रफणः ।
तत्रानन्तस्तस्मिन् धर्मादिमयासनं सैंहम् ॥ ३६ ॥
तत्राष्टदलं पद्मं तदुपरि शेषः प्रकृष्टविज्ञानः ।
नित्यविभूतिः सकलाप्यास्ते नारायणो यत्र ॥ ६७ ॥

वैकुण्ठ; आमोद; संमोद और प्रमोद ये नित्यविभूति के ही भेद हैं। वैकुण्ठ विष्णु का नगर है। जहां आनन्द नामक आलय है। उसमें सहस्र-स्तम्भ मणिमण्डप, उसके अन्दर सहस्रफण अनन्त, उस पर धर्मादिमय सिंहासन, उस पर अष्टदल पद्म, उस पर प्रकृष्ट विज्ञानधाम शेष हैं, जिस पर नारायण विराजते हैं। ये सब नित्यविभूति ही हैं ॥३५-३७॥

इति नित्यविभूतिनिरूपणम्

अथज्ञाननिरूपणम्

ज्ञानं द्रव्यगुणात्मकमात्मगतं संकुचच्च विकसच्च ।
बद्धानां प्रतिबद्धं मुक्तानां व्याप्नुवच्चैव ॥ ३८ ॥

यद्यपि ज्ञान को द्रव्य बताया है। फिर भी वह द्रव्यगुणोभयात्मक है। वह आत्मारूपी द्रव्य में आश्रित है, अतः गुणरूप है। संकोचविकासशाली है, अतः द्रव्यरूप भी है। बद्ध पुरुषों का ज्ञान प्रकृतिप्रतिबद्ध होने से संकुचित रूप है। और मुक्त पुरुषों का प्रकृति वियुक्त स्वरूप होने से विकसितरूप है। विकास निरवधि होने से व्यापक रूप हो जाता है ॥३८॥

गृहकोणगदीपस्य व्याप्नोति यथा प्रभाऽखिलं गेहम् ।
जीवस्याणोर्ज्ञानं व्याप्नोति तथाखिलं देहम् ॥ ३९ ॥

घर के एक कोने में भले ही दीप हो, किन्तु उसकी प्रभा पूरे घर में व्याप्त होती है। वैसे अणुरूप भी जीव की ज्ञानरूपी प्रभा पूरे शरीर में व्याप्त होती है ॥३९॥

सुखदुःखेच्छाद्वेषाद्यखिलमवस्थाविशेष एतस्य ।
भक्तिरपि तैलधारासदृशेश्वरसन्ततस्मरणम् ॥ ४० ॥

सुखदुःखादि की पृथक् गुणों के रूप में परिगणना नहीं हैं। कारण ये सब द्रव्यात्मक ज्ञान का ही अवस्थाविशेष हैं। बल्कि भक्ति भी तैलधारा के समान अविछिन्न निरन्तर ईश्वरस्मरण ही है और स्मरण ज्ञानविशेष रूप है ही ॥४०॥

प्रत्यक्षमनुमितिश्चाप्यागमिकं च त्रिधा प्रमा ज्ञानम् ।
तत्करणानि त्रीणि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि ।। ४१ ।।

प्रत्यक्ष, अनुमिति और आगमिक (शाब्द) ऐसे तीन प्रमा है जो ज्ञान ही है। उनके कारण भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन हैं ।।४१।।

ज्ञानं यद्यपि नित्यमनित्यः किन्त्वस्य विषयसम्बन्धः ।
उपचारादुत्पत्तिव्यवहारो जीवजनुष इव ।। ४२ ।।

ज्ञान यद्यपि नित्य है। तथापि उसका विषय के साथ सम्बन्ध अनित्य होने से अनित्यत्वव्यवहार है। जैसे जीव नित्य होने पर भी प्राण संयोग अनित्य होने से जन्मादि व्यवहार होता है ।।४२।।

अविकल्पं सविकल्पं चाध्यक्षं विषयसंनिकर्षोत्थम् ।
गुणसंस्थानादियुतव्यक्तिज्ञानं भवेदाद्यम् ।। ४३ ।।

निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इस प्रकार प्रत्यक्ष दो है। दोनों इन्द्रियार्थ-संनिकर्षोत्पन्न है। इनमें निर्विकल्पक ज्ञान गुण आकृति आदि से विशिष्ट प्रथम व्यक्तिज्ञान को कहते हैं ।।४३।।

अनुगतविधया ज्ञानं सविकल्पकमुच्यते द्वितीयादि ।
ज्ञानं न निष्प्रकारं युक्तं यत्तार्किकाद्युक्तम् ।। ४४ ।।

प्रथमोत्पन्न संस्थानविशिष्ट व्यक्तिज्ञान से संस्थानानुगत व्यक्तियों का जो द्वितीयादि ज्ञान होता है वह सविकल्पक है। नैयायिकादि निष्प्रकार का अर्थात् निर्विशेषण ज्ञान को निर्विकल्पक मानते हैं, वह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि उसमें प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है ।।४४।।

आत्मा मनसा युङ्क्ते तदिन्द्रियैः किं च तानि विषयगणैः ।
संयोगः संयुक्ताश्रयणं द्वौ संनिकर्षौ स्ताम् ।। ४५ ।।

प्रथम आत्मा मन से संयुक्त होता है। मन इन्द्रियों से और इन्द्रिय अर्थों से। तब ज्ञान होता है। संयोग और संयुक्ताश्रयण ये दो संनिकर्ष हैं। क्योंकि समवाय मान्य नहीं है। जाति पृथक् नहीं है। द्रव्य और गुण दो ही पदार्थ हैं ।।४५।।

अर्वाचीनमनर्वाचीनं चेति द्विधा पुनस्तदपि ।
इन्द्रियसापेक्षं स्यादाद्यमतोऽन्यत्तदनपेक्षम् ।। ४६ ।।

अर्वाचीन ओर अनर्वाचीन ऐसे ज्ञान पुनः दो प्रकार का है। प्रथमः इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को कहते हैं। द्वितीय इन्द्रियनिरपेक्ष को ॥४६॥

दिव्यं श्रीशकृपोत्थं भक्तानां योगिनां स्वयंसिद्धम् ।
मुक्तेश्वरनित्यानां तदनर्वाचीनमित्याहुः ॥ ४७ ॥

आद्य की अनुवृत्ति समझना चाहिए। प्रथम अर्वाचीन के दो भेद समझो। एक अदिव्य है जो साधारण जनों को होता है। दूसरा दिव्य ज्ञान है। वह भी दो प्रकार है। एक हे जो भक्तों को ईश्वरकृपा से मन-इन्द्रियों से होता है। दूसरा योगियों को योगज संनिकर्ष से होता है। अन-र्वाचीन ज्ञान मुक्तपुरुष, ईश्वर एवं नित्यजीवों को होता है ॥४७॥

भेदयुतं गृह्णीत प्रत्यक्षेणाखिलं हि वस्तु परम् ।
भेदव्यवहारः खलु न सदा प्रतियोग्यपेक्षित्वात् ॥ ४८ ॥

घटादि प्रत्यक्ष हमेशा इतरभेदविषयक होता है। प्रश्न होगा—तब अयं घटः इस प्रत्यक्ष के साथ 'तरुलतापटादिनं' ऐसा भान और व्यवहार क्यों नहीं होता ? उत्तर है कि प्रतियोगी का ज्ञान नहीं हुआ। भेदव्यवहार प्रतियोगीसापेक्ष है ॥४८॥

शब्दान्न प्रत्यक्षं हेत्वसतः शाब्दहेतुसत्त्वाच्च ।
सोऽयं पुरुष इति गिरा प्रथमं शाब्दं ततोऽध्यक्षम् ॥ ४९ ॥

"दशमस्त्वमसि" "सोऽयं पुरुषः" इत्यादि शब्द से कुछ लोग जो प्रत्यक्ष मानते हैं वह अमान्य है। क्योंकि शब्द प्रत्यक्षकारण नहीं है। और शाब्दबोधकारण है। अतः उक्त स्थान में प्रथम शाब्दबोध होगा बाद में इन्द्रियसंनिकर्ष से प्रत्यक्ष ॥४९॥

इति प्रत्यक्षनिरूपणम्

पक्षसपक्षगतेन व्यावृत्तिमता विपक्षतोऽनुमितिः ।
लिङ्गेनान्वयिना वा सव्यतिरेकेण वा द्वितयी ॥ ५० ॥

पक्ष और सपक्ष में वृत्ति हो, विपक्ष से व्यावृत्त हो, ऐसे लिङ्ग से अनुमिति होती है। लिङ्ग कहीं केवलान्वयी होता है, और कहीं अन्वय-व्यतिरेकी होता है। दृष्टान्त न होने से केवलव्यतिरेकी नहीं होता। अतः दो ही अनुमान मान्य हैं ॥५०॥

नैवासिद्धविरुद्धौ सत्प्रतिपक्षश्च बाधितश्चैव ।
नानैकान्तिक एव च हेत्वाभासोऽनुमाहेतुः ।। ५१ ।।

असिद्ध, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, बाधित और अनैकान्तिक हेतु हेत्वाभास हैं, वे अनुमितिहेतु नहीं है—प्रमाण नहीं है ।।५१।।

पञ्च न्यायावयवाः परार्थ्ये हेतवः प्रतिज्ञाऽऽद्या ।
हेतुरुदाहरणं चोपनयनिगमनेऽपरे बोध्याः ।। ५२ ।।

परार्थानुमान में पाँच न्यायावयव कारण है। आद्य प्रतिज्ञा है हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये चार अन्य हैं। ऐसे वे पाँच हो जाते हैं।

मन्दमतीनां पञ्च न्यायावयवाः कृते प्रयोक्तव्याः ।
तीक्ष्णमतीनां त्रितयं तीक्ष्णतरधियां पुनर्द्वितयम् ।। ५३ ।।

मन्दमतियों के लिये पाँचों न्यायावयवों का प्रयोग कर सकते हैं। मध्यमतियों के लिये चार समझ लो। तीक्ष्णमतियों के लिये तीन और तीक्ष्णतर वुद्धि वालों के लिये दो ही अपेक्षित हैं ।।५३।।

इत्यनुमाननिरूपणम्

शब्दोऽनाप्तोक्तान्यद् वाक्यं तज्जन्यधीश्च शाब्दमतिः ।
वेदस्त्वपौरुषेयं[1] प्रामाण्यं सर्वथा भजति ।। ५४ ।।

अनाप्त वाक्य से अन्यवाक्य (आप्त और अपौरुषेय दोनों) सब्द प्रमाण हैं। उससे उत्पन्न मति शाब्द ज्ञान है। अपौरुषेय वाक्य वेद है। वह सर्वथा प्रमाण है ।।५४।।

नारायणोदितत्वात् श्रुत्यविरोधाच्च पाञ्चरात्रं तु ।
कृत्स्नं प्रमाणमेवं स्मृत्यादेश्चाविरुद्धांशः ।। ५५ ।।

नारायणोक्त होने से तथा वेदाविरुद्ध होने से पाञ्चरात्र पूर्णतया प्रमाण है। वेदाविरुद्ध स्मृति आदि प्रमाण है ।।५५।।

पूर्वोत्तरभागाभ्यां साध्यं सिद्धं च बोध्यते वेदैः ।
आराधनकर्माऽऽद्येऽथाराध्यमिहोत्तरे गदितम् ।। ५६ ।।

वेदों में पूर्व तथा उत्तर दो भाग हैं। पूर्व भाग में साध्य आराधन कर्म बताया। उत्तर भाग में सिद्ध वस्तु का वर्णन है। अर्थात् आराध्य ब्रह्म का वर्णन है ।।५६।।

---

१. वाक्यमित्यनुवर्त्तते। अपौरुषेयः इति पाठान्तरम्।

अनयोरविनाभावात् सम्बन्धादेकशास्त्रमेव सताम् ।
पूर्वोत्तरयोरिष्टं विदुषां मीमांसयोः स्पष्टम् ॥ ५७ ॥

आराधना और आराधनीय ये दोनों परस्पर अविनाभावी हैं। अतएव पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा की एकशास्त्रता संत विद्वानों को इष्ट है।

वृत्ती द्वे तु पदानां मुख्या गौणी च शक्तिरिह मुख्या ।
गौणी तु लक्षणा स्यात् सा च जहत्येव सर्वत्र ॥ ५८ ॥

पदों की दो वृत्ति मानी गयी है। एक मुख्य वृत्ति है। जहती लक्षणा ही सर्वत्र होती है। क्यों कि शक्यतावच्छेदकविशिष्ट का त्याग सर्वत्र अवश्यंभावी है। अतएव परोक्त अजहती और भागत्याग मान्य नहीं है ॥५८॥

मानसमपरोक्षं हि स्मरणं प्रमितिः पृथक् तु नाभावः ।
नानुपलब्धिर्मानं नार्थापत्तिर्यतोऽनुमितिः ॥ ५९ ॥

यथार्थ वस्तु का स्मरण प्रमा ही है। तथापि प्रमाणान्तर नहीं है। कारण वह मानस प्रत्यक्ष ही है। अभाव को अतिरिक्त नहीं मानते। अतएव अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है। अर्थापत्तिस्थल में अनुमिति ही है। अतः अर्थापत्ति भी प्रमाणान्तर नहीं है ॥५९॥

इति शब्दनिरूपणम्

ज्ञाननिरूपणप्रकरणं च

प्रकृतिं प्रधानमाहुर्मायाऽविद्याऽक्षरादिपदवाच्याम् ।
सत्त्वं रजस्तमश्चेत्यस्यास्तु गुणास्त्रयः प्रोक्ताः ॥ ६० ॥

प्रकृति, प्रधान, माया, अविद्या और अक्षर इत्यादि एकार्थवाची शब्द हैं। इस प्रकृति के सत्त्व, रज और तम ऐसे तीन गुण हैं ॥६०॥

प्रकृतिश्च महांश्चाहङ्कारश्चैकादशेन्द्रियाण्यपि च ।
तन्मात्राः पञ्च महाभूतानि च पञ्च तद्भेदाः ॥ ६१ ॥

प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, एकादश इन्द्रिय, पाँच तन्मात्रा और पाँच महाभूत ये प्रकृति के ही भेद हैं ॥६१॥

सङ्कल्पनादिहेतुर्भवति मनो बन्धमोक्षबीजं च ।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनाघ्राणाः शब्दादिधीजनकाः ॥ ६२ ॥

वाक्पाणिपादपायूपस्था नानाविधक्रियाजनकाः ।
भूताप्यायनहेतोरुच्यन्ते भौतिकानीति ॥ ६३ ॥

आमुक्ति तु वर्त्तन्ते नश्यन्ति ततोऽथवाऽपरेऽकरणाः ।
गृह्णन्ति तानि वागादीनि तु नाशीनि जगुरपरे ॥ ६४ ॥

संकल्पादि का कारण मन है। वह बन्ध तथा मोक्ष दोनों का कारण हैं, श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियाँ शब्दादिज्ञानजनक हैं। वागादि कर्मेन्द्रिय नाना क्रियाजनक हैं। शंका होगी कि अहंकार से एकादशेन्द्रियों की यदि उत्पत्ति है तो उन्हें भौतिक क्यों कहते हैं? समाधान है कि भूतों से इनकी वृद्धि होती है। "अन्नमयं हि सोम्य मनः" इत्यादि श्रुति से यह बात सिद्ध है। ये इन्द्रियाँ मोक्षपर्यन्त रहती हैं। मोक्षोत्तर नष्ट होती हैं। अथवा जो करण रहित जीवान्तर हैं वे उन्हें ग्रहण कर लेते हैं। कर्मेन्द्रियों का तो शरीर नाश से ही नाश होता है ऐसी कुछ लोगों की मान्यता है। परन्तु अहंकार से एकादशेन्द्रियों की उत्पत्ति यदि सृष्टिकाल में हो तो प्रलय काल में इनका नाश भी होगा। तब मोक्षपर्यन्त स्थायित्व किस प्रकार? बाद में उन्हें अन्य ग्रहण करें क्यों? इत्यादि प्रश्न होंगे। अतएव यहाँ विस्तार में न जा कर तन्मात्रा आदि की उत्पत्ति ही जो निर्विवाद है "तामसतोऽहंकारात्" इत्यादि अग्रिम श्लोकों के द्वारा बतायेंगे ॥६४॥

आकाशवायुतेजोऽब्ववनिसमाख्यानि पञ्च भूतानि ।
सूक्ष्मावस्थास्तेषां तन्मात्रा इत्युदीर्यन्ते ॥ ६५ ॥

आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी ये पाँच भूत हैं। इनकी सूक्ष्मावस्था तन्मात्रा कहलाती हैं ॥६५॥

तामसतोऽहंकारात्तन्मात्राणां भवेत्समुत्पत्तिः ।
ताभ्यः क्रमेण च स्यादुत्पत्तिः पञ्चभूतस्य ॥ ६६ ॥

तामस अहंकार से पाँचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। उन तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है ॥६६॥

यद्वा शब्दाख्यायायास्तन्मात्रायाः समुद्भवः प्रथमम् ।
खस्य ततः खाच्च पुनः स्पर्शस्य ततोऽनिलस्येति ॥ ६७ ॥

अथवा अहंकार से प्रथम शब्दतन्मात्रा उत्पन्न हुई। उससे आकाश हुआ। आकाश से स्पर्श तन्मात्रा उससे वायु। वायु से रूपतन्मात्रा उससे तेज इत्यादि ॥६७॥

यद्वा शब्दाख्यायाः खस्य स्पर्शस्य युगपदुत्पत्तिः ।
स्पर्शाख्याया वायू रूपाख्या चैव युगपदिति ॥ ६८ ॥

अथवा शब्द तन्मात्रा से आकाश और स्पर्शतन्मात्रा एक साथ हुए स्पर्शतन्मात्रा से वायु और रूपतन्मात्रा एक साथ इत्यादि रीति ॥६८॥

द्वेधा कृत्वैकैकं पञ्चार्धान्येकशश्चतुर्धा च ।
स्वान्यार्धैः संयोगात् पञ्चीकरणं तु भूतानाम् ॥ ६९ ॥

पाँच भूतों को दो-दो किया। एक-एक अर्ध को चार-चार करके स्वेतर चार अर्धों में मिलाया तो पञ्चीकरण हुआ ॥७०॥

महताऽहंकारेणाप्यध्यवसायाभिमानहेतुभ्याम् ।
सह सात्त्विकादिभिर्द्व्यां सप्तीकरणं परे जगदुः ॥ ७१ ॥

अध्यवसाय और अभिमान आत्मधर्म होने से वही महत्तत्त्व और अहंकार नहीं है। किन्तु अध्यवसाय और अभिमान के हेतु हैं। जैसे संकल्पन आत्मधर्म है। उसका हेतु मन है। ये दोनों सात्त्विक राजस तामस ऐसे भेदत्रययुक्त हैं। पाँच भूतों के साथ इन दो को भी जोड़ कर बटवारा करने पर सप्तीकरण होता है। ऐसा भी मत है ॥७१॥

तैरण्डं भूर्भुवराद्युपरितनमधोऽतलादि ते लोकाः ।
तदनु तमोऽथ च गर्त्तोदकमण्डकटाह एवापि ॥ ७२ ॥

इन पञ्चीकृत या सप्तीकृत तत्त्वों से ब्रह्माण्ड होता है। जहाँ भू-भुवः स्वः इत्यादि ऊर्ध्व सप्त लोक और अतल वितलादि निचले सात लोक होते हैं। अण्ड के चारों ओर तम और उसके बाद गर्त्तोदक या गर्भोदक और उसके बाद अण्डकटाह आवरण हैं ॥७२॥

जम्बूप्लक्षाद्याः स्युर्लवणेक्षुरसादिसागरान्तरिताः ।
द्वीपाः सप्त पृथिव्यां मध्ये मेरुः सुवर्णमयः ॥ ७३ ॥
परि तदिलावृतमस्यावाच्यादौ भारतादिकं वर्षम् ।
यत्र च कर्म ज्ञानं भक्तिश्च विजृम्भते सुधियाम् ॥ ७४ ॥

पृथिवी में जम्बूद्वीप प्लक्षद्वीपादि सात द्वीप हैं जो लवणोदधि, इक्षु-रसोदधि आदि सागरों से अन्तरित हैं। मध्य में अर्थात् जम्बू द्वीप के मध्य में ही सुवर्णमय मेरुपर्वत है, जिसके चारों ओर इलावृत है, दक्षिण की

ओर भारतादि वर्ष है; पश्चिम की ओर भद्राश्व; उत्तर को ओर रम्यकादि और पूर्व की ओर केतुमाल वर्ष हैं। जहाँ, विशेषतः भारतवर्ष में कर्म, ज्ञान और भक्ति का विस्तार होता है ॥७३-७४॥

अद्वारकमण्डान्तं श्रीहरिवपुरण्डजादि सद्वारम्।
जीवस्तस्य शरीरं जीवस्य जरायुजाद्यं यत् ॥ ७५ ॥

अण्ड पर्यन्त अद्वारक (साक्षात्) हरिशरीर हैं। जरयुज अण्डजादि सद्वारक है। परमात्मा का शरीर जीव है। और जीव का शरीर जरायुज अण्डज आदि हैं ॥७५॥

इति प्रधाननिरूपणम्

कालो द्विविधोऽखण्डः खण्डश्च भवेद्विभुर्जडश्चाद्यः।
अपरस्तज्जः क्षणदिनमासाद्यात्मेन्द्रियग्राह्यः ॥ ७६ ॥

काल अखण्ड तथा सखण्ड भेद से दो प्रकार का है। प्रथम विभु, नित्य एवं जड है। दूसरे उसी से उत्पन्न है, अनित्य है, क्षण-दिन-मासाद्यात्मक है। इन्द्रिग्राह्य भी है ऐसी भी मान्यता कुछ लोगों की है ॥७६॥

वैकुण्ठेतरलोके तत्सापेक्षः परेश्वरः सृजति।
वैकुण्ठे निरपेक्षः सर्वं वस्तु प्रभुः सृजति ॥ ७७ ॥

वैकुण्ठ से अन्यत्र कालसापेक्ष हो कर परमात्मा सृष्टि करता है। किन्तु वैकुण्ठ में कालनिरपेक्ष हो सृष्टि करता है॥७७॥

इति कालनिरूपणम्। द्रव्यप्रकरणम्

सत्त्वादयो गुणा दश शुद्धं सत्त्वं पृथङ् मतं दिव्यम्।
मिश्रं रजस्तमोभ्यां प्रोक्तं गुणरूपमिति पूर्वम् ॥ ७८ ॥

द्रव्यों की व्याख्या हो गयी। अब गुण निरूपण होगा। सत्व-रज आदि दस गुण पहले बताये। शुद्ध सत्व को नित्य विभूति के रूप में द्रव्यान्तर्गत कहा। रज और तम से मिश्रित सत्व ही गुण रूप है ॥७८॥

सत्त्वाद्यतीन्द्रियं त्रयमाद्यं सुखलाघवादिजनकं स्यात्।
रागादौ मोहादौ बोजे भवतो रजस्तमसी ॥ ७९ ॥

सत्व, रज और तम ये तीनों अतीन्द्रिय हैं। सत्व गुण सुख-लाघव आदि का; रज रागादि का; और तम मोहादि का कारण हैं ॥७९॥

शब्दादयस्तु पञ्च श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैर्गुणा ग्राह्याः ।
ध्वनिवर्णभिदाः शब्दाः शीतोष्णाऽतद्द्विधाः स्पर्शाः ॥ ८० ॥
रक्तसिताऽसितपीता वर्णा येऽन्ये तु ते हि तद्भेदाः ।
मधुराम्लकटुकषायास्तिक्तो लवणो रसाः षडिमे ॥ ८१ ॥
सुरभिरसुरभिर्गन्धौ नित्योऽनित्यश्च भवति संयोगः ।
शक्तिः कारणतायाः प्रोक्ता निर्वाहिका नित्या ॥ ८२ ॥

शब्द-स्पर्शादि पांच गुण क्रमशः श्रोत्रादि पांच से ग्राह्य हैं। शब्द ध्वनि एवं वर्ण भेद से द्विविध है। शीत, उष्ण, अनुभय इस प्रकार स्पर्श त्रिविध है। लाल सफेद, काला, पीला ऐसे चार रूप हैं। हरित कपिशादि इन्हीं के भेद हैं। मीठा, खट्टा, कड़ुआ, कषाय, लवण और तीखा ऐसे छः रस हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध दो गन्ध हैं। संयोग विभुओं का नित्य एवं अन्यों का अनित्य होता है। शक्ति कारणता की निर्वाहिका है, नित्य है ॥८०-८२॥

इति गुणनिरूपणम्

देशान्तरसंयोगः शक्त्या नार्थान्तरं ततः कर्म ।
संस्थानमेव जातिरनभ्युपगम्या विशेषाद्याः ॥ ८३ ॥
नाभावोऽस्त्यतिरिक्तो ह्यधिकरणात्माभ्युपेयते सोऽयम् ।
द्रव्यगुणौ तेन स्तां द्वावेवार्थौ प्रमेयतया ॥ ८४ ॥

कर्म अप्रत्यक्ष हैं। देशान्तर संयोग से उस की कल्पना होती है। किन्तु देशान्तर संयोग शक्ति से संभव है। अतः अन्यथोपपन्न होने से कर्म को पृथक मानना व्यर्थ है। आकृतिविशेष ही जाति है। आकृति अवयवसंयोग को कहते हैं अतः वह भी अलग पदार्थ नहीं है। विशेष और समवाय अस्वीकृत हैं। अभाव अधिकरणरूप ही है। अतिरिक्त नहीं। अतः द्रव्य और गुण ये दो ही पदार्थ प्रमेय हैं ॥८३-८४॥

इति द्रव्यगुणपदार्थद्वयनिर्धारणम्

भिन्नः परमात्मासौ जीवजडाभ्यामनण्वजडरूपः ।
जीवा जडाश्च नाना नैव ततोऽस्याद्वितीयत्वम् ॥ ८५ ॥

जीव और जड से परमात्मा भिन्न है। क्योंकि जीव अणु है परमात्मा अनणु अर्थात् व्यापक है। आकाशादि व्यापक है, पर जड़ है। परमात्मा

अजड़-चैतन है। जीव भी नाना है, जड़ भी नाना है। अतः परमात्मा द्वितीय रहित नहीं है ॥८५॥

तच्छ्रुतिहि नगरे हरिदत्तः कविरद्वितीय इतिवत्स्यात् ।
नात्र तदीयसुताद्या नागरिका वा निषिध्यन्ते ॥ ८६ ॥

अद्वितीयत्व श्रुति (एकमेवाद्वितीयं इत्यादि) इस नगर में हरिदत्त कवि अद्वितीय है इस प्रकार की है। उक्त वाक्य में हरिदत्त के पुत्रादि और नागरिकादि का निषेध नहीं है। यदि कहें इस वाक्य में लाक्षणिक प्रयोग है, श्रुति में लक्षणा अन्याय है, तो उत्तर है कि पूर्वोक्त अजड़त्व तथा अनणुत्व की अन्यथानुपपत्ति होने से ऐसे स्थल में लक्षणा मानना अन्याय नहीं है।

बहुभवनं तु शरीरद्वारा तस्मान्न तच्छ्रुतिविरोधः ।
नानानिषेधवाक्यं स्वान्यान्तर्याम्यभावपरम् ॥ ८७ ॥

"एकोऽहं बहु स्यां" यहाँ प्रकृति आदि हरिशरीर का नाना भवन विवक्षित है। 'नेह नानास्ति' श्रुति में नाना अन्तर्यामी नहीं है यह अर्थ है।८७॥

अपृथग्भूता नित्यमुपास्याः सत्यादयः पृथग्भूताः ।
ज्ञानाद्याः करुणाद्याः क्वचिदेव विधेरुपास्यास्तु ॥ ८८ ॥

सत्य, ज्ञान एवं आनन्दादि परमात्मा से अपृथग् भूत (स्वरूपात्मक) भी हैं और पृथक् भी हैं। स्वरूपात्मक तो द्रव्य हैं। वह परमात्मोपासना में नित्य ही आ जाते हैं। गुणरूप ज्ञान, करुणा इत्यादि जहाँ विहित है वहीं उपास्य है। जैसे सत्यकामत्वादि ॥८८॥

विज्ञानघनं विज्ञातारमितीदं श्रुतिद्वयं स्पष्टम् ।
ज्ञानं ज्ञानाश्रयमपि परमात्मानं समाचष्टे ॥ ८९ ॥

विज्ञानघन जहाँ बताया वहाँ स्वरूपात्मक विज्ञान कहा गया है। और "विज्ञातारमरे" इत्यादि में विज्ञानगुणाश्रय बताया है ॥८९॥

ब्रह्म त्वं विद्धीति श्रवणात्परमात्मनोऽपि वेद्यत्वम् ।
यन्मनसा न मनुत इति कात्स्न्र्येनाज्ञेयतामाह ॥ ९० ॥

"ब्रह्म त्वं विद्धि" इस श्रुति में ब्रह्म की वेद्यता स्पष्ट बतायी है। अतः "यन्मनसा न मनुते" का 'सर्वरूपेण ब्रह्म नहीं जाना जा सकता' ही अर्थ है ॥९०॥

तत्त्वमसीत्यादिगिरः प्रववृतिरे देहदेहिभावेन ।
अद्वैतवचो गौरोऽस्म्यहमितिवत्स्याच्छरीरैक्यात् ॥ ९१ ॥

तत्त्वमसि इत्यादि वचन शरीरशरीरीभाव को लेकर है। जीव शरीर है अन्तर्यामी शरीरी है। जैसे देवदत्त के शरीर को देपदत्त कहते हैं वैसे जीवात्मा को परमात्मा बताया। या शरीर का नियन्ता शरीरी होने से वैसा कथन है। पूरा जगत् शरीर है। परमात्मा शरीरी एक है। शरीर के हाथ पाँव आदि अलग होने पर भी एको देवदत्तः ऐसा व्यवहार होता है। वैसे जगत् नाना होने पर भी एकत्वव्यवहार है ॥९१॥

जीवैक्यं साधर्म्यात्तच्चेदं चौषधं यथैकमिति ।
गौणं प्रकारितो वा प्रकारतो वा ततोऽद्वैतम् ॥ ९२ ॥

त्वमेवाहं विचक्ष्व भो इत्यादि में वह औषध और यह औषध एक ही है इस प्रकार साधर्म्य से ऐक्यकथन है। इस प्रकार प्रकारिता को लेकर या प्रकारता को लेकर अद्वैतोक्ति गौण ही है ॥९२॥

जननमरणकरणानां प्रतिनियमात् कर्मणां च वैचित्र्यात् ।
जीवबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ ९३ ॥

जीवों की एकता होती तो एक के जन्म से सबका जन्म और एक के मरण से सब का मरण होता। एक के भोजन से सब का भोजन होता। कोई ज्ञानी, कोई कामी कोई क्रोधी इत्यादि त्रैगुण्यविपर्यय से भो जोव-बहुत्व ही सिद्ध होता है ॥९३॥

ईशप्रतिबिम्बं किल केचिन्निगदन्ति जोवमात्मानम् ।
तदयुक्तं प्रतिबिम्बं रूपिणि किल रूपिणो भवति ॥ ९४ ॥

कुछ लोग जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब कहते हैं। अतएव बिम्ब के साथ एकता और प्रतिबिम्बों का वास्तविक भेदाभाव सिद्ध होते हैं। परंतु उक्त कथन अयुक्त है। कारण दर्पण जैसे रूपवान् उपाधि में मुख जैसे रूपवान् का प्रतिबिम्ब देखा गया है। यहाँ अन्तःकरण रूपवान् नहीं, ईश्वर भी रूपवान् नहीं तो प्रतिबिम्ब कैसे होगा ? ॥९४॥

कृष्णः स्वप्रतिबिम्बं पार्थं विज्ञाय कथमुपादिक्षत् ।
स्वप्रतिबिम्बं यतते बोधयितुं नैव मूढोऽपि ॥ ९५ ॥

श्रीकृष्ण तत्त्वज्ञानी थे। अर्जुन को अपना प्रतिबिम्ब समझते थे तो कैसे उपदेश दिया? अपने प्रतिबिम्ब को समझाने के लिये मूढ भी यत्न नहीं करता। इससे प्रतिबिम्बवादी माध्वादि भी प्रत्युक्त है ॥९५॥

इति जीवेश्वरादिभेदनिरूपणम्

ईश्वरशरीरभूतप्रकृतेः सत्यात्मनोऽतिसूक्ष्मायाः।
उत्पन्नमिदं भुवनं सत्यं नैवास्य मिथ्यात्वम् ॥ ९६ ॥

ईश्वरशरीरस्वरूप सूक्ष्म प्रकृति सत्य है। अतः उससे उत्पन्न जगत भी सत्य है, मिथ्या नहीं ॥९६॥

पञ्चीकरणाच्छुक्तावपि रजतांशस्य सत्त्वतो रजतम्।
तत्रोपलभ्यमानं सत्यं मिथ्योक्तिरल्पत्वात् ॥ ९७ ॥

पञ्चीकरण होने से शुक्ति में भी रजतांश है। अतः उपलभ्यमान रजत सत्य है। रजत मात्रा अल्प होने से उसे लोग मिथ्या कहते हैं ॥९७॥

असतः ख्यातिरयुक्ता स्वसदृशता स्वांशमन्तरानुचिता।
संस्काराच्चेत् कथमपरोक्षं तत्सत् तथान्यत्र ॥ ९८ ॥

रजत असत हो तो उसका ज्ञान कैसा? रजतसादृश्य से शुक्ति में रजतज्ञान जो मानते हैं उनको याद रखना चाहिये कि सादृश्य अपने अंश के बिना संभव नहीं है। संस्कार से रजत का ज्ञान हो तो स्वयं संस्कार अतीन्द्रिय होने से तत्कार्य रजत का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। तज्जन्य ज्ञान भी स्मृति होगी, प्रत्यक्ष नहीं। अतः रजत सत् है। इसी प्रकार रज्जुसर्पादि को भी समझना चाहिये ॥९८॥

स्वप्ने गजतुरगाद्या दृश्याः परमेश्वरेण रचितत्वात्।
सत्या अचिन्त्यशक्तेर्नान्यैर्दृश्याः क्षणविनाश्याः ॥ ९९ ॥

स्वप्नदृष्ट हाथी, घोड़ा आदि भी परमेश्वरनिर्मित होने से सत्य हैं। यदि सत्य हैं तो दूसरा व्यक्ति क्यों नहीं देख पाता? कारण, परमेश्वरशक्ति अचिन्त्य है। सुप्त पुरुष ही उसे देखेगा। अत एव वह क्षणविनाशी भी है, अतः स्वप्नदृष्टान्त से जगत को मिथ्या सिद्ध करना भी संभव नहीं है ९९॥

भ्रमरूपाया देहात्ममतेर्जीवस्वतन्त्रताभिमतेः।
हान्यै तत्त्वज्ञानं नासज्जगतो निवृत्त्यर्थम् ॥ १०० ॥

यदि भ्रम नहीं है तो तत्व ज्ञान का क्या प्रयोजन ? भ्रम भी होता है। देहात्मबुद्धि भ्रम है। जीव की स्वतन्त्रता का भ्रम होता है। इनकी निवृत्ति के लिये तत्वज्ञान उपयोगी है। न कि मिथ्या जगतनिवृत्ति के लिये ॥१००॥

तस्मात् तत्त्वज्ञानाद्देहात्मत्वस्वतन्त्रताभ्रमयोः ।
विनिवृत्तौ कैवल्यं प्रकृतिवियुक्तात्मरूपं स्यात् ॥ १०१ ॥

ज्ञान से पूर्वोक्त दोनों भ्रमों की निवृत्ति होने पर प्रकृतिवियुक्त आत्मस्वरूप कैवल्य प्राप्त होता है ॥१०१॥

इति तत्त्वज्ञानप्रयोजननिरूपणम्

स्वाध्यायोऽध्येतव्यस्तस्मादापाततोऽर्थसंबोधः ।
द्वादशलक्षण्यार्थविनिर्णयनं पूर्वकाण्डस्य ॥ १०२ ॥

विधिवत् स्वाध्याय के अध्ययन से प्रथम आपात अर्थज्ञान होगा। फिर पूर्वमीमांसा से पूर्वकाण्ड का अर्थनिर्णय होगा ॥१०२॥

ब्रह्मविदाप्नोति परं पुण्यचितः क्षीयते तथा लोकः ।
इति च श्रुत्या ब्रह्मावाप्त्यै निष्कामकर्माणि ॥ १०३ ।

श्रुति का कहना है—पुण्य से संपादित स्वर्गादि लोक क्षय वाला है। हाँ, ब्रह्मज्ञानगम्य स्थान अक्षय है, पर है। अत एव विचारक स्वर्गाद्यर्थं नहीं; किन्तु निष्काम भाव से कर्म करता है।

ब्रह्म चतुर्लक्षण्या ज्ञेयं तदुपास्तिरेव तद्वित्तिः ।
स ब्रह्मणा सहाखिलकामान् मरणेऽश्नुते च विदन् ॥ १०४ ॥

चतुर्लक्षणी (उत्तरमीमांसा) के अध्ययन से ब्रह्म को जानना चाहिये। ब्रह्मवेदन ब्रह्मोपासना को ही कहते हैं। विद धातु का उपासना अर्थ है। कर्म तथा ज्ञान से युक्त उपासना करने वाला मरणोत्तर ब्रह्म के साथ समस्त भोग्यों को भोगता है ऐसा श्रुतिवचन है ॥१०४॥

प्रारब्धहेतुकानां सुखदुःखानामवर्जनीयतया ।
मुक्तिर्न जीवितः स्यादसंभवाद्दिव्यभोगानाम् ॥ १०५ ॥

प्रारब्ध से होने वाले सुख-दुःखादि अनिवार्य होने से जीवित अवस्था में मोक्ष नहीं हो सकता। अर्थात् जीवन्मुक्ति की बात निरर्थक है। फिर दिव्य भोग जीवितावस्था में कहाँ से मिलने लगा ? ॥१०५॥

अप्राकृतिकः शब्द स्पर्शो रूपं रसश्च गन्धश्च ।
शक्तिज्ञानानन्दा मुक्तस्याविर्भवन्त्येते ॥ १०६ ॥

अप्राकृतिक दिव्य शब्द स्पर्शादि तथा अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं आनन्द मुक्त पुरुष के आविर्भूत होते हैं (ये सब जीवतावस्था में कैसे हों ?)॥१०६॥

बद्धे संकुचितं यन्मुक्तस्य तदेव विकसितं भवति ।
ज्ञानं तेनानन्ता भोगपदार्थाः स्फुरन्त्यस्य ॥ १०७ ॥

परन्तु अणु जीवों को अनन्त भोग्य पदार्थों का भोग किस प्रकार ? सुनो। बद्धावस्था में प्रकृतिसंयोग से ज्ञान जो संकुचित हुआ था, मुक्त होने पर वही विकसित होकर अनन्त हो जाता है। अतः अनन्त पदार्थों का स्फुरण मुक्त पुरुष में संभव है ॥१०७॥

कैवल्यावस्थायामपि नाभिन्नः परात्मना जीवः ।
किंकरतां तस्येयान्नो भिन्नैक्यं श्रुतिविरोधात् ॥ १०८ ॥

कैवल्यावस्था में भी जीव ईश्वर से भिन्न ही रहेगा। भिन्नों की एकता युक्तिविरुद्ध तथा श्रुतिविरुद्ध है। अतएव ईश्वराभिन्न हो जाने से मोक्ष में अनन्तभोग्यपदार्थ स्फुरण होता है इत्यादि मत अनुपादेय है। अतः मोक्षकाल में परमात्मा की किंकरता ही होती है ॥१०८॥

चरमावधिरहितेयं न स पुनरावर्त्तते श्रुतिश्रवणात् ।
कथितमिदमनावृत्तिः शब्दादिति सूत्रकृद्भिश्च ॥ १०९ ॥

इस मुक्ति की पूर्वावधि तो है किन्तु चरमावधि नहीं है। अर्थात् मुक्ति का अन्त नहीं होता। श्रुति कहती है—न स पुनरावर्त्तते—वह वापिस संसार में नहीं आता। सूत्रकार भी निर्णय देते हैं—"अनावृत्तिः शब्दात्" श्रुति प्रामाण्य से मुक्त पुरुष का पुनरावर्त्तन नहीं है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलायकृता ।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥

भक्तानामुपकृतये तत्त्वाकलनाय चैव सर्वेषाम् ।
विहितेयं कृतिरनया प्रसीदतु श्रीहरिः स मयि ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य महामण्डलेश्वरश्रीकाशिकानन्द यतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे रामानुजसिद्धान्तः

निम्बार्कसिद्धान्तः

नानारूपवितानं कमनं गोपाङ्गनासहस्रवृतम् ।
रासविलासं वन्दे गोविन्दं सच्चिदानन्दम् ॥ १ ॥

नानारूपधारी गोपाङ्गनासहस्र से स्वीकृत वा आवृत रासबिहारी सुन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप गोविन्द की हम वन्दना करते हैं ॥१॥

नैम्बारुणसिद्धान्तं द्वैताद्वैताह्वयं वयं ब्रूमः ।
द्वैतं कार्यात्मतया यत्राद्वैतं च बीजतया ॥ २ ॥

निम्बार्क सिद्धान्त द्वैताद्वैत का हम वर्णन करते हैं जहां कार्यरूप से द्वैत है और कारणरूप से अद्वैत है ॥२॥

चिदचित् परमेश्वर इति निम्बादित्योदितं त्रयं तत्त्वम् ।
तत्र चिदेष हि जीवो ज्ञानात्मा ज्ञानवान् ज्ञाता ॥ ३ ॥

चित्, अचित् और परमेश्वर इस प्रकार तीन तत्त्व निम्बर्कसिद्धान्तानुसार हैं। उन में यह जीव चित् है जो ज्ञानस्वरूप भी है ज्ञानाश्रय ज्ञाता भी है ॥३॥

सूर्यः प्रकाशरूपोऽप्याधारः स्याद्यथा प्रकाशस्य ।
ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानाधारश्च जीवः स्यात् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार सूर्य प्रकाशरूप होने पर भी प्रकाश का आधार भी है वैसे जीव भी ज्ञानस्वरूप होने पर भी ज्ञानाधार भी है ॥४॥

कर्त्ता संसृतिकाले जीवात्मा नाम मोक्षकालेऽपि ।
शान्त उपासीतेति श्रुतिरूचे मुक्तमधिकृत्य ॥ ५ ॥

जीवात्मा संसार काल में तो कर्त्ता है ही, मोक्षकाल में भी कर्त्ता है। मुक्त को लेकर श्रुति कह रही है—'शान्त उपासीत'। यहां शान्त का मुक्त अर्थ है। उपासीत से उपासनाकर्त्ता प्रतीत होता है ॥५॥

कर्त्ता भोक्ता द्रष्टा श्रोता मन्ता स बद्धमुक्तश्च ।
सर्वेऽप्येते धर्माः सत्या नौपाधिकः कश्चित् ॥ ६ ॥

यह जीव कर्त्ता भोक्ता, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बद्ध एवं मुक्त भी हैं। इस तरह के सभी धर्म जीव में यथार्थ हैं। औपाधिक अर्थात् कल्पित नहीं।

एष नियम्यो जीवो भवति नियन्तेश्वरोऽस्य भोगादौ ।
मुक्तावस्थायामपि विनियम्यो न स्वतन्त्रोऽसौ ॥ ७ ॥

यह जीव नियम्य है। इसका नियन्ता ईश्वर है। भोगादि ईश्वर के नियन्त्रण में है। मुक्तावस्था में भी यह नियम्य ही रहता है, स्वतन्त्र नहीं।

अणुरपि स स्वप्रभया व्याप्नोति तनुं प्रदीप इव गेहम् ।
तेन च कृत्स्नतनुगतं सुखदुःखाद्येष जानाति ॥ ८ ॥

जीवात्मा अणुरूप है। फिर अपनी प्रभा से शरीर में व्याप्त रहता है जैसे प्रदीप अपनी प्रभा से गृह में व्याप्त होता है। इसलिए वह पूरे शरीर में स्थित सुख-दुःखादि को जान लेता है ॥८॥

मायावरुद्धनैजप्रसरा सर्वं प्रकाशयितुमनला ।
माया प्रकृतिः सेयं कर्मादिवशादवरुणद्धि ॥ ९ ॥

ज्ञानप्रभा का प्रसार माया से अवरुद्ध रहता है। अतएव विश्व में व्याप्त होकर सर्वप्रकाशन करने में वह (ज्ञानप्रभा) असमर्थ होती है। माया प्रकृति को कहते हैं। वह जीव के कर्म एवं वासनादि को लेकर ज्ञानप्रभाप्रसार का अवरोध करती है ॥९॥

मोक्षे ज्ञानानन्त्यात् संमोहहतेरसावसंमूढः ।
सर्वविदखिलात्मानं भजति हरिं सर्वभावेन ॥ १० ॥

मोक्ष में संमोहात्मक आवरण भंग से अनन्त ज्ञान होता है तो जीव असंमूढ होता है। तब वह सर्ववित् होकर अखिलात्मा हरि का सर्व भाव से भजन करता है। "यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमं स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत" ऐसा गीता में कहा है ॥१०॥

संमोहविनिर्मुक्तौ शास्त्राभ्यासाद्धरेः कृपालेशात् ।
प्रसृतप्रकाशममलं ज्ञानं निजरूपमाप्नोति ॥ ११ ॥

आवरणात्मक मायासंमोह की निवृत्ति शास्त्राभ्यास तथा हरिकृपा-लेश से होती है। तब यह जीव निजस्वरूप उस ज्ञान को प्राप्त होता है जिसका प्रकाश सर्वत्र प्रसारित एवं निर्मल है ॥११॥

नांशो हरेरयं स्यादवयवलक्ष्मा किलावयवविरहात् ।
किन्त्वस्य शक्तिरूपः स सर्वशक्तः श्रुतौ विदितः ॥ १२ ॥

यह जीव हरि का अवयवात्मक अंश नहीं है। क्योंकि हरि के अवयव नहीं है। किन्तु हरिशक्तिरूप है। श्रुतियों में हरि सर्वशक्त प्रसिद्ध है ॥१२॥

शक्तीनामानन्त्याज्जीवात्मानो भवन्त्यसंख्येयाः ।
भिन्नाः प्रतिदेहं ते सुखदुःखादेः पृथग्दृष्टेः ॥ १३ ॥

शक्ति अनन्त होने के कारण जीवात्मा भी असंख्य हैं। प्रतिशरीर भिन्न हैं। क्योंकि सब को सुख-दुःखादि पृथक्-पृथक् होते देखने में आते हैं ॥१३॥

[1]बद्धाश्च बद्धमुक्ता जीवाः कतिचित्तु नित्यमुक्ताश्च ।
बद्धा द्विविधा भाविमुमुक्षाः संसारपतिताश्च ॥ १४ ॥

जीवात्मा तीन प्रकार के होते हैं। कुछ बद्ध हैं। कुछ बद्धमुक्त हैं। और कुछ नित्यमुक्त हैं। बद्ध दो प्रकार के होते हैं। एक वे हैं जिनको मुमुक्षुता होगी। दूसरे वे हैं जो संसार में नित्यपतित हैं। यहां भाविमुमुक्षा पद से 'भावः सत्ता अस्या अस्तीति भाविनी मुमुक्षा यस्य तथा' 'भाविनी भविष्यन्ती मुमुक्षा यस्य' ये दोनों विग्रह कर लेना चाहिये। अन्यथा वर्त्तमान मुमुक्षावाले का परिग्रह नहीं होगा। अमुमुक्षु, भाविमुमुक्षु, वर्त्तमानमुमुक्षु ऐसा विभाग करने में अधिक सुविधा होती। परन्तु हरिकृपा विलक्षण होने से जिन्हें हम अमुमुक्षु मानते हैं उनमें भी मुमुक्षा कदाचित् हो जाय तो कैसे होगा इस आशय से वैसा विभाग नहीं किया। इसे उत्तर श्लोकों में देखें ॥१४॥

[2]भोगेच्छव उभयेऽपि च परमन्त्यास्त्वासुरोप्रकृतिकत्वात् ।
अप्राप्य हरिं पापा मुहुरधमां प्राप्नुवन्ति गतिम् ॥ १५ ॥

यद्यपि भाविमुमुक्षु संसारपतित दोनों भोगेच्छु हैं। तथापि संसार-पतित आसुरीप्रकृतिवाले होने से पापी हैं। वे हरि को अप्राप्त होकर अधमगति को प्राप्त होते हैं। "मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिं" इस प्रकार गीता में कहा है ॥१५॥

---

१. बद्धा द्विविधा जीवा भवभोगरता मुमुक्षवश्चैव ।
भोगरताश्च द्विविधा देवाश्चैवासुराश्चैव ॥१४॥ पाठान्तर

२. परमा गतिर्मुमुक्षोर्निर्णीता दैविनस्तु संभाव्या ।
आसुरभावाः खलु हरिमाप्राप्य गतिं व्रजन्त्यधमाम् ॥१५॥ पाठान्तर

ये कर्मवासनोद्भवनानाभोगाभिमानिनो बद्धाः ।
भगवत्कृपया तेषु क्वचन मुमुक्षा प्रजायेत ॥ १६ ॥

कर्मवासना से उत्पन्न नानाभोगाभिमानी जो बद्ध हैं उन में भावत्कृपा से किसी में मुमुक्षुता उत्पन्न होती है ॥१६॥

द्वेधा भवेन्मुमुक्षा भगवद्भावेप्सुता भवेत्प्रथमा ।
अपरा निजस्वरूपप्रेप्सा द्वेधा च मुक्तिरतः ॥ १७ ॥

मुमुक्षुता दो प्रकार की है । एक भगवद्भाव प्राप्ति की इच्छा है । दूसरी अपने स्वरूप की प्राप्ति की इच्छा है । अपना स्वरूप अर्थात् व्यापक ज्ञान रूप । अतएव मुक्ति भी दो प्रकार की मानी जाती हैं ॥१७॥

[१]मुक्ताः संकल्पवशात्प्रथमे दिव्येन वर्ष्मणा दिव्यान् ।
भोगाननन्तविभवान् भुञ्जीरन्नेतरे स्वस्थाः ॥ १८ ॥

भगवद्भाव प्राप्त मुक्त संकल्प से दिव्य शरीर धारण कर अनन्त वैभव-सम्पन्न दिव्य भोगों को भोग सकता है । स्वरूपप्राप्त मुक्त के लिये ऐसी बात नहीं है । वे केवल स्वरूपस्थित होते हैं ॥१८॥

पूर्वं बद्धाः पश्चाच्छास्त्राभ्यासान्मुकुन्दभजनाच्च ।
तत्त्वविदो भक्तजना मुक्तास्ते बद्धमुक्ताः स्युः ॥ १९ ॥

प्रथम बद्ध रह कर जो बाद में शास्त्राभ्यास तथा भगवद्भजन से मुक्त होते हैं वे बद्धमुक्त कहलाते हैं ॥१९॥

द्विविधास्तु नित्यमुक्ता आनन्तर्याश्च पार्षदाश्चैव ।
कुण्डलमणिमुकुटाद्या विष्वक्सेनादयोऽपि च ते ॥ २० ॥

नित्य मुक्त दो प्रकार के होते हैं । एक आनन्तर्य हैं जो भगवद्विग्रहव्यवधान रहित हैं । दूसरे पार्षद हैं जो पास में रहते हैं । भगवान् का कुण्डल मुकुट, हार, पीताम्बरादि आनन्तर्य हैं । और विष्वक्सेन गरुड़ प्रभृति पार्षद माने जाते हैं ॥२०॥

ये पुनरुपास्तिनिरता यान्ति ब्रह्मार्चिरादिमार्गेण ।
ये नाम कर्मिणस्ते मृत्वेयुश्चन्द्रलोकं च ॥ २१ ॥

---

१. भावद्भावापन्ना मुक्ताः स्वेच्छावशादनेकतनूः
धारयितुं प्रभवेयुर्नपुनस्ते ये स्वरूपमिताः ॥ पाठान्तर

उभयेऽपि भुञ्जते ते दिव्यान् भोगांस्तथापि चन्द्रगताः।
पुनरावर्त्तन्ते ते नावर्त्तन्ते गता ब्रह्म ॥ २२ ॥

वैदिक उपासना करने वाले अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक पहुँच जाते हैं। और जो कर्मी होते हैं वे मरणोत्तर चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। दोनों ही ब्रह्मलोक तथा चन्द्रलोक में दिव्य भोगों को भोगते हैं। फरक यही है कि चन्द्रलोकगामी वापिस आता है। ब्रह्मलोकगत वापिस नहीं आता ॥२१-२२॥

पापाचारा ये खलु मार्गभ्रष्टा न यान्त्युभाभ्यां ये।
दुःखं प्रतिपद्यन्ते ते जायस्व म्रियस्वेति ॥ २३ ॥

जो पापकर्मी हैं मार्गभ्रष्ट हैं, जो दोनों में से किसी मार्ग से नहीं जाते वे दुःख पाते हैं। जन्ममरण संसार चक्र में पड़ते हैं ॥२३॥

इति चित् (जीव) निरूपणम्।

अचिदर्थस्त्रिविधः स्यात् प्राकृतमप्राकृतं च कालश्च।
तत्र चतुर्विंशतिकं प्राकृततत्त्वं जगत्सकलम् ॥ २४ ॥

अचित् तीन प्रकार का है। प्राकृत अप्राकृत और काल। चौबीस प्राकृत हैं। यह सारा दृश्य प्रपञ्च प्राकृत ही है ॥२४॥

तानि पुनः प्रकृतिमहदहंकाराः किं च पञ्च तन्मात्राः।
एकादशेन्द्रियाण्यपि भूतानि महान्ति पञ्चापि ॥ २५ ॥
प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माच्च खानि मात्राश्च।
मात्राभ्यो भूतानि च भूतेभ्योऽण्डं च लोकाश्च ॥ २६ ॥

प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार उनके एकादशेन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्रा पञ्च महाभूत उससे ब्रह्माण्ड और चतुर्दश लोक बहुधा व्याख्यात है ॥२५-२६॥

चत्वारि जराय्वण्डस्वेदोद्भिज्जानि तत्र गात्राणि।
केचन देवादीनां साक्षात्सत्त्वादिजान्याहुः ॥ २७ ॥

जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज ये चार शरीर भूतों से हुए। कुछ लोग देवादिशरीरों को साक्षात् सत्त्वादिकार्य मानते हैं ॥२७॥

उक्तचतुर्विंशतिकोपादानकमिष्यते वपुः स्थूलम्।
तन्मात्रेन्द्रियषोडशकोपादानं तथा सूक्ष्मम् ॥ २८ ॥

स्पर्शेऽन्तर्भावः स्यात्प्राणस्येत्येष नो पृथक्तस्मात् ।
षोडशकलमत एव च पुरुषं व्याचक्षते श्रुतयः ॥ २९ ॥

चतुर्विंशति तत्त्व से स्थूल शरीर होता है और तन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रिय इन सोलह से सूक्ष्म शरीर होता है। यद्यपि सूक्ष्मशरीर में प्राण भी आता है। तथापि वह स्पर्शतन्मात्रा में अन्तर्गत होने से पृथक् नहीं। इसी कारण श्रुति में पुरुष को षोडशकल बताया गया ॥२८-२९॥

परलोकादिषु गमनागमनं कुरुते वपुर्हि सूक्ष्ममिदम् ।
आसृष्टेराप्रलयं तिष्ठत्यथ लीयते प्रकृतौ ॥ ३० ॥

यह सूक्ष्म शरीर परलोकादि में गमनागमन करता है। सृष्टि से प्रलय पर्यन्त रहता है। बाद में अपनी प्रकृति अहंकारादि में लीन होता है ॥३०॥

अन्नं विधीयते किल भुक्तं त्रेधा स्थविष्ठ एतस्य ।
भवति पुरीषं धातुर्मध्यो मांसं मनोऽणिष्ठः ॥ ३१ ॥
आपः पीतास्त्रेधा मूत्रं स्थूलोऽथ मध्यमो रक्तम् ।
योऽणिष्ठः स प्राणो धातुरमूषां क्रमेण स्यात् ॥ ३२ ॥
तेजो भुक्तं त्रेधा स्थूलोऽस्थीन्यस्य मध्यमो मज्जा ।
योऽणिष्ठो धातुः सा वागित्येवं विभागाः स्युः ॥ ३३ ॥

भुक्त अन्न के स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म धातुओं के पुरीष, मांस और मन होते हैं। पिये जल के मूत्र, रक्त और प्राण तथा भुक्त तेज के अस्थि, मज्जा और वाक् होते हैं ॥३१-३३॥

यद्यप्यहंकृतेः स्यादिन्द्रियमखिलं परं कलामात्रम् ।
अतिशिष्टा हि कलैकेत्युक्तं छान्दोग्यवार्त्तायाम् ॥ ३४ ॥

यद्यपि अहंकार से सभी इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। तब अन्न से मन जल से प्राण और तेज से वाक् किस प्रकार ? यह शंका होगी। किन्तु वास्तविकता यह हैं कि अहंकार से कला मात्र उत्पन्न होगी। उसका पोषण अन्नादि से होगा। यह बात छान्दोग्य में अतिशिष्टा कला इत्यादि प्रसंग में स्पष्ट है।

अप्राकृतं तु भगवद्वपुरम्बरभूषणादिकं सकलम् ।
भवनमुपवनं नगरं वैकुण्ठं किं च गोलोकः ॥ ३५ ॥

यह प्राकृत अचित हुआ। अप्राकृत अचित् भगवत शरीर, पीताम्बर, कटक कुण्डलादिभूषण एवं वनमालादि सब हैं। भगवान का भवन, उपवन, नगर, वैकुण्ठ एवं गोलोकादि भी अप्राकृत है।

ननु पीताम्बरवंशोप्रभृतिकमुक्तं तु नित्यमुक्तमिति ।
कथमचिदर्थो मुक्तो बन्धनसंभावनाविरहात् ॥ ३६ ॥
अत्र ब्रूमो वंशीप्रभृतिर्देहो भवेदधिष्ठातुः ।
वंशो भगवान् रुद्रस्त्विति किल वेदो निवेदयति ॥ ३७ ॥

प्रश्न होगा कि ऊपर बताया पीतांबर वंशी आदि आनन्तर्यात्मक नित्य मुक्त है और अब कह रहे हैं कि ये सब अचिदर्थ है। अचित् का बन्धन ही नहीं होता तो मोक्ष कहां से होने लगा? इसका समाधान यह है कि वंशी आदि शरीर है। उसके अधिष्ठाता देवता नित्यमुक्त है। बल्कि भगवान के शरीर की भी तो अचिदर्थ में गिनती कर डाली है। ये सब दिव्य हैं। पर चेतन नहीं है। चेतन की लीला चेतनरूपी उपकरण से कैसे होगी? भगवत्शरीर भी चेतन, भगवान भी चेतन। तब भोग्य कौन? भोक्ता कौन? उपकरण कौन? वंशी आदि के अधिष्ठाता देवता है यह वेद सिद्ध है। "वंशस्तु भगवान् रुद्रः"। इत्यादि उपनिषद में सबके अधिष्ठाताओं का वर्णन आया है। चिन्मयतावाद को दिव्यार्थ कर उपपन्न करना चाहिए।

भगवच्छशरीरमेव ह्यचिदिति न कथं तथैव देववपुः ।
तस्माद्वंश्यादिरचित् परमिदमप्राकृतं दिव्यम् ॥

यह श्लोक भी अनुसन्धेय है ॥३६-३७॥

आदित्यवर्णमप्राकृतमिति तमसो जगौ परस्ताद् यत् ।
भोग्यं भोगस्थानं प्रोक्तं भोगोपकरणं च ॥ ३८ ॥

"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादि में तम से परे दिव्य भोग्य, भोगस्थान एवं भोगोपकरण का इशारा है ॥३८॥

कालो भवेत्तृतीयो जगदाधारो विभुश्च नित्यश्च ।
सकलपरिणामहेतुर्नियामकोऽपीश्वरनियम्यः ॥ ३९ ॥

तृतीय अचित् काल है। वह जगत् का आधार विभु एवं नित्य है। सब के परिणाम में हेतु है और सबका नियामक है। किन्तु ईश्वरनियम्य है।

ननु न प्राकृतिकः स्यादर्थादप्राकृतो भवेदेषः ।
मैवं दिव्यानन्दोद्भावनमप्राकृतं प्राहुः ॥ ४० ॥

यदि काल प्राकृत नहीं तो अर्थात् अप्राकृत होगा । नहीं । अप्राकृत का अर्थ है दिव्य आनन्द को उद्भावित करने वाला । काल ऐसा नहीं है ॥४०॥

कार्यात्मकस्तु कालः परमाण्वादिः परार्धपर्यन्तः ।
संख्योत्थं केचिदिमं स्पन्दोपाधिं परे चाहुः ॥ ४१ ॥

कार्यात्मक काल परमाणु से लेकर परार्धपर्यन्त माना गया है । उसे कुछ लोग संख्याजन्य मानते हैं । ओर दूसरे लोग उसे सूर्यादिपरिस्पन्दोपाधिक काल ही कहते हैं ॥४१॥

इत्यचिन्निरूपणम्

दिव्यालौकिकनिरवधिकल्याणगुणैकभाजनं ब्रह्म ।
सगुणमपि प्राकृतगुणरहितत्वान्निर्गुणं गदितम् ॥ ४२ ॥

अब ईश्वरनिरूपण प्रस्तुत करते हैं । दिव्य, अलौकिक, अनन्त-कल्याण, गुणों का एक मात्र आधार ब्रह्म है । वह इस प्रकार सगुण होने पर भी प्राकृतगुण रहित होने से निर्गुण भी कहा जाता है ॥४२॥

परमेश्वरः परात्मा तस्यैव विधीयते विजिज्ञासा ।
श्रोतव्यो मन्तव्यः किं च निदिध्यासितव्य इति ॥ ४३ ॥

वही ब्रह्म परमेश्वर है परमात्मा है । उसकी जिज्ञासा का विधान "श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः" इस प्रकार श्रुति ने की है ॥४३॥

श्रवणादीनामत्राऽपूर्वविधिर्या श्रुता निदिध्यासा ।
तामाह सूत्रकारो यदथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ ४४ ॥

श्रोतव्य इत्यादि वाक्य में श्रवणादि की अपूर्व विधि है । श्रुति में जो निदिध्यासा आती है उसी को सूत्रकार ने कहा—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" ।

जन्माद्यस्य यतः स्यात्तदुपादानं निमित्तमेवापि ।
क्लेशैरपरामृष्टं ब्रह्म विकारैश्च तापैश्च ॥ ४५ ॥

इस जगत् का जन्मस्थितिविलय जिससे हो वह ब्रह्म इसका अभिन्न-निमित्तोपादान है । वह क्लेशों से विकारों से तथा तापों से असंस्पृष्ट है ।

क्लेशाः पञ्च निगदिता योगेऽविद्यादयो हि तेऽत्र तमः ।
मोहश्च महामोहस्तामिस्रोऽप्यन्धतामिस्रः ॥ ४६ ॥

योगशास्त्र में अविद्या, अस्मिता आदि जो पांच क्लेश बताये हैं वे ही यहां तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नाम से समझने चाहिए ॥४६॥

जन्मास्तित्वं वृद्धिर्विपरिणतिरपक्षयो विनाशश्च ।
एतद्विकारषट्कं तापा आध्यात्मिकाद्याश्च ॥ ४७ ॥

जनमना, अस्तित्व पाना, बढना, विपरिणाम होना, क्षीण होना और नष्ट होना ये छः विकार हैं। आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीन ताप हैं ॥४७॥

यदि कृत्स्नं परिणमते न स्यान्मुक्तोपसृप्यमवशिष्टम् ।
अंशश्चेत्सावयवं ब्रह्म कथं स्यादुपादानम् ॥ ४८ ॥

ब्रह्म जगत् का उपादान किस प्रकार है ? यदि पूरा ब्रह्म परिणत होता है तो मुक्तों का आश्रय ब्रह्म नहीं रह जायेगा। यदि एकदेशपरिणाम· होता है तो वह सावयव होगा, अनित्य होगा ॥४८॥

मैवं द्रव्यपरिणतौ शक्तिस्तस्य प्रयोजिका भवति ।
प्रकृतौ प्रविश्य भगवान् क्षोभयति ततो जगज्जन्म ॥ ४९ ॥

उक्त दोष नहीं है। द्रव्यपरिणाम में परमात्मा की शक्ति प्रयोजक है। प्रकृति में प्रवेश कर परमात्मा उसे प्रक्षोभित करता है तो जगत का जन्म· होता है ॥४९॥

सूक्ष्मावस्थानां या शक्तौ स्थूलात्मना प्रकाशकता ।
तदिदमुपादानत्वं न पुनः परिणाम ईशे तु ॥ ५० ॥

अपनी शक्ति में सूक्ष्मरूप से स्थित जगत् को स्थूलरूप से जो प्रकाशित करता है यही ब्रह्म में उपादानता है, न कि परिणाम ॥५०॥

ननु न ध्यानविधिः स्यादिह यदिदमुपासते न तद् ब्रह्म ।
श्रुतिरेवमाह मैवं तस्य परिच्छिन्नविषयत्वात् ॥ ५१ ॥

निदिध्यासितव्यः यह फलित ध्यानविधि संभव नहीं है। क्यों कि जिस की यहां उपासना होती है वह ब्रह्म नहीं है ऐसा श्रुति स्वयं कहती है। इस·

आक्षेप का समाधान यह है कि परिच्छिन्न उपास्य ब्रह्म नहीं है, यही श्रुति का तात्पर्य है ॥५१॥

परमात्मा वैश्वानरभगवत्पुरुषोत्तमादिसंज्ञः सः ।
धर्मज्ञानैश्वर्यविरागयशःश्रीसमाश्लिष्टः ॥ ५२ ॥

उसी ब्रह्म को परमात्मा, वैश्वानर, भगवान, पुरुषोत्तम इत्यादि नामों से भी पुकारा जाता है। धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, श्री इन षड् ऐश्वर्यों से वह परिपूर्ण है ॥५२॥

यज्ञादिकफलदाता निजजनधाता प्रभुर्जगत्त्राता ।
वेदैकमानगम्यस्त्रिभुवनरम्यः सतां काम्यः ॥ ५३ ॥

वह यज्ञादिकर्मफलदाता है। भक्तजनपोषणकर्त्ता है। जगद्रक्षणकर्त्ता है। परम समर्थ है। केवल वेद प्रमाण से गम्य है। त्रिभुवनकमनीय है। जिसकी कामना सत्पुरुष ही कर पाते हैं। अन्य तो भोगपरायण होते हैं॥५३॥

एकार्णवगर्त्तोदक्षीरार्णवशायिनस्त्रयस्त्वेते ।
पुरुषावताररूपाः प्रोक्ताः पुरुषोत्तमस्य विभोः ॥ ५४ ॥

एकार्णवशायी (प्रलयकालीन) गर्त्तोदकशायी (लोकालोकोत्तर गर्त्तोदक आता है) तथा क्षीरसागरशायी ऐसे पुरुषोत्तम भगवान के तीन पुरुषावतार माने जाते हैं ॥५४॥

तस्य च गुणावताराः प्रोच्यन्ते ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तु ।
लीलावतार उक्तस्तस्य तृतीयः स च द्वेधा ॥ ५५ ॥

ब्रह्मा विष्णु और रुद्र पुरुषोत्तम भगवान के तीन गुणावतार हैं। पुरुषावतार गुणावतार इन दो के बाद तीसरा लीलावतार है। वह दो प्रकार का है ॥५५॥

तत्रावेशत एको विबुधैरपरः स्वरूपतः प्रोक्तः ।
शक्त्यंशावेशः स्यात्प्रभवो विभवश्च तत्राद्यः ॥ ५६ ॥
धन्वन्तर्यादिः स्यात् प्रभवो विभवो युगादि कपिलादिः ।
निजरूपांशावेशो भुवि नरनारायणादिः स्यात् ॥ ५७ ॥

लीलावतार दो प्रकार का है। एक आवेशावतार। दूसरा स्वरूपावतार है। शक्त्यंशावेश और निजरूपांशावेश इस प्रकार आवेश भी दो

प्रकार है। शक्त्यंशावेश प्रभव तथा विभव भेद से दो प्रकार है। धन्वन्तरि आदि प्रभव है। कपिलादि विभव हैं। निजरूपांशावेशावतार नर नारायणादि है ॥५७॥

यस्तु स्वरूपतः स्ताद् द्वेधा सोऽप्यंशपूर्णरूपाभ्याम् ।
मत्स्यादयोंशरूपाः पूर्णाः स्यू रामकृष्णाद्याः ॥ ५८ ॥

स्वरूपावतार दो प्रकार का है। अंशावतार तथा पूर्णावतार। मत्स्य कूर्मादि अंशावतार हैं और श्री रामकृष्णादि पूर्णावतार है ॥५८॥

वृषभानुजा च सत्या रुक्मिण्यपि तत्र तत्र पत्न्यः स्युः।
मूला लक्ष्मी सर्वं ध्येयं रूपं यथायोग्यम् ॥ ५९ ॥

वृषभानुजा, सत्यभामा, रुक्मिणी सीता आदि अवतारकालीन भगवत्पत्नियां हैं। मूल लक्ष्मी है। ये सभी रूप यथायोग्य निदिध्यासुओं के ध्येय हैं ॥५९॥

भजनीय परमेश्वरस्वरूपनिरूपणम्

तस्य चतुर्व्यूहः स्यादङ्गं प्रथमोऽत्र वासुदेवः स्यात् ।
संकर्षणोऽपरोऽन्यः प्रद्युम्नोऽथानिरुद्धोऽन्त्यः ॥ ६० ॥

उस परमात्मा का चतुर्व्यूह अङ्ग है। उसमें प्रथम वासुदेव हैं। द्वितीय संकर्षण है। तृतीय प्रद्युम्न है और चतुर्थ अनिरुद्ध है ॥६०॥

एतत्समष्टिरूपः कृष्णो नारायणः स्थितो जगति ।
श्रुतदृष्टानामन्तर्बहिरपि संव्याप्य योऽर्थानाम् ॥ ६१ ॥

इन चार व्यूहों का समष्टिरूप कृष्ण है। वही नारायण है जो श्रुत तथा दृष्ट समस्त अर्थों के अन्दर और बाहर व्याप्त होकर स्थित है ॥६१॥

एष चतुर्व्यूहतया निजभक्तानामुपास्तिसिद्ध्यर्थम् ।
तिष्ठत्येकोऽप्यर्चनमख्यापि यथैव तन्त्रेषु ॥ ६२ ॥

निजभक्तों की अर्चना की सिद्धि के लिए एक ही परमेश्वर चतुर्व्यूहरूप से स्थित हो गया जिस (चतुर्व्यूह) प्रकार से तन्त्रों में अर्चना बताई ॥६२॥

अपरे तु वासुदेवो भगवान् संकर्षणो भवेज्जीवः ।
प्रद्युम्नोहंकारो मन इदमनिरुद्ध इत्याहुः ॥ ६३ ॥

कुछ लोगों की व्याख्या है कि वासुदेव भगवान् है। संकर्षण जीव है। प्रद्युम्न अहंकार है और यह मन अनिरुद्ध है। उनमें कुछ लोग वासुदेव से

संकर्षण की उससे प्रद्युम्न की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति मानते हैं ॥६३॥

इति चतुर्व्यूहनिरूपणम्

नारायणात्परस्माद् द्वैताद्वैतं भवेदिदं सकलम् ।
तस्माद्भिन्नाभिन्नो जीवस्तस्यांशविधयोक्तः ॥ ६४ ॥

प्रकृति से भी परे स्थित नारायण से यह जगत् द्वैताद्वैतरूप अर्थात् एक प्रकार से द्वैत एवं दूसरे प्रकार से अद्वैत उत्पन्न हुआ । अत एव ईश्वरांशरूप में वर्णित जीव उस ईश्वर नारायण से भिन्नाभिन्नरूप है ॥६४॥

बद्धेऽस्मिन् भिन्नत्वं विरुद्धधर्मानुभानतो भाति ।
व्यापी सर्वज्ञोऽसावणुरल्पज्ञस्तथा जीवः ॥ ६५ ॥

बद्ध जीव में विरोधी धर्म दीखने से भिन्नत्व स्पष्ट दीखता है । परमात्मा व्यापक है, सर्वज्ञ है । जीवात्मा इससे विपरीत अणु है, अल्पज्ञ है ॥६५॥

मोक्षे स्वरूपतोऽस्य त्वभिनिष्पत्तेरभिन्नता भाति ।
ब्रह्मास्य हि स्वरूपं तेन न भासेत भिन्नत्वम् ॥ ६६ ॥

"अभिनिष्पद्यते स्वेनरूपेण" इस श्रुति के अनुसार मोक्षकाल में जीवात्मा स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है और जीव का स्वरूप है ब्रह्म । अत एव उस काल में अभिन्नता भासती है । भिन्नता स्फुट रूप से नहीं भासती ॥६६॥

तरुपत्रवत् प्रदीपद्युतिवत् प्राणेन्द्रियादिवच्चैव ।
न पृथक् स्थितिः कथंचित्पृथगावृत्तिश्च जीवस्य ॥ ६७ ॥

वृक्ष और पत्ते के समान, दीपक और प्रभा के समान, प्राण एवं इन्द्रियादि के समान ब्रह्म से जीव की पृथक् स्थिति या आवृत्ति नहीं है ॥६७॥

कुण्डलकटकादितया नानाप्येकं भवेत्सुवर्णतया ।
एवं जीवात्मतया भिन्नानां ब्रह्मविधयैक्यम् ॥ ६८ ॥

कुण्डल, कटक आदि रूप से परस्पर भिन्न होने पर भी सुवर्ण रूप से जैसे एकता है वैसे जीवात्माओं के रूप में भिन्न होने पर भी ब्रह्मरूप से जीवों की एकता है ॥६८॥

मोक्षावस्थायामपि भिन्नाभिन्नः परात्तु जीवोऽसौ ।
यच्छक्तिशक्तभावस्थितिरेषा मुक्तिरित्युक्ता ॥ ६९ ॥

मोक्ष काल में भी जीवात्मा परमात्मा से भिन्नाभिन्न है। क्योंकि शक्ति और शक्तिमान के रूप में स्थित होना ही तो मुक्ति है ॥६९॥

संसारकाल एषोऽभेदः सन्नेव भाति नो मोहात् ।
मोक्षे सन्नपि भेदो जीवस्य न भात्यनुपयोगात् ॥ ७० ॥

संसार काल में विद्यमान भी अभेद माया मोह के कारण नहीं भासता। और मोक्ष काल में विद्यमान भी भेद अनुपयोगी होने से भासता नहीं। जैसे निर्विकल्पक समाधि में वस्तुतः विद्यमान भी त्रिपुटी नहीं भासती ॥

तत्त्वमसिश्रुतितः खलु सिद्धं परजीवयोः सदद्वैतम् ।
शान्त उपासीतेति द्वैतमुपासित्रुपास्यतया ॥ ७१ ॥

"तत्त्वमसि" श्रुति से जीवात्मा और परमात्मा का अद्वैत सिद्ध है। और "शान्त उपासीत" इस श्रुति से उपासक-उपास्य भाव से द्वैत भी सिद्ध होता है ॥७१॥

इति जीवेश्वरयोर्द्वैताद्वैतनिरूपणम्

ब्रह्म चतुष्पात् प्रोक्तं तत्राक्षरमाद्य ईरितः पादः ।
ईशोऽपरस्तृतीयो जीवः प्रोक्तो जगत्तुर्यः ॥ ७२ ॥

ब्रह्म को चतुष्पात् बताया है। प्रथम पाद अक्षर है। द्वितीय पाद ईश्वर है। तृतीयपाद जीव है। चतुर्थ पाद जगत् है ॥७२॥

अस्थूलमनणुदीर्घ-ह्रस्वादि ब्रह्म सच्चिदानन्दम् ।
यदकर्तृ भोक्तृ निर्गुणमविकारि तदक्षरं प्रोक्तम् ॥ ७३ ॥

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित सच्चिदानन्द रूप परमतत्त्व ही ब्रह्म है। वही जब अस्थूल अनणु अह्रस्व अदीर्घ अकर्त्ता अभोक्ता निर्गुण एवं अविकारी रूप से विचार किया जाता है तो अक्षर होता है। "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घं" इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध ब्रह्म को अस्थूलादि रूप से अक्षर कहा गया है। यही प्रथम पाद है ॥७३॥

अघटनघटनमचिन्त्यं जगदिदमखिलं विचित्रसंस्थानम् ।
यदनन्तनामरूपं सृजति तदवतीश्वरो हरति ॥ ७४ ॥

सर्वज्ञः सर्वेशः सर्वव्यापी च सर्वरूपी च ।
जगतोऽस्याभिन्नोपादाननिमित्तात्मकस्त्वीशः ॥ ७५ ॥

अघटनघटन अचिन्त्य अनन्तनामरूपयुक्त विचित्रावयवसंनिवेश-विशिष्ट इस जगत की सृष्टि, स्थिति एवं संहार स्वीय सामर्थ्य से जो करता है जो सर्वज्ञ सर्वेश्वर सर्वव्यापी तथा सर्वरूपी है जो जगत का अभिन्न-निमित्तोपादानरूप है वही ब्रह्म का ईश नामक द्वितीय पाद है ॥७४-७५॥

बृहति बृहत्तरतमयोरपि चाणावणुतराणुतमयोश्च ।
समवपुरनुप्रविष्टो जीवः पादस्तृतीयः स्यात् ॥ ७६ ॥

बृहत्, बृहत्तर एवं बृहत्तम में तथा अणु, अणुतर और अणुतम में प्रकाश के द्वारा समान शरीर होकर जो अनुप्रविष्ट हुआ वही जीव तृतीय पाद है ॥७६॥

मशकेन समो नागेनापि समः सर्वथा समः प्लुषिणा ।
एभिस्त्रिभिश्च लोकैः सम इत्याह स्म वेदवचः ॥ ७७ ॥

वह मच्छर के बरावर है, सर्प या हाथी के बराबर है, प्लुषि के बरा-बर है, तीन लोक के समस्त प्राणियों के बराबर है इस प्रकार वेदों में कहा है ॥७७॥

यमनुप्राविशोदीशो निजपरिणामं परं जडाभासम् ।
योऽनादिरनन्तविधस्तुर्यः पादः प्रपञ्चः सः ॥ ७८ ॥

जिसमें ईश्वर ने अनुप्रवेश किया जो अपना ही परिणामस्वरूप है वह अनादि अनन्त प्रपञ्च चतुर्थ पाद है ॥७८॥

श्रुतयश्चेदं प्राहुः पादो विश्वानि तस्य भूतानि ।
यत्तु त्रिपात्तदीयं तदमृतरूपं दिवि स्फुरति ॥ ७९ ॥

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यादि श्रुतियों में यह बात बतायी गयी है। पुरुष परमात्मा का यह समस्त भूत एक पाद है। उसके तीन पाद अमृतरूप है दिव में स्फुरित होते हैं ॥७९॥

भूतानीति जगदिदं जीवब्रह्मेश्वरास्त्रिपादत्र ।
अमरणधर्मत्वात्स्यादमृतं चित्त्वाद्दिवीत्यपि च ॥ ८० ॥

श्रुति में 'भूतानि' से जगत् रूपी एक पाद समझना चाहिये। जीव ईश्वर और ब्रह्म त्रिपात् है। तीनों चैतन्य रूप हैं अतः 'दिवि' कहा इनका मरण नहीं होता। अतः अमृत कहा ॥८०॥

ब्रह्मस्थिता च शक्तिः प्रकृतिः किं वा तदुद्भवा सैषा ।
तज्जं तदात्मना जगदेकं कार्यात्मना भिन्नम् ॥ ८१ ॥

ब्रह्म गत शक्ति ही प्रकृति है । अथवा ब्रह्मशक्ति से उद्‌भूत प्रकृति है। उससे जगत् उत्पन्न हुआ । अतः ब्रह्मशक्त्युत्पन्न होने से ब्रह्मात्मना एक है और कार्य जगत् रूप से नाना है ॥८१॥

तत्तद्रूपेणैवं द्वैतं बीजात्मना तथाऽद्वैतम् ।
तदिदं द्वैताद्वैतब्रह्म चतुष्पात् परं जयति ॥ ८२ ॥

पृथिवीत्व जलत्व जीवत्व ईश्वरत्वादि रूप से यह जगत् द्वैत हुआ। और बीज शक्त ब्रह्मरूप से अद्वैत हुआ। पूर्वोक्त वृक्षपत्र न्याय से चतुष्पात् ब्रह्मरूप होने के कारण भी द्वैत तथा अद्वैत सिद्ध होता है। इस प्रकार द्वैताद्वैतात्मक चतुष्पात् ब्रह्म सिद्ध हुआ उसी की विजय हुई ॥८२॥

प्रत्यक्षकमनुमानं शब्दं चात्रोचिरे प्रमाणानि ।
ऐन्द्रियकं दिव्यं च प्रत्यक्षं स्वीकृतं द्विविधम् ॥ ८३ ॥
ऐन्द्रियकमस्मदादेः मुक्तादेर्योगिनां च दिव्यं स्यात् ।
क्वचनास्माकं भगवत्कृपया स्यात्प्रातिभं दिव्यम् ॥ ८४ ॥

प्रत्यक्ष अनुमान शब्द ये तीन प्रमाण पूर्वोक्तार्थ में माने गये हैं। इन से ही पूर्वोक्त तत्त्वों का बोध होता है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। एक ऐन्द्रियक है और दूसरा दिव्य है। ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष ज्ञान अस्मदादि को होता है। मुक्तों को ईश्वर को और योगियों को दिव्य प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। कभी-कभी हम लोगों को भी ईश्वर कृपा से या पुण्य से दिव्य प्रतिभा ज्ञान होता हुआ देखने में आता है ॥८३-८४॥

लिङ्गसमुद्भवमाहुर्ज्ञानं व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वात् ।
लैङ्गिकमनुमानं स्यादप्रत्यक्षार्थबोधकरम् ॥ ८५ ॥

लिङ्ग जन्य ज्ञान अनुमान है। विस्तार न्यायदर्शनादि में।

वृत्ती मुख्यामुख्ये शब्दस्य तु शक्तिरादिमा भवति ।
अथ लक्षणा च गौणी द्वे तावदमुख्यरूपे स्ताम् ॥ ८६ ॥

शब्द की मुख्य एवं अमुख्य दो वृत्तियाँ होती हैं। मुख्य वृत्ति शक्ति है। अमुख्य वृत्ति दो प्रकार की होती है। एक लक्षणा है। दूसरी गौणी है ॥८६॥

२२

जहती चाजहती च स्याज्जहदजहत्यपि त्रिधाऽत्राद्या।
गौणी गुणप्रयुक्ता क्वचन जगुर्व्यञ्जनां चैव ॥ ८७ ॥

जहती अजहती और जहदजहती ऐसी तीन लक्षणा है। गुणप्रयुक्त गौणी है। व्यज्यमानार्थवृत्ति व्यञ्जना है ॥८७॥

लौकिकवैदिकभेदाच्छब्दस्तु स्याद् द्विधाऽऽप्तवच आद्यः।
यदपौरुषेयवचनं वैदिकमेतत्परं मानम् ॥ ८८ ॥

लौकिक तथा वैदिक भेद से शब्द दो प्रकार है। आप्तवचन लौकिक है। अपौरुषेय वचन वैदिक है। वेदवचन तथा व्यासादिआप्तवचन परम प्रमाण है ॥८८॥

इति प्रमाणनिरूपणम्

कर्म ज्ञानं भक्तिर्भवति चतुर्थी प्रपत्तिरेवापि।
साधनमीशप्राप्तावपि गुर्वाज्ञानुवृत्तिश्च ॥ ८९ ॥

कर्म, ज्ञान, भक्ति ये तीन चौथी भक्ति तथा गुरु की आज्ञानुवृत्ति ये पाँच ईश्वरप्राप्ति के साधन हैं ॥८९॥

नित्यं नैमित्तिकमपि काम्यं चेति त्रयं भवेत्कर्म।
ज्ञानं प्रोक्तविषयकं जीवेशजगद्विषयमेव ॥ ९० ॥

नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य ऐसे तीन कर्म होते हैं। ज्ञान पूर्वोक्त विषयक अर्थात् जीव ईश्वर जगद्विषयक ज्ञान ही समझना चाहिये ॥९०॥

भक्तिर्द्विविधा प्रोक्ता साधनभक्तिश्च साध्यभक्तिश्च।
विहितायामधिकारो द्विजराजविशां न शूद्राणाम् । ९१ ॥

भक्ति दो प्रकार की होती है। एक साधन भक्ति है। दूसरी साध्य भक्ति है। साधन भक्ति एक विहित होती है। दूसरी अविहित। इन में विहिता भक्ति में द्विजों को ही अधिकार है। शूद्रों को नहीं है ॥९१॥

षोढा प्रपत्तिरुक्ता तत्राद्यास्त्वानुकूल्यसंकल्पः।
स्यात्प्रातिकूल्यहानं विश्वासोऽविष्यतीति दृढः ॥ ९२ ॥
गोप्तृत्वे वरणं स्यात्तुर्या मुख्योदितात्मनिक्षेपः।
कार्पण्यं षष्ठं स्यादत्र च सर्वाधिकृतिरुक्ता ॥ ९३ ॥

प्रपत्ति (शरणागति) छः प्रकार की होती है। उन में प्रथम तीन है—

आनुकूल्यसंकल्प, प्रातिकूल्यविवर्जन तथा रक्षणकारित्व का विश्वास। चतुर्थ रक्षक के रूप में स्वीकार करना है। आत्मनिक्षेप पाँचवीं प्रपत्ति है। वह मुख्य हैं। क्योंकि वही आत्मसमर्पण है। छठी प्रपत्ति कृपणता (हीनता) है। इस प्रपत्ति में सब को अधिकार है। ब्राह्मण शूद्र विभाग नहीं है। ९२-९३॥

सकलचराचरमेतद् भगवद्वपुरेव तत्स्वरूपत्वात् ।
कर्त्तव्यमानुकूल्यं सकलस्येत्यस्य संकल्पः ॥ ९४ ॥

यह समस्त चराचर भगवत शरीर है। भगवत्स्वरूप होने से सब के प्रति अनुकूल बरताव करना चाहिये ऐसा सोचना यही आनुकूल्य संकल्प है ॥९४॥

हिंसानृतपरपत्नीद्रव्याद्यहृतिप्रभृत्यखिलमेतत् ।
प्रतिकूलं भगवत इति परिवर्जनमुच्यते तस्य ॥ ९५ ॥

हिंसा, असत्य, परदारस्पर्श, स्तेय और परिग्रहादि सब भगवान के प्रतिकूल है समझ कर सब को छोड़ना यही प्रातिकूल्यविवर्जन है ॥९५॥

रक्षिष्यत्यनुकूलान् सेवानिरतान् प्रभुर्दयालुः सः ।
इति या सुदृढतरमतिः कल्पषहृत्सोऽस्य विश्वासः ॥ ९६ ॥

अनुकूल सेवकों की दयालु प्रभु अवश्य रक्षा करेगा ऐसी सुदृढ़ मति कल्पषहारी है। यही रक्षा विश्वास है ॥९६॥

अप्रार्थितो न भगवान् गोपायेत् प्रार्थयामहे तेन ।
गोप्तृत्वे वरणमिदं शुद्धधिया प्रार्थना सैषा ॥ ९७ ॥

प्रार्थना के बिना भगवान रक्षा नहीं करेंगे। अतः प्रार्थना प्रतिदिन आवश्यक है ऐसा समझ कर शुद्ध भाव से जो प्रार्थना की जाती है यही गोप्तृत्ववरण है ॥९७॥

आत्मन आत्मीयानां भारन्यासो हरौ तवेति मतेः ।
अथ नैश्चिन्त्यस्थानं तमिमं जगुरात्मनिक्षेपम् ॥ ९८ ॥

अपने स्वयं को और आत्मीय दारसुतादि को, यह सब आप के ही हैं, ऐसी मति से भगवान को सौंप कर निश्चिन्तता से रहना आत्मनिक्षेप है।

निरुपायोऽहमकिंचनदीनोऽपायैर्विलुण्ठितोऽसंख्यैः ।
इति गर्वहानिरेतत् कार्पण्यं दैन्यमित्युक्तम् ॥ ९९ ॥

हे परमात्मा ! अनेक असंख्य आपत्तियों में पड़ गया हूँ। निरुपाय हूँ। अकिंचन एवं दीन हूँ। हे प्रभो ! आप ही मेरे आधार हैं, इस प्रकार गर्वत्याग कार्पण्य है। उसे दैन्य भी कहते हैं ॥९९॥

अङ्गानि पञ्च तेषामङ्गी पुनरुक्त आत्मनिक्षेपः ।
सैव प्रपत्तिरुदिता तुष्यति परया यया भगवान् ॥ १०० ॥

आत्मनिक्षेप से अन्य पाँच अंग हैं। और आत्मनिक्षेप अंगी है। वही वस्तुतः प्रपत्ति है। उत्कृष्ट उस प्रपत्ति से भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥१००॥

वैराग्यमत्र हेतुर्दृष्टानुश्रविकगोचरं परमम् ।
तेनाहंताममतात्यागात् स्यादात्मनिक्षेपः ॥ १०१ ॥

दृष्ट एवं आनुश्रविक स्वर्गादिविषयक वैराग्य ही प्रपत्ति में हेतु है। उस से अहंता एवं ममता के छूटने पर आत्मा और आत्मीय का भगवान् में निक्षेप संभव है ॥१०१॥

तदिदं वैराग्यं च द्विविधं प्रोक्तं सहेतु निर्हेतु ।
दारादिक्लेशवशमनित्यासुखलोकदर्शनजम् ॥ १०२ ॥

यह वैराग्य दो प्रकार से बताया गया है। किन्हीं विशिष्ट घटनाओं के कारण कभी वैराग्य होता है। और कभी स्वाभाविक तरीके से। जैसे गृह में दारसुतादि का असह्य क्लेश होने लगा तो वैराग्य होता है। और "अनित्यमसुखं लोकं" के अनुसार संसार की असारता से भी वैराग्य होता है॥१०२॥

अपि च भवजिहासोत्थं सद्योजातं च पूर्वसंस्कारात् ।
वैराग्यं द्विविधं स्याद् भजति हरिं येन च विवेकी ॥ १०३ ॥

और भी दो प्रकार का वैराग्य होता है। एक दुःखात्मक संसार देख कर जिहासा होने के कारण उत्पन्न होता है। दूसरा पूर्व संस्कार के कारण एका-एक प्रगट होता है। दोनों ही से विवेकी संसार की आस्था छोड़ कर भगवद्भजन में लग जाता है ॥१०३॥

इति भक्ति प्रपत्तिनिरूपणम्

तापः पुण्ड्रो माला मन्त्रो यागश्च भक्तिसंज्ञाकः ।
एते परमैकान्तिकभावजुषः पञ्च संस्काराः ॥ १०४ ॥

तप्त शंखादि मुद्रा, तिलक, माला, मन्त्र तथा भक्ति रूप याग ये ऐकान्तिकभक्तिपोषणकारी पाँच संस्कार हैं ॥१०४॥

यागस्तु द्विविधोऽयं रतिरेका स्यात्तथा परा भक्तिः ।
शृङ्गारादिविभागाद्रसशब्दा स्याद्रतिर्नवधा ॥ १०५ ॥

यह याग दो प्रकार है। एक रतिरूप परा भक्ति है। दूसरा शृंङ्गार-करुण-हास्यादि नवरसात्मक है ॥१०५॥

विहिताविहिताभेदात्साधनरूपा भवेद् द्विधा भक्तिः ।
फलरूपा परमात्मनि परमप्रेमात्मिका भवति ॥ १०६ ॥

विहित पूजादि तथा अविहित रोदनादि ऐसी साधनभक्ति तथा फल रूपिणी ऐसी द्विधा भक्ति है। फलरूप भक्ति परमात्मा में परम प्रेम रूप है ॥१०६॥

श्रवणं स्मरणं कीर्त्तनमर्चनमपि पादसेवनं नमनम् ।
दास्यं सख्यं चात्मनिवेदनमिति साधनं नवधा ॥ १०७ ॥

नवधा साधन भक्ति अन्यत्र प्रसिद्ध तथा व्याख्यात है ॥१०७॥

शास्त्रेभ्योऽखिलतत्त्वं श्रुत्वा मननेन तच्च निश्चित्य ।
निष्कृष्टं हरिरूपं प्रभजन् भावैर्भवेन्मुक्तः ॥ १०८ ॥

शास्त्रों से समस्त तत्त्व को श्रवण तथा मनन कर उस से सन्देह रहित हो भगवान् के यथार्थ रूप का जो भावों से भजन करता है वह मुक्त होता है ॥१०८॥

भक्तिज्ञानविनिर्मलचित्तः प्रेमामृताब्धिसंमग्नः ।
निजरूपं श्रीकृष्णं प्राप्नोत्यानन्दकन्दमिति ॥ १०९ ॥

साधन भक्ति तथा ज्ञान से जिस का चित्त निर्मल हो गया ऐसे प्रेमामृत सागर में निमग्न महात्मा निज स्वरूप आनन्दकन्द श्रीकृष्ण चन्द्र को प्राप्त होता है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलायकृता ।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥
भक्तजनानन्दाय श्रीकृष्णावाप्तये व्रजाश्रयिणाम् ।
विहितेयं कृतिरनया प्रसीदतु श्रीहरिः स मयि ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे निम्बार्कमतम्

❀

माध्वसिद्धान्तः

वन्दे परमात्मानं लक्ष्मीसहितं समग्रगुणपूर्णम् ।
यत्करुणालवमात्राद् भेदज्ञानं च मोक्षश्च ॥ १ ॥

समग्र दिव्यगुणपूर्ण लक्ष्मीसहित परमात्मा नारायण की हम वन्दना करते हैं। जिसकी लेशमात्र करुणा से भेदज्ञान और मोक्ष होता है ॥१॥

आनन्दतीर्थयतिना वर्णितमधुना निरूपयिष्यामः ।
भेदमतं वैशेषिकमततः प्रायः समानार्थम् ॥ २ ॥

आनन्दतीर्थ (मध्व) यति द्वारा वर्णित भेदमत का हम अब निरूपण करते हैं जो वैशेषिक मत से मिलता जुलता है ॥२॥

भेदस्तु पञ्चधा स्याज्जीवेश्वरयोस्तथा जडेश्वरयोः ।
जडजीवयोर्जडानामन्योन्यं किं च जीवानाम् ॥ ३ ॥

भेद मुख्यतया पांच प्रकार का है। जीव-ईश्वर भेद, जड़-ईश्वर भेद, जड-जीव भेद, जड-जड भेद, और जीव-जीव भेद ॥३॥

सम्यग् विज्ञायैतान् मुच्येत भवार्णवात् पुमान् भेदान् ।
तस्मान्निरूपणीया ईशो जीवा जडाश्चैव ॥ ४ ॥

इन भेदों को सम्यक् जानने से मनुष्य संसार सागर से मुक्त होता है। अतः प्रतियोगिज्ञानार्थं ईश्वर, जीव, और जड निरूपणीय है ॥४॥

द्रव्यगुणकर्मजातिविशेषविशिष्टांशिशक्तिसादृश्यम् ।
साभावं व्याचख्युर्दशसंख्याकं पदार्थचयम् ॥ ५ ॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव ये दस पदार्थ हैं ॥५॥

परमात्मा लक्ष्मीरपि जीवश्चाव्याकृतात्मकाकाशः ।
प्रकृतिस्त्रिगुणं च महदहंकारौ बुद्धिमनसी च ॥ ६ ॥
इन्द्रियमात्राभूतब्रह्माण्डाऽज्ञानवर्णतिमिराणि ।
अपि वासना च कालः प्रतिबिम्बं विंशतिद्रव्यम् ॥ ७ ॥

(१) परमात्मा (२) लक्ष्मी (३) जीव (४) अव्याकृताकाश (५) प्रकृति (६) त्रिगुण (७) महत् (८) अहंकार (९) बुद्धि (१०) मन (११) इन्द्रिय (१२) तन्मात्रा (१३) महाभूत (१४) ब्रह्माण्ड (१५) अज्ञान (१६) वर्ण (-अक्षर) (१७) अन्धकार (१८) वासना (१९) काल (२०) प्रतिबिम्ब इस प्रकार द्रव्य की संख्या बीस है ॥६-७॥

विष्णुः परमात्मोक्तोऽखिलशक्तिर्यस्य धाम वैकुण्ठम् ।
दिव्यं यस्य शरीरं ज्ञानानन्दं चतुर्बाहु ॥ ८ ॥

परमात्मा विष्णु को कहते हैं। वह सर्वशक्तिमान् है। उसका धाम वैकुण्ठ है। शरीर दिव्य है, चार भुजावाला है। स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है ॥

सर्वेषां वेदानां सर्वपदानां च मुख्यया वृत्त्या ।
प्रतिपाद्यो जगदुद्भवलयरक्षाकृत् स्वतन्त्रश्च ॥ ९ ॥

समस्त वेदों का अर्थ है। मुख्यवृत्ति से समस्त पदों का भी अर्थ है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय करनेवाला एवं स्वतन्त्र है ॥९॥

नानाविधावतरान् गृह्णाति स्वेच्छयैकराडेषः ।
सर्वे तेऽपि च पूर्णाः सर्वज्ञा ईश्वराभिन्नाः ॥ १० ॥

वह परमात्मा एकराट् है। स्वेच्छा से अनेक अवतारों को लेता है। वे अवतार भी पूर्ण एवं सर्वज्ञ हैं। ईश्वर से अभिन्न हैं ॥१०॥

ब्रह्मादयश्च लक्ष्मीर्मुक्ता जीवाश्च सत्त्वदेहेन ।
स्वेच्छास्वीकृतभौतिकतन्वा वा तं निषेवन्ते ॥ ११ ॥

ब्रह्मा आदि, लक्ष्मी तथा मुक्त जीवात्मा सत्त्वगुणपरिणाम देह से या स्वेच्छा स्वीकृत भौतिकशरीर से वैकुण्ठ में नारायण की सेवा करते हैं ॥११

लक्ष्मीर्भगवत्पत्नी भिन्ना तु हरेस्तथोनगुणयुक्ता ।
देशाद्यपरिच्छिन्ना नानारूपाणि धत्ते सा ॥ १२ ॥

लक्ष्मी भगवान से भिन्न है न्यूनगुणवाली है। भगवत्पत्नी है। वह देशादि से परिच्छिन्न नहीं हैं। नानारूपधारिणी है ॥१२॥

श्रीर्भूर्दुर्गा च महालक्ष्मीर्ह्रीर्दक्षिणा नृणी सीता ।
अपि च जयन्ती सत्या रुक्मिण्याद्याश्च रूपाणि ॥ १३ ॥

श्री, भू, दुर्गा, महालक्ष्मी, ह्री, दक्षिणा, नृणी, सीता, जयन्ती, सत्या, रुक्मिणी इत्यादि सभी लक्ष्मी के ही रूप हैं ॥१३॥

लक्ष्म्यां प्रविश्य देवो रमतेऽसावात्मनैव तेनासौ ।
आत्मारामः प्रोक्तो द्वावेतौ नित्यमुक्तौ स्ताम् ॥ १४ ॥

लक्ष्मी में प्रवेश कर नारायण अपने से ही रमण करता है। अतः आत्माराम है। ये दोनों—नारायण और लक्ष्मी नित्यमुक्त हैं। अन्य कोई नित्यमुक्त नहीं है ॥१४॥

परमात्माधीनैषा प्रकृतिर्नित्याऽक्षरात्मिका शक्तिः ।
या तु पदार्थेषूक्ता शक्तिः सोत्पत्तिनाशवती ॥ १५ ॥

यह लक्ष्मीरूपी शक्ति परमात्मा के अधीन है; प्रकृति कहलाती है। यह नित्य एवं अक्षररूपिणी है। दस पदार्थों में जो पृथक् शक्ति गिनायी वह उत्पत्ति एवं नाशवाली पृथक् शक्ति है। अतः उससे यह गतार्थ नहीं है ॥१५

अज्ञानमोहदुःखद्वेषादिकदोषसंचयप्रायाः ।
प्रतिदेहभिन्नसत्त्वा जीवा ब्रह्मादयः सर्वे ॥ १६ ॥

अज्ञान, मोह, दुःख, द्वेष इत्यादि दोष जालों से जीव प्रायः युक्त हैं। प्रतिशरीर भिन्न सत्ता रखते हैं। ब्रह्मा आदि सभी जीव ही हैं ॥१६॥

परमात्मनो हरेः स प्रतिबिम्बो भवति जीवनामाऽयम् ।
अत एव च जीवोऽसावुपजग्मे सच्चिदानन्दः ॥ १७ ॥

यह जीव भगवान हरि का प्रतिबिम्ब है। अतएव उसे सच्चिदानन्द-रूप स्वीकार किया ॥१७॥

यद्यपि गदितं द्रव्यं प्रतिबिम्बं विंशतेः पृथग्गणने ।
तदपि विलक्षणमेतन्नित्यं परमात्मजं चैव ॥ १८ ॥

यद्यपि बीस द्रव्यों की गणना करते समय प्रतिबिम्ब की पृथक् गणना की गयी है। उसी के अन्तर्भूत होने से यहां पृथक् कथन आवश्यक नहीं है। तथापि उस प्रतिबिम्ब में और जीवात्मक प्रतिबिम्ब में अन्तर है। यह नित्य होने पर भी परमात्मजन्य है। चेतन प्रतिबिम्ब है। विंशति में परिगणित प्रतिबिम्ब जड रूप है ॥१८॥

अत्रैव मुक्तियोग्याः केचन पुरुषाः परे तमोयोग्याः ।
संसारिणस्तथान्ये जीवास्त्रिविधा बुधैरुदिताः ॥ १९ ॥

मुक्तियोग्य, तमोयोग्य तथा संसारी इस प्रकार जोव तीन प्रकार के हैं। परन्तु ये यहीं लोकों में होते हैं। वैकुण्ठ में नहीं ॥१९॥

प्रथमः स मुक्तियोग्यो नारायणमेकमेव यो भजते।
असममतिरितरदेवेष्वीशादिषु जीवभेदेषु ॥ २० ॥

प्रथम मुक्तियोग्य जीव वह है जो केवल नारायण का ही भजन करता है। अन्य शङ्करादि के साथ समान भाव रखना पाप है। वह मुक्तियोग्य नहीं हो सकता। क्योंकि वे सभी देव जीवविशेष ही हैं ॥२०॥

देवा ऋषयः पितरो धर्मपराश्चक्रवर्त्तिनो दैव्याः।
एते हि मुक्तियोग्या गुणभेदात्तारतम्ययुताः ॥ २१ ॥

देव—ब्रह्मादि, ऋषि—नारदादि, पितर—विश्वावसु आदि, धर्मपर—अम्बरोष आदि चक्रवर्ती तथा दैवीगुणसम्पन्न उत्तम पुरुष ये सभी मुक्तियोग्य हैं। भेद यही है कि गुणभेद से न्यूनाधिक योग्यतावाले हैं ॥२१॥

भक्त्या ज्ञानेन तथा वैकुण्ठगतास्तु मुक्तपुरुषाः स्युः।
आनन्दतारतम्यं हरिदेहस्थेषु जीवेषु ॥ २२ ॥

मुक्तियोग्य मुक्त कैसे होते हैं और मुक्त होने पर उनका स्वरूप क्या? सुनो! भक्ति तथा ज्ञान से वैकुण्ठ जो जाय वही मुक्त पुरुष है। हरि के शरीर में वे रहते हैं। फिर भी जीवों में आनन्द का तारतम्य रहता है ॥२२॥

कर्मक्षय उत्क्रमणं मार्गोऽर्चिप्रभृतिरन्ततो भोगः।
तुल्यः किन्तु ज्ञाने भेदादानन्दभेदस्तु ॥ २३ ॥

कर्मक्षय, उत्क्रमण, फिर अर्चिरादिमार्गगति और अन्त में विष्णुप्राप्ति होने पर भोग यह सर्व मुक्तियोग्यों में तुल्य है। तथापि ज्ञान में भेद होने के कारण आनन्द में भेद मुक्तिकाल में रहता है ॥२३॥

भोगश्चतुर्विधः स्यादानन्दस्यैव मोक्षकाले तु।
सालोक्यं सामीप्यं सारूप्यं चैव सायुज्यम् ॥ २४ ॥

मोक्ष काल में आनन्द का भोग चार प्रकार का है। सालोक्यरूप से, सामीप्यरूप से, सारूप्यरूप से और सायुज्यरूप से ॥२४॥

आविश्य हरिशरीरं सायुज्ये तच्छरीरगानन्दम्।
अणुरिव मानवदेहं भुङ्क्ते जीवो विमुक्तोऽसौ ॥ २५ ॥

सायुज्य मुक्ति में यह विमुक्त जीवात्मा हरि के शरीर में प्रवेश कर हरि के आनन्द को भोगता है। जैसे ममुष्य शरीर में प्रसिष्ट अणु (जो खून में लाल आदि रंग के होते हैं) मानवशरीरीरिय आनन्द भोगते हैं ॥२५॥

सर्वंगतस्थाणुरिति हि सर्वंगतस्थं जगावणुं भगवान् ।
नैवाणुभिस्तु दुःखं तर्हि शरीरस्थितिर्लोके ॥ २६ ॥

"नित्यः सर्वंगतस्थाणुः" ऐसा गीता में भगवान ने कहा है। सर्वंगते परमात्मनि तिष्ठतीति सर्वंगतस्थः। सचासावणुश्चेति सर्वंगतस्थाणुः ऐसा वहां विग्रह है। अर्थात् जीव सर्वव्यापी परमात्मा में स्थित अणु है। यदि यह शङ्का करें कि इन जीवरूपी अणुओं के प्रवेश से परमात्मा को तकलीफ होगी तो इसका उत्तर आसान है। हमारे मानव शरीर में खून में रक्ताणु आदि भोग भोगते हैं तो क्या हम को दुःख होता है ? बल्कि उनसे मानव शरीर की स्थिति है। भगवत शरीर की स्थिति के लिये जीवों की आवश्यकता भले नहीं, फिर भी उनसे दुःख की सम्भावना सर्वथा नहीं है ॥

सच्चित्सुखात्मना स्वं ध्यायन्त्येके परे तु केवलिनम् ।
उभयेऽपि तमोयोग्यास्तमसि हि मुक्ताश्च तिष्ठन्ति ॥ २७ ॥

कुछ दार्शनिक जीवात्मारूपी अपना ही ध्यान सच्चिदानन्द रूप से करते हैं। वैशेषिकादि तो केवल सत् रूप से आत्मचिन्तन करते हैं। दोनों ही तमोयोग्य हैं। मुक्त हो कर भी तम में ही रहते हैं ॥२७॥

यक्ष्ये दास्यामीति स्वर्गादिचरास्तु नित्यसंसाराः ।
अप्राप्य हरिं गच्छन्त्यधमां मूढां गतिं ते तु ॥ २८ ॥

नित्य संसारी वे हैं जो "हनिष्ये चापरानपि" "यक्ष्ये दास्यामि" इस प्रकार हिंसापरायण, यज्ञादिकर्ममात्ररत, हो कर स्वर्गनरकादिसंचारी होते हैं। वे हरि को प्राप्त न हो कर अन्त में अधम गति में चले जाते हैं ॥२८॥ जीव।

अव्याकृतमाकाशं केचिद् द्रव्यं परे प्रदेशं तम् ।
अपि साक्षिवेद्यमाहुर्दिगिति च लक्ष्मीरधिष्ठात्री ॥ २९ ॥
तद्भागाः प्रागाद्या वैकुण्ठेऽप्यपरिणामिनो व्यङ्ग्याः ।
एवं वर्णाः सर्वे परिणतयो व्यज्यमानाश्च ॥ ३० ॥

अव्याकृत आकाश को कुछ लोग द्रव्य मानते हैं। दूसरे प्रदेश मानते हैं। अन्य उसे दिशा कहते हैं। वह साक्षिवेद्य है। लक्ष्मी उसकी अभिमानिनी देवता है। पूर्व पश्चिमादि इसी के विभाग हैं। ये विभाग वैकुण्ठ में भी हैं। वे अपरिणामी और अभिव्यञ्जनीय हैं। उत्पाद्य नहीं। इसी प्रकार (आगे निरूपणीय) वर्ण भी अपरिणामी हैं नित्य हैं। अभिव्यक्ति मात्र उनकी भी होती है ॥२९-३०॥ अव्याकृताकाश।

अव्यक्तं गुणसाम्यं प्रकृतिः प्रलयेऽपि विद्यते सैषा।
कालनिदानं लिङ्गमधिष्टात्री स्याद्रमा तस्याः ॥ ३१ ॥

तीन गुणों की साम्यावस्था अव्यक्त है। वही प्रकृति है। वह प्रलय में भी रहती है। काल का भी वह कारण है। लिङ्गशरीरसमष्टिरूप है। इस की अधिष्ठात्री देवी रमा है ॥३१॥ प्रकृति।

प्रकृतौ गर्भं धत्ते भगवान् क्षुभ्नन्त्यतस्त्रयस्तु गुणाः।
ते संभवन्ति तस्या भूतान्यखिलान्यपि क्रमशः ॥ ३२ ॥

प्रकृति में भगवान् अपना तेज निहित करते हैं। यही "मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं" यहाँ गर्भाधान पद से बताया है। तब प्रकृति में क्षोभ होने से सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण संभूत हो जाते हैं। उसी से क्रमशः समस्त भूत प्राणी भी पैदा होते हैं ॥३२॥

तमसो द्विगुणं तु रजो रजसो द्विगुणं निगद्यते सत्त्वम्।
भवति खलु महत्तत्त्वाद्दशगुणमेतत्तमो नाम ॥ ३३ ॥

आगे वर्णनीय महत्तत्त्व से दस गुना अधिक तम है। तम से दुगुना रज है। रज से दुगुना सत्त्व है ॥३३॥

सत्त्वं प्रथमं जातं शुद्धं किंचिद्रजस्तमश्चैव।
सत्त्वे तमसो योगाद् रज एवं स्यात्तमो रजसः ॥ ३४ ॥

प्रथम शुद्ध सत्त्व, थोड़ा रज तथा तम हुआ। सत्त्व में तम मिला तो पूर्ण रज हुआ। और रज मिला तो पूर्ण तम हुआ। इसी का परिमाण पूर्वश्लोक में बताया ॥३४॥

रजसा सृष्टिस्तद्गतसत्त्वेन तु पालनं तथा तमसा।
संहारस्तत्स्थेन श्रीर्भूर्दुर्गा अधिष्ठात्र्यः ॥ ३५ ॥

उक्त मिश्र रजोगुण से सृष्टि, उसी रजोगुण में स्थित सत्त्व गुण से रक्षा, और रजोगुण गत तम से संहार होता है। सत्त्वादि तीनों गुणों की क्रमशः श्री, भू और दुर्गा अधिष्ठात्री देवियाँ हैं ॥३५॥ त्रिगुण

दश सत्त्वांशा एकरजोंशश्चैवं तमस्तृतीयांशः ।
एतन्मिलितं रूपं गुणजन्यं स्यान्महत्तत्त्वम् ॥ ३६ ॥

दस (१०) सत्त्व भाग, एक (१) रजो भाग और तृतीयांश (१/३) तमो भाग इन का मिलित रूप त्रिगुण कार्य तत्त्व ही महत्तत्त्व है ॥३६॥

ब्रह्मा वायुरिति द्वौ सस्त्रीकावधितिष्ठतो महान्तमिमम् ।
अस्माच्च महत्तत्त्वाद्दशांशतः स्यादहङ्कारः ॥ ३७ ॥

सपत्नीक ब्रह्मा तथा वायु ये दो महत्तत्त्व के अधिष्ठाता देवता हैं। इस महत्तत्त्व से अहंकार तत्त्व हुआ जो महत्तत्त्व की अपेक्षा परिमाण में दशांश ही है ॥३७॥ महत्तत्व।

एको भागः सत्त्वं दशमांशरजश्च शततमांशतमः ।
तत्राधिष्ठातारः सगरुत्मच्छेषरुद्राद्याः ॥ ३८ ॥

उस अहंकार में एक भाग सत्व है तो उसका दशमांश (१/१०) रज और शतांश (१/१००) तम है। अहंकार के अधिष्ठाता गरुड-शेष-रुद्र आदि है ॥३८॥

स च वैकारिकतैजसतामसभेदो भवेदहङ्कारः ।
बुद्धिश्च महत एव ज्ञानं यस्या गुणः प्रोक्तः ॥ ३९ ॥

यह अहंकार वैकारिक (सात्विक) तैजस (राजस) एवं तामस भेद से तीन प्रकार का है बुद्धितत्व भी महत्तत्व से ही होता है जिसका गुण ज्ञान है ॥३९॥

ब्रह्मादयो ह्युमान्ता अधितिष्ठन्त्युदितबुद्धितत्त्वमिदम् ।
तस्मान्न सांख्यवत् स्याद् बुद्धिमहत्तत्त्वयोरैक्यम् ॥ ४० ॥

ब्रह्मा से लेकर उमा तक सभी बुद्धि तत्व के अधिष्ठाता हैं। अतएव सांख्यों के समान महत्तत्व और बुद्धितत्व की एकता नहीं है ॥४०॥ अहंकार और बुद्धि।

साक्ष्यात्मकमेकं स्यादन्यच्चैवेन्द्रियात्मकं हि मनः ।
मोक्षेऽपि मननसत्त्वादाद्यं नित्यं परमनित्यम् ॥ ४१ ॥

मन दो प्रकार का है। एक साक्षिरूप है। दूसरा इन्द्रियरूप है। मोक्ष में भी मनन रहता है। अतः साक्षीरूप मन नित्य है। इन्द्रियरूप मन अहंकार से उत्पन्न होने वाला है, अतः अनित्य है ॥४१॥

रुद्रः शेषो गरुडः कामो ब्रह्मा सरस्वतो चन्द्रः ।
इन्द्रोऽनिरुद्ध एतेऽधिष्ठातारः स्मृता मनसः ॥ ४२ ॥

रुद्र, शेष, गरुड, काम, ब्रह्मा, सरस्वती, चन्द्र, इन्द्र, एवं अनिरुद्ध मन के अधिष्ठाता देवता है ॥४२॥

पञ्चविधं बुद्धिमनश्चित्ताहङ्कारचेतनाभेदात् ।
अखिलमिदं वृत्त्यात्मकमत्रान्त्या चेतना तु कृतिः ॥ ४३ ॥

बुद्धितत्वादि अलग बताया। मन के वृत्यात्मक बुद्धि आदि अलग हैं। बुद्धि, मन, अहंकार, चित्त और चेतना ये पाँच मनोवृत्तियाँ हैं। बुद्धि आदि का स्वरूप निश्चय संकल्पादि प्रसिद्ध है। चेतना कृति को कहते हैं ॥४३॥

तैजसतोऽहंकारादेकादश चेन्द्रियाणि जायन्ते ।
तानि तु तत्त्वानि स्युरनित्यानि च जीवराशीनाम् ॥ ४४ ॥

मन तथा श्रोत्रादि-वागादि दस ऐसे ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकार के सात्विक अंश से पैदा होते हैं। सात्विकांश से ज्ञानेन्द्रियाँ और राजसांश से कर्मेन्द्रियाँ यह मतान्तर है। ये सभी तत्व हैं और अनित्य भी हैं ॥४४॥

साक्ष्यात्मकानि मुक्तौ लक्ष्मीपरमात्मनोश्च नित्यानि ।
तैरेव सर्वगन्धः सर्वरसादिस्वरूपास्ते ॥ ४५ ॥

मुक्त काल में एकादश इन्द्रिय साक्षीरूप होते हैं। वे नित्य हैं। लक्ष्मी और परमात्मा की भी इन्द्रियाँ नित्य हैं। तभी तो सर्वगन्धः सर्वरस इत्यादि विशेषण उपपन्न है। सर्वगन्धादि अनुभव कारी यही उसका अर्थ है ॥४५॥

ज्ञाततयाऽज्ञाततया सर्वेऽपि च साक्षिगोचरा अर्थाः ।
ब्रह्माद्याः सूर्याद्या एतेषां देवता बोध्याः ॥ ४६ ॥

साक्षी से गन्धादि का अनुभव किस प्रकार यह शंका न करो। क्योंकि संसार काल में भी ज्ञातत्वेन और अज्ञातत्वेन सभी पदार्थ साक्षिविषय माने जाते हैं। ब्रह्मा चन्द्र रुद्र अच्युत ये बुद्धि आदि के अधिष्ठाता हैं दिग्देवता, वायुदेवता, सूर्यदेवता, वरुणदेवता एवं अश्विनीकुमार श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों

के देवता हैं। अग्नि, इन्द्र, विष्णु, यम और प्रजापति वागादि कर्मेन्द्रियों के देवता हैं ॥४६॥ मन और इन्द्रियाँ।

तामसतोऽहंकाराज्जायन्ते पञ्च भूततन्मात्राः।
शब्दः स्पर्शो रूपं रसगन्धौ चेतिनामानः ॥ ४७ ॥

तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा ये पाच हैं ॥४७

आभ्यो भिन्नास्तु गुणाः शब्दाद्या देवतास्तु मात्राणाम्।
आसामुमा सुपर्णी वारुण्यपि वाक्पतिश्चेति ॥ ४८ ॥

प्रत्यक्ष शब्दादि गुण इन से भिन्न है। इन तन्मात्राओं की देवता उमा, सुपर्णी इत्यादि हैं ॥४८॥

तदहंकारदशांशक्रमिकाल्पान्युद्भवन्ति मात्राभ्यः।
गगन-श्वसन-ज्वलनाम्बववनय इति पञ्चभूतानि ॥ ४९ ॥

तन्मात्राओं से गगनादि पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं जो अहंकार की अपेक्षा दशांशरूपन्यूनपरिमाण गगन, उस का दशांश वायु, उस का दशांश परिमाण तेज, उस का दशांश जल, उस का दशांश पृथिवी इस प्रकार परिमाण वाले हैं ॥४९॥ तन्मात्रा और महाभूत।

एषा सर्वा प्रकृतिर्ब्रह्माण्डं विकृतिरुच्यते तस्याः।
पञ्चाशत्कोटिविमितयोजनविस्ताररूपं तत् ॥ ५० ॥

ये पूर्वोक्त सभी प्रकृति है। सांख्यों के समान पञ्च महाभूत विकृतिरूप मात्र नहीं है। विकृति तो ब्रह्माण्ड है। जो पचास करोड़ योजन विस्तार वाला बताया गया है ॥५०॥

व्याप्नोति ब्रह्माण्डं सलिलात्मकतेजसा विशन् विष्णुः।
पिण्डितवस्त्रं यद्वद् व्याप्नोति जलं तदाकारम् ॥ ५१ ॥

ब्रह्माण्डोत्पत्ति के बाद भगवान अपने जलात्मक तेज से उस में प्रवेश कर व्याप्त होता है। जैसे गोलाकारित वस्त्र में जल गोलाकाररूप से व्याप्त होता है। ब्रह्माण्ड को इस प्रकार विष्णु ने जोड़ा ॥५१॥

मिलितद्विदलसममिदं हेममयी स्यादुपर्यमुष्य द्यौः।
राजतभागः पृथिवी मध्यच्छिद्रात्मकं ह्यण्डम् ॥ ५२ ॥

यह ब्रह्माण्ड दो दल मिले हुए के समान है। ऊपर सुवर्णमय द्यौ है। नीचे रजतमय पृथिवी। मध्य में छिद्र है ॥५२॥

कारणशिष्टं सकलं महदाद्युदरे निधाय जीवांश्च।
प्रविशति तदण्डमीशो मृतकसमं चेतयन् भगवान् ॥ ५३ ॥

जल से पिण्डीभूत होने पर भी यह अण्ड मृतक जैसा पडा था। भगवान ने दूसरे प्रकार से प्रवेश कर इस को फिर चेतित किया। अपने उदर में अहंकारकारणत्व से बचे महत्तत्त्व, इन्द्रियादिकारणत्व से बचे हुए अहंकार इस प्रकार कारणताविष्ट अंश को छोड़ कर शेष महदादि अंश को और समस्त जीवों को उदर में धारण कर प्रवेश किया। मृत अण्ड में प्रवेश के कारण मार्त्तण्ड नाम पड़ा ॥५३॥

स निजान्नाभेः कमलं ब्रह्माणं चासृजत्स जलशायी।
तपति विधिस्तुष्टोऽतः सृजति हरिः पञ्चभूतानि ॥ ५४ ॥

प्रवेश कर पूर्वनिविष्ट जल में शयन किया। और अपनी नाभि से कमल को और उस में ब्रह्मा को उत्पन्न किया। ब्रह्मा ने तप किया। उससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा के निमित्त उस ब्रह्माण्ड के अन्दर पञ्चभूत सृष्टि भगवान ने की।

तैरेव सूक्ष्मविधया लोकान् सृष्टांश्चतुर्दशेशेन।
स्थूलात्मना विधाता सृजति स्वाविष्टहरिशक्त्या ॥ ५५ ॥

उन्हीं भूतों से प्रथम हरि ने ब्रह्माण्ड के अन्दर सूक्ष्मरूप से चतुर्दश भुवनों को बनाया। बाद में उन्हीं को ब्रह्मा ने स्थूलरूप बनाया। यही ब्रह्मा कृत लोक सृष्टि है। सो भी ब्रह्माजी ने अपने अन्दर आविष्ट हरिशक्ति से ही बनाया। ब्रह्माण्ड ॥५५॥

तत्र जराय्वण्डोद्भित्स्वेदजनीन् प्राणिनोऽसृजद्वेधाः।
तेष्वाधाच्चाविद्यां स्वस्मिन् प्राक् स्थापितं हरिणा ॥ ५६ ॥

उन लोकों में जरायुज अण्डज उद्भिज्ज स्वेदज इत्यादि प्राणियों को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया और उनमें अविद्या को आधान किया, जिस अविद्या को भगवान विष्णु ने ब्रह्माजी में ही प्रथम स्थापित किया था ॥५६॥

अन्ये तु पञ्चभूततमोंशादस्या जनिं किलेच्छन्ति।
तेषां तु सादिरेषा भवति परेषामनादिः सा ॥ ५७ ॥

दूसरे लोग पांच भूतों के तम अंश से अविद्या की उत्पत्ति मानते हैं। उनके मत में यह सादि है। और पूर्व मत में अविद्या अनादि है ॥५७॥

तम इति मोहं च महामोहं तामिस्रमन्धतामिस्रम् ।
आदाय पञ्चधाहुरविद्यां व्यामोहिकां प्राज्ञाः ॥ ५८ ॥

तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र को लेकर प्राज्ञ लोग व्यामोहक अविद्या को पञ्चविध बताते हैं ॥५८॥

जीवस्य परस्याप्याच्छादिन्यौ शैवला च माया च ।
इत्यपि भेदानाहुर्यंत्र च दुर्गाभिमानवती ॥ ५६ ॥

जीवाच्छादिका, पराच्छादिका, शैवला और माया इस प्रकार भी कुछ लोग अविद्या का विभाग करते हैं। दुर्गा इसकी अधिष्ठात्री देवी है ॥ ॥५९॥ अविद्या

वर्णाः स्युरकाराद्या नित्या विभवोऽपरेष्वसमवेताः ।
समभिव्यज्यन्ते ते वागिन्द्रिय एकपञ्चाशत् ॥ ६० ॥

अकारादि इक्यावन वर्ण नित्य, विभु और अन्यासमवेत हैं। अर्थात् गुण नहीं हैं। वागिन्द्रिय से इनकी अभिव्यक्ति मात्र होती है ॥६०॥ वर्ण

धावति नीलं तम इति सर्वेषां प्रत्ययात्तमो द्रव्यम् ।
आच्छादयति घटादिपदार्थांस्तस्मान्न सोऽभावः ॥ ६१ ॥

तम नीला है। भाग रहा है। इस प्रकार गुण तथा क्रिया दोनों होने से तम द्रव्य है। घटादि पदार्थों को वह ढकता है। अतः प्रभाऽभाव मात्र नहीं है ॥६१॥

प्रकृतेस्तस्योत्पत्तिर्हरिरसृजत्तद्धि भारते युद्धे ।
ब्रह्मा कदाचिदपिबत्तस्माद् भावात्मकं नाशि ॥ ६२ ॥

प्रकृति से तम की उत्पत्ति होती है। महाभारत युद्ध में भगवान् कृष्ण ने उसे उत्पन्न किया। उत्पत्ति भावपदार्थ की ही होता है। ब्रह्मा ने एक बार उसे पिया था। अतः भी वह भाव पदार्थ है ॥६२॥ तम।

पृथगेव वासना स्यात् संस्काराद् द्रव्यलक्षणा चैषा ।
पितृवासना हि बहुधा संक्रामति पुत्रपौत्रादौ ॥ ६३ ॥

संस्कार और वासना दोनों को पर्यायतया लोग बोलते हैं। वस्तुतः दोनों अलग है। संस्कार गुण है। वासना द्रव्य हैं। पिता की वासना पुत्र पौत्रादि में संक्रमित होता हैं। गुण का संक्रमण नहीं हो सकता ॥६३॥

वेने च रावणे च प्रासरदेषा हि वासना मातुः।
संक्रमणं न गुणानां तस्मात् स्यात् द्रव्यमेवेदम् ॥ ६४ ॥

वेन में और रावण में माता की वासना का संक्रमण हुआ। क्रियात्मक ही वह था। गुण में क्रिया नहीं होती। अतः वासना द्रव्य ही है ॥६४॥

भवति मनोरथविषयो जीवाधीनः स वासनाजन्यः।
स्वप्नस्त्वतथा स पुनर्भगवज्जन्यश्च सत्यश्च ॥ ६५ ॥

मनोराज्य का विषय जीव के अधीन है। वह वासनाजन्य है। किन्तु स्वप्न वैसा नहीं है। यद्यपि स्वप्न में वासना सहकारी है। तथापि वह भगवतजन्य है और सत्य भी है ॥६५॥

ध्यानं तु वासनामयवस्त्वीक्षणमुच्यतेऽन्तरुद्भूतम्।
चित्ताकारविषयकं स्वाप्नार्थः सूचकः प्रोक्तः ॥ ६६ ॥

ध्यान वासनामय वस्तु का अन्दर दर्शन है जो मानसदर्शनरूप हैं। उसका कोई अन्य विषय नहीं। किन्तु पुरुषप्रयत्नजन्य चित्ताकार ही उसका विषय है। स्वप्न में ऐसा नहीं है। वह पुरुष प्रयत्नजन्य नहीं है। अतएव चित्ताकार मात्र उसका विषय नहीं है। श्रुति में तथा सूत्र में उसे सूचक (शुभाशुभ सूचक) बताया है। स्वप्रयत्नोत्पन्न चित्ताकार मात्र होता तो हम अशुभ चिन्तन नहीं करते ॥६६॥ वासना।

कालः कलयेदखिलं ज्येष्ठकनिष्ठादितामयं गमयेत्।
प्रकृतिभवोऽनित्योऽयं जगदाधारः प्रवाहात्मा ॥ ६७ ॥

काल सर्वंकलनाकारी है जगद्धारक है। ज्येष्ठ, कनिष्ठ इत्यादि प्रत्यय एवं व्यवहार को उत्पन्न करता है। वह प्रकृति से उत्पन्न होता है अतएव विलय होने से अनित्य भी है। जगत् का वह आधार है। प्रवाह स्वरूप है ॥६७॥ काल।

प्रतिबिम्बं बिम्बसमं मुकुरादावुद्भवेत् पृथग् बिम्बात्।
अक्षणि पुरुषतया तं जग्राह विरोचनो हि पुरा ॥ ६८ ॥

प्रतिबिम्ब विम्बसदृश होता है। वह दर्पणादि में उत्पन्न होता है। विम्ब से वह अलग ही है। आंखों में जो प्रतिबिम्ब पड़ा उसे विरोचन ने पुरुष रूप से जाना था। वह विम्ब ही होता तो क्यों भ्रान्ति होती ।६८।।

इन्द्रधनुःपरिवेषस्फटिकारुणिमप्रतिध्वनिच्छायाः ।
इत्याद्या अपि सर्वे प्रतिबिम्बभिदा भवन्त्येते ।। ६९ ।।

इन्द्रधनुष, सूर्यादिपरिधिरूप परिवेष, स्फटिक में जपाकुसुमीय अरुणिमा, प्रतिध्वनि एवं छाया इत्यादि सभी प्रतिबिम्ब के ही भेद माने गये हैं ।।६९।। प्रतिविम्ब

इति द्रव्याणि

शब्दस्पर्शौ रूपं रसगन्धौ परिमितिश्च संख्या च ।
संयोगविभागावपि परताऽपरते गुरुलघुत्वे ।। ७० ।।
मृदुकाठिन्ये स्नेहद्रवते सौन्दर्यसौकुमार्याद्याः ।
ज्ञानेच्छायत्नकृपाः पुण्यमपुण्यं सुखं दुःखम् ।। ७१ ।।
संस्कारो द्वेषश्च श्रद्धा भक्तिस्तथैव विश्वासः ।
शम-दम-विरति-तितिक्षा-बल-भय-लज्जा-समाधानम् ।। ७२।।
शौर्यौ-दार्य-क्रौर्यण्यैश्वर्य-स्थैर्यधैर्य-वीर्याणि ।
गाम्भीर्याद्या अपि च प्रोक्ता बहुधा गुणाः शास्त्रे ।। ७३ ।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, परिमाण, संख्या, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, लघुत्व, मुदुत्व, कठिनत्व, स्नेह, द्रवत्व, तथा शरीरादी में ही सौन्दर्य, सौकुमार्य, सौष्ठव, माधुर्यादि, आत्मा में—ज्ञान, इच्छा, यत्न, कृपा, पुण्य, पाप, सुख, दुःख, संस्कार, द्वेष, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, शम, दम, वैराग्य तितिक्षा, आत्मबल, भय, लज्जा एकाग्रता, शूरता, क्रूरता, उदारता, ईश्वरता, स्थिरता, धीरता, वीरता, गम्भीरता इत्यादि बहुत सारे गुण हैं। वैशेषिकोक्त चतुर्विंशति संख्या अग्राह्य है।

इति गुणनिरूपणम्

विहितं प्रसिषिद्धं चोदासीनं च त्रिधा तु कर्माणि ।
उत्क्षेपणादिकं पुनरत्रैवान्तर्भवितुमर्हम् ।। ७४ ।।

विहित (वेदशास्त्रों में कर्त्तव्यतया निर्दिष्ट यागादि) प्रतिषिद्ध(वेदशास्त्रों ने जिसे अकर्त्तव्य बताया ऐसे हिंसा अनृतादि) उदासीन (जनको वेदों में

न कर्त्तव्य बताया और न अकर्त्तव्य ही ऐसे निष्ठीवनादि) ऐसे तीन प्रकार के कर्म होते हैं। वैशेषिकोक्त उत्क्षेपण अपक्षेपणादि पाँच प्रकार का कार्य इन्हीं में अन्तर्गत है ॥

काम्यमकाम्यं चेति द्विविधं फलकामनायुतं काम्यम् ।
भगवत्प्रीत्यर्थं यत्तदकाम्यं कर्म समभिहितम् ॥ ७५ ॥

कर्म के पुनः दो भेद हैं। एक काम्य कर्म होता है। दूसरा निष्काम। स्वर्गादिफलकामना से किया जाने वाला कर्म काम्यकर्म है। और भावत्प्रीत्यर्थं क्रियमाण कर्म अकाम्य (निष्काम) कर्म बताया गया है ॥७५॥

प्रारब्धं संचितमपि काम्यं तच्चेष्टनेष्टभेदयुतम् ।
भोगैकनाश्यमाद्यमनिष्टं ज्ञानोज्झ्यमन्यत्तु ॥ ७६ ॥

प्रारब्ध तथा संचित भी काम्य है। यद्यपि वह पुण्यपापान्तर्गत हैं तथापि कृतिकाल में वे काम्य कर्म रूप रहे हैं। इष्ट तथा नेष्ट भेद से वह दो प्रकार का है। प्रारब्ध केवल भोग से नाश्य है। अनिष्ट तथा संचित तो ज्ञान द्वारा ही नाशनीय है ॥७६॥ कर्म।

इति कर्मनिरूपणम्

सामान्यं जातिः स्याद् गोत्वघटत्वादिकं भवेन्नित्यम् ।
विप्रत्वनरत्वादिकमुक्तमनित्यं तथा दृष्टेः ॥ ७७ ॥

जाति से सभी सामान्य लेना चाहिये। और उपाधि भी लेना चाहिये। इनमें गोत्व घटत्वादि जाति नित्य है। विप्रत्व मनुष्यत्वादि जाति अनित्य है। क्योंकि वसिष्ठ शाप से मनुपुत्र पृषध्र शूद्र हो गया था। सन्ध्यावन्दनादि रहित विप्र वृषल होता हैं ऐसा मनुवचन है। तप से विश्वामित्र ब्राह्मण हुआ। उसका क्षत्रियत्व नष्ट हुआ। नन्दिकेश्वरादि में मनुष्यत्व नष्ट हुआ देवत्व आया ॥७७॥

जीवत्वं देवत्वं मेयत्वाद्यप्युपाधिमत्राहुः ।
सर्वज्ञत्वं विष्णौ नित्यमनित्यं भवेज्जीवे ॥ ७८ ॥

जीवत्व, देवत्व, प्रमेयत्व इत्यादि उपाधि है। सर्वज्ञत्व भी उपाधि है। वह विष्णु में नित्य है। जीव में अनित्य है ॥७८॥

इति सामान्यनिरूपणम्

सर्वेषु पदार्थेषु विशेषो भेदप्रयोजकः कश्चित् ।
नित्यगतो नित्योऽयमनित्यगतश्चोच्यतेऽनित्यः ।। ७९ ।।

समस्त पदार्थों में परस्परभेदप्रयोजक विशेष नाम का एक पदार्थ रहता है। वह नित्य आकाशादि में नित्य है। और अनित्य घटादि में अनित्य है।

ईशेऽप्ययं विशेषो येन स जगतो विलक्षणो भवति ।
भेदस्तस्मान्नियतो न खलु निवर्त्तेत मोक्षेऽपि ।। ८० ।।

ईश्वर में भी यह विशेष पदार्थ रहता हैं। अतएव जीव एवं जगत् से वह विलक्षण हैं। इसी कारण इनका भेद ईश्वर में नियत हैं। मोक्ष काल में भी जीवेश्वर विभाग रहेगा ही ॥८०॥

इति विशेषनिरूपणम्

भवति विशिष्टः शुद्धाद् भिन्नो दण्डी न केवलः पुरुषः ।
पुरुषवति नास्ति दण्डीत्येवं हि पृथक् प्रतीतिरिति ।। ८१ ।।

विशिष्ट शुद्ध से भिन्न पदार्थान्तर है। दण्ड विशिष्ट पुरुष केवल पुरुष से भिन्न होता है। यही कारण है। गृह में पुरुष है फिर भी दण्डी पुरुष नहीं है ऐसी प्रतीति होती है ॥८१॥

द्रव्यादिव्याप्यमिदं न पृथक्त्वं विशिष्टमिति चेन्न ।
गुणकर्माद्यपि न कथं द्रव्यादिव्याप्यमिति मनुषे ।। ८२ ।।

द्रव्यादि व्याप्य ही विशिष्ट पदार्थ हैं। अतिरिक्त नहीं है। पुरुष-व्याप्य ही दण्डविशिष्ट पुरुष है। ऐसा क्यों न हों ? उत्तर यह है कि गुणकर्मादि को भी द्रव्यव्याप्य क्यों नहीं मानते तब ? घटरूप पट में नहीं, अतः घटव्याप्य होने से घट ही है ऐसा क्यों नहीं कहें ?

इति विशिष्टनिरूपणम्

अंशी स्याद् भिन्नोंशात्तन्तुभ्यो भिन्नमेव वस्त्रं तु ।
एकं महद्धि वस्त्रं तदिदं नांशेषु सङ्घटते ।। ८३ ।।

अवयवी अवयव से भिन्न है। 'एक बड़ा कपड़ा' इस प्रकार एकत्व और महत्त्व अनेक पतले तन्तुओं में कैसे प्रतीत हो। अस्तु। अवयवी फिर भी द्रव्य ही है। सप्तम पदार्थ किस प्रकार ? यह प्रश्न रहेगा। उसका उत्तर आगे ॥८३॥

ननु च द्रव्यं तदिदं भवति पदार्थान्तरं कथङ्कारम् ।
नैवं शब्दसमुदये भवति महान् शब्द एक इति ॥ ८४ ॥

अवयवी द्रव्य ही है। पदार्थान्तर किस प्रकार ? सुनो। शब्दों के समुदाय में एक महान शब्द ऐसा व्यवहार होता हैं। नाना रूप मिलकर एक महान रूप होता है। अतः अंशी अलग हैं ॥८४॥

इत्यंशिनिरूपणम्

शक्तिरचिन्त्याऽऽधेया सहजा पदगेति सा चतुर्धा स्यात् ।
अघटितघटनाशक्तिरचिन्त्या नित्यानवधिरीशे ॥ ८५ ॥

कार्यानुकूला शक्ति पृथक् पदार्थ हैं। अचिन्त्या, आधेया, सहजा और पदगा इस प्रकार उसके चार भेद हैं। अचिन्त्या उसको कहते हैं जो असंभावित कार्य को भी कर डालती है। वह परमात्मा में नित्य एवं अपार है।

तदनन्तांशन्यूना लक्ष्म्यां तत्कोटिभागदभ्रा च ।
ब्रह्मादौ तन्न्यूना चान्येषां स्याद् यथायोग्यम् ॥ ८६ ॥

परमात्मा की अपेक्षा लक्ष्मी में अनन्तांश न्यून अचिन्त्य शक्ति रहती है। ब्रह्मा आदि में लक्ष्मी की अपेक्षा कोटि-अंश न्यून शक्ति रहती हैं। देवादि अन्य में उससे भी न्यून अचिन्त्य शक्ति रहती है ॥८६॥

आधेयशक्तिरन्या प्रतिमादौ स्यात्प्रतिष्ठितौ सत्याम् ।
स्वाध्यायजपादेश्च व्रीह्यादौ प्रोक्षणादेश्च ॥ ८७ ॥

प्रतिमा आदि में विधि से प्रतिष्ठा करने पर जो शक्ति आती है वह आधेय शक्ति है। स्वाध्याय से तथा जप से साधक में आधेय शक्ति आती है। व्रीहीन् प्रोक्षति इस वैध प्रोक्षणादि से व्रीहि आदि में यज्ञ की योग्यता रूपी आधेय शक्ति आ जाती हैं ॥८७॥

वह्नेर्दाहनशक्तिः क्लेदनशक्तिर्जले तथान्यत्र ।
सर्वेषु वस्तूषूक्ता सहजा शक्तिः स्वभावकृता ॥ ८८ ॥

वह्नि में जलाने की शक्ति, जल में भिगाने की शक्ति तथा अन्यत्र भी सभी वस्तुओं में सहज शक्ति होती है जो स्वभावतः प्राप्त है ॥८८॥

अर्थेषु पदानां या शक्तिः सा त्वर्थबोधिका भवति ।
सा पुनरनादिसिद्धा जातौ व्यक्तौ यथायोग्यम् ॥ ८९ ॥

अर्थ विषयक पदनिष्ठ एक शक्ति होती है। वही पदगा है। वह अर्थ-बोधन कराने वाली होती है। यह शक्ति पदों में अनादि सिद्ध है। वह शक्ति जाति में भी हो सकती है व्यक्ति में भी हो सकती है। यथायोग्य अङ्गीकार्य है ॥८९॥

परमा मुख्या शक्तिः सर्वेषामीश्वरे पदानां स्याद् ।
घटपटनरतर्वादौ मुख्या तत्तत्पदानां तु ॥ ९० ॥

पद शक्ति दो प्रकार की होती है। एक परममुख्य शक्ति है। दूसरी मुख्य शक्ति है। सभी पदों की परममुख्य शक्ति परमात्मा में ही है। अर्थात् परम मुख्य शक्ति से परमात्मा ही सर्व पद वाच्य है। घट, पट, नर, तरु इत्यादि शब्दों की उन उन अर्थों में तो सामान्य मुख्यशक्ति मानी जाती है ॥९०॥

इति शक्तिनिरूपणम्

सादृश्यं तु पदार्थः सदसत्साधारणं भवेत्तद्धि ।
वैसादृश्यमभीप्सितसादृश्याभाव एव मतम् ॥ ९१ ॥

गाय के समान गवय है यह भावसादृश्य हैं। घटाभाव के समान पटाभाव भी नित्य हैं यह अभावसादृश्य है। अत एव यह पदार्थान्तर है। क्यों कि भाव तथा अभाव दोनों में रहता हैं। वैसादृश्य पदार्थान्तर नहीं है। विवक्षित सादृश्य का अभाव ही वैसादृश्य है ॥९१॥

इति सादृश्यनिरूपणम्

अत्यन्तान्योन्यप्राग्ध्वंसाभावा भवन्ति चत्वारः ।
येऽभावास्तत्राद्यः शशशृङ्गादेरभावः स्यात् ॥ ९२ ॥

अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव, प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव ऐसे चार अभाव होते हैं। इनमें प्रथम अत्यन्ताभाव शशश्रृङ्ग आदि के अभाव को कहते हैं ॥९२॥

गोत्वस्य च कलशस्य च संयोगस्यापि चाश्वगृहतरुषु ।
स्याद्देशकालवस्तुभिरेषोऽभावस्त्ववच्छिन्नः ॥ ९३ ॥

अश्व में गोत्व का अभाव है। वह देशावछिन्न है। गृह में घट का अभाव है। वह कालावच्छिन्न है। कभी कभी अभाव होता हैं। वृक्ष पर संकपिसंयोगाभाव मूलावच्छिन्न है। यह वस्त्ववच्छिन्न हुआ। अत्यन्ताभाव

सावच्छिन्न तथा निरवच्छिन्न पूर्वोक्तरीत्या समझना चाहिए ॥९३॥

अन्योन्याभावः स्यान्नित्यानित्यप्रभेदवान् भेदः ।
जीवेश्वरादिवर्त्ती नित्योऽनित्यो घटादिगतः ॥ ९४ ॥

अन्योन्याभाव भेद को कहते हैं। वह नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। जीवेश्वरादिभेद नित्य है। और घटादिभेद अनित्य है। क्योंकि घटादि स्वयं अनित्य है।॥९४॥

इत्यभाव निरूपणम्

प्रमेयपदार्थ निरूपणं च

एतत्प्रमेयबोधः सम्यक् सम्पद्यते प्रमाणैस्तु ।
दृष्टानुमानशब्दास्त्रीण्युक्तानि प्रमाणानि ॥ ९५ ॥

इन प्रमेयों का बोध प्रमाणों से होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं ॥९५॥

प्रत्यक्षमष्टधा स्यात् साक्षिभवं प्रातिभं षडिन्द्रियजम् ।
आत्मा मनसा युञ्ज्यास्तदिन्द्रियैस्तानि विषयैश्च । ९६ ॥

प्रत्यक्ष आठ प्रकार का होता हैं। साक्षिप्रत्यय, प्रातिभज्ञान, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण और मन इनके छः ज्ञान ऐसे आठ होते हैं। आत्मा मन से युक्त होगा। मन इन्द्रियों से। और इन्द्रियां विषयों से तब ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष होता है। मोक्षकाल में साक्षिप्रत्यक्ष ही होगा। पुण्य-संचयसमुद्भव प्रातिभ प्रत्यक्ष है ॥९६॥

साक्षाज्ज्ञानविषययोर्योगाऽयोगात्तु विषयविषयित्वम् ।
सम्बन्धोऽर्थेन्द्रिययोः संयोगादिर्यथायोग्यम् ॥ ९७ ॥

ज्ञान अन्दर है। विषय बाहर हैं। दोनों का साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः विषयविषयिभाव ही सम्बन्ध हैं। अर्थ और इन्द्रियों का संयोग, संयुक्त-तादात्म्यादि है। अथवा गुणादि के साथ भी संयोग मानने में क्या हर्जा हैं। अतः एक संयोग ही अर्थेन्द्रियसम्बन्ध है ॥९७॥

इति प्रत्यक्षनिरूपणम्

अन्वयतो व्यतिरेकत उभयत एवं त्रिधानुमानं स्यात् ।
यावदुपयोगमेवावयवाः पञ्चस्वनाग्रहतः ॥ ९८ ॥

अन्वयी अनुमान, व्यतिरेकी अनुमान और अन्वयव्यतिरेकी अनुमान इस प्रकार अनुमान त्रिविध है। अन्वयव्याप्तिवाला अन्वयी है। व्यतिरेक-व्याप्तिवाला व्यतिरेकी है। अन्वय व्यतिरेक उभय व्याप्ति वाला अन्वय व्यतिरेकी है। व्याप्तिलक्षणादि अन्यत्र (न्यायदर्शनादि में बताया जा चुका है। अतः पुनरावृत्ति नहीं करते) परार्थानुमान न्यायवाक्यों से होगा। नैयायिक पांच अवयव मानते हैं। यहां जितना आवश्यक हो उतना मान्य है। प्रतिज्ञादि तीन, या उदाहरणादि तीन, कहीं प्रतिज्ञा और हेतु दो हो इस प्रकार वह अनियत है ॥९८॥

इति अनुमाननिरूपणम्

शब्दस्तु द्विविधः स्यादपौरुषेयश्च पौरुषेयश्च ।
वेदा अपौरुषेयाः प्रमाणमेवान्यदाप्तोक्तम् ॥ ९९ ॥

शब्द दो प्रकार का है। एक अपौरुषेय हैं, दूसरा पौरुषेय है। वेद अपौरुषेय और आप्तोक्तवचन पौरुषेय है। शक्ति के बारे में पहले कहा जा चुका हैं। शक्ति से या लक्षणा से पदार्थोपस्थिति होने पर शाब्द बोध होता है इत्यादि नैयायिकरीति से मिलता जुलता हैं ॥९९॥

इति शब्दनिरूपणम्

प्रामाण्यस्योत्पत्तिः स्वत एव ज्ञाप्तिरपि च साक्षिकृता ।
अप्रामाण्यं परतो जायेत तथावबुध्येत ॥ १०० ॥

प्रमाणों का प्रामाण्य (प्रमात्व) स्वतः (ज्ञान सामग्री मात्र से) उत्पन्न होता है और साक्षी से जाना जाता है। अप्रामाण्य ज्ञानसामग्री से अतिरिक्त दोषादि से उत्पन्न होता है और विफल प्रवृत्ति, बाध आदि से अनुमानतः जाना जाता है। अतः परतः है ॥१००॥

इतिप्रमाणनिरूपणम्

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीया मूर्च्छा मृतिश्च षडवस्थाः ।
भवति समाधौ तुर्या प्रायः शेषास्तु सर्वेषाम् ॥ १०१ ॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया, मूर्च्छा और मरण ये छः अवस्थायें हैं। समाधि में तुरीया अवस्था होती है। अन्य अवस्थायें प्रायः सबकी होती हैं। यह ध्यान (समाधि) मुमुक्षुओं को यत्न से सम्पादनीय है। तदर्थं प्रसंग से यहां अन्य अवस्थाओं की भी परिगणना की गयी ॥१०१॥

वैराग्यं च शमादिर्गुरुशरणाप्तिस्ततः श्रुतिश्रवणम् ।
मननं हरिगुरुभक्तिः सर्वस्य समर्पणं विष्णौ ॥ १०२ ॥
विष्णोरखिलोर्ध्वत्वज्ञानं सद्भेदपञ्चकज्ञानम् ।
पुरुषप्रकृतिविवेकोऽयोग्यनृणां निन्दनं चैव ॥ १०३ ॥
शास्त्राभ्यासः सततं ध्यानं चेति द्विधा स्थितोपास्तिः ।
ध्यानं तु निदिध्यासनमपि च समाधिः समभ्यास्याः ॥ १०४॥

वैराग्य, शमदमादि, गुरुशरणागति, श्रुतिश्रवण, मनन, हरिगुरुभक्ति, भगवदर्थं सर्वसमर्पण, विष्णु को सर्वोर्ध्वरूप से समझना, सत्यरूप से पांच भेदों को जानना, प्रकृति पुरुष विवेक करना, अयोग्य पुरुषों की निन्दा करना, निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास करना तथा ध्यान करना ये साधकों के लिए अभ्यसनीय साधन है। इनमें शास्त्राभ्यास और ध्यान इन दो ही को उपासना कहते हैं। उनमें ध्यान के दो रूप है। एक निदिध्यासनरूप है। दूसरा समाधिरूप है। यद्यपि ये क्रमिक जैसे हैं फिर भी यथायोग्य आगे पीछे और साथ-साथ भी कई हो सकते हैं ॥१०२-१०४॥

ब्रह्मानन्तगुणयुतं ध्यायति हि सरस्वती क्रियासहितम् ।
तत्तदवयवं देवा ऋषयः केचित्स्वगतबिम्बम् ॥ १०५ ॥
कान्ततयाऽप्सरसस्तं श्वशुरतया देवयोषितश्चैव ।
स्वस्वाधिकारनिष्ठाः समुपासीरन् यतो मुक्तिः ॥ १०६ ॥

ब्रह्म अनन्तगुणसम्पन्न है। अनन्तक्रियायुक्त है। उसी रूप में ब्रह्म का ध्यान सरस्वती करती है। देवता ब्रह्म के एक-एक अवयवों का ध्यान करते हैं। ऋषि-मुनि स्वगत बिम्ब का ध्यान करते हैं। अप्सरायें नारायणरूप ब्रह्म का ध्यान पति के रूप में करती हैं। देवस्त्रियां परमात्मा का ध्यान श्वशुररूप में करती हैं। तात्पर्य यह हैं कि अपने अपने अधिकार के अनुरूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिए यही ब्रह्मोपासना है ॥१०५-१०६॥

अन्तर्दृष्टय उक्ता ऋषयो ह्यन्तःप्रकाशनिध्यानात् ।
बाह्यप्रकाशनिरताः सन्ति बहिर्दृष्टयो मनुजाः ॥ १०७ ॥

ऋषि लोग अन्दर ही ब्रह्मप्रकाश देखते हैं और अन्दर ही पूजन करते हैं। अतः वे अन्तर्दृष्टि होते हैं। अन्य साधारण मनुष्यों के लिए सूर्यादि

बाह्य प्रकाश है। उसी को वे देखते हैं उसी का पूजन ध्यानादि भी करते हैं। अत एव वे बहिर्दृष्टि कहलाते हैं ॥१०७॥

सर्वप्रकाशयुक्ता देवाः स्युः सर्वदृष्टयो दिव्याः।
अवतारदृष्टयोऽन्ये प्रायो मूर्त्त्याद्युपास्तिपराः ॥ १०८ ॥

देवता बाह्य आन्तर उभयप्रकाश युक्त होते हैं। वे सर्वदृष्टि हैं। कुछ लोग अवतारदृष्टिमात्र रखते हैं। साधारण लोग तो मूर्त्ति आदि की उपासना करते हैं ॥१०८॥

स्मरणं कीर्त्तनमर्चनमनिशजपो वन्दनादिकं चैव।
भक्त्या कुर्वन् पुरुषो मुच्येत भवार्णवादस्मात् ॥ १०९ ॥

भगवत् स्मरण कीर्त्तन, अर्चन, निरन्तर नाम जप एवं वन्दनादि भक्तिपूर्वक जो करता है वह इस संसार सागर से मुक्त होता है। मोक्षक्रम पहले कह चुके ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥
स्वमताऽग्रहणादेषोऽयोग्योऽवर्णैर्विनिन्द्यतामिति तु।
नासर्वविदां सम्यक् किं वाऽस्त्वेषामपि शुभा धीः ॥

श्रीमत् जयमङ्गलाचार्य ने सकल शास्त्र सूक्ष्मसिद्धान्तावलोकन कर सर्वकल्याणार्थ इस कृति की रचना की। माध्वदर्शन में एक विशेषता देखने में आयी। आयोग्यनिन्दा करना भी साधनान्तर्गत माना। फिर क्या था। छूट मिल गयी। और गालियों से परनिन्दा करना भी उपयुक्त समझा जाने लगा। परन्तु असर्वज्ञों को यह सोचना चाहिए कि दूसरे भी शास्त्रानुगामी एवं बुद्धिमान है। किसी को गाली देना अनुचित है। हो सकता है हमारी भी न्यूनता हो। अथवा उनकी भी मति शुद्ध हो और साधना को ही अपनायें।

इति साधननिरूपणम्

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ माध्वमतसिद्धान्तविवेचनम्

वाल्लभसिद्धान्तः

वन्दे नन्दतनूजं निरवधिनिजरूपसच्चिदानन्दम् ।
रासविलासं निरुपमरसतानं भक्तिरसगम्यम् ।। १ ।।

नन्दगृहजन्म से लेकर रासविलासपर्यन्त साध्यसाधनभावापन्न नाना-लीलाकारी समस्तपुरुषार्थप्रद रासविहारी नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की हम बन्दना करते हैं, जो अपने स्वरूपात्मक निरवधि सत् चित् आनन्द से स्वयं निरवधि सच्चिदानन्द हैं, जो उपमारहित लोकवेदोत्तर परमानन्द-स्वरूप हैं अथ च भक्तिरसमात्रगम्य है ॥१॥

भक्तजनैरुपकलितं कविभिर्बहुधाऽतिसंग्रहादधुना ।
वाल्लभमतसिद्धान्तं शुद्धाद्वैतं निबध्नीमः ।। २ ।।

कवि भक्तजनों ने बहुधा जिसे अपनाया उस वल्लभाभिमत शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का हम अत्यन्त संक्षेप से निबन्ध लिखते हैं ॥२॥

सर्वं ब्रह्मेतिगिरा ब्रह्मात्म ब्रह्मकार्यमखिलमिदम् ।
कनके मुकुटवदविकृतपरिणामो ब्रह्मणो विश्वम् ।। ३ ।।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति से पूरा विश्व ब्रह्मात्मक एवं ब्रह्मकार्य सिद्ध होता है। ('तज्जलान्' यह उत्तर वाक्य कार्यता का प्रदर्शक है) सुवर्ण में मुकुट के समान यह विश्व ब्रह्म का अविकृत परिणाम है ॥३॥

ब्रह्म व्यापकद्वमयमखिलात्मकमपि च सच्चिदानन्दम् ।
प्रस्फुटितानन्दरसः श्रीकृष्णो वेणुधृग् द्विभुजः ।। ४ ।।

अखिल स्वरूपसच्चिदानन्द व्यापक अद्वितीय तत्व ही ब्रह्म हैं। वही प्रस्फुटित-आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं जो द्विभुज और मुरलोहस्त है ॥४॥

अपवरके कृष्णाकृतिकर्त्तनतः खं तदाकृतीक्ष्यं स्यात् ।
कृष्णाकारावरणनिवारणतो ब्रह्म चानन्दम् ।। ५ ।।

सामियाना आदि में कृष्ण के आकार में कपड़ा काट निकालने पर जैसे कृष्णाकार आकाश उस छेद से दीखता है वैसे कृष्णाकार मायावरण के कर्त्तन से ब्रह्म भी कृष्णाकार दीखने लगता है यही ब्रह्म की कृष्णाकारता है ॥५॥

यद्वा रविरिव कृष्णो ब्रह्म पुनः स्यात्तदीयदीधितिवत् ।
नित्यौ तावानन्दौ स्पष्टप्रस्पष्टभेदयुजौ ॥ ६ ॥

अथवा सूर्य के समान श्रीकृष्ण और सूर्यप्रकाश के समान ब्रह्म है। दोनों नित्य आनन्दरूप है। फरक इतना है कि ब्रह्म स्पष्ट आनन्दरूप है तो कृष्ण स्पष्टतर आनन्दरूप है ॥६॥

सगुणं निर्गुणमपि तत् साकृति नाकृत्यकर्त्तृ कर्त्रपि तत् ।
तदखिलविरुद्धधर्माधारं ब्रह्माखिलाकारम् ॥ ७ ॥

वह ब्रह्म सगुण भी है निर्गुण भी है। साकार एवं निराकार भी हैं। अकर्त्ता और कर्त्ता भी है। अखिलविरुद्ध धर्मों का आधार है। सर्वाकार है।

इति सामान्यतो ब्रह्मनिरूपणम्

तच्च स्वरूप-कारण-कार्यविधाभिस्त्रिधा स्थितं भवति ।
तत्र स्वरूपमस्य स्फुरदनवधि सच्चिदानन्दम् ॥ ८ ॥

स्वरूप, कारण और कार्य इस प्रकार ब्रह्म को तीन कोटियां हैं। इनमें स्वरूप स्पष्ट, स्फुरणशील सच्चिदानन्द है ॥८॥

सद्रूपो यज्ञः स्याद् वेदे यः पूर्वकाण्डविषयविधः ।
चिद्रूपं ज्ञानं स्यादुत्तरकाण्डेन गोचरितम् ॥ ९ ॥
तदुभयवेद्या भक्तिः स्यादानन्दात्मिकाऽखिलरहस्यम् ।
एते स्वरूपकोटौ भगवत उक्तास्त्रयोऽपि हरेः ॥ १० ॥

वेदों में पूर्वकाण्ड का विषय यज्ञ सद्रूप है। उत्तरकाण्ड का विषय ज्ञान चिद्रूप है, उभयकाण्ड का वेद्य या प्राप्य सर्वशास्त्ररहस्यरूप भक्ति आनन्दरूप है। ये तीनों ब्रह्म की स्वरूप कोटि में हैं ॥९-१०॥

यो ब्रह्मणः स्वाभावस्त्वानन्दात्मा स्वरूपभूतोऽसौ ।
कालं च केचिदगदन् यस्त्वन्तःसच्चिदानन्दः ॥ ११ ॥
अन्तस्तिष्ठन् यमयंश्चान्तर्यामी स्वरूपमित्येके ।

जो ब्रह्म का स्वभाव आनन्दात्मक है वह स्वरूपकोटि में है। अपने अन्दर सच्चिदानन्द को लिये हुए काल को कुछ लोग स्वरूपकोटि में ही मानते हैं। दूसरे लोग पृथिव्यादि के अन्दर स्थित होकर यमन करनेवाला अन्तर्यामी स्वरूपकोटि प्रविष्ट है ऐसा मानते हैं ॥११॥ स्वरूपकोटिनिरूपणम्

अथ कारणकोटिस्था धर्मास्तावन्निरूप्यन्ते ॥ १२ ॥

तत्स्थाश्चेच्छा माया कर्म प्रकृतिः पुमांश्च कालश्च ।
कारणभूता नित्याः कालेन सहैव संभूतेः ॥ १३ ॥

अब हम कारणकोटि में स्थित धर्मों का निरूपण करते हैं। ब्रह्म में स्थित इच्छा, माया, कर्म, प्रकृति, पुरुष तथा काल कारणकोटिप्रविष्ट हैं (ये सब जगत के प्रति कारण हैं) ये सभी नित्य हैं। क्योंकि अनित्यता काल को लेकर ही होती है। कुछ काल में रहे और कुछ काल में न रहे तब अनित्य माना जाता है। परन्तु काल स्वयं इन इच्छा माया आदि के साथ में या बाद में प्रकट होता है तो अनित्यत्व का सवाल ही कहाँ रहता है। अतएव इच्छा आदि का आविर्भाव-तिरोभाव होने पर भी ये नित्य ही माने जाते हैं ॥१३॥

कालः क्रियाख्यशक्तिरभिध्यारूपा भवेच्च तस्येच्छा ।
सैषा द्विरूपिणी स्यादाह बहु स्यां प्रजायेय ॥ १४ ॥

परमात्मा की क्रियाशक्ति काल है और अभिध्या इच्छा है। इच्छा-शक्ति के दो स्वरूप हैं। "एकोऽहं बहु स्यां" यह एक रूप है। "प्रजायेय" (तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय") यह दूसरा रूप है ॥१४॥

तत्र बहु स्यामंशो भिन्द्याद्धर्मांस्तु सच्चिदानन्दान् ।
येनैव चास्तिभातिप्रियमिति रूपाणि भासन्ते ॥ १५ ॥
तेषां क्रिया च बोधश्चानन्दश्चाभवन्ति रूपाणि ।
तेभ्यश्चाश्रयभेदाः सक्रिय-सज्ज्ञान-सानन्दाः ॥ १६ ॥

उस इच्छा में "बहु स्यां" यह अंश सर्वप्रथम सत् चित् आनन्द धर्मों में भेद लाता है। तब 'अस्ति भाति प्रियं' इस प्रकार एक ही में तीन प्रकार की प्रतीति हो जाती है। क्रमशः उन्हीं के क्रिया, बोध और सुख ये तीन रूप बन जाते हैं, जिनको लेकर ब्रह्म भी क्रियावान्, बोधवान् और आनन्दवान् इस प्रकार त्रिरूपी बन जाता है ॥१५-१६॥ इच्छा

माया त्वनन्तशक्तिरखण्डा बीजेऽङ्कुरीयवदभिन्ना ।
तामपि भिनत्ति सेच्छा नानारूपा ततः सापि ॥ १७ ॥

माया परमेश्वर की ही शक्ति परमेश्वररूपिणी है। वह अनन्तशक्तिरूप होने पर भी अखण्ड है। जैसे बीज में अङ्कुरीयशक्ति पत्र-पुष्प-फलादि नाना-

विषयक होने पर भी अखण्डरूप से रहती हैं। पूर्वोक्त ईश्वरेच्छा ही उस मायाशक्ति में भी परमेश्वर से भी भेद सा लाती है और स्वगत भेद भी कराती है। अर्थात् जैसे पत्र-पुष्पादि शक्ति भिन्न हो जाती है वैसे नाना-जगत्प्रयोजकरूपेण नाना हो जाती है ॥१७॥

सत्ता क्रिया च शक्तिर्भवति सदंशे तथा चिदंशे तु ।
चित्ता माया च भवेद् व्यामोहकरी किलाऽविद्या ॥ १८ ॥
सा तु त्रिगुणा चांशस्वरूपिणी चैव मूलमायायाः ।
आनन्दस्य च जगदुद्भावनसहकारिभूतैषा ॥ १९ ॥

ब्रह्म के सदंश में सत्ताशक्ति और क्रियाशक्ति है। चिदंश में चित्ता-शक्ति और व्यामोहकारिणी मायाशक्ति है जो अविद्यास्वरूप है। वह पूर्वोक्त मूल माया का अंशरूप तथा त्रिगुणात्मिका है। आनन्दब्रह्म जगत् को उत्पन्न करने लगता है तो उसमें यह अविद्या सहकार देती है ॥१८-१९॥

भगवानेन हि सर्वात्मक इति वक्ष्ये तदीयसम्बन्धात् ।
तत्प्रतिकृतिसंचायकरूपा संसारबीजमपि ॥ २० ॥

भगवान् ही जगतरूप है यह आगे कहेंगे। उस जगत् के सम्बन्ध से यह अविद्यारूपिणी माया सांचा बन जाती है। (जागतवस्त्वाकार हो जाती है) फिर उन प्रतिकृतियों के द्वारा संसार का हेतु भी हो जाती है। जगत् और संसार में भेद आगे बतायेंगे। जगत् सत्य होने पर भी संसार मिथ्या होता है, सत्यसदृश होता है। उस सत्यसदृश किन्तु मिथ्या संसार में मोह ममता होती है। यही बन्धन का कारण है। सत्यसदृश संसार बनाने की अविद्या सांचा है। उसमें ढालने से संसार में वस्तुसमानाकारता आती है ॥२०॥

मिथ्यास्वप्नाद्यर्थप्रजनित्री स्मरणविषयगमनी च ।
सैषाऽविद्याऽऽवृणुते पुरुषं येनाऽज्ञता तस्य ॥ २१ ॥

यही सांचारूपी अविद्या मिथ्या स्वाप्नार्थ को उत्पन्न करती है। स्मरण में विषय को ला देने वाली भी यही है। (स्मरण काल में विषय रहता नहीं है। पर, अन्दर विषय भासता है; तो कहाँ से आया ? यही अविद्या विषय-संपादन करती है) यही अविद्या पुरुष को आवृत कर अज्ञानी बनाती है ॥२१॥ माया।

ज्ञानावृतितोऽव्यक्तं स्यादानन्दावृतेर्भवेत् सूत्रम् ।
एतावेव च कथितौ प्रकृतिः पुरुषश्च पूर्वोक्तौ ॥ २२ ॥

ब्रह्म के चिदंशावरण से अव्यक्त होता है। आनन्दांशावरण से सूत्रात्मा होता हैं। यही अव्यक्त और सूत्रात्मा तत्स्थाश्चेच्छा (श्लो० १३) इत्यादि में पहले बताये गये प्रकृति और पुमान् (पुरुष) हैं ॥२२॥

प्रकृतिं पुरुषं चोभौ विद्धोत्येकैककताविनिर्देशात् ।
नित्यावेतौ कारणरूपौ कर्त्तृत्वभोक्तृत्वे ॥ २३ ॥

गीता में "प्रकृतिं पुरुषं चैव" ऐसा एकवचननिर्देश है। अतः ये एक-एक है, कालप्रादुर्भावसमकालिक होने से पूर्वोक्तयुक्ति से ही नित्य भी हैं। "कार्यंकरणकर्त्तृत्वे हेतुः" इत्यादिवचनानुसार ये दोनों कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादि में कारण हैं। अतएव कारणकोटिप्रविष्टतया इनकी गणना पहले की गयी ॥२३॥

बहुभवनेच्छावशतो नाना तौ प्रकृतिपूरुषौ भवतः ।
तत एव जननमरणप्रतिनियमः स्यादशेषस्य ॥ २४ ॥

एक-एक होने पर भी बहुभवनेच्छा से ही वे प्रकृति और पुरुष नाना बनते हैं। प्रकृति भी नाना होती है। पुरुष भी अनन्त होते हैं। उसी से जन्म, मरण, करण एवं प्रवृत्ति आदि का प्रतिनियम भी होता है। जगत् एक ब्रह्मस्वरूप होने से एक के जन्म से सबका जन्म एक के भोजन से सबकी तृप्ति आदि क्यों नहीं इत्यादि शंकाओं के लिए अवसर नहीं रहता ॥२४॥ प्रकृति, पुरुष।

भवति क्रिया तु कर्म व्यापकमपि शक्तिवद्धि नानांशम् ।
हिंसायज्ञप्रभृतिभिरंशा व्यज्यन्त एतस्य ॥ २५ ॥

कर्म क्रिया को कहते हैं। वह व्यापक हैं। माया के समान ही नाना-अंशयुक्त हैं। हिंसा आदि दुष्कर्म तथा यज्ञादि सत्कर्म से उसके अंश अभि-व्यक्त होते हैं। वे ही फलदायी हैं ॥२५॥ कर्म ॥

कालः सत्त्वादिगुणक्षोभणकार्याधिभौतिकात्माऽसौ ।
परमाण्वादिद्विपराधान्तिः सर्वस्य कर्त्ता स्यात् ॥ २६ ॥

काल सत्त्वादिगुणक्षोभकारी है। आधिभौतिक हैं। क्षण-पल-दिन-मासादि द्विपरार्धपर्यन्त खण्डकाल है। वह जगत्कर्त्ता है ॥२६॥

तस्य पुनरधिष्ठाता कालोऽस्तीतीरितोऽधिदेवभवः ।
तमिमं स्वरूपकोटौ केचन वाञ्छन्ति विद्वांसः ॥ २७ ॥

उस काल का अधिष्ठाता "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्" इस वचन में कथित काल आधिदैविक है। उसे कुछ विद्वान् लोग स्वरूपकोटिप्रविष्ट मानते हैं। अन्य लोग 'लोकक्षयकृत्' को देखकर कारणकोटिप्रविष्ट ही मानते हैं ॥२७॥

परिणामहेतुभूतः कारणकोटौ भवेत्स्वभावस्तु ।
अक्षरमन्तर्यामी कूटस्थाख्यस्तथैवासौ ॥ २८ ॥

ब्रह्म का स्वभावादि (यो ब्रह्मणः स्वभावः ११ इत्यादि) जो सार्धश्लोक में बताया वह स्वरूपकोटि में आ गया। परिणामहेतु जो स्वभाव है वह कारणकोटिप्रविष्ट है। तथा अक्षररूपी कूटस्थ अन्तर्यामी को भी कारणकोटिप्रविष्ट ही समझना चाहिए। जो लोग अन्तर्यामी को स्वरूपभूत कहते हैं वे ब्रह्मरूप से रखकर कहते हैं। अक्षररूप से नहीं ॥२८॥

महदादि शरीरान्तं ब्रह्माण्डाद्यं च कार्यकोटिस्थम् ।
परमाविर्भवति तिरोभवति च न हि जायते म्रियते ॥ २९ ॥

महत्तत्वादि तथा ब्रह्माण्डादि शरीरपर्यन्त सभी तत्व कार्यकोटिप्रविष्ट हैं। परन्तु इन सबका आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है, जन्म और नाश नहीं ॥२९॥

प्रजननविषयाभिध्या कुर्यादुत्कर्षमेवमपकर्षम् ।
उत्कृष्टोऽत्रानन्दो ह्यपकृष्टे चित्सती क्रमशः ॥ ३० ॥

"प्रजायेय" इस प्रजननविषयक अभिध्या से उत्कर्ष एवं अपकर्ष प्रथम होता है। आनन्द उत्कृष्ट रहता है। उससे अपकृष्ट चित् और उससे भी अपकृष्ट सत् होता है ॥३०॥

ज्ञानक्रियाविशिष्टादानन्दाज्जायते जगत्सर्वम् ।
आनन्दाज्जायन्ते भूतानीत्याह गीः श्रौती ॥ ३१ ॥

ज्ञान (चित्) और क्रिया (सत्) से विशिष्ट उत्कृष्ट आनन्द से समस्त जगत् पैदा होता है। "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" यह श्रुति इसी बात को कहती है ॥३१॥

मूलक्रियांशरूपक्रियोद्भवं नो पुराऽद्य भाविनि वा ।
ब्रह्मण्यसज्जगत् स्यान्नासत्सन्नो सदसदुत वा ॥ ३२ ॥

मूल क्रिया के अंशरूप क्रिया से उत्पन्न यह जगत् ब्रह्म में न पहले

असत् था न अब असत् है और न आगे असत् होगा। क्योंकि असत् कभी सत् नहीं होता और सत भी कभी असत नहीं होता ॥३२॥

बन्धकराः प्राणाद्या बन्ध्या जीवा नियामकाश्च तथा।
अन्तर्यामिण एते क्रमशोंशात् सच्चिदातन्दात् ॥ ३३ ॥

बन्धनकारी प्राणादि ब्रह्म के सदंश से प्रगट होते हैं। बन्धनीय जीव ब्रह्म के चिदंश से पैदा होते हैं। और नियामक अन्तर्यामी ब्रह्मके आनन्दांश से आविर्भूत होते हैं ॥ ३३॥

जडजीवान्तर्यामिष्वाविर्भूतेष्वनुक्रमेणातः ।
ब्रह्मसदशचिदंशानान्दांशाः प्रोदभुः क्रमशः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार क्रमशः आविर्भूत जड, जीव और अन्तर्यामी इन तीन में ब्रह्म का सदंश, चिदंश और आनन्दांश क्रमशः प्रोद्भूत हुए ॥३४॥

एते स्फुटं पदार्था विनिरूप्यन्तेऽधुना तु धीशुद्ध्यै।
ब्रह्माक्षरजडजीवाः ख्यातिश्च यथायथं धर्मैः ॥ ३५ ॥

बुद्धिवैशद्यार्थं इन्हीं पदार्थों का अर्थात् ब्रह्म, अक्षर, जीव और जड़का तथा ख्याति का असाधारण धर्मों से आगे निरूपण होगा ॥३५॥

शुद्धं ब्रह्माद्वैतं निष्कलमविकारि सच्चिदानन्दम्।
असमोर्ध्वमखिलशक्ति श्रीकृष्णाख्यं परं तत्त्वम् ॥ ३६ ॥

निष्कल निर्विकार असमोर्ध्व अखिलशक्ति सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शुद्ध अद्वैत श्रीकृष्णनामधारी परमतत्त्व हैं ॥३६॥

तद् ब्रह्माक्षररूपं द्विविधमभूद् व्यापकं हृदिस्थं च।
आद्योऽन्तर्यामी स्यादन्त्यः कूटस्थ इत्युक्तः ॥ ३७ ॥
आनन्द ईषदावृत उभयोश्चाथाक्षरं तृतीयं स्यात्।
वैकुण्ठो धाम हरेः स खलु बहुतरावृतानन्दः ॥ ३८ ॥

वही ब्रह्म अक्षररूप ब्रह्म हुआ। वह द्विविध है। एक व्यापक रूप है। दूसरा हृदयस्थ हैं। व्यापकरूप अक्षर अन्तर्यामी कहलाता है और हृदिस्थ अक्षर कूटस्थ कहलाता है। दोनों का आनन्द कुछ कुछ आवृत रहता है। एक तृतीय भी अक्षर है। वह हरिधाम वैकुण्ठ ही है। उसमें आनन्द की अधिक मात्रा में आवरण रहता है ॥३७-३८॥

ज्ञानादिदं तु लभ्यं व्याचख्युः केचनाक्षर ब्रह्म ।
भक्त्या त्वनन्यया स्याल्लभ्यः पुरुषोत्तमः कृष्णः ।। ३९ ।।

वैकुण्ठरूप अक्षर ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होता है ऐसे कुछ विद्वान मानते हैं। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण तो अनन्यभक्ति मात्र से लभ्य हैं ।।३९।।

मर्यादाभक्त्याऽऽप्यं भवति परं ब्रह्म सच्चिदानन्दम् ।
पुष्ट्या तद्द्वारा वा साक्षाद्वा श्रीहरिर्लभ्यः ।। ४० ।।

सच्चिदानन्द अक्षर परब्रह्म मर्यादाभक्ति से प्राप्य हैं। और पुष्टि भक्ति से प्रथम ब्रह्म बाद में श्रीकृष्ण प्राप्त होता है, अथवा पुष्टि तारतम्य से साक्षात् श्रीकृष्ण ही प्राप्त होता है ।।४०।।

नन्वानन्दावरणे वैकुण्ठादौ प्रसज्यतेऽज्ञानम् ।
मैवं लयशक्तेरिव सृष्टौ स्यात्तत्तिरोभावः ।। ४१ ।।

यदि वैकुण्ठादि में आनन्द का आवरण हो तो अज्ञान भी वहां सिद्ध होगा। नहीं। जैसे सृष्टिकाल में लयशक्ति तिरोभूत होती है ऐसे ही ईश्वरेच्छा से वैकुण्ठादि में आनन्द का तिरोभाव होता है। तदर्थं अज्ञान मानने की जरूरत नहीं है ।।४१।।

अन्येऽपि सर्वधर्मास्तत्र खलु तिरोभवन्ति तेनैव ।
निर्गुणनिष्क्रियरूपं विनिरूपितमक्षरं ब्रह्म ।। ४२ ।।

अन्य भी सभी धर्म अक्षर ब्रह्म में तिरोभूत हो जाते हैं। उसमें कारण ईश्वरेच्छा ही है। अत एव श्रुति आदि में अक्षर ब्रह्म को निर्गुण निष्क्रिय बताया ।।४२।।

ब्रह्मणि खलु धर्माणां भवति तिरोभाव एव नाभावः ।
दुःखमपि स्यादिति चेन्मैवं दुःखस्य मिथ्यात्वात् ।। ४३ ।।

ब्रह्म में सभी धर्म रहते हैं। उनका तिरोभाव अवश्य होता है, पर अभाव नहीं होता। यह कहें कि फिर ब्रह्म में दुःख भी होगा। नहीं। दुःख मिथ्या होने से ब्रह्म में नहीं रहता ।।४३।।

ज्ञानमयं वैकुण्ठाह्वयमक्षरमाचचख्युरपरिणति ।
अक्षरमानन्दमयं त्वन्तर्यामी परिणमेत ।। ४४ ।।

वैकुण्ठनामक अक्षर ज्ञानमय है। उसका परिणाम नहीं होता। अन्तर्यामी नामक अक्षर आनन्दमय है वह परिणामवाला हैं ।।४४।।

अन्तर्याम्यवतारो जगदिदमखिलं तदीयपरिणामः ।
मत्स्यादयो विशेषास्ते किल लीलावतारविधाः ॥ ४५ ॥

अन्तर्यामी का परिणाम उसी का अवतार सारा जगत है। मत्स्य कूर्मादि जो विशेषावतार हैं वे लीलावतार हैं ॥४५॥

सर्वस्य हृदि निविष्टस्त्वन्तर्यामी पृथक् प्रतिशरीरम् ।
प्रतिनियतनियमनोऽसावपि च भवेत्सच्चिदानन्दः ॥ ४६ ॥

सर्वहृदयनिविष्ट जो अन्तर्यामी बताया वह प्रतिशरीर भिन्न है। वह प्रत्येक शरीर एवं उनमें स्थित जीवात्माओं का नियामक है। स्वयं सच्चिदानन्दरूप हैं ॥४६॥

सत्त्वं रजस्तमश्च प्राकृतमप्राकृतं द्विधाभिमतम् ।
अप्राकृतप्रविष्टो विष्ण्वाद्याख्यो ह्ययोऽग्निरिव ॥ ४७ ॥

सत्त्व रज तम ये तीनों दो-दो प्रकार के हैं। एक प्राकृत हैं दूसरे अप्राकृत हैं। अप्राकृत सत्त्व गुण में प्रविष्ट विष्णु है। अप्राकृतरजोगुणप्रविष्ट ब्रह्मा है और अप्राकृत तमोगुण में प्रविष्ट शिव है। यह आगे बतायेंगे। जिस प्रकार लोहे में अग्नि प्रविष्ट होती है इसी प्रकार तादात्म्यरूप से सत्त्वादि में विष्णु आदि प्रविष्ट हैं ॥४७॥

सत्त्वतनुर्विष्णुरजो रजस्तनुः स्यात्तमस्तनुश्च शिवः ।
एते गुणावताराः प्राकृतसत्त्वादिनियमकराः ॥ ४८ ॥

विष्णु का अप्राकृतसत्त्वशरीर है। ब्रह्मा का अप्राकृतरजःशरीर है। शिव का अप्राकृततमःशरीर है। ये गुणावतार माने जाते हैं। और प्राकृत सत्त्व रज और तम के नियमन करने वाले होते हैं ॥४८॥

प्रकृतिमहदहंकारास्तन्मात्रा इन्द्रियाणि भूतानि ।
एते जडाः पदार्थाः कालः कर्म स्वभावश्च ॥ ४९ ॥

प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रिय, महाभूत, काल, कर्म, स्वभाव ये सभी जड़ पदार्थ हैं ॥४९॥

आविर्भावाभिभवौ ब्रह्मणि विश्वस्य तेन नाभावः ।
प्रागत्यन्तान्योन्यध्वंसाभावा न कस्यचन ॥ ५० ॥

ब्रह्म में विश्व का आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होता हैं। अभाव नहीं होता। किसी का भी न प्रागभाव होता है, न अत्यन्ताभाव, न अन्यो-

न्याभाव और न ध्वंसाभाव ही ॥५०॥

ननु न घटः पट इति तत्प्रत्यक्षं कथमिवोपपद्येत ।
मैवमभिभवात्स्वेतरधर्माणां न त्वभावेन ॥ ५१ ॥

यदि अन्योन्याभावादिरूप अभाव है ही नहीं तो यह घट है पट नहीं है इत्यादि रूप से भेद की प्रतीति कैसे बनेगी ? सुनो। वस्तुतः घट में पट-भेद नहीं है। क्योंकि पटत्व धर्म घट में है। किन्तु अभिभूत होने से घटः पटो न इत्यादि भ्रान्तिप्रत्यय होता है ॥५१॥

सर्वं ब्रह्मैवेदं ब्रह्मणि धर्मा भवन्ति सर्वेऽपि ।
सर्वस्मिन् सर्वेऽतो धर्माः सन्तीति निश्चिनुमः ॥ ५२ ॥

सभी ब्रह्म हैं और ब्रह्म में सभी विरुद्ध-अविरुद्ध धर्म रहते हैं। तब सर्व में सर्वधर्म हैं यही मानना होगा और यही निश्चय है ॥५२॥

ब्रह्मणि न ब्रह्मभिदा कथमु पटभिदा घटे भवेत्तस्मात् ।
धर्माभिभूतिमात्रं स्यामेको बह्वितीच्छातः ॥ ५३ ॥

ब्रह्म में ब्रह्मभेद नहीं हो सकता। तब घटरूप ब्रह्म में पटरूप ब्रह्म का भेद कैसे हो ? अतः धर्माभिभव मात्र मान्य हैं। घट में पटत्वधर्म का अभि-भव हुआ। कैसे अभिभव हुआ। ईश्वरेच्छा से। ईश्वरेच्छा हैं—"एकोऽहं बहु स्यां" घट में पटत्व धर्म अभिभूत हुआ। पट में घटत्व धर्म अभिभूत हुआ। तब दोनों परस्पर भिन्न जैसे दीखने लगे। इस प्रकार एक होने पर भी बहुत हो गये ॥५३॥

एतेन घटो नास्तीत्यत्यन्ताभावरूपमपि विवृतम् ।
गगनादिरस्ति तस्मिन् भवति घटत्वाभिभवमात्रम् ॥ ५४ ॥

अन्योन्याभाव की व्याख्या से "भूतल में घट नहीं है" इत्यादि अत्य-न्ताभाव का भी निरूपण हो जाता है। भूतल में फूल काटा आदि है। अन्ततः गगन तो है ही। उन सब में घटत्व भी है। केवल घटत्व का अभिभव हुआ। अतः घटाभावप्रतीति भ्रान्तिमात्र है ॥५४॥

ननु सरसि वह्निरिति धीः प्रमितिः स्यादप्सु वह्निता-
सत्त्वात् । तन्नाभिभूतधर्मप्रादुर्भूतत्वदर्शनतः ॥ ५५ ॥

यदि पूर्वोक्त बात सही है तो सरोवर में वह्नि है यह बुद्धि प्रमा होगी। क्योंकि सरोवर में जल है और आप के मत में जलरूपी ब्रह्म में वह्नित्व है।

इस आक्षेप का समाधान यह है कि वहाँ भगवदिच्छा से जल में वह्नित्व धर्म अभिभूत है। अभिभूत धर्म को प्रादुर्भूत रूप में देखना भ्रम तो है ही।

ब्रह्मणि ननु धर्मः स्यादुद्भूतत्वं च सर्वधर्मणि हि।
अनवस्था तदभिभवे मैवं सांख्येऽपि तुल्यमिदम् ॥ ५६ ॥

उद्भूतत्त्व भी आखिर धर्म है। सर्वधर्मयुक्त ब्रह्म में वह भी है। तब सरोवरजलगत वह्नित्व में उद्भूतत्व भी होना चाहिये। तथा ब्रह्म भी नित्य उद्भूत होना चाहिये। यदि कहें—उद्भूतत्व अभिभूत है तो अनवस्था होगी। इस आपत्ति का उत्तर यह है कि सांख्य मत में भी यह दोष समान है। अतः "यश्चोभयोः सोमो दोषः" इस न्याय से यह अविचारणीय विषय है ॥५६॥

नन्वेवं तव बलतस्तदनिर्वचनीयवाद आपतति।
मैवं हरेर्बहु स्यामित्युपपन्नाऽन्यथा नेच्छा ॥ ५७ ॥

तब तो अनिर्वचनीय वाद ही बलात् आप के गले पड़ेगा। नहीं। मैं एक से बहुत हो जाऊँ यह हरीच्छा अन्यथानुपपन्न होकर अभिभूतत्वादि सिद्ध करेगी ॥५७॥

एतेनेच्छाऽनित्या यद्यसतो जन्म सा तु यदि नित्या।
मुक्तिलयौ न स्यातां वादहतिरपीति चापास्तम् ॥ ५८ ॥

हरीच्छा ही उद्भव एवं अभिभव है। इस पर जो यह दोषोद्भावन करे कि यह हरीच्छा अनित्य है या नित्य। यदि अनित्य है तो असत् का जन्म एवं सत् का नाश मानना पड़ेगा। यदि नित्य है तो प्रलय तथा मोक्ष दोनों नहीं होंगे। फिर अत्यन्ताभाव, नाश तथा प्रागभावादि का अस्वीकार-वाद भी व्यर्थ होगा। इत्यादि। इन सब दोषों का निराकरण इससे हो जाता है। हरीच्छा की अन्यथानुपपत्ति सर्वाधिक बलवती है ॥५८॥

किं चानुपपत्तिरियं यद्युपपत्तेरभाव उच्येत।
सिद्धोऽभावो नो चेदनवस्थेत्यप्यपास्ता वाक् ॥ ५९ ॥

और यह दोष कथन भी अपास्त हो गया कि यह अन्यथानुपपत्ति यदि अन्यथोपपत्ति का अभाव है तो उसमें घटकीभूत अभाव सिद्ध हुआ। यदि ईश्वरोच्छान्यथानुपपत्ति से सिद्ध धर्माभिभव है तो उसमें घटकीभूत अनुपपत्ति भी उसी प्रकार की होने से आत्माश्रय अनवस्थादि है। इत्यादि। क्योंकि ईश्वरेच्छा ही से धर्म का अभिभव है ॥५९॥

ननु सर्वब्रह्मत्वे दुःखक्लेशादिहेतुताऽस्तु कथम् ।
शृणु मायाकृततत्समपदार्थतादात्म्यविभ्रमतः ॥ ६० ॥

यदि सभी ब्रह्म है तो दुःख तथा क्लेशादिका कारण ये कैसे हों ? सुनो। मायाकृत तत्समपदार्थतादात्म्य के भ्रम से दुःखादि होता है ॥६०॥

पृथगेव जगदिदं स्यात् संसारश्चोच्यते पृथक् तस्मात् ।
ब्रह्मपरिणतिस्तु जगत् संसारो मायया जनितः ॥ ६१ ॥

यह जगत् अलग है। संसार अलग है। जगत् ब्रह्म का परिणाम है। संसार माया का कार्य है ॥६१॥

उभयोस्तादात्म्यमपि प्रकरोति किलातिदुर्घटा माया ।
ममताऽहंतासुखजनि-मरणादिक्लेशकृदपीयम् ॥ ६२ ॥

प्रपञ्च और संसार का तादात्म्य भी यही दुर्घट माया करती है तथा अहंता, ममता, सुख, जन्म, मरण एवं क्लेशादि को भी यही उत्पन्न करती है ॥६२॥

ननु मायिकैस्तदर्थैश्चरितार्थत्वात्कुतोऽस्तु वास्तविकम् ।
शृणु तत्त्वविदामर्थे सत्यपि दुःखाद्यनुत्पत्तेः ॥ ६३ ॥

यह बताईए कि उन मायिक तत्सम पदार्थों से ही सर्वव्यवहारादि उपपन्न है तो वास्तविक जगत को क्यों मानता ? सुनिये। तत्त्ववेत्ता जगत् को देखते हैं। फिर भी उनको सुख-दुःखादि नहीं होते। अतः दीखनेवाला जगत् अन्य है, सुखदुःखादि हेतु जगत् अन्य है, यह निश्चित है ॥६३॥

संसारस्य लयः स्यान्मुक्तौ नो कर्हिचित्प्रपञ्चस्य ।
सत्यत्वादीशेच्छाविलसितलीलात्मकत्वाच्च ॥ ६४ ॥

मोक्ष में संसार लय होता है। प्रपञ्चलय नहीं होता, क्योंकि प्रपञ्च है। ईश्वरेच्छा से उत्पन्न है। भगवान् का लीलाविलासित है ॥६४॥

मायाकृतविषयाणां यत्तादात्म्यं भवेद् विषयता सा ।
विषयस्तु भवति भगवान् वियदनिलाग्न्यम्बुभूम्यादिः ॥ ६५ ॥

माया से उत्पन्न तत्सम विषयों का तादात्म्य ही विषयता है। वस्तुतः ज्ञानविषय तो भगवान ही है जो कि आकाश-वायु आदि एवं अन्य पदार्थ है ॥६५॥

जनिमृतिकुत्सनभेदप्रभृतिकमखिलं भवेद्विषयताख्यम्।
भ्राम्यति पुरुषे वस्तु भ्रमणविषयता यथा भवति ।। ६६ ।।

जन्म, मरण, कुत्सन एवं भेदादि विषयता है। जैसे पुरुष चक्रवत् घूमें तो उसको वस्तु घूमती हुई नजर आती है। वह भ्रमण विषयता है ॥६६॥

सा च विषयता द्वेधा पिदधाति ब्रह्मरूपमेका तु ।
अपरा संसृतिरूपा सुखदुःखादि प्रयोजयति ।। ६७ ।।

वह विषयता दो प्रकार की होती है। एक ब्रह्मरूप को (जगत् की ब्रह्मरूपता को) आच्छादित करती है, आच्छादिका है। दूसरी जगत् के सदृश रूप वाली संसृति है जो सुख दुःखादि को प्रयुक्त करती है ॥६७॥

तेजोविरहे तिमिरं दर्शयति तमोऽत्र धर्मिरूपं सा ।
अन्यत्र धर्मिसदृशं धर्मं रिपुदारतनयादौ ।। ६८ ।।

तेज के अभाव में धर्मिरूप अन्धकार को वह दिखाती है। अन्यत्र शत्रु-पत्नी-पुत्रादि में धर्मिसदृश धर्म को वह दिखाती है ॥६८॥

ब्रह्मज्ञाननिवर्त्या भवति विषयता तयोर्द्वितीया तु ।
ब्रह्मापरोक्षबोधाद्विनिवर्त्या तूभयी भवति ।। ६९ ।।

रिपु-दारादि विषयता जो दूसरी है वह ब्रह्मज्ञानमात्र से निवृत्त होती है। ब्रह्म के अपरोक्ष साक्षात्कार से प्रथम निवृत्त होगी, बल्कि दोनों उससे निवृत्त होंगी ॥६९॥ इति जडनिरूपणम् ।

सद्रूपः कलशादिः सच्चिद्रूपो न्यरूपि जीवात्मा ।
अपि च परिच्छिन्नवपुः कूटस्थः सच्चिदानन्दः ।। ७० ।।

घटादि जडपदार्थं केवल सद्रूप है। जीवात्मा सच्चिद्रूप बताया है। दोनों परिच्छिन्न सत चित रूप है। कूटस्थ सच्चिदानन्द रूप है, पर परिच्छिन्न ही ॥७०॥

व्युच्चरति हरेर्जीवः पावकतो विस्फुलिङ्गवन्नाना ।
लोकादयोऽपि सर्वे सद्रूपा व्युच्चरन्ति ततः ।। ७१ ।।

यह जीवात्मा अग्नि से चिनगारी के समान परमात्मा से व्युच्चरित होते हैं सद्रूप लोकादि भी परमात्मा से ही अग्निविस्फुलिंगवत् व्युच्चरित होते हैं।

देहेन्द्रियासुमनसामध्यासाः स्वस्वरूपविस्मरणम् ।
एषैव पञ्चपर्वाऽविद्या जन्मादिबन्धनकृत् ।। ७२ ।।

देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, मनअध्यास तथा स्वरूप-विस्मरण ये ही जीव की पञ्चपर्वा अविद्या है जो बन्धनादिकारी है ॥७२॥

वैराग्य-सांख्य-योगाः सतपो भक्तिश्च पञ्चपर्वेयम् ।
विद्या यया तु गम्या परमानन्दात्मिका मुक्तिः ॥ ७३ ॥

वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भक्ति ये पंचपर्वा विद्या है। इससे परमानन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥७३॥

सनकादयस्तु जीवन्मुक्ता मुक्ताः सलोकभक्तजनाः ।
ब्रह्मावस्था लीलासङ्गमिनो वा परममुक्ताः ॥ ७४ ॥

जीवन्मुक्त, मुक्त, परममुक्त ऐसे तीन होते हैं। सनकादि ऋषि जीवन्मुक्त हैं। गोलोकवासी मुक्त हैं। ब्रह्मस्वरूप या लीलासंगामी(भगवत लीला में शामिल) परममुक्त हैं ॥७४॥

द्विविधा जीवा दैवासुरभेदा द्विविध एव दैवोऽपि ।
मर्यादामार्गीयः प्रथमोऽन्त्यः पुष्टिमार्गीयः ॥ ७५ ॥

जीव दो प्रकार के हैं। एक दैव हैं। दूसरे असुर हैं। दैव भी द्विविध हैं। एक मर्यादामार्गीय हैं, दूसरे पुष्टिमार्गीय हैं ॥७५॥

व्याप्नोत्यणुरपि जीवश्चित्या शैत्यात्तनुं हि चन्दनवत् ।
मुक्तो व्यापी जगदाधारः स हि बालकृष्ण इव ॥ ७६ ॥

जीव अणु है। फिर भी जैसे चन्दनबिन्दु शैत्य से पूरे शरीर में व्याप्त होती है वैसे चिति से व्याप्त होता है। मुक्त होने पर वह व्यापक जगदाधार होता है। जैसे बालकृष्ण छोटा होने पर भी जगदाधार है ॥७६॥ इति जीवनिरूपणम् ।

इति प्रमेयनिरूपणम्

शब्दः प्रत्यक्षं चाप्यनुमानं चात्र तु प्रमाणानि ।
अर्थापत्तिस्तदनुग्रहणेऽनुपलब्धिरेवापि ॥ ७७ ॥

शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति पूर्वोक्त प्रमेय ज्ञानार्थ प्रमाण हैं। अभावानङ्गीकार होने से अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है फिर भी प्रमाणानुग्रहकारिणी है ॥७७॥

ज्ञानं बुद्धेर्वृत्तिर्मीलितनयनेन दृश्यमानाऽन्तः ।
तद्द्रष्टा कस्त्विति चेत्स्वप्रभमिति चेत्ततः किं ते ॥ ७८ ॥

जीवश्चेत्तज्ज्ञानं कीदृशमिति चेत्तदेव तर्ह्येतत् ।
सत्यं वृत्तिविशिष्टो जीवो ज्ञानस्वरूपत्वात् ॥ ७९ ॥

प्रमाण का अर्थ है प्रमात्मकज्ञान और उसका साधन। ज्ञान क्या है? बुद्धिवृत्ति ही ज्ञान है ऐसे कुछ लोग मानते हैं। आँख मूंदने पर वृत्ति ही अन्दर दीखती हैं। अतएव तदवच्छिन्न चैतन्य को ज्ञान कहने वाले गलत हैं, ऐसा उनका मत है। किन्तु उनको बताना चाहिये कि उस अन्तर्वृत्ति को देखने वाला कौन है? यदि कहो वह वृत्ति स्वयंप्रकाश होने पर अपने आप को देखती है तो उससे आपको क्या फायदा? अर्थात् जीवात्मा को उससे क्या लाभ? वृत्ति ने स्वयं को देखा आपने (जीवने) तो उसे नहीं देखा। यदि कहें कि जीवात्मा वृत्ति को देखता है, तो बताईये जीव का वह देखनारूपी ज्ञान क्या है? कैसा है। वह वृत्ति से पृथक् होने से उसी को फिर ज्ञान मानिये। वस्तुतः वृत्तिविशिष्ट जीव ही ज्ञान है। क्योंकि जीव ईश्वर का चिदंश होने से ज्ञानस्वरूप है ही ॥७८-७९॥

यद्वा दीपच्छविवच्चन्दनशैत्यादिपच्च जीवगुणः ।
ज्ञानं वृत्तिस्तु भवेदाकाराधायिनी तत्र ॥ ८० ॥

अथवा दीपप्रभा एवं चन्दनशैत्यादि के समान ज्ञान जीवगुण है। वृत्ति केवल उसमें आकार का आधान करती है ॥८०॥

ज्ञानं निश्चयसंशयवितथस्मृतिसुप्तिभेदि पञ्चविधम् ।
तत्र यथार्थानुभवो धीगतसत्त्वोद्भवः प्रथमः ॥ ८१ ॥

निश्चय, संशय, भ्रान्ति, स्मृति, निद्रा इस प्रकार पाँच ज्ञानभेद हैं। बुद्धिगत सत्त्वगुण से उत्पन्न यथार्थानुभव निश्चय कहलाता है ॥८१॥

सत्त्वरजोऽनुगृहीतादिन्द्रियतो व्यावहारिकी प्रमितिः ।
सत्त्वाभिभवे रजसा सन्देहो विभ्रमस्तमसा ॥ ८२ ॥

सत्त्व, रज दो से अनुगृहीत इन्द्रियों से व्यावहारिक प्रमा होती है। सत्त्व का अभिभव होने पर रज से संदेह होता है और तम से भ्रान्ति होती है ॥८२॥

अनुभूतार्थज्ञानं स्मरणं निद्रोद्भवो भवेत्स्वप्नः ।
मायाजन्यं शुक्तौ रजतं ज्ञेयं धिया न तु खैः ॥ ८३ ॥

अनुभूत अर्थ का पश्चात ज्ञान स्मरण है। निद्रा से उद्भूत ज्ञान स्वप्न है। शुक्ति में माया से जन्य रजत मन से ज्ञेय है, इन्द्रियों से नहीं ॥८३॥

शुक्तेरन्यद्रजतं तत्र यतः ख्यायते स्फुटं बुद्धया।
अन्यख्यातिस्तस्मान्नाख्यातिर्नान्यथाख्यातिः ॥ ८४ ॥

शुक्ति से अन्य रजत की ख्याति वहाँ स्पष्ट है। वह बुद्धि से होती है। अतः अन्यख्याति मानी जाती है; अख्याति भी नहीं, अन्यथाख्याति भी नहीं।

मायिकमेतद्रजतं संसारश्चापि मायिकस्तद्वत्।
भवति विषयता मिथ्या विषयो भगवांस्तु परमार्थः ॥ ८५ ॥

यह रजत मायाजन्य है। संसार भी मायिक है। यही विषयता है। वह मिथ्या है। विषय परमात्मा है। वह सत्य है ॥८५॥

क्वचन जगन्मिथ्योक्तं संसृतिवैशिष्टयतो विरागार्थम्।
पीतिमविशिष्टशङ्खो मिथ्या यद्वन्न खलु शङ्खः ॥ ८६ ॥

शास्त्रों में कहीं जगत को मिथ्या बताया है। परन्तु संसारविशिष्टरूप से उसे मिथ्या कहा है। सो भी वैराग्य के लिये। जैसे पीतिमविशिष्ट शङ्ख मिथ्या कहा जा सकता है, स्वतः शङ्ख मिथ्या नहीं, वैसे जगत् भी है ॥८६॥

मायाविरहे शुद्धं सद्भिस्तस्यां विविच्य शास्त्रज्ञैः।
अज्ञैः सत्यं मायामयमखिलं बुध्यते जगति ॥ ८७ ॥

माया न होने पर संत पुरुष जगत को शुद्ध ब्रह्मरूप से देखते हैं। माया हो तो शास्त्रवेत्ता विवेक से—इतना मायामय, है इतना ब्रह्म है, ऐसा पृथक् करके देखते हैं। सर्वथा अज्ञानी मायामयरूप से ही सबको देखते हैं ॥८७॥

प्रतिमादौ यद्यपि न क्षिपति विषयतामशक्तितो माया।
सृजति त्वभक्तहृदये यत एवास्यान्यथाबुद्धिः ॥ ८८ ॥

प्रतिमा आदि में यद्यपि माया असमर्थता के कारण विषयता का क्षेप नहीं करती। अतएव भक्त प्रतिमा को भगवतरूप में देखता है। हाँ अभक्त के हृदय में प्रतिमा में भी माया विषयता का क्षेप करती है। जिसके कारण ही अभक्त को प्रतिमा में पाषाणादि बुद्धि होती है ॥८८॥

अर्चा दृषदेव गुरुर्मर्त्यो भक्ताङ्घ्रितीर्थमम्मात्रम्।
तन्नाम शब्द इति सा सृजति विषयतां मनस्यसताम् ॥ ८९ ॥

प्रतिमा पत्थर है, गुरु एक मनुष्य है, भक्तचरणामृत केवल पानी है, भगवन्नाम सिर्फ शब्द है ऐसी नारकियों के मन में माया विषयता डालती है ॥८९॥

सुखचैतन्यास्फुरणं भगवन्मूर्त्तौ घटे च तुल्यमिव ।
परदृष्ट्या निजदृष्ट्या मूर्त्तावुभयं हरेः स्फुरति ॥ ९० ॥

भगवन्मूर्त्ति शालग्रामादि में घटादि के समान सुख एवं चैतन्य का कहाँ स्फुरण होता है ? यह परदृष्टि है। स्वदृष्ट्या हरि के सुख और चैतन्य दोनों वहाँ स्फुरित होते हैं ॥९०॥

भक्तानां मूर्त्यादौ चैतन्यं चानुकम्पयितृता च ।
स्वप्ने जाग्रति चैव क्वचन भगवदिच्छया स्फुरति ॥ ९१ ॥

भक्तों को मूर्त्ति में चैतन्य और अनुकम्पयितृता स्वप्न में दीखती है। कभी जाग्रत में भी दीखती है। भगवदिच्छा से ही वह दीखती है ॥९१॥

नन्वात्मधीः शरीरे सत्या न कथं कुतस्तु संत्याज्या ।
शृणु सविकारत्वमतो मिथ्या सत्या तु तत्त्वविदाम् ॥ ९२ ॥

क्या शरीर ब्रह्म नहीं है ? उसमें आत्मबुद्धि सत्य क्यों नहीं ? क्यों उसे त्यागे ? सुनो। शरीर को सविकार समझते हो। अतः आत्ममति मिथ्या है। तत्त्वज्ञानी तो निर्विकार ब्रह्मरूप से सबको देखते ही हैं ॥९२॥

वेदाः साङ्गा भगवद्गीता पूर्वोत्तरे च मीमांसे ।
श्रीमद्भागवतं च व्यासस्य समाधिभाषा या ॥ ९३ ॥
प्रस्थानचतुष्टयमिदमग्र्यं मानं सलिङ्गमनुमानम् ।
ऐन्द्रियकं प्रत्यक्षं दिव्यं चार्थाद्भवं चान्त्यम् ॥ ९४ ॥

साङ्गवेद, भगवद्गीता, पूर्वोत्तरमीमांसा, व्यासजी की समाधिभाषारूप श्रीमद्भागवत ये प्रस्थानचतुष्टय हैं। ये परम प्रमाण हैं। अन्य प्राज्ञवचन भी प्रमाण है। लिङ्गज अनुमान, ऐन्द्रियक तथा दिव्य प्रत्यक्ष, अर्थसिद्ध अर्थापत्ति ये भी प्रमाण हैं ॥९३-९४॥

इति प्रमाणनिरूपणम् ।

वैदिककर्माभिरतः सन्मार्गगमागमी तु मर्यादी ।
भगवदनुग्रहकाङ्क्षी भजनपरः पुष्टिमार्गी च ॥ ९५ ॥

दो मार्ग है। मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग। वैदिककर्मरत, सन्मार्ग-गमनागमनवान् मर्यादी है। भगवदनुग्रहाकांक्षी भजनपरायण पुष्टिमार्गी है।

पुष्टिरनुग्रहशब्दा पुष्टिः स्यात्तत्प्रयुक्तभक्तिरपि ।
भगवदनुकम्पया स्याद् भक्तिरिति दृढैषणा मार्गः ॥ ९६ ॥

पुष्टि का भगवदनुग्रह अर्थ है। और तत्प्रत्युक्त भक्ति भी पुष्टिपदार्थ है। भगवदनुकम्पा से मुझे भक्ति हो ऐसी दृढ एषणा हो मार्ग अर्थात् पुष्टिमार्ग है ॥९६॥

भगवत्स्वरूपमात्राकाङ्क्षा चेत्पुष्टिभक्तिरित्युक्ता ।
प्राप्तावप्याकाङ्क्षा तेनैव विलक्षणा सैषा ॥ ९७ ॥

भगवत्स्वरूप मात्र की दर्शनादि-आकांक्षा पुष्टिभक्ति है। किन्तु प्राप्त होनेपर आकांक्षा बनी रहती हैं। अतएव इच्छा से यह विलक्षण है ॥९७॥

मिश्रा शुद्धा च स्यात्पुष्टिर्मिश्रा प्रवाहरूपेण ।
मर्यादया च पुष्टया शुद्धा पुष्टिस्त्वमिश्राख्या ॥ ९८ ॥

पुष्टि मिश्र एवं शुद्ध भेद से दो हैं। मिश्र पुष्टि तीन प्रकार की हैं। प्रवाहमिश्रा, मर्यादामिश्रा और पुष्टिमिश्रा जिनको क्रमशः प्रवाहपुष्टि, मर्यादापुष्टि और पुष्टिपुष्टि कहते हैं। अमिश्र पुष्टि ही शुद्धपुष्टि है ॥९८॥

साधनसाध्यफलभिदा भक्तिः स्यात्तत्र भूमिका बहुधा ।
सत्सङ्गः श्रवणादिः परिचर्या मार्गरुचिराद्या ॥ ९९ ॥
मनसि भगवदावेशश्चित्तविशुद्धिः स्वतः परोक्षरुचिः ।
भावो भगवत्स्फूर्त्तिर्हृद्यपरोक्षा रुचिश्चैव ॥ १०० ॥
प्रेमा भगवति विषयाननुरागो भगवदन्यबाधकधीः ।
गृहवैराग्य भगवद्व्यसनं सर्वात्मभावश्च ॥ १०१ ॥
साध्यं पुरुषोत्तमवपुराविर्भावश्च दिव्यसामर्थ्यम् ।
फलमित्यष्टादशधा शाश्वतलीलाप्रवेशोऽन्ते ॥ १०२ ॥

साधन, साध्य एवं फलभेद से युक्त भक्ति की संक्षेप विस्तार से अनेक भूमिकायें है। मध्यममार्ग से आठरह ये भूमिकायें गिनी जा सकती हैं। (१) सत्संगति (२) श्रवणकीर्त्तनादि (३) परिचर्या (४) मार्गरुचि ये साधना-रूप हैं। (५) मन में भगवदावेश (६) चित्त की अतिनिर्मलता (७) स्वत

एव परोक्षात्मक भगवतरुचि (८) भाव (९) भगवत्स्फूर्त्ति (१०) तदनन्तर अपरोक्षरुचि (११) भगवान में प्रेम (१२) विषयानुरागशून्यता (१३) भगवद्भिन्न अर्थात् गृहादि में बाधकबुद्धि (१४) गृहवैराग्य (१५) भगवत् व्यसन (१६) सर्वात्मभाव ये बारह साध्यभक्ति (१७) पुरुषोत्तम शरीर का हृदय में आविर्भाव (१८) दिव्यसामर्थ्य प्राप्ति ये दो फलरूप है। अन्त में नित्यलीला प्रवेश परमपुरुषार्थरूप है ॥९९-१०२॥

भगवत्प्रवेशरूपं मर्यादामार्गिणां तु सायुज्यम्।
पृथगेव ततो भगवत्सुललितलीलाप्रवेशोऽयम् ॥ १०३ ॥

मर्यादामार्गी भगवान में प्रवेश करते हैं। उससे पृथक ही यह भगवान् की ललितलीला में प्रवेश है ॥१०३॥

सर्वसमर्पणमेवं स्फुटमात्मनिवेदनं प्रपत्तिश्च।
पुष्टेस्त्रितयमिदं स्यात् परमं रूपं यदाऽऽस्थेयम् ॥ १०४ ॥

सर्वसमर्पण, स्पष्ट आत्मनिवेदन तथा प्रपत्ति ये पुष्टि के तीन परम स्वरूप हैं, जो सर्वथा आश्रयणीय हैं ॥१०४॥

मिलने परमातुरता स्याद् व्याकुलता वियोगतः परमा।
नित्याजस्रस्मरणं लक्षणमुक्तं परप्रेम्णः ॥ १०५ ॥

भगवान के मिलन में परम आतुरता भगवद्वियोग से परम व्याकुलता और नित्य निरन्तर भगवस्मरण ये तीन परम प्रेम का लक्षण है ॥१०५॥

आत्मनि निरुपधिभावो यादृक् तादृक् परात्मनि विधेयः।
इत्याहात्मा प्रेयांस्तत्त्वमसीत्यादिकं वचनम् ॥ १०६ ॥

आत्मा में निश्छल प्रेम जैसा होता है वैसा परमात्मा में होना चाहिये। यही "आत्मा प्रेयः" "तत्त्वमसि" इत्यादि वचनों का तात्पर्य है ॥१०६॥

कृष्णे प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वाऽऽसक्तिर्निरोधपदवाच्या।
तामस-राजस-सात्त्विकभेदा लीलापि च त्रिविधा ॥ १०७ ॥

श्रीकृष्ण में प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक आसक्ति निरोध कहलाती है। वह निरोध तामस, राजस और सात्त्विक जैसे तीन प्रकार का है भगवान् का लीला भी वैसे तीन प्रकार की है ॥१०७॥

त्रिगुणनिवृत्तौ सत्यां प्रविशति परमार्थनित्यलीलायाम्।
निर्गुणरूपः स्वात्मस्थितिरवधूतान्यथारूपा ॥ १०८ ॥

त्रिगुण की निवृत्ति होने पर जो परमार्थं नित्यलीला में प्रवेश है वही निर्गुणनिरोध है। वह स्वरूपस्थिति है। अन्यथारूप वहाँ समाप्त होता है ॥१०८॥

यादृशगुणो निरोधो दिव्यत्वं तादृगेव परिपाके ।
दशमस्कन्धे न्यगदीन्निरोधमेनं रहस्येन ॥ १०९ ॥

तामस राजस और सात्त्विक इनमें जैसे गुण से युक्त निरोध होगा वैसा ही दिव्य बनेगा। अर्थात् दिव्य तामसादिरूप होगा। (स्मरण रहे कि पहले अप्राकृत सत्त्वादिगुण भी वर्णित हुए हैं) दशस्कन्ध में रहस्य के साथ इस निरोध का वर्णन किया है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता ।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥
भक्तानामुपकृतये तत्त्वाकलनाय पुष्टिमार्गजुषाम् ।
विहितेयं कृतिरनया प्रसीदतु श्रीहरिः स मयि ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री काशिकानन्दयतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे वाल्लभसिद्धान्तविवेचनम्

शैवशाक्तसिद्धान्तः

परमशिवं परिकलयेऽद्वैतं शिवशक्तिसमरसात्मानम् ।
याभ्यामुदयति विश्वं विलसति च विलीयते च ययोः ॥ १ ॥

शिवशक्तिसामरस्यात्मक अद्वैतस्वरूप परमशिव का मैं परिचिन्तन करता हूँ, जिन (शिव और शक्ति) से विश्व जनमा, फला-फूला और अन्त में जिन में विलय पायेगा ॥१॥

तन्त्रेषु विस्तरोक्तं बाह्यान्तर्यागमुख्यमेव च यत् ।
शैवं शाक्तं च मतं संक्षेपात्संप्रवक्ष्यामः ॥ २ ॥

तन्त्रों में जिन का विस्तृत वर्णन है, बाह्ययाग तथा अन्तर्याग की जिसमें मुख्यता है उस शैव और शाक्त मत को हम संक्षेप से यहाँ बतायेंगे ॥

यद्यपि मतद्वयमिदं पृथगेव तथापि तत्त्वसन्दोहे ।
प्रायः समानभावादवयुत्यैवोभयं ब्रूमः ॥ ३ ॥

यद्यपि शैव मत तथा शाक्तमत दोनों अलग-अलग है । तथापि तत्त्वों के प्रतिपादन में दोनों प्रायः समान हैं । अतएव हम यहाँ दोनों को मिलाकर ही निरूपण करेंगे ॥३॥

परमशिवः शिवशक्ती सदाशिवश्चैव शुद्धविद्या च ।
ईशो माया रागो विद्या च कला नियतिकालौ ॥ ४ ॥
पुरुषः प्रकृतिश्चैव ख्यातिरहंकार इन्द्रियाणि मनः ।
तन्मात्रा भूतानि च तत्त्वान्युक्तानि षट्त्रिंशत् ॥ ५ ॥

परमशिव तत्वातीत है । शिव, शक्ति, सदशिव, शुद्धविद्या, ईश, माया, राग, विद्या, कला, नियति, काल, पुरुष, प्रकृति, त्रिगुणात्मकख्याति, अहंकार, दस इन्द्रियाँ, मन, पाँच तन्मात्रा और पाँच महाभूत ये छत्तीस तत्त्व हैं ॥४-५॥

अत्र च तत्त्वातीतः प्रथमः शिवशक्तिसामरस्यात्मा ।
परमशिवो भवति यतो वाचो मनसा निवर्त्तन्ते ॥ ६ ॥

प्रथमोक्त परमशिव शिव शक्ति सामरस्यस्वरूप है। वह तत्त्वातीत है। "परं तत्त्वातीतं मिलितवतुरिन्दोः परकला" ऐसा आचार्यवचन है। वहाँ तक वाणी और मन की पहुँच नहीं है।

सोऽयमनुत्तरमूर्त्तिः परमशिवोऽहार्णसमरसाकारः।
अहमित्येकरसतया नित्यचिदानन्दसन्दोहः ॥ ७ ॥

वह परमशिव अनुत्तरमूर्ति है। अर्थात् उस से उत्तर (ऊर्ध्व) कुछ नहीं है। वह 'अ' और 'ह' का समरसरूप है। अ—शिव, ह—शक्ति। 'अहं' इस प्रकार एकरस होकर वह नित्यचैतन्यानन्दात्मना स्थित है ॥७॥

पञ्चाशल्लिपिरूपा ह्यपृथग्विधयाऽहमर्थचैतन्ये।
स्फुरतीति स्फोरयितुमवाच्येऽप्यहमुच्यते वचसा ॥ ८ ॥

तब अहंपदवाच्य हुआ। नहीं। अकार और हकार आदि अन्त में प्रत्याहारबोधक होने से पचास लिपि बीच में आ जाती हैं। अहमर्थ तो चैतन्य है। उस से पचास मातृका वर्णरूप शक्ति अभिन्न रूप से स्थित है। इस बात को सूचित करने के लिये अवाच्य को भी अहं पद से कहा जाता है ॥८॥

ज्ञानेच्छाकृतिरूपा सृष्टौ स्पष्टं विभासमानापि।
बीजेऽङ्कुरशक्तिरिव हि समरसविधयाऽत्र वर्त्तेत ॥ ९ ॥

यद्यपि सृष्टिकाल में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति रूप से वह शक्ति त्रिधा भासित होती है। तथापि उससे पूर्व बीज में अंकुरशक्ति के समान ही समरस होकर रहती है ॥९॥

ज्ञानादिच्छाशक्तिं किंचित्प्रोद्भाव्य जगदिदं स्रष्टुम्।
पस्पन्दे परमशिवः शिवतत्त्वं स्यात् स तु स्पन्दः ॥ १० ॥

सर्जनार्थं किंचित् उद्भूत ज्ञानशक्ति से किंचित् मात्रा में इच्छाशक्ति को प्रोद्भावित किया तो तज्जन्य क्रियाशक्ति से प्रथम जो स्पन्दन हुआ वही शिवतत्त्व कहलाया ॥१०॥

ननु कथमिच्छोदभवल्लीलापि च नैव नित्यतृप्तस्य।
सत्यमनादिर्हि भवो लीयेत तथोद्भवेदपि च ॥ ११ ॥

प्रश्न होगा कि इच्छाशक्ति का उद्भव कैसे हुआ? तत्प्रयोजक ज्ञानशक्ति का उन्मेष भी कैसे हुआ? जिससे स्पन्दन हुआ। उत्तर यह है कि लय एवं सृष्टि अनादिपरम्परासिद्ध है ॥११॥

एकोऽहं स्यां बह्विति कुक्षौ निक्षिप्य सकलसंसारम् ।
चैतन्यकृतिसमेता शक्तिः प्रादुर्भवेदेषा ॥ १२ ॥

इस स्पन्दन के उत्तरक्षण में किंचित् उन्मीलित ज्ञान और कृति-सहित इच्छाशक्ति "एकोऽहं बहु स्यां" इस प्रकार 'बहु' पदार्थ समस्त संसार को कुक्षि में लेकर प्रादुर्भूत होती है ॥१२॥

तत्र प्रकाशरूपः स्यादहमर्थो विमर्शरूपा च ।
बहु विभवेयमितीच्छा शिवशक्ती ते निगद्येते ॥ १३ ॥

"अहं बहु स्यां" यहाँ अहं पद पूर्ववत् नहीं है। किन्तु स्वार्थपरक है। फलतः अहं पदार्थ प्रकाशरूप शिव हुआ और 'बहुत हो जाऊँ' यह इच्छा शक्ति हो गयी। चैतन्यविशिष्ट स्पन्दन ही वह शिव है ॥१३॥

यस्तु तयोः समवायो नादोऽयं बिन्दुरुद्भवेत्तस्मात् ।
स पुनः प्रकाशबिन्दुर्विमर्शबिन्दुर्मिलितबिन्दुः ॥ १४ ॥

उस शिव और शक्ति का जो समवाय है वही नाद कहलाया। इस से बिन्दूत्पत्ति होती है। प्रकाशबिन्दु, विमर्शबिन्दु और मिश्रबिन्दु ऐसे तीन बिन्दु होते हैं ॥१४॥

त्रैबिन्दवरूपं यत् स एव कथितः सदाशिवो नाम ।
सृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहस्वामी ॥ १५ ॥

बिन्दुत्रयसमाहार ही जिसमें शिवशक्ति समावेश भी है, सृष्टि, स्थिति संहार तिरोधान एवं अनुग्रह करने वाला सदाशिव है ॥१५॥

शक्तिस्तु चित्प्रधाना शुद्धा विद्योदपद्यतातश्च ।
श्रीविद्या सेत्येके दुर्गा वा सा त्रिशक्तिर्वा ॥ १६ ॥

शक्ति चैतन्यप्रधान होती है। उससे शुद्धा विद्या की उत्पत्ति होती है। उसे कुछ लोग श्रीविद्या मानते हैं। कोई दुर्गा कहते हैं। अन्य महाकाली-महालक्ष्मी-महासरस्वतीरूपा मानते है। परम शाक्त तो श्रीविद्या को 'परमशिवपल्यङ्कनिलया' कहते हैं। तथापि वह शिवशक्ति सामरस्य का प्रतीक है। अत एव वह तत्त्वातीत है। तत्त्व सभी उसी का परिणाम है ॥१६॥

तस्य किल वामभागाद् ब्रह्मा विष्णुस्तु दक्षिणाद् भागात् ।
हृदयाद्रुद्रश्चेति प्रादुरभूवंस्त्रयो देवाः ॥ १७ ॥

उस सदाशिव के वामभाग से ब्रह्मा दक्षिणभाग से विष्णु और हृदय से रुद्र हुआ। 'किल' यह प्रसिद्धयर्थक है। क्योंकि तत्त्वों में उनकी गणना पृथक् नहीं हैं ॥१७॥

वाणी ब्राह्मी शक्तिः प्रोक्ता लक्ष्मीस्तु वैष्णवी गदिता ।
रुद्राख्यस्य शिवस्य च शक्तिः स्यादम्बिका नाम ॥ १८ ॥

सदाशिव से जैसे तीन देव प्रगट हुए वैसे शुद्धविद्या से तीन देवियाँ प्रगट हुईं। वाणी लक्ष्मी और अम्बिका नाम की देवियाँ ब्रह्मा विष्णु और रुद्र की शक्तियां कहलायीं ॥१८॥

मायादयः षडेते बन्धनरूपाः सदाशिवादुदगुः ।
तदिदन्ताहन्ताभ्यां नानेवैकोऽप्यभूदेषः ॥ १९ ॥

हाँ, प्रकृत पर विचार करें। सदाशिव से माया आदि छः उत्पन्न हुए जो बन्धनरूप हैं। उससे इदंता और अहंता को लेकर एक ही वह सदाशिव नानारूप भी हुआ ॥१९॥

व्यापकरूपं नैजं प्रच्छाद्याल्पत्वमापयद् माया ।
संकुचितशक्तिरेष च नानाजीवात्मना समभूत् ॥ २० ॥

माया ने शिव का व्यापकरूप आच्छादित कर परिच्छिन्न बनाया। तब शक्ति के संकोच से वह नानाजीवरूप दीखने लगा ॥२०॥

या विश्वकर्त्तृताद्या नाना सन्त्यस्य शक्तयस्तासाम् ।
कुर्वाणा सङ्कोचं माया समभूत् कला नाम ॥ २१ ॥

कला आदि माया के ही अवस्थाविशेष हैं। सदाशिव में जो विश्वकर्त्तृत्वादि हैं उनको संकुचित कर वही माया कला कहलाने लगी ॥२१॥

विद्या नाम च मायास्वरूपमुक्तं घटादि वेद्मीति ।
अल्पज्ञत्वं कुरुते सर्वज्ञस्यापि तस्यैव ॥ २२ ॥

विद्या भी माया का स्वरूप है। मैं घट को जानता हूँ इत्यादि विद्या है। सर्वज्ञ को इस विद्या ने अल्पज्ञ बनाया ॥२२॥

रागो मायारूपं संक्षिपति च नित्यतृप्ततामस्य ।
आनन्दात्माप्येष च विषयेष्वनुरज्यति सुखार्थम् ॥ २३ ॥

राग भी माया का रूप है। वह सदाशिव की नित्यतृप्तता को संकुचित

करता है। अतः आनन्दरूप होने पर भी सुखार्थं विषयों में अनुरक्त हो जाता है ॥२३॥

कालो मायारूपं नित्यास्तित्वं तदीयमपहृत्य।
कुरुतेऽल्पकालसत्त्वं जनिमृतिभयमोहसंवलितम् ॥ २४ ॥

काल भी माया का रूप है। वह शिव का नित्य अस्तित्व को अपहृत कर अल्पकाल-अस्तित्व कर देता है। जो जन्म-मरण का भय एवं मोह से युक्त है ॥२४॥

नियतिर्नियन्त्रणाख्या कार्यमिदं मम हि न त्विदं कार्यम्।
शक्नोस्यधिकं कर्त्तुं नैवेति यतः परिच्छेदः ॥ २५ ॥

नियन्त्रण रूप नियति भी माया का कार्य है। यह कार्य कर सकता हूँ। यह कार्य नहीं कर सकता हूं। अधिक नहीं कर सकता हूं। इस प्रकार सर्व शक्तता को वह परिच्छिन्न करती हैं ॥२५॥

एवं संकोचवशात् पुरुषो जीवः सदाशिवांशोऽभूत्।
शक्तिश्च परिक्षीणा प्रकृतिर्व्यष्टिः समष्टिश्च ॥ २६ ॥

इस प्रकार संकोच होने से वही सदाशिव पुरुष अर्थात् जीव हो गया। जो सदाशिव का अंश हुआ। शक्ति भी चैतन्योन्मेष के अभाव में क्षीण हो कर प्रकृति हुई। जो व्यष्टि तथा समष्टिरूप से द्विधा हो गयी ॥२६॥

तत्र समष्टिप्रकृतिस्त्रिगुणमयी सकलभुवनजनयित्री।
तत्तत्पुरुषे चैषा तत्तत्स्वाभाव्यरूपाऽभूत् ॥ २७ ॥

इनमें जड़ रूप समष्टि प्रकृति सकलभुवनजननी हुई। और तत्तत्पुरुष में स्थित व्यष्टि तत्तपुरुषस्वभावरूप हो गयी ॥२७॥

प्रकृतेरजनिष्ट महत्तत्त्वं यद् बुद्धितत्त्वमप्याहुः।
प्रज्ञामेधेत्येवं विबुधैरभिधीयते बहुधा ॥ २८ ॥

प्रकृति से महत्तत्त्व हुआ वही बुद्धितत्त्व हैं। प्रज्ञा, मेधा इत्यादि शब्दों से वह व्यवहृत होता है ॥२८॥

महतोऽहंकारजनिर्यस्मात्स्याच्चेतनेव जडवपुषि।
पुरुषस्य च कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वादिश्च यत एव ॥ २९ ॥

महत्तत्त्व से अहंकारतत्त्व उत्पन्न हुआ। जिससे जड़ शरीरादि चेतनवत् हो जाते हैं। तथा निर्विकार भी आत्मा कर्त्ता भोक्ता हो गया ॥२९॥

स च वैकारिकतैजसभूतादिभिदो भवेदहंकारः ।
एकादशेन्द्रियाण्यपि तन्मात्राश्चाप्यतोऽभूवन् ।। ३० ।।

सात्त्विक, राजस और तामस भेद से अहंकार त्रिविध हुआ। उसी से फिर इन्द्रियां और तन्मात्रायें उत्पन्न हुईं ।।३०।।

वैकारिकतो धीन्द्रियमभवत् कर्मेन्द्रियं तु तैजसतः ।
तन्मात्रा भूतादेस्ताभ्यः स्युः पञ्च भूतानि ।। ३१ ।।

सात्त्विक अहंकार से ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न हुईं। राजस अहंकार से कर्मेन्द्रियां उत्पन्न हुईं। (मन उभयात्मक होने से उभय से उत्पन्न हुआ ऐसा मत कुछ लोगों का है। दूसरे वैकारिक से ही जन्म उसका मानते हैं) तामस अहंकार से तन्मात्रायें उत्पन्न हुईं। उन तन्मात्राओं से पांच महाभूत पैदा हुए ।।३१।।

ब्रह्माण्डमतो लोकास्तेषु च जीवा जरायुजाद्याः स्युः ।
सर्वमभिन्नं भिन्नं भिन्नाभिन्नं त्रिके शिवतः ।। ३२ ।।

पांच भूतों से ब्रह्माण्ड एवं उनमें अनेक लोक उत्पन्न हुए। उन लोकों में जरायुजादि एवं देवादि अनेक जीव हुए। शिव से ये सबके सब यद्यपि अभिन्न हैं। तथापि माया से या शिवसंकल्प से भिन्न हुए। तत्त्वज्ञानकाल में भिन्नाभिन्न भी भासते हैं। यह त्रिक दर्शनानुसारी है ।।३२।।

सृष्ट्वैवमखिलयोनीस्तदनुप्राविक्षतां च शक्तिशिवौ ।
मूलाधारे शक्तिः परमश्च शिवः सहस्रारे ।। ३३ ।।

समस्त योनियों की सृष्टि कर उनमें शिव और शक्ति अनुप्रविष्ट हुए। मूलाधार में शक्ति और सहस्रार में परमशिव ।।३३।।

अभवत्तयोर्वियोगो मायावशतस्तदैव शिवशक्त्योः ।
समभूतां चाशक्तौ जीवशिवौ स्पन्दनेप्येव ।। ३४ ।।

उस समय मायावश शिव और शक्ति का वियोग हो गया और हृदयरूप जीव शिव भी स्पन्दनमात्र में भी असमर्थ सा हो गया ।।३४।।

अशयिष्ट सापि शक्तिर्मूलाधारे वियुज्य परमशिवात् ।
स सहस्रदलाम्भोजे न्यवसदशक्तश्च जीवसखः ।।

वह शक्ति मूलाधार में परमशिव वियुक्त होने से सुप्त हो गयी। और सहस्रदलस्थ जीवसखा परमशिव भी अशक्त सा हो गया।

सा शक्तिः कुण्डलिनी मेरुं संवेष्टय मूलतः स्वपिति ।
सार्धत्रिवलयरूपा कुलकुण्डे सा कुहरिणीव ।। ३५ ।।

वह शक्ति कुण्डलिनी (सर्पाकार) होकर मेरु के मूलभाग में साढ़े तीन लपेट में वेष्टित होकर कुहरिणी के समान कुलकुण्ड में सोयी पड़ी रहती है।

द्वैरूप्यवती सैषा स्पन्दनकलनो त्वियं क्रियाशक्तिः ।
अपरा तु परा शक्तिः सैव च वाग्वादिनी जननी ।। ३६ ।।

कुण्डलिनी के दो रूप हैं। एक पूर्वोक्त ही है जो क्रियाशक्तिरूप है। स्पन्दन हेतु है। दूसरी परा शक्ति है। उसी को वाग्वादिनी एवं विश्व-जननी कहते हैं। "शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननी" इत्यादि अन्यत्र वर्णित है ।।३६।।

सापि त्रिवलयिताकारोकारमकारसार्धमात्रा स्यात् ।
तत्राकारः सर्वा वागिति जगदे स्वरः श्रुत्या ।। ३७ ।।

वह पराशक्ति त्रिवलयित अकार, उकार, मकार तथा अर्धमात्रा सहित होने से सार्धत्रिवलया है। उनमें अकार को श्रुति ने सर्ववाणीस्वरूप बताया है ।।३७।।

पश्यन्ती नाभौ सा यत्र विभागं भजेत समुपेता ।
पञ्चाशद्वर्णतया पदवाक्यादिस्वरूपेण ।। ३८ ।।

नाभि में वह पश्यन्ती हो जाती है, जहां पचास वर्ण एवं पद-वाक्य रूप से वह विभक्त होती है ।।३८।।

तत्र समानसमिद्धा हृदयमिता मध्यमाभिधा भवति ।
कण्ठे सा वैखर्यप्याज्ञायां सूक्ष्मरूपा च ।। ३९ ।।

समान वायु से प्रदीप्त होकर पश्यन्ती हृदय देश में पहुँच कर मध्यमा हो जाती हैं। कण्ठ में वैखरी बन जाती हैं। आज्ञा में वही पुनः सूक्ष्म रूप हो जाती है (किन्तु यह बात योगियों के लिए है) ।।३९।।

ॐकाररूपिणी सा परशिवमिलिता यदा सहस्रारे ।
भवति परारूपैव हि जपिनां सकलार्थसिद्धिकरी ।। ४० ।।

सहस्रार में परशिवमिलित होकर वह पुनः परारूपिणी होती है। ॐकाररूपिणी हो जाती है। वह जप करने वालों की सिद्धिदायिनी है ।।४०।

यद्यपि नैषा सुप्ता तदपि हृदोऽध्येत्य वैखरीभावम् ।
प्रविलीना जायेत न परमात्मशिवं प्रपद्येत ॥ ४१ ॥

यद्यपि कुण्डलिनी के समान यह पराशक्ति सुप्त नहीं है। तथापि हृदय से कण्ठ आकर वैखरी हो गयी तो फिर विलीन हो जाती है। परमात्मशिव को प्राप्त नहीं होती ॥४१॥

नित्यजपाभ्यासवतां पञ्चमुखमियं सदाशिवं प्राप्य ।
शक्तिस्वरूपभावादेति समरसा सहस्रारे ॥ ४२ ॥

नित्य जप-अभ्यास करने वालों की यही पराशक्ति हृदय से आज्ञा में सदाशिव को प्राप्त होकर शक्तिस्वभावा हो जाती हैं और वहां से सहस्रार में पहुँच जाती है ॥४२॥

तत्राकारोकारमकारा बिन्दुश्च नाद एवापि ।
पञ्च विभागाः प्रणवे सद्योजातादिरूपास्ते ॥ ४३ ॥

ॐ कार में अ, उ, म, बिन्दु और नाद ऐसे पांच विभाग हैं। ये ही तो सनाशिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशानरूपी पांच मुख हैं। (जैसे मूलाधार में अविभक्तावस्था है किन्तु नाभि में विभक्तावस्था है। वैसे ही सहस्रार में अविभक्तावस्था हैं तो आज्ञा में विभक्तावस्था है। हृदय में तो मध्यमा है ही। मानस जप में वैखरी न बनकर आज्ञा में पश्यन्तीसदृश होती है ॥४३॥

पञ्चाक्षरविद्यायामक्षरवाच्याश्च पञ्चकार्यकराः ।
सद्यश्च वामदेवोऽघोरोऽपीशानतत्पुरुषौ ॥ ४४ ॥

ॐकार में जो मात्रावाच्य हैं वे ही पञ्चाक्षर विद्या (नमः शिवाय) में पांच अक्षरों के वाच्यार्थ हैं। सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान ये ही पाँच वाच्यार्थ हैं। (सद्यः इस एक देश से सद्योजात समझना। तत्पुरुषश्च ईशानश्च इस विग्रह में अल्पाच् ईशान का पूर्वनिपात है) ॥४४॥

सृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहान् प्रकुरुतस्तौ ।
जगतोऽस्य तस्य च ततो जननीजनकौ भवेतां तौ ॥ ४५ ॥

यह पराशक्ति तथा सदाशिव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रहणरूपी पञ्चकृत्यकारी हैं। अतएव जगत के दोनों मातापिता हैं। "जगतः पितरौ वन्दे" "जनकजननीमज्जगदिदं" इत्यादि वचन द्रष्टव्य है।

पतिपशुपाशा ज्ञेयाः पाशुपते मुख्यतः स्वतन्त्रस्तु ।
पतिरखिलकार्यकर्त्ता प्राण्युपचितकर्मसापेक्षः ॥ ४६ ॥

पाशुपतसिद्धान्त में वर्णन में थोड़ा भेद आता हैं। पशुपति पशु और पाश ये तीन मुख्य प्रमेय हैं। कार्यत्वेनानुमित सकलजगत्कर्त्ता स्वतन्त्र पति है। यद्यपि प्राणिकर्मसापेक्ष है। तथापि करणोपादन से स्वतन्त्रता-हानि नहीं मानी जाती है ॥४६॥

अशरीरः किं वासौ शक्तिशरीरस्तथापि रूपाणि ।
भक्तानुग्रहहेतोः पञ्चास्यादीन्युपादत्ते ॥ ४७ ॥

पशुपति शिव अशरीर है। अथवा शक्तिशरीर है। तथापि भक्तानुग्रहार्थं पञ्चमुखादिरूपों को ग्रहण करते हैं ॥४७॥

मन्त्रो मन्त्रेशोऽपि च मुक्तश्च महेश्वरः शिवश्चैव ।
सर्वे पतिशब्दार्था दीक्षाद्याश्चैतदन्तःस्थाः ॥ ४८ ॥

मन्त्र, मन्त्रेश्वर, महेश्वर, शिव, मुक्तात्मा एवं दीक्षा आदि सबको पतिशब्दार्थ के अन्तर्गत समझना चाहिये ॥४८॥

पाशा मलं च कर्म च मायापि च रोधशक्तिबिन्दू च ।
पञ्च स्युस्तैर्बद्धाः संसारे वर्णिताः पशवः ॥ ४९ ॥

मल, कर्म, माया, रोधशक्ति और बिन्दु ये पाँच पाश हैं। उनसे जो संसार में बँध गये हैं वे ही पशु हैं ॥४९॥

ज्ञानक्रियाख्यशक्तेरावरणं वासनात्मकं तु मलम् ।
धर्माधर्मौ चाहुः कर्मेति च बन्धननिदानम् ॥ ५० ॥

ज्ञानशक्ति तथा क्रिया शक्ति दो हैं। उनका आवरणरूप वासना मल है। कर्म धर्म और अधर्म को कहते हैं जो बन्धनकारण है ॥५०॥

प्रलये कार्यं सर्वं यस्यां लीयेत सा तु मायोक्ता ।
स्वतिरोधानकरी शिवनिष्ठा स्याद्रोधशक्तिस्तु ॥ ५१ ॥

प्रलय से समस्त कार्यं जिसमें लीन हो वह माया है। रोधशक्ति शिव-निष्ठ है। शिव को अज्ञानियों के प्रति वह तिरोहित करती है ॥५१॥

बिन्दुत्वभावयुक्ता बद्धा विद्येश्वरादयस्तावत् ।
बिन्दुपदार्थस्तान् पुनरन्ये पाशं न मन्यन्ते ॥ ५२ ॥

बिन्दुत्वभाव से युक्त बन्धनस्थ विद्येश्वरादि ही बिन्दु हैं। उन्हें बहुत से लोग पाशरूप नहीं मानते ॥५२॥

अथवा बैन्दवभावो बिन्दुपदार्थो भवेत् स पाशोऽन्ते ।
पञ्चभिरेतैः पाशैर्मुक्तो मुक्तः शिवात्मा स्यात् ॥ ५३ ॥

अथवा बैन्दव परिच्छिन्न भाव ही बिन्दु पदार्थ है। वह अन्तिम पाश है। इन पांच पाशों से जो मुक्त हो वही मुक्त है। वह शिवरूप हो जाता है।

[1]विभवः स्वयंप्रकाशाः पशवस्तान् पाति पशुपतिर्भक्तान् ।
ज्ञानादिदानतस्ते शिवरूपाः स्युर्हि पाशहतौ ॥ ५४ ॥

वे पशुरूप जीव विभु हैं (कोई अणु भी मानते हैं। तब अणवः पाठ करना पड़ेगा) स्वयंप्रकाश हैं। उनकी रक्षा करने से शिव पशुपति कहलाया। ज्ञानादि देकर भक्तों की रक्षा पशुपति करते हैं। पाशध्वंसन ही रक्षा है। उससे पशुरूप जीव शिवरूप ही हो जाते हैं ॥५४॥

एकद्वित्रियुतत्वे मलमायाकर्मणाममी जीवाः ।
विज्ञानाकल एवं प्रलयाकल एव सकलश्च ॥ ५५ ॥

केवल मल हो तो विज्ञानाकल, मल-माया दो हो तो प्रलयाकल तथा मल-माया-कर्म तीन हो तो सकल ऐसे भी जीवों के भेद किए हैं ॥५५॥

विद्यां क्रियां च योगं चर्यां चैवावलम्बमानास्तु ।
प्रभवन्ति भेत्तुमेतान् पाशान्नान्यः कथंचिदपि ॥ ५६ ॥

विद्या, क्रिया, योग एवं चर्या का जो अवलम्बन करते हैं वे ही इन पाशों को काट पाते हैं। अन्य नहीं ॥५६॥

अत्रोत्तरोत्तरेषां पूर्वं पूर्वं भवेदुपोद्बलकम् ।
केचित्प्राहुरथान्ये सर्वानन्योन्यसापेक्षान् ॥ ५७ ॥

यहां उत्तरोत्तर का पूर्व पूर्व कारण है, पोषक है ऐसे कुछ आचार्य मानते हैं। दूसरे आचार्य सबको परस्पर सापेक्ष कहते हैं ॥५७॥

विहिताचरणं नियतं प्रतिषिद्धविवर्जनं च चर्योक्ता ।
ईशार्चनं क्रिया स्यात् प्राणायामादयो योगः ॥ ५८ ॥

विहित का आचरण और प्रतिषिद्ध का त्याग चर्या है। महेश्वर का सांग पूजन क्रिया है। प्राणायामादि योग हैं ॥५८॥

---

१. अणवः पाठान्तरम् ।

विहितक्रियस्य विद्या द्विविधा तु परापरप्रभेदेन ।
मन्त्रादिविषयबोधः परशिवसाक्षात्कृतिश्चैव ॥ ५९ ॥

क्रियासिद्धि होने पर परा और अपरा दो प्रकार की विद्या होती है। मन्त्रादिरहस्यबोध अपरा विद्या है। परमशिवसाक्षात्कार परा विद्या है।

तज्जपतदर्थभावनसहितस्य स्यान्महेशसाक्षात्त्वम् ।
स्यात् स्रष्टृसृज्यकलनं तत्र प्रागुक्तमुपयुक्तम् ॥ ६० ॥

मन्त्रजप अर्थभावना के साथ हो तो महेश्वर साक्षात्कार होता है। तदर्थ ही स्रष्टा और सृज्य तत्त्व का वर्णन जो पहले किया, उपयुक्त हैं ॥६०।

इति पशुपतिविशेषवर्णनम् ॥

मायावशादपूर्णं भागं हि विलोकते निजे लोकः ।
परमेश्वरदर्शनतः सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञा स्यात् ॥ ६१ ॥

जीव स्वयं शिव होने पर भी माया के कारण अपूर्ण अपना भाग मात्र देख पाता है। महेश्वरदर्शन होने पर "सोऽहं" ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती हैं।

पूर्णां दृक्शक्तिमियं ह्याविष्कुरुते तथा क्रियाशक्तिम् ।
चैतन्यं दृक्शक्तिर्निर्मातृत्वं क्रियाशक्तिः ॥ ६२ ॥

यह प्रत्यभिज्ञा पूर्ण दृक्शक्ति ओर पूर्ण क्रियाशक्ति को प्रादुर्भूत करती है। चैतन्य ही दृक्शक्ति है और जगतनिर्मातृत्व ही क्रियाशक्ति है ॥६२॥

इच्छैव तु क्रिया स्यादुच्छूना योगिनामिवेशस्य ।
मुकुरे नगरवदात्मनि भासयति जगन्महेशः सः ॥ ६३ ॥

परमेश्वर पाशुपतमतवत् कर्मसापेक्ष नहीं है। परम स्वतन्त्र है। उनकी उच्छून विकसित इच्छा ही क्रिया है। जैसे योगी संकल्प (इच्छा) मात्र से वस्तु बनावे वैसे ईश्वर भी इच्छा मात्र से दर्पण में नगर के समान जगत् को भासित करता है ॥६३॥

चिरविरहविस्मृतः शं दृष्टोऽपि सुतो न नयति नयनस्य ।
नयति तु परमानन्दं परवचनात् प्रत्यभिज्ञातः ॥ ३४ ॥

एवं परमगुरुगिरा परमानन्दं व्रजत्यसौ जीवः ।
स्वप्रत्यभिज्ञयेति तु शास्ति विशेषं त्रिकं शास्त्रम् ॥ ६५ ॥

परदेस जाने से लम्बे समय से बिछुड़ा पुत्र एका-एक दीखने पर भी न पहचानने के कारण नयनसुख नहीं पहुँचाता। जब उसकी माता आदि

पहचान कराये कि यह बेटा है तो पिता परमानन्दविभोर होता है। कारण प्रत्यभिज्ञा है। वैसे अनादिकालवियुक्त परमात्मा नित्यदृष्ट होने पर भी परमानन्दकारी नहीं होता। जब गुरु प्रत्यभिज्ञा कराता है तभी आनन्दकारी होता है। इस प्रकार त्रिकशास्त्र में विशेष आया है ॥६४-६५॥

इति प्रत्यभिज्ञाशास्त्रविशेषवर्णनम् ॥

तत्त्वोपवर्णने किल शाक्तानां नात्र काचन भिदास्ति ।
साधनपद्धतिमात्रं किंचन विनिरूपयामोऽत्र ॥ ६६ ॥

पूर्वोक्त छत्तीस तत्त्वों के वर्णन में शाक्त मत में कोई भेद नहीं है। हम यहां साधनपद्धति में जो विशेषता है उतने मात्र को दिखाते हैं ॥६६॥

कुण्डलिनी या शक्तिर्मूलाधारे स्थिता पराख्या ताम् ।
प्राणायामैर्जप्यैर्ध्यानैश्चोद्बोधयन्ति विदः ॥ ६७ ॥

मूलाधार में जो पराशक्ति कुण्डलिनी स्थित है उसे गुरुमुख से विधि समझकर प्राणायाम, जप और ध्यान से जागृत करते हैं ॥६७॥

मूलं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतं विशुद्धमपि ।
आज्ञां च चक्रषट्कं प्राहुरथोर्ध्वं सहस्रारम् ॥ ६८ ॥

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा यह षट्चक्र है। इनसे ऊपर सहस्रार चक्र है ॥६८॥

मूले सेन्दुवसार्णैः सुवर्णवर्णे दलैर्युते कमले ।
पीतचतुष्कोणमही सलं हि तत्कर्णिकामध्ये ॥ ६९ ॥
समयौ शिवौ तथाऽस्यामपरे रक्ताम्बुजे प्रफुल्लदले ।
कामक्लीं काममरुत् स्वयंभुलिङ्गं त्रिकोणस्थम् ॥ ७० ॥

मूलाधार में वं शं षं सं वर्ण वाले चार दलों से युक्त सुवर्णवर्ण कमल में पीतवर्ण चतुष्कोणात्मक महीतत्त्व है जो लं बीज से सहित है। उसकी कर्णिका में समय तथा समया नाम के शिव तथा शक्ति हैं। उसी कर्णिका में एक दूसरा खिला रक्त कमल है जिसमें काम बीज क्लीं और कामवायु हैं। उसी में त्रिकोण में स्वयंभु लिङ्ग है (स्वयंभु यह ह्रस्व प्रयोग ही मिलता है) ॥६९-७०॥

एतत्स्वयंभुलिङ्गं परिवेष्टय स्वपिति तमसि कुण्डलिनी ।
सार्धत्रिविलयरूपा मेरुमुखद्वारमाच्छाद्य ॥ ७१ ॥

इस स्वयंभु लिङ्ग को साढ़े तीन वलय से लपेट कर तमस् में कुण्डलिनी सोयी है। अपने मुख से उसने सुषुम्ना के मुख को ढक दिया है ।७१।

विद्रुमवर्णे स्वाधिष्ठानस्थाब्जे सबिन्दुबलदलके।
रंसहितमनलमण्डलमत्र शिवौ स्तां च संवर्त्तौ ॥ ७२ ॥

स्वाधिष्ठान में विद्रुमवर्ण का कमल है। षड्दल है। बं भं से वं तक छः बीज दलों में हैं। वहां एक अग्निमण्डल है। जिसमें रं बीज है। वहां संवर्त्त और संवर्त्ता शिवशक्ति हैं ।।७२।।

मणिपूरेऽम्बुदवर्णे सेन्दुकडफवर्णदशदले कमले।
अष्टदलाम्भोमण्डलमिह वं च शिवौ तडित्वन्तौ ॥ ७३ ॥

मणिपूर में मेघवर्ण दशदल कमल है जहां डं ढं इत्यादि फं तक बीज हैं। वहां अष्टदल जलमण्डल है। वं बीज है। जहां तडित्त्वान् और तडित्वती शिवशक्ति हैं ।।७३।।

द्वादशदलबन्धूकद्युतियुतपद्मे कठंर्युते हृदये।
यं वायुमण्डलेऽस्मिन् जीवश्च शिवौ च हंसाख्यौ ॥ ७४ ॥

हृदय में बन्धूकपुष्पवर्ण का द्वादशदल कमल हैं। कं खं से ठं तक बीज हैं। वायुमण्डल और यं बीज है। वहां जीव है और हंस तथा हंसी शिव और शक्ति हैं ।।७४।।

सेन्दुस्वरषोडशदलधूम्राब्जे हंयुतं नभोवृत्तम्।
तत्र चतुर्दशभुजयुक् प्रविलसति सदाशिवः शिवया ॥ ७५ ॥

विशुद्धि में धूम्रवर्ण षोडशदल कमल है। अं आं इत्यादि षोडश स्वर बीज हैं। वृत्ताकार नभ में हं बीज है। वहाँ चौदह भुजा वाले शिवा सहित सदाशिव है (चौदह भुजाओं में पंचमुख शिव की दस और शिवा की चार भुजायें मानी हैं) ।।७५।।

शुक्ले द्विदले हंक्षंवर्णे तूर्ध्वत्रिकोणमाज्ञायाम्।
तत्र शिवशक्तिरुभयं मिलितं स्यादर्धनारीशम् ॥ ७६ ॥

आज्ञा में शुक्लवर्ण द्विदल कमल है। हं क्षं बीज है। वहां मन और ऊर्ध्वत्रिकोण है। जहां अर्धनारीश्वररूप में शिव और शक्ति हैं ।।७६।।

सकलार्णकलितममलं विलसति शिरसः स्फुरत्सहस्रारम्।
शिवशक्तिसामरस्यं सरघे विधुमण्डले परमम् ॥ ७७ ॥

मस्तक से जुड़कर सहस्रार कमल है। बीस आवृत्ति सहित पचास वर्ण बीज वहां हैं। सरघ (श्रीचक्र) रूप चन्द्रमण्डल वहां है। जहां शिवशक्ति सामरस्य है ॥७८॥

कुण्डलिनोमुद्बोध्याथोर्ध्वं नीत्वा विभिद्य चक्राणि ।
शिवशक्तिसामरस्ये संयोज्य विमुच्यते पुरुषः ॥ ७८ ॥

कुण्डलिनी को जगाकर ऊपर की ओर चक्रभेदन करते हुए शिवशक्ति सामरस्य में संयोजित करने पर ज्ञान प्रकाश पाकर साधक मुक्त होता है।

योगमतेन तु कश्चिच्चक्रेषु व्यत्ययः समुपदिष्टः ।
स्वाधिष्ठाने तु जलं मणिपूरे स्यादनलतत्त्वम् ॥ ७९ ॥

मूलाधारे ब्रह्मा शिशुरूपः शक्तितो जगत्कर्त्ता ।
स्वाधिष्ठाने विष्णुर्मणिपूरे चैव रुद्र इति ॥ ८० ॥

योगमत में चक्रादि में थोड़ा फरक है। स्वाधिष्ठान में जल और मणि-पूर में अग्नितत्त्व योगमत से है। मूलाधार में शिशुरूप ब्रह्मा है। स्वाधि-ष्ठान में विष्णु और मणिपूर में रुद्र है ॥७९-८०॥

ननु तर्हि विरोधः स्यान्न हि जलमग्निर्न चाग्निरम्बु स्यात् ।
कण्ठे खं हृदि मरुदिति युक्तो नाभौ क्रमाच्चाग्निः ॥ ८१ ॥

जठराग्निश्चात्रैवेत्येवं योगोक्तिरस्ति युक्ततरा ।
मैवं युक्तं द्वयमपि यस्मादिह भावना मुख्या ॥ ८२ ॥

प्रश्न—तब योगमत और तन्त्रमत में विरोध आ गया। वस्तु में विकल्प नहीं हो सकता। जल अग्नि नहीं और अग्नि जल नहीं। कण्ठ में आकाश, हृदय में वायु, इस क्रम में नाभि में अग्नि आती है। नाभि में जठराग्नि प्रसिद्ध है। अतः योगमत ही उचित है। उत्तर—यह दोनों मत ठीक है। क्योंकि यहां भावना की प्रधानता है ॥८१-८२॥

संकल्पानुविधायि हि तत्त्वस्फुरणं भवेच्छरीरेऽस्मिन् ।
स्वाधिष्ठाने वाग्निर्मणिपूरे वा स्वसंकल्पात् ॥ ८३ ॥

शरीर में तत्त्व का स्फुरण-प्रादुर्भाव संकल्पानुसार होता है। स्वाधिष्ठान में अग्निभावना करो तो वहां अग्निस्फुरण होगा। मणिपूर में करो तो वहां।

तत्र स्वाधिष्ठाने तपनस्फुरणात्तदौष्ण्यवशतश्च ।
कुण्डलिनो साधयितुर्झटिति समुद्बोधमाप्नोति ॥ ८४ ॥

तन्त्र मत में स्वाधिष्ठान समीप होने से वहां अग्निस्फुरण से उसकी उष्णता के कारण मूलाधारस्थ कुण्डलिनी झट से उद्बुद्ध हो जाती है यह विशेषता है ॥८४॥

नाभौ वह्निमतां पुनरन्यैव प्रक्रिया तदुद्बोधे ।
प्राणायामेन वपुस्तप्तं कृत्स्नं तदुद्बोद्धृ ॥ ८५ ॥

नाभि में अग्नितत्त्व मानने वालों की प्रक्रिया अलग है। प्राणायाम उनके लिए अनिवार्य है। प्राणायाम से पूरा शरीर तप्त होता है तो कुण्डलिनी का उद्बोध होता है ॥८५॥

अन्तर्यागपरा ये श्रीचक्रोपासनापरास्तेषाम् ।
पद्मस्थाने षट् स्युः श्रीचक्रीयाणि चक्राणि ॥ ८६ ॥

अन्तर्यागपरायण श्रीचक्रोपासकों के तो मूलाधारादि पद्म स्थान में श्रीचक्र के छः चक्र ध्यातव्य बताये हैं ॥८६॥

मूले त्रिकोणमेषां स्वाधिष्ठानेऽष्टकोणमेव तथा ।
मणिपूरानाहतयोः क्रमिकं च दशारयुग्मं स्यात् ॥ ८७ ॥
शुद्धौ चतुर्दशारं नागदलादिकचतुष्कमाज्ञायाम् ।
बिन्दुस्तु सूक्ष्मसरघं विधुबिम्बं स्यात्सहस्रारे ॥ ८८ ॥

मूलाधार में त्रिकोण, स्वाधिष्ठान में अष्टकोण, मणिपूर में अन्तर्दशार, अनाहत में बहिर्दशार, विशुद्धि में चतुर्दशार, आज्ञा में अष्टदल-षोडशदल--वृत्तत्रय-भूपुरत्रय ये चार और बिन्दुरूपी चन्द्रबिम्ब सहस्रार में ध्येय है।

ननु च त्रिकोणमध्ये बिन्दुः स कथं भवेत्सहस्रारे ।
शृणु बिन्दुर्व्यापी नस्तस्य व्यक्तिः सहस्रारे ॥ ८९ ॥

प्रश्न होगा कि बिन्दु त्रिकोण मध्य में है। त्रिकोण मूलाधार में है। तब सहस्रार में वह किस प्रकार? उत्तर है—बिन्दु व्यापक है। उसकी अभिव्यक्ति सहस्रार में होती है ॥८९॥

बिन्दुत्रिकोणरूपं मूलाधारे चतुर्दलं भवति ।
वसुकोणषड्दलैक्यं स्वाधिष्ठाने दलाकर्षात् ॥ ९० ॥

बिन्दु और त्रिकोण मिलाने पर मूलाधार में चार होते हैं तो चतुर्दल के साथ ऐक्य होता है। अष्टकोण और षड्दल का ऐक्य स्वाधिष्ठान में

होता है। परन्तु हृदयस्थ द्वादशदल में से दो दलों के आकर्षण कर संख्या पूर्त्ति से ॥९०॥

दशदलदशकोणैक्यं मणिपूरे ध्यायिनां पुनः स्पष्टम् ।
द्वादशदलदशकोणाऽद्वैतं तु दलद्वयविकर्षात् ॥ ९१ ॥

दशदल और अन्तर्दशार का मणिपूर में ऐक्य सुगम है। अनाहत में द्वादश दल और बहिर्दशार का ऐक्य अधिक दो दलों को स्वाधिष्ठान में विकर्षित करने से हो गया ॥९१॥

षोडशदलसचतुर्दशकोणैक्यं कण्ठतो द्वयविकर्षात् ।
द्विदले द्विदलाकर्षादाज्ञायां स्याच्चतुश्चक्रम् ॥ ९२ ॥

विशुद्धि में षोडशदल और चतुर्दशार का ऐक्य है। वहाँ के अधिक दो दल आज्ञा की ओर विकर्षित होते हैं। उन्हीं दोनों का आज्ञा में आकर्षण होने से चार दल हो जाते हैं और श्रीचक्र के नागदलादि चार चक्रों के वहां माने जाने से उनके साथ ऐक्य हो जाता है ॥९२॥

बिन्दुसहस्रारैक्यं पूर्वप्रतिपादितं तदेवेह ।
षट्चक्रश्रीचक्राद्वैतमिदं ध्यायिनां भवति ॥ ९३ ॥

बिन्दु व्यापक होने से सहस्रार में भी है। बिन्दु का और सहस्रार कमलका जो ऐक्य पहले बताया वही है। इसी प्रकार श्रीचक्र और षट्चक्र का ऐक्य ध्यानकर्त्ताओं के लिये ध्येय है॥९३॥

कूटत्रयशक्तित्रययुतषोडश्यैक्यतश्च मन्त्रैक्यम् ।
तत्रैव देवतैक्यं तदिदं जगदुश्चतुर्धैक्यम् ॥ ९४ ॥

तीन कूट तथा प्रत्येक कूट के अन्त में स्थित तीन शक्ति ऐसे छः और सातवीं षोडशी इस प्रकार मन्त्र की भी सप्त संख्या है। श्रीचक्र भी बिन्दु के साथ सप्तसंख्याक है और सहस्रार के मिलाने पर षट्चक्र भी सप्त-संख्यक है। समय-समया इत्यादि देवता भी सप्तसंख्याक है। इनके ऐक्य ही चतुर्धैक्य है। इसका ध्यान षोढैक्याभ्यासानन्तर कर्त्तव्य गुरुमुख से अव-गन्तव्य है ॥९४॥

मूलं स्वाधिष्ठानान्न च भिन्नं तच्च नैव मणिपूरात् ।
मणिपूरमनाहततो न विशुद्धेस्तन्न चाज्ञायाः ॥ ९५ ॥

नैव सहस्रारात् सा भिन्ना नैवात्र षडपि भिन्नानि ।
इत्थं सर्वैक्यं स्याच्छाक्ताद्वैतं शिवाद्वैतम् ॥ ९६ ॥

मूलाधार स्वाधिष्ठान से अभिन्न हो जाता है। स्वाधिष्ठान मणिपूर से, मणिपूर अनाहत से, अनाहत विशुद्धि से, विशुद्धि आज्ञा से और आज्ञा सहस्रार से अभिन्न है। सहस्रार से छहों भी अभिन्न हैं। इस प्रकार सर्वैक्य हो जाता है। यह शाक्ताद्वैत और शिवाद्वैत है ॥९५-९६॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वानि तु षट्त्रिंशन्मन्त्रवर्णरूपाणि ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकजगदैक्यं चाप्यतः सिद्धम् ॥ ९७ ॥

छत्तीस तत्त्व श्रीविद्यामन्त्र के छत्तीस वर्णस्वरूप हैं। अतः छत्तीस तत्त्वात्मक जगत से भी अभेद सिद्ध होता है ॥९७॥

पञ्चाशत्तत्त्वानि तु केचन चैकाधिकानि मन्यन्ते ।
षट्त्रिंशत्तत्र प्राक् परिगणितान्येव तत्त्वानि ॥ ९८ ॥
सप्त त्वगादयः स्युर्धातुपदाः प्राणपञ्चकं चैव ।
एवं गुणत्रयं चेत्युक्तैर्मिलितानि तावन्ति ॥ ९९ ॥

कुछ लोग इक्यावन तत्त्व मानते हैं। छत्तीस तो पूर्व परिगणित ही हैं। उनके साथ त्वचा, मांस, रुधिरादि सात धातु; पाँच प्राण और सत्त्व-रज-तम तीन गुण मिलाने पर इक्यावन संख्या पूरी होती है ॥९८-९९॥

पञ्चाशल्लिपयः स्युस्तत्र ळकारं पृथक् पठन्त्येके ।
पञ्चाशत्तत्त्वानि च लिपिवच्चक्रेष्वभेदयुजः ॥ १०० ॥

अक्षर पचास हैं। ळकार को कुछ लोग अधिक पढते हैं। पचास लिपि मन्त्र चक्रान्तर्गत हैं। अतः तत्त्वों के साथ भी अभेद है ॥१००॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वमते मन्त्रे षट्त्रिंशदक्षराणि यतः ।
तत्रान्तर्भावश्च प्रोक्तस्तन्त्रेषु तेषां हि ॥ १०१ ॥

छत्तीस तत्त्व वाले मत में मन्त्र में छत्तीस अक्षर होने से उनमें उनका अन्तर्भाव वामकेश्वरादि तन्त्रों में बताया है ॥१०१॥

मन्त्रान्तर्भावश्च प्रागेवोक्तोऽखिले च चक्रादौ ।
तस्मात्सर्वैक्यं स्यात्परशिवतत्त्वे सहस्रारे ॥ १०२ ॥

मन्त्र का अन्तर्भाव चक्रादि में पहले कह चुके। अतः सहस्रार में परम शिव में सर्वैक्य है ॥१०२॥

बीजेऽङ्कुरशक्तिरिव च परमशिवे भुवनभावनी शक्तिः ।
तस्यामनभिव्यक्तं जगदिदमव्याकृतं प्रथमम् ॥ १०३ ॥

बीज में अंकुरशक्ति के समान परमशिव में भुवनोत्पादिनी शक्ति रहती है। उसमें प्रथम जगत् अव्याकृत रूप से रहता है। वही अव्याकृतावस्था है। पहले ध्येय ऐक्य बताया। वस्तुतः भी इस रीति ऐक्य है। क्योंकि बीजावस्था में ऐक्य स्पष्ट है ॥१०३॥

अङ्कुरवच्च हि जीवाच्छक्तिमयात्सकलमेव भुवनमिदम् ।
शक्तिमयात्परमेशाद् व्याक्रियते नामरूपाभ्याम् ॥ १०४ ॥

शक्तिमय बीज से अंकुर के समान शक्तिमय परमेश्वर से समस्त संसार नामरूप से व्याकृत होता हैं ॥१०४॥

न हि योगी नानाविधसृष्टिं कुर्वन् स्वशक्तितः कश्चित् ।
विकरोति तद्वदेव च परमेशो नैव विकरोति ॥ १०५ ॥

कोई योगी अपनी योगशक्ति से नाना सृष्टि करता है तो विकारी नहीं होता। उसी प्रकार परमेश्वर भी स्वशक्ति से सृष्टि करने पर भी विकारी नहीं होता ॥१०५॥

समभिव्यज्येतैषा क्वचन तथाऽव्याकृता ग्रसेदखिलम् ।
तेनैषा शक्तिरपि च नोत्पादवती यतोऽनित्या ॥ १०६ ॥

नामरूप से शक्ति कभी अभिव्यक्त होती है और कभी अव्याकृत रूप होकर जगत को ग्रस लेती है। अतः शक्ति भी उत्पत्ति वाली नहीं, जिससे अनित्यता की प्रसक्ति हो ॥१०६॥

बीजगशक्तिर्वृक्षे प्रसरन्ती विशति तज्जबीजेषु ।
तरुबीजादिकमखिलमभिव्यक्तिः केवलं तस्याः ॥ १०७ ॥

बीज में अंकुरशक्ति है। अंकुर होने पर समाप्त नहीं होती। सूक्ष्मरूप से अंकुर विटपपत्रादि से होकर वह पुनः उसमें उत्पन्न बीज में प्रविष्ट होती है बल्कि यों कहिए कि वृक्ष के समान बीज भी उस शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। वृक्षनाशोत्तर भी वह रहती है। किन्तु मूल परमशिव में ॥१०७॥

व्यापकरूपाप्येषा समवैति हि तेषु तेषु कार्येषु ।
समवायि सकलशक्तेर्मूलं शिव एक एव विभुः ॥ १०८ ॥

यह शक्ति व्यापक है, अंकुर-वृक्षादि ज्यों-ज्यों बढ़ें त्यों-त्यों उत्तर-कार्यार्थ बढ़ती जैसी लगेगी। वस्तुतः व्यापक होने से ही स्थिर है। अभिव्यक्तितारतम्य से बढ़ती सी लगेगी। अपने कार्यों में समवेत होती सी जायेगी। वस्तुतः मूल समवायी व्यापक शिव मात्र है ॥१०८॥

शैवे शाक्ते च मते नाना भेदा लसन्ति मतभेदात् ।
तदिदं दर्शितमल्पं प्रायोऽनुगमाय सर्वेषाम् ॥ १०९ ॥

शैव तथा शाक्तमत में अवान्तर अनेक मतभेद हैं। यहां पर अल्पमात्र दिखाया गया। हां, प्रायः सभी मतों का थोड़ा बहुत अनुगम इससे संभव है। अतः उपादेय है। ब्रह्मसूत्र में शैवभाष्य तथा शाक्तभाष्य दोनों हैं। अतः यह केवल तान्त्रिक मत नहीं वेदान्तरूप भी है। अतः वेदान्तों में बताया।

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता ।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥ ११० ॥
तदिदं परमं शास्त्रं तरणिं संसारपङ्कमग्नानाम् ।
दर्शितवति परमशिवस्तुष्यतु मयि शक्तिरम्बापि ॥ १११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ द्वादशदर्शनसंग्रहे शैवशाक्ताद्वैतदर्शनम्

वेदान्तदर्शनम्

जन्माद्यस्य यतः स्याद् यत्र च शास्त्रं यदुद्गमं गमकम् ।
तदपि समन्वयमुखतो ब्रह्म परं तत्प्रपद्येऽहम् ।। १ ।।

इस जगत् का जन्म स्थिति एवं संहार जिससे हो, जिसमें हो, जिससे उद्गत वेदात्मक शास्त्र ही जिसमें प्रमाण हो, सो भी समन्वय मुख से, उस परब्रह्म परमात्मा के मैं शरणागत हूँ ।।१।।

वेदान्ताम्बुधिनिचितैर्हारं रत्नैर्जुगुम्फ यः प्रत्नैः ।
तं बादरायणाख्यं वन्देमहि सूत्रकारमृषिम् ।। २ ।।

वेदान्त समुद्र के समान है। उसमें छिपे नित्यनूतन सिद्धान्तरत्नों को चुन कर जिन्हों ने शारीरकदर्शनरूपी हार बनाया, बादरायणनामक उन सूत्रकार ऋषि की हम वन्दना करते हैं ।।२।।

श्रुत्यन्तार्थानखिलान् कलयन्मधुरं प्रसन्नगम्भीरम् ।
भाष्यमभाषत यस्तं प्रस्तुमहे भाष्यकृतमनघम् ।। ३ ।।

वेदान्त के समस्त अर्थों को अपने में लिये हुए प्रसन्न, गम्भीर एवं मधुरपदावलीसम्पन्न भाष्य को जिन्होंने बनाया उन सर्वदोषरहित भाष्यकार भगवत्पाद की हम प्रकृष्ट स्तुति एवं नमस्कार करते हैं ।।३।।

येषां परमकृपातो भवविनिपातोद्गता यतात्मानः ।
ज्ञानं परममवापुर्वन्देमहि तान् गुरून् महितान् ।। ४ ।।

जिनकी परमकृपा से संसारकूपपतन से बचकर ऊपर उठे हुए यतात्मा संतों ने परमार्थ तत्त्वज्ञान प्राप्त किया उन महामहिम गुरुओं की हम वन्दना करते हैं ।।४।।

❋

वेदान्तदर्शनं

ब्रह्म सदानन्दं तद् वन्देऽधिष्ठानमाश्रयं जगतः ।
विश्वाकारतया यद् रज्जुरिवाभाद् भुजङ्गतया ॥ १ ॥

सत् और आनन्दरूपी उस ब्रह्म की हम वन्दना करते हैं जो आनन्दांश से जगत् का अधिष्ठान और सदंश से आधार है। अतएव प्रकाशमान आनन्द रूप होने पर पुरुषार्थरूप भी है, जो (ब्रह्म) जैसे रज्जु सर्परूप से भासित होती है वैसे विश्वाकार में भासित हो रहा है ॥१॥

भगवत्पादैः सम्यग् व्युत्पादितमथ च बृंहितं विबुधैः ।
वेदान्तदर्शनं स्फुटमधुना सन्दर्श्यतेऽल्पपदैः ॥ २ ॥

भावत्पाद आद्यशकराचार्य ने जिसका सम्यक् व्युत्पादन किया वार्त्तिककारादि महान् तत्त्ववेत्ताओं ने जिसका उपबृंहण (विस्तार) किया उस वेदान्तदर्शन को अब हम अल्पपदों में ही सम्यक् वर्णन करने जा रहे हैं ॥२॥

आरभमाणो भगवान् शास्त्रमिदं बादरायणाचार्यः ।
सूत्रमसूत्रयदेवं सोऽथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ ३ ॥

वेदान्तशास्त्र का आरम्भ करते हुए भगवान् बादरायण आचार्य ने प्रथम सूत्र यही लिखा—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥३॥

धुतमलविक्षेपाणां विदलितनिजबन्धुमोहबन्धानाम् ।
साधनचतुष्टयवतामधिकारं वक्तुमथशब्दः ॥ ४ ॥

जो मलविक्षेप रहित है, बन्धु बान्धवों के मोहबन्धन को निरस्त कर चुके हैं ऐसे साधन चतुष्टय के संपन्न व्यक्तियों को ही वेदान्तश्रवण में अधिकार है इस बात को बतलाने के लिये 'अथ' यह शब्द है। यहाँ अधिकार पद का अर्थ है—श्रवणजन्य साक्षात्कार फल भागित्व ॥४॥

सत्कर्मनिर्मलान्तःकरणाः समुपास्तिधूतविक्षेपाः ।
सत्सङ्गभग्नमोहा विन्देरन् साधनानि बुधाः ॥ ५ ॥

सत्कर्मों से जिनका अन्तःकरण निर्मल हो गया, सम्यक् उपासना से विक्षेप दूर हुआ, सत्संग से मोहबन्धन नष्ट हुआ वे ही आगे कहे जाने वाले चार साधन पा सकते हैं ॥५॥

तत्र विवेक-विराग-शमादि-मुमुक्षुत्वलक्षणानि स्युः ।
चत्वारि साधनानि ब्रह्मविचारोपयोगीनि ॥ ६ ॥

ब्रह्म विचार के लिये उपयोगी चार साधन हैं। विवेक, वैराग्य, शमादिषट्संपत्ति और मुमुक्षुत्व ॥६॥

सत्यं ब्रह्मैव परं जगदिदमनृतं च दुःखबीजं च ।
नित्यानित्यविवेकः सोऽयं यत् साधनं प्रथमम् ॥ ७ ॥

ब्रह्म ही एक मात्र नित्य अर्थात् सत्य है। समस्त जगत् अनित्य अर्थात् असत्य और दुःखमूल है। यही नित्यानित्यविवेक है जो प्रथम साधन है।

ननु च श्रवणादेतच्छक्यं ज्ञातुं कथं तदुपयोगि ।
न, स्वाध्यायाध्ययनात् सत्सङ्गाद्वा सुगममेतत् ॥ ८ ॥

वेदान्त श्रवण के बाद ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या ज्ञान होगा। वह श्रवण में उपयोगी साधन किस प्रकार हो सकता है ? इस आक्षेप का यह समाधान है कि स्वाध्यायाध्ययनात्मक श्रवण अलग है। आगे बताये जाने वाला गुरूपसत्तिपूर्वक वेदान्तश्रवण अलग है। बालक अवस्था में ही स्वाध्याया-ध्ययन अर्थात् सामान्य सकलवेदाध्ययन होता है। उससे सामान्यरूप से नित्यानित्यवस्तुविवेक होने पर वह विशेष वेदान्तश्रवण का अधिकारी बनता है। अथवा सर्ववेदाध्ययन न भी किये हो, फिर भी सत्संग में श्रवण करते करते विवेकादि प्राप्त करेगा। तब वह विशेष श्रवण का सच्चा अधिकारी बनेगा ॥८॥

साक्षात्कारात्मकधीः श्रवणाद्यभ्यासतो भवेत्पुंसाम् ।
तत्र च गुरूपसत्तिर्विहिता शास्त्रेण सविशेषम् ॥ ९ ॥

सामान्य वेदाध्ययन और विशेष वेदान्तश्रवण में क्या फरक है ? यही कि सामान्य वेदाध्ययनात्मक श्रवण से ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता। और गुरूपसदनपूर्वक श्रवणादि से बल्कि उसके अभ्यास से साक्षात्कारी ज्ञान होता है। अत एव "स गुरुमेवाभिगच्छेत्" इत्यादि पुनर्विधान वेदों ने विशेषरूप से किया ॥९॥

दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्ये यो भवेद्वशीकारः ।
वैराग्यं तदिदं स्यात्तादृशवैतृष्ण्यमात्रं वा ॥ १० ॥

ऐहिक तथा पारलौकिक विषयों में वितृष्णता (तृष्णा के अभाव) से जो वशीकार होता है वही वैराग्य है। जैसा पातञ्जल योगसूत्र में कहा। अथवा यहां साधनचतुष्टयगत वैराग्य में वशोकार को जोड़े बिना ही केवल सकलविषयवितृष्णता लक्षण समझना चाहिए। क्योंकि शमादि जो तृतीय साधन है वह स्वयं वशीकाररूप है। यदि वशीकार लक्षण में जोड़ना ही है तो प्रारंभिक अवस्था वाला वशीकार समझना चाहिए ॥१०॥

शमदमविरतितितिक्षाश्रद्धाः षष्ठं मनःसमाधानम् ।
षट् सम्पत्तिरिहान्तःकरणस्य विनिग्रहस्तु शमः ॥ ११ ॥

शम, दम, उपरति, तितिक्षा और श्रद्धा ऐसे पांच एक शाखा में बताए हैं। श्रद्धा को न कह कर समाधान को दूसरी शाखा में बतलाया है। दोनों का परस्परोपसंहार से छः संपत्ति होती हैं। इनमें शम अन्तःकरणनिग्रह को कहते हैं ॥११॥

ज्ञानेन्द्रियनिग्रहणं दमनं कर्मेन्द्रियार्दनं विरतिः ।
शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुत्वं स्यात्तितिक्षाऽत्र ॥ १२ ॥

ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह दम है। विरति या उपरति कर्मेन्द्रियनिग्रह को कहते हैं। शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों का सहन करना यहां तितिक्षा पद का अर्थ है ॥१२॥

गुरुवेदान्ताप्तवचोविश्वासः समभिधीयते श्रद्धा ।
चित्तैकाग्र्यं कथितं साधनधुर्यं समाधानम् ॥ १३ ॥

गुरुवाक्य वेदान्तवाक्य एवं आप्तवाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है। चित्त की एकाग्रता-जिससे श्रवणादि करने पर अर्थग्रहण सम्यक् होता है वह उत्तम साधन समाधान है ॥१३॥

मनसः शमनाद्दमनं नयनादेरुपरतिश्च वागादेः ।
इति रीतिः पौष्कल्यं तेषां स्याद्वैपरीत्याच्च ॥ १४ ॥

मन शान्त होता है तो चक्षुरादि इन्द्रियों का दमन आसान होता है। ज्ञानेन्द्रियदमन होने पर कर्मेन्द्रियोपरमण सुलभ होगा। इन्द्रियोपरति होने पर तितिक्षा सरल होगी। तब श्रद्धा एवं चित्त की एकाग्रता होगी।

चित्तैकाग्रता ज्यों ज्यों बढ़ेगी, अनुभव के बढ़ने से श्रद्धा बढ़ेगी। तब तितिक्षा जबर्दस्त होने लगेगी। और उपरति उच्चकोटि की होगी। फलतः दम और शम भी उत्कृष्ट बनेंगे। यही वैपरीत्यक्रम है ॥१४॥

वैराग्यं हि विवेकाद् वैराग्यात् स्युः शमादयस्ते च ।
अन्योन्यसहायदृढा जनयन्ति तु कामपि मुमुक्षाम् ॥ १५ ॥

वैराग्य वस्तुतः विवेक से ही होता है। बाकी क्षणिक वैराग्य बेकार है। वैराग्य से शमादि साधन होंगे। वे शमादि परस्पर सहायक होकर दृढ बनते हैं। और विलक्षण मुमुक्षुता उत्पन्न करेंगे।

एवं त्रिभिर्भवन्ती स्यादधिकारो मुमुक्षुता नाम ।
शृणुयान्मुमुक्षुरेतत् स्वर्गेच्छुर्यद्वदेव यजेत् ॥ १६ ॥

विवेक, वैराग्य और शमादि तीन से होने वाली मुमुक्षुता ही अधिकारी का विशेषण है। केवल कुतूहलतारूपी मुमुक्षुता नहीं। क्योंकि अधिक भोग देखने पर कुतूहलतारूपी मुमुक्षुता उड़ जाती है। जैसे स्वर्गकामो यजेत यहां स्वर्गकामना अधिकारिविशेषण है वैसे मुमुक्षुः शृणुयात् यहां मोक्षकामना अधिकारिविशेषण है। विवेक-वैराग्यादि उस मुमुक्षुता का जनक मात्र है, अधिकारिविशेषण नहीं है। या यों कह सकते हैं कि विवेकादिजन्य विलक्षणमुमुक्षुता के लाभ के लिये विवेकादि की परिगणना है ॥१६॥

इति अथशब्दार्थसाधनचतुष्टयनिरूपणम्

आत्यन्तिकदुःखहतिः परमानन्दोपलब्धिरपि मोक्षः ।
सर्वैषामर्थित इति पुरुषार्थ इतीर्यते सोऽयम् ॥ १७ ॥

मुमुक्षुता में घटकीभूत मोक्ष क्या है ? आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति। यह सर्वपुरुष-अर्थित (इच्छित) होने से पुरुषार्थ कहलाता है ॥१७॥

आत्मैवानन्दात्मा समपद्यत दुःख्यविद्यया ह्यसुखी ।
ज्ञानोपलक्षितात्मा तेन च मोक्षो बुधैरुदितः ॥ १८ ॥

वस्तुतः आत्मा ही आनन्दस्वरूप है। वह अविद्या से दुःखी बन गया और सुखरहित सा हो गया। अत एव ज्ञानोपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है। ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति होने पर अपना स्वरूप आनन्द प्रगट होता है वही तो पुरुषार्थित मोक्ष है ॥१८॥

नान्यः पन्था ज्ञानात् कश्चिदपि विमुक्तये भवति पुंसाम् ।
अत एव च जिज्ञासा कार्येति वदत्यतःशब्दः ॥ १९ ॥

ज्ञान को छोड़ कर अन्य कोई भी मोक्ष का मार्ग नहीं है "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" । अत एव ज्ञानार्थं जिज्ञासा करो यही अतः शब्द कहता है। अर्थात् 'अतः' यह हेतुनिर्देश है ॥१९॥

इति अतःशब्दार्थमोक्षसाधननिरूपणम्

एवं साधनयुक्तः परमुपसीदेद् गुरुं समित्पाणिः ।
यः श्रोत्रियश्च करुणाकूपारो ब्रह्मनिष्ठश्च ॥ २० ॥

पूर्वोक्त साधनचतुष्टयसम्पन्न साधक ब्रह्मविचारार्थं समित्पाणि होकर परम गुरु की शरण में जाये जो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ एवं दयालु हैं ॥२०॥

षड्लिङ्गैरुपनिषदां श्रवणं मननं गुरोर्विचारोऽसौ ।
जिज्ञासापदमत्र च तत्पूर्वविचारलाक्षणिकम् ॥ २१ ॥

षड्लिङ्गों से उपनिषदों का गुरु से श्रवण करे और युक्ति से मनन करे यही विचार है । सूत्र में जिज्ञासा पद का जिज्ञासापूर्वक उक्त विचार अर्थ है । वैसे तो निदिध्यासन भी विचारान्तर्गत है । किन्तु मीमांसा से श्रवण और मनन ये दो ही हो पाते हैं । निदिध्यासन तो एकान्त में करने की चीज है । अतः श्रवण-मननमात्र यहां बताया । सूत्र का लक्ष्य निदिध्यासन भी है । अतः आगे निदिध्यासन का स्वरूप वर्णन होगा ॥२१॥

षडुपक्रमोपसंहृतिरध्यासोऽपूर्वता फलं चैव ।
व्याचख्यिरेऽर्थवादोऽप्युपपत्तिश्चेति लिङ्गानि ॥ २२ ॥

उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति ये छः लिङ्ग कहे गये हैं ॥२२॥

प्रथमं लिङ्गं तावत्प्रतिपाद्योपक्रमोपसंहारम् ।
अभ्यासो मुहुरस्य च मध्ये मध्ये समाख्यानम् ॥ २३ ॥

प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म का ही उपक्रम और उपसंहार करना यह उपक्रमोपसंहार नामक प्रथम लिङ्ग है । प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म का बीच-बीच में सम्यक् कथन करना अभ्यास है ॥२३॥

प्रतिपाद्यस्यापूर्वस्वरूपकथनं भवेदपूर्वत्वम् ।
परमेष्टफलनिदर्शनमुक्तं लिङ्गं फलं तुर्यम् ॥ २४ ॥

प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म के स्वरूप को अपूर्व बताना अपूर्वत्व है। परम अभीष्ट फल दिखाना चतुर्थ लिङ्ग फल है ॥२४॥

तत्स्तुतितद्विपरीतविनिन्दनमित्यर्थवादरूपं स्यात् ।
युक्तिप्रदर्शनं स्यादुपपत्तिः षष्ठमिह लिङ्गम् ॥ २५ ॥

प्रतिपाद्यत्त्व की स्तुति और उससे विपरीत की निन्दा दो अर्थवाद के स्वरूप हैं। प्रतिपाद्यार्थसिद्धयर्थं युक्ति दृष्टान्तादि बताना उपपत्ति है ।२५॥

समुपक्रम्य सदेवेत्युपसंजह्रे श्रुतिर्हि तत्सत्यम् ।
तत्त्वमसीत्यभ्यासोऽपूर्वत्वं तावदणिमैषः ॥ २६ ॥

छान्दोग्योपनिषत् में षष्ठाध्याय में षड्लिंग को देखें। "सदेव सोम्येद-मग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्" ऐसा उपक्रम कर "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं" इस प्रकार अद्वैत आत्मा का उपक्रमोपसंहार किया। तत्त्वमसि का नौ वार अभ्यास किया। 'एष अणिमा' वर्थात् यह अतिसूक्ष्म दुर्ज्ञेय है इस प्रकार उसकी अपूर्वता बतायी ॥२६॥

अथ संपत्स्ये फलमिदममतमतत्वादिरर्थवादः स्यात् ।
मृत्पिण्डवेदनेऽखिलमृन्मयवित्तिस्तदुपपत्तिः ॥ २७ ॥

'अथ संपत्स्ये' इस प्रकार ब्रह्मसंपत्तिरूप फल बताया। "येनाश्रुतं श्रुतममतं मतं" इस प्रकार स्तुतिरूप अर्थवाद आया। जैसे एक मृत् के ज्ञान से मृन्मय सबका तत्त्वज्ञान हो यह दृष्टान्तात्मक युक्ति प्रदर्शन है ।२७॥

इति ब्रह्मविचारे षड्लिङ्गसहितश्रवणनिरूपणम्

युक्तिभिरनुसन्धानं श्रुतितात्पर्यार्थगोचरं मननम् ।
श्रुतिदर्शितार्थदार्ढ्यं सम्यक् सम्पद्यते तेन ॥ २८ ॥

श्रुति के तात्पर्यार्थ को युक्तियों से सिद्ध करना मनन है। उस मनन से श्रुति में कथित अर्थ की दृढ़ता हो जाती है ॥२८॥

शब्दस्पर्शाद्यर्था वेद्या मणिवत् पृथक् पृथग्दृष्टाः ।
तत्संविदनुगतैषु हि सूत्रसमैका च नित्या च ॥ २९ ॥

शब्दस्पर्शादिज्ञान में शब्दस्पर्शादि मणि के समान अलग-अलग ही दीखते हैं। किन्तु इनका ज्ञान एकाकार एक है, सब में अनुगत है, अतएव वह नित्य भी है, क्योंकि ज्ञान धारा अनन्त काल तक चलतो है ॥२९॥

अस्ति खमस्ति मरुदिति व्यावृत्तेष्वस्तितानुवृत्तैका ।
नित्या सा न घट इति तु घटविरहादस्तिताऽभानम् ॥ ३० ॥

आकाश है वायु है इस प्रकार आकाश वायु आदि व्यावृत्त हैं। अस्तिता सब में अनुवृत्त है। अतएव नित्य भी है। यदि कहें कि 'घट नहीं। ऐसा भी तो बोलते हैं तो अस्तिता व्यापक कहाँ हुई ? सुनो, किस जगह अस्तित्व न रहा ?। घटाभावस्थल में घट में अस्तित्व न रहा कहो तो ठीक नहीं। क्योंकि घट रूपी आधार ही नहीं रहा तो उसमें अस्तित्व नहीं बोलने का मतलब ही क्या ? अव्यापक वह है जो आधार के होते हुए उसमें न रहे। यही अस्तिता सत् कहलाती है ॥३०॥

विषयेन्द्रियविरतावपि भवति सुषुप्तौ स्फुरत्परानन्दः ।
साज्ञानोऽज्ञानहृतौ कीदृगिवास्तामसौ परमः ॥ ३१ ॥

सुषुप्ति में विषय तथा इन्द्रिय दोनों नहीं रहते। फिर भी आनन्द का स्फुरण होता है। वह आनन्द आत्मानन्द हो सकता है। किन्तु सुषुप्ति में अज्ञान रहता है। तब ऐसा आनन्द है। यदि अज्ञान भी न रह जाय तो कैसा परम आनन्द होगा यह स्वयं सोच सकते हैं। जैसे बादल के रहते दिन में सूर्य प्रकाश काफी रहता है। बादल न हो तो कैसा होगा समझ सकते हैं ॥३१॥

सच्चित्सुखैकतानः स्यादात्मायं तथैव च ब्रह्म ।
श्रुतिरपि निगदति तदिदं नित्यं विज्ञानमानन्दम् ॥ ३२ ॥

आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूपसिद्ध हुआ। वैसा ही ब्रह्म भी है। श्रुति भी कहती है—नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ॥३२॥

इति ब्रह्मविचारे मनननिरूपणम्

इतरार्थव्यावृत्त्या तद्गोचरचिन्तनं भवेद् ध्यानम् ।
तद्धि निदिध्यासनमिति तच्च विचारान्न पृथगेव ॥ ३२ ॥

अन्य विषयों को लाये बिना केवल ब्रह्ममात्रविषयक चिन्तन करना ध्यान है। उसी को निदिध्यासन भी कहते हैं। वह भी विचारान्तर्गत ही है

इति निदिध्यासननिरूपणम्

ब्रह्मजिज्ञासानिरूपणं च

ध्यानं पुरुषाधीनं तत्त्वमसीत्यादिमानतो ज्ञानम् ।
तेनाज्ञाननिवृत्तौ तन्मयमिथ्याभवनिवृत्तिः ॥ ३४ ॥

निदिध्यासन ध्यान को बताया। उसमें और ज्ञान में फरक यह है कि ध्यान पुरुषाधीन है। स्वेच्छा से किया जाता है। किन्तु ज्ञान मानाधीन है। (इच्छा न हो तो भी आंख खुली तो सामने जो है शत्रु आदि, वे दीखेंगे) तत्त्वमसि आदि मान से ब्रह्म ज्ञान होता है। उससे अज्ञान निवृत्त हो जाता है तो अज्ञानमय (मायामय) संसार की भी निवृत्ति होती है ॥३४॥

तत्त्वमसीत्यादिवचो भागत्यागाख्यलक्षणावृत्त्या।
साक्षात्कारयति परं जीवपरभिदां समुद्धूय ॥ ३५ ॥

तत्त्वमसि आदि महावाक्य भागत्यागलक्षणा से जीवात्मा और परमात्मा का भेद मिटा कर अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार कराता है ॥३५॥

तत्पदवाच्यो मायोपाधिः सर्वज्ञसर्वशक्तात्मा।
त्वंपदवाच्योऽविद्योपाधिरशक्तोऽल्पधीरात्मा ॥ ३६ ॥

तत्त्वमसि में तत्पद का मायोपाधिक सर्वज्ञ सर्वशक्त परमात्मा वाच्यार्थ है। अविद्योपाधिक अल्पशक्त जीवात्मा त्वंपद का वाच्यार्थ है ॥३६॥

सर्वज्ञाल्पज्ञादि त्यक्त्वा सर्वं विरुद्धभागमतः।
बोधयति तत्त्वमसिगीरखण्डमात्मानमद्वैतम् ॥ ३७ ॥

सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्व, परमत्व जीवत्व आदि समस्त विरुद्ध भाग को त्याग कर तत्त्वमसि महावाक्य अखण्ड अद्वैत आत्मा (ब्रह्म) का साक्षात्कार कराता है ॥३७॥

इति ब्रह्मजिज्ञासाफलनिरूपणम्

ननु मायामयमखिलं मिथ्येति न युज्यते भवद्वचनम्।
सत्यं प्रमाणगम्यं प्रमाणशरणा वयं ह्यर्थे ॥ ३८ ॥

आपने बताया-मायामय संसार मिथ्या है। यह ठीक नहीं है। क्योंकि यह जगत प्रामाणगम्य होने से सत्य है। प्रमाण ही तो हम सब के लिये शरण है ॥३८॥

अत्र ब्रूमः सत्यं जगदिति वक्तुं किमिष्यते भवता।
कामं ब्रवीतु वाच्यं लक्ष्यं हि यतो मम ब्रह्म ॥ ३९ ॥

उत्तर सुनिये। क्या आप जगत् को सत्य बताना चाहते हैं? तो आप खुशी से इसे सत्य कहिये। सत्य पद का वाच्यार्थ यह जगत तो है

ही। हम तो ब्रह्म को सत्यपद का लक्ष्यार्थ कहते हैं। तो वाच्यार्थ कोई न कोई होगा ही।

आकाशादौ सत्यता काचिदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या।
तत्संपर्कात्सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र॥

ऐसा संक्षेपशारीरक में बताया है॥३९॥

सद्दृष्ट्या मिथ्योक्तं व्यवहृतिसत्यां तु मन्महे जगतीम्।
एतत्सत्यविलक्षणमुक्तं सत्यस्य सत्यमिति॥ ४०॥

सत्यपदलक्ष्यार्थं सर्वथा अबाध्य ब्रह्म की दृष्टि से जगत् को मिथ्या बताया (जैसे महापण्डित के सामने अल्पपण्डित को मूढ कहते हैं—देवदत्त शर्मा तो मूढ है पण्डित तो विष्णुदत्त है। इस मूढ का हालिक मूढ अर्थ नहीं)। संसार को हम व्यवहारसत्य मानते ही हैं। इस व्यवहारसत्य से विलक्षण सत्य ब्रह्म को स्वयं श्रुति कहती है—"सत्यस्य सत्यं"।

मिथ्याऽनिर्वचनीयं व्याख्यातं पञ्चपादिकाकृद्भिः।
भावोऽभावयुतश्चेन्मिथ्येति वदन्ति सुधियोऽन्ये॥ ४१॥

मिथ्या शब्द का अर्थ पञ्चपादिका में पद्मादाचार्य ने अनिर्वचनीय बताया है। (निर्वचनगर्व को खण्डनकार ने तथा उसकी नव्य टीका करने वालों ने अच्छी तरह चूर किया है।) भगत लोग भी निर्वचन असंभव दीखने पर भगवान् की लीला कह कर समाप्त करते हैं। मिथ्या का लक्षण अन्य विद्वानों ने यह किया है कि अभाव सहित भाव। "स्वाश्रयवृत्ति-स्वाभावप्रतियोगित्वम्"।

नानन्ते दभ्राणामावापोद्वापयोर्विशेषोऽस्ति।
संविद्रते तदेतद् गणितविदस्तेन मिथ्यात्वम्॥ ४२॥

अनन्त में सौ-दो सौ, लाख-दो लाख डालो या उससे निकालो तो कोई फरक नहीं पड़ता यह गणितज्ञों का परम सिद्धान्त है। बल्कि पूर्ण से पूर्ण भी लो तो भी पूर्ण ही रहेगा यह श्रुतिसिद्धान्त है। तब अनादि अनन्त संसार में और ब्रह्म में परिच्छिन्नों का होना और न होना एक बराबर हुआ। यही तो मिथ्यात्व है। शंका होगी कि इस रीति ब्रह्मरूप पूर्ण से ब्रह्मरूपी पूर्ण निकालने पर भी ब्रह्म पूर्ण ही रहेगा तो भाव और अभाव एक बराबर होने से ब्रह्म भी मिथ्या नहीं होगा? नहीं होगा। क्योंकि ब्रह्म से ब्रह्म निकाला ही नहीं जा सकता। ब्रह्मातिरिक्त सकल प्रपञ्च

अनित्य होने से निकाले जा सकते हैं। अतः हम परिच्छिन्नत्वात् मिथ्या यही अनुमान करते हैं ॥४२॥

इति प्रथमपरिच्छेदः

इत्यद्वैतोपपत्तिः

मानानि नः षडत्र प्रत्यक्षं चानुमानमुपमानम् ।
शब्दोऽर्थापत्तिश्चानुपलब्धिश्चैव राजन्ते ॥ ४३ ॥

इस बात को जानने के लिए छः प्रमाण भी उपयोगी हैं। छः प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ॥४३॥

प्रत्यक्षादिभिरखिलैश्चैतन्यं ब्रह्म सर्वतः स्फुरति ।
वस्त्वखिलमनृतमेव च तान्यधुनातो निरूप्यन्ते ॥ ४४ ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से चैतन्यात्मक ब्रह्म विषयव्याप्त होकर स्फुरित होता है। और मिथ्या वस्तुओं का भी उस चैतन्य में स्फुरण होता है। अतः प्रमाणनिरूपण करते हैं ॥४४॥

प्रत्यक्षमनावृतचित्तादात्म्यं वस्तुतस्तु वृत्तिवशात् ।
विषयावच्छिन्नं किल चैतन्यं भासतेऽध्यक्षे ॥ ४५ ॥

विषयों में अनावृतचित्तादात्म्य ही प्रत्यक्षता है। वस्तुतः विषयाकार वृत्ति से तदाकार अज्ञान आवरण की निवृत्ति होने से तदाकारतया चैतन्य ही प्रत्यक्ष में भासित होता है ॥४५॥

यावत्यः प्रत्यक्षाकृतयस्तावन्मितास्तदावृतयः ।
निरपेक्षकार्यनाशा रूपरसादौ व्यवस्थाऽतः ॥ ४६ ॥

प्रत्यक्ष के जितने आकार हैं उतने ही विषयावरण भी हैं। उनका कार्य तथा नाश भी परस्पर निरपेक्ष हैं। अत एव आम की रसाकार वृत्ति से चैतन्यावरण निवृत्त हुआ तो उस निरावृत्त चैतन्य तादात्म्य तद्देशस्थ रूप-गन्धादि में भी होने से उनका प्रत्यक्ष अंधे आदियों को भी क्यों नहीं होता यह प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि रूपावरण, रसावरण, गन्धावरणादि अलग-अलग ही हैं। रूपावरणनिवृत्ति से तदवच्छिन्नचैतन्यस्फुरण क्यों होगा जब कि उसी जगह गन्धावरण बैठा है, उससे चैतन्य आवृत भी है, ऐसा प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि तत्तदावरण तत्तदंश के ही स्फुरण में बाधक है। जैसे लाल कांच से देखने पर शुक्लत्व आवृत होने पर भी सामान्य रूप, द्रव्य आदि आवृत नहीं होते ॥४६॥

विषयच्छाया वृत्तिं नयनादिषु संनिकृष्टचित्ते च ।
तनुते प्रकाशयति तामात्मच्छायेति वार्त्तिककृत् ॥ ४७ ॥

विषय की छाया आंख आदि में आकर चक्षुरादि वृत्ति को उत्पन्न करती है और चक्षु से संयुक्त चित्त में भी वृत्ति उत्पन्न करती है। वहां आत्मचैतन्य की छाया पड़ती है तो वस्तु का प्रकाश होता है ऐसा वार्त्तिककार दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्त्तिक में कहते हैं ॥४७॥

इति प्रत्यक्षनिरूपणम्

लिङ्गज्ञानादनुमा साध्यव्याप्यं तु पक्षगं लिङ्गम् ।
तत्त्वावच्छेदेन च साध्याश्रयवृत्तिता व्याप्तिः ॥ ४८ ॥

लिङ्गज्ञान से अनुमिति होती है। पक्षवृत्ति साध्यव्याप्य वस्तु लिङ्ग है। हेतुतावच्छेदकावच्छेदेन साध्याश्रयवृत्तिता व्याप्ति है। धूमत्वावच्छेदेन वह्न्याश्रयवृत्तिता है। अतः धूम व्याप्य है। वह्नित्वावच्छेदेन धूमाश्रयवृत्तिता नहीं है। अतः वह्नि व्याप्य नहीं हैं ॥४८॥

भवति परिच्छिन्नत्वाद् दृश्यत्वाच्चाखिलं जगन्मिथ्या ।
अल्पं मर्त्यं न खलु च घटते दृग्दृश्यसम्बन्धः ॥ ४९ ॥

परिच्छिन्न होने से और दृश्य होने से भी जगत् मिथ्या है। परिच्छिन्न अर्थात् अल्प मर्त्य (विनाशी) होता है। दृश्य हो पर दृक् और दृश्य का सम्बन्ध क्या ? संयोगादि नहीं। अतः आध्यासिक सम्बन्ध ही मानना पड़ेगा।

इत्यनुमानप्रकरणम्

अतिदेशवचनपूर्वात् सादृश्यज्ञानतो भवद् ज्ञानम् ।
उपमानमिति प्रोक्तं गवये स्याद् गोसदृग्ज्ञानात् ॥ ५० ॥

गोसदृश गवय है, गौ के समान गवय घास खाता है इत्यादि अतिदेश पूर्वक सादृश्यज्ञान से गवय में होने वाला ज्ञान उपमा है ॥५०॥

गवयत्वज्ञानं वा गवयपदार्थत्वबुद्धिरुत वास्मिन् ।
तज्जातित्वमतिर्वा ज्ञीप्सितधर्मावबोधो वा ॥ ५१ ॥

न्यायभाष्यकार ने इसके अनेक उदाहरण दिये हैं। उसका तात्पर्य उपमान के विषय को विस्तृत दिखाना है। ऐसा वार्त्तिक-तात्पर्यटीकादि मे बताया है। एक से अधिक समानाकृति दीखने पर जाति की अभिव्यक्ति

होती है। किन्तु अतिदेश वाक्य होने पर सादृश्यज्ञान मात्र से जाति की अभिव्यक्ति होगी। यह उपमा है। अथवा गवयो गवयपदार्थः ऐसा वाच्य-वाचकताज्ञान उपमा हैं। अथवा अनेक गवयों को देखे विना गवयत्वं जातिः ऐसा ज्ञान उपमा है। गोवद् गवय घास खाता है यहां जिज्ञासित धर्मविशेषबोध उपमा है ॥५१॥

गगनवदात्मा व्यापीत्युक्ते स्याद् व्यापिताविशेषमतिः ।
नेयं शाब्दी किं खलु नानुमितिर्न्यायवाक्येन ॥ ५२ ॥

"आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" कहने पर आत्मा में विलक्षण व्यापकत्व बुद्धि जो होती है वह शाब्दबोध नहीं है। क्या 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि न्याय वाक्य से शाब्दबोधातिरिक्त अनुमिति नहीं होती ? परार्थानुमिति सर्वसंमत है। वहां कह सकते थे—पर्वतो वह्निमान् से शाब्द-बोध हो गया। अप्रामाण्यशंकानिवृत्त्यर्थं 'धूमात्' इत्यादिकथन है। पर ऐसा किसी ने नहीं माना ॥५२॥

इत्युपमाननिरूपणम्

शब्दज्ञानाच्छाब्दी भवति मतिः शक्तिलक्षणे वृत्ती ।
क्वचिदन्वयबोधः स क्वचिदेषाऽखण्डवस्तुमतिः ॥ ५३ ॥

शब्दज्ञान से शाब्दबोध प्रमा होती है। उसके लिए शक्ति और लक्षणा दो वृत्तियां हैं। कहीं वह अन्वयबोधरूप और कहीं अखण्डबोध-रूप होता है ॥५३॥

चन्द्रः क इति प्रश्ने ह्युत्कृष्टरुगित्यखण्डमवगमयेत् ।
अन्वयपूर्वं तु परे तत्त्वमसीत्यत्र च तथैव ॥ ५४ ॥

चन्द्र कौन ? ऐसा प्रश्न किया। उत्तर मिला—प्रकृष्टप्रकाशवान् चन्द्र है। न प्रकृष्टत्व के बारे में और न प्रकाश के बारे में पूछा था। अतः वहां जिज्ञासित चन्द्र का ही अखण्ड बोध स्वीकार्य है। वह प्रकृष्ट प्रकाशादि का प्राथमिक अन्वयबोधपूर्वक द्वितीय ज्ञान है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। जैसा भी हो अखण्ड बोध तो होता ही है। वैसे तत्त्वमसि में भी है ॥५४॥

दशमस्त्वमसीत्यादौ प्रत्यक्षं शब्दतो भवेज्ज्ञानम् ।
तत्त्वमसीत्यादावप्येवं साक्षात्कृतिः शब्दात् ॥ ५५ ॥

दसवां तू है इस शब्द से दशमत्वेन स्वयं का प्रत्यक्ष होता है। वैसे तत्त्वमसि वाक्य से भी आत्मा का साक्षात्कार होता है ॥५५॥

निर्दिश्याङ्गुल्यायं घट इति कथने नु शाब्दधीः किं ते ।
नाद्राक्षमिति मतिः स्यात् किं तरसान्यानुमानादौ ।। ५६ ।।

कोई घट को समझ नहीं पा रहा था। दूसरे ने अंगुलीनिर्देश कर कहा यह घट है। वहां आप को शाब्दबोध होगा कि प्रत्यक्ष? । यदि निजाग्रह वश शाब्दबोध ही मानेंगे तो उसी जगह 'अयं घटः वह्नि व्याप्यधूमवांश्च पर्वतः' कह दिया तो दूसरे क्षण में घटशाब्दबोध और व्याप्तिज्ञान हो गया। तो तृतीयक्षण में भिन्नविषयकानुमितिसामग्री प्रबल होने से या तत्क्षण चक्षुः-संयोगनाश हुआ तो उससे अनुमिति ही होगी। तब चतुर्थक्षण में यही कहेंगे कि मैंने घट देखा ही नहीं। खाली सुना। ऐसा अनुव्यवसाय या व्यवहार होना चाहिए जो कि सर्वानुभवविरुद्ध है। अतः वह शब्द से प्रत्यक्ष ही होगा। अपरोक्षयोग्यवस्तु में शब्द से अपरोक्ष ज्ञान ही होगा। आत्मा स्वयंप्रकाश होने से अपरोक्ष है, वहां तत्त्वमसि से अपरोक्ष ही होगा।

तमसस्पारं भगवान् दर्शयति सनत्कुमार इत्येवम् ।
श्रुतिराहोपदिशन्तं परममुनिं नारदाय किल ।। ५७ ।।

सनत्कुमार जी नारद जी को उपदेश ही दे रहे थे। उस बात को ले कर छान्दोग्य में कहा—"तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" तमसस्पार ब्रह्म को दिखाते हैं, दर्शन करा रहे हैं, यह स्पष्ट ही उपदेश का फल दर्शन बता रहा है ।।५७।।

इति शब्दनिरूपणम्

येन विना यन्न स्याद् व्यतिरेकव्याप्तिजन्यतज्ज्ञानम् ।
अर्थापत्तिः शून्यं वदतां खलु साक्षिणं गमयेत् ।। ५८ ।।

जिसके बिना जो अनुपपन्न है उसका ज्ञान व्यतिरेकव्याप्तिजन्य है। यही अर्थापत्ति है। वह शून्यवादी के मत में भी साक्षी को सिद्ध करायेगी। शून्य को यदि समझा तो समझने वाला साक्षी सिद्ध हुआ। नहीं समझा तो शून्य सिद्ध ही नहीं होगा ।।५३।।

इत्यर्थापत्तिनिरूपणम्

योग्यानुपलब्ध्या यद्विरहो निश्चीयते प्रमाणं तत् ।
नास्ति वने सिंह इति हि पृष्टो ब्रूते ह्यनुपलब्धेः ।। ५९ ।।

कोई जङ्गल जाकर आया। जङ्गल में उसको सिंह का ख्याल नहीं था। अतः प्रतियोगी का ज्ञान न होने से अभावज्ञान का सवाल नहीं रहा।

घर में आने पर किसी ने पूछा—जङ्गल में सिंह है ? सिंह का ख्याल आते ही झट बोला—सिंह नहीं है। यह ज्ञान स्मरणात्मक या प्रत्यक्षात्मक नहीं है। अतः योग्यानुपलब्धिप्रमाणजन्य है ॥५९॥

ब्रह्मोपादानमिदं ब्रह्मणि बुद्धे कथं न बुध्येत।
अविकल्पके समाधौ नास्ति ततो वस्तुतस्तु जगत् ॥ ६० ॥

जगत् ब्रह्मोपादानक है। तन्तु दीखे ओर तन्तुस्थ पट न दीखे ऐसा नहीं होता। तब निर्विकल्पक समाधि में उपादान ब्रह्मदर्शन होने पर भी जगत् जो नहीं दीखता उससे सिद्ध है कि वस्तुतः जगत् नहीं है ॥६०॥

इति प्रमाणनिरूपणम्

द्विविधं प्रमेयमुक्तं परमार्थं व्यावहारिकं चैव।
परमार्थं ब्रह्मैव व्योमादि व्यावहारिकसत् ॥ ६१ ॥

प्रमाणों का प्रमेय द्विविध है। एक परमार्थिक है। दूसरा व्यावहारिक है। परमार्थ तो एकमात्र ब्रह्म है। आकाशादि की व्यावहारिक सत्ता है। (प्रतिभासिकसत्ता प्रमाविषय नहीं, भ्रमविषय है, अतः प्रमेयरूपेण उसकी गणना नहीं की) ॥६१॥

मायाविवर्त्तितं तद् ब्रह्मैव व्यावहारिकं न पृथक्।
मायाऽनिर्वचनीया सत्त्वासत्त्वादिरूपेण ॥ ६२ ॥

आकाशादि मायाप्रयुक्त ब्रह्मविवर्त्त ही है। व्यावहारिक सत् कोई पृथक तत्त्व नहीं है। माया सत् या असत् रूप से, भिन्न या अभिन्न रूप से अनिर्वनीय है ॥६२॥

आवरणशक्तिरस्याः परममखण्डं स्वरूपमावृणुयात्।
विक्षेपशक्तिरस्या ब्रह्मणि हि विवर्त्तयति विश्वम् ॥ ६३ ॥

माया की दो शक्तियां हैं। एक आवरणशक्ति है दूसरी विक्षेपशक्ति है। आवरणशक्ति ब्रह्म के अखण्ड आनन्दरूप को ढकती है। विक्षेपशक्ति उसमें जगत् को विवर्त्तित करती है ॥६३॥

मायाविशिष्टचित्स्यादीशो यदखण्डताऽऽवृता हि तया।
तदवयवाऽविद्यायुतचित्तु सुषुप्तौ भवेत्प्राज्ञः ॥ ६४ ॥

मायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है। उसमें अखण्डता माया से आवृत है। माया के अवयव अविद्या से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है। वह सुषुप्ति में प्राज्ञ कहलाता है ॥६४॥

मायोद्भवसूक्ष्मजगत्समष्टियुतचिद्धिरण्यगर्भाख्या ।
तद्व्यष्टिविशिष्टा चित्तैजस इत्युच्यते स्वप्ने ॥ ६५ ॥

माया से उत्पन्न सूक्ष्म जगत् की समष्टि से अवच्छिन्न चैतन्य हिरण्यगर्भ है। तथा उसी की व्यष्टि से अवच्छिन्न चैतन्य स्वप्न में तैजस कहलाता है ॥६५॥

तादृक्स्थूलसमष्टया युक्तं चैतन्यमभ्यधायि विराट् ।
व्यष्टिविशिष्टं प्रोक्तं चैतन्यं जाग्रति तु विश्वः ॥ ६६ ॥

मायोत्पन्न स्थूल जगत् की समष्टि से युक्त चैतन्य विराट् है और व्यष्टि से अवच्छिन्न चैतन्य जाग्रत में विश्व है ॥६६॥

ईश्वरकृतकामनया मायावृत्त्या ह्यदृष्टसहकृतया ।
आकाशः सूक्ष्मोऽभूद् या तूक्ता शब्दतन्मात्रा ॥ ६७ ॥

सूक्ष्म और स्थूल जगत् कैसे हुआ ? सुनो। मायावृत्तिविशेषरूप ईश्वरेच्छा जीवादृष्टसहकृत हो कर प्रथम सूक्ष्म आकाश उत्पन्न करती है। उसी को शब्दतन्मात्रा कहते हैं ॥६७॥

तस्माद्वायुर्वायोरग्निरथापस्ततस्ततः पृथ्वी ।
तेषां गुणास्तु शब्दः स्पर्शो रूपं रसो गन्धः ॥ ६८ ॥

आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी हुई। इन्हीं को स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा एवं गन्धतन्मात्र भी कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन आकाशादि के गुण हैं ॥६७॥

वाय्वादिष्वधिकगुणा जायन्ते पूर्वपूर्वसंयोगात् ।
स्यादेकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणत्वं क्रमात्तेषाम् ॥ ६९ ॥

आकाश में एक शब्द गुण है। वायु आदि में पूर्व-पूर्व संयोग से एक-एक गुण बढते जाते हैं। वायु में शब्द और स्पर्श, तेज में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण हैं ॥६९॥

श्रोत्रत्वगक्षिरसनाघ्राणास्तेषां च सात्त्विकांशेभ्यः ।
तन्मुख्यैकैकार्थग्रहणा ज्ञानेन्द्रियाख्याः स्युः ॥ ७० ॥

सांख्यादि के समान अहंकार से इन्द्रियजन्म नहीं। किन्तु आकाशादि के सात्त्विक अंशों से पृथक् पृथक् उन्हीं के मुख्यगुण शब्दादि के ग्राहक श्रोत्र,

त्वक्, अक्षि, रसना और घ्राण ऐसे पांच ज्ञानेन्द्रियां हुईं ।।७०।।

एभिः समष्टिभूतैः स्यादन्तःकरणमखिलतद्ग्रहणम् ।
चत्वारि मनो बुद्धिश्चित्तमहङ्कार इति भेदात् ।। ७१ ।।

शब्दादिसकलग्राहक अत एव आकाशादि के सात्त्विकांशसमष्टि से जन्य अन्तःकरण माना गया है। मन बुद्धि चित्त और अहंकार उसके भेद हैं ।।७१

दिग्वातारुणवरुणाश्विन इति खानां भवन्ति पञ्चानाम् ।
देवाश्चन्द्रचतुर्मुखशङ्करहरयश्चतुर्णां च ।। ७२ ।।

श्रोत्र का दिग्देवता, त्वक् का वात, नेत्र का सूर्य, रसना का वरुण और नासिका का अश्विनीकुमार देवता हैं। मन का चन्द्रमा, बुद्धि का ब्रह्मा चित्त का विष्णु और अहंकार का शंकर देवता है ।।७२।।

वाक्पाणिपादयूपस्थाः स्यू राजसांशतस्तेषाम् ।
व्यष्टचा तथा समष्टचा प्राणाद्या वायवः पञ्च ।। ७३ ।।

आकाशादि के राजसांश की व्यष्टि से वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियाँ हुईं और समष्टि से पञ्च प्राण हुए ।।७३।।

अग्नीन्द्रविष्णुमृत्युप्रजापतीत्याह्वयाश्च देवाः स्युः ।
वागादीनां क्रमशः पञ्चानुग्राहिणस्तेषाम् ।। ७४ ।।

वाक् आदि पांच उन इन्द्रियों के अनुग्राहक अग्नि, इन्द्र, विष्णु यम एवं प्रजापति ये पांच देव हैं ।।७४।।

एषा तु सूक्ष्मसृष्टिः समष्टिरस्या हिरण्यगर्भस्य ।
सूक्ष्मं शरीरमुक्तं व्यष्टिः पुनरस्मदादीनाम् ।। ७५ ।।

यही सूक्ष्मसृष्टि है। इसकी समष्टि हिरण्यगर्भ (सूत्रात्मा) का सूक्ष्म शरीर है। और व्यष्टि जीवात्माओं का सूक्ष्म शरीर है ।।७५।।

तेषां च तामसांशैः पञ्चीकरणेन पञ्चभिः पञ्च ।
जायन्ते गगनानिलपावकजलभूमयः स्थूलाः ।। ७६ ।।

आकाशादि तन्मात्राओं के तामस अंशों का पञ्चीकरण करने से स्थूल आकाश, स्थूल वायु आदि पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं ।।७६।।

द्वेधा विभज्य खादीन्यर्धान्येषां पुनश्चतुर्धा च ।
स्वस्वेतरार्धयोगात्पञ्चीकरणं हि भूतानाम् ।। ७७ ।।

आकाशादि को प्रथम दो-दो भागों में विभक्त कर फिर पाँच अर्धों को चार-चार कर अपने अर्ध से इतर चार अर्धों में जोड़ने से पञ्चीकरण होता है ॥७७॥

तेभ्योऽण्डमत्र लोकांस्तेष्वेव जरायुजाण्डजोद्भिज्जान् ।
स स्वेदजांश्च सृष्ट्वा स्रष्टाऽनुप्राविशत्तेषु ॥ ७८ ॥

पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से ब्रह्माण्ड तथा उसमें लोक तथा लोकों में जरायुज अण्डज उद्भिज्ज और स्वेदज चतुर्विध प्राणियों को सृष्टिकर स्रष्टा परमेश्वर उनमें अनुप्रविष्ट हुआ ॥७८॥

स ब्रह्मा हरिरीशः सर्वं च जगत्तथा च तत्त्वमसि ।
केचिद्विशिष्टरूपाः केचिच्च विवर्त्तरूपाः स्युः ॥ ७९ ॥

वही "सदेव सौम्य" से उपक्रान्त "तदेक्षत" इत्यादि से उपपादित स्रष्टा ब्रह्मा है विष्णु और महेश्वर है। वही "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" इस उपसंहारानुरोध से समस्त जगत् है। वही 'तत्त्वमसि' वाक्य से जीव है। इनमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जीव आदि विशिष्ट चैतन्यरूप है तथा आकाशादि चैतन्य का विवर्त्तरूप है ॥७९॥

इति प्रमाणप्रमेयनिरूपणात्मको द्वितीयः परिच्छेदः

भ्रान्तिरनिर्वचनीयख्यातिः प्रोक्ता विवर्त्तविषयत्वात् ।
प्रत्यक्ष-साक्षिवेद्य-स्वयंप्रकाशेष्वविद्यातः ॥ ८० ॥

भ्रान्ति विवर्त्तविषयक होती है। अतएव वेदान्त मत में अनिर्वचनीयख्याति है। कहीं प्रात्यक्षिक अर्थ में, कहीं साक्षिवेद्य वस्तु में और कहीं स्वयंप्रकाश ब्रह्म रूप में अविद्या से अनिर्वचनीयोत्पत्ति और भ्रान्ति होती है ॥८०॥

प्रात्यक्षिकेदमर्थे शुक्त्यज्ञानं तमोंऽशतो रजतम् ।
सत्त्वांशतश्च तद्धियमपि वासनया विवर्त्तयति ॥ ८१ ॥

ऐन्द्रियकप्रत्यक्षविषय इदमर्थ में शुक्तिविषयक अज्ञान अपने तामस अंश से रजत को और सात्त्विक अंश से रजतज्ञान को रजतवासना के द्वारा विवर्त्तित करता है ॥८१॥

अप्रत्यक्षे गगने तलमालिन्यादि साक्षिवेद्यत्वात् ।
अध्यस्यन्ति हि बाला करणादेर्दोषविरहेऽपि ॥ ८२ ॥

गगन अप्रत्यक्ष है, फिर भी साक्षिवेद्य होने से उसमें अज्ञानी बालक तलमालिन्यादि का अध्यास करते हैं। जब कि चक्षुदोषादि कोई भी वहाँ नहीं है ॥८२॥

इत्थं स्वयंप्रकाशे ब्रह्मणि सर्वं विवर्त्तते विश्वम् ।
अणुषु घटादिश्चैवं जलमुचि रथकुञ्जरादिरिव ॥ ८३ ॥

स्वयंप्रकाश का उदाहरण ब्रह्म है। ब्रह्म में प्रपञ्चाध्यास होता है। अणुओं में घटादि भी अध्यस्त है जैसे संनिवेशविशेष के कारण बादल में रथ हाथी आदि के आकार का अध्यास होता है ॥८३॥

चिति पारमार्थिकी खलु सत्तेष्टा व्यावहारिकी जगति ।
स्यात्प्रातिभासिकी सा रज्जूरगशुक्तिरजतादौ ॥ ८४ ॥

यदि विश्व भी भ्रान्ति है तो पहले प्रमाण-प्रमेयभाव कैसे बताया ? कारण हम तीन सत्ता मानते हैं। आपेक्षिक प्रमेयता प्रपञ्च में हैं। पारमार्थिक सत्ता केवल चित् ब्रह्म में है। व्यावहारिक सत्ता प्रपञ्च में है। रज्जुसर्प शुक्तिरजतादि में प्रातिभासिक सत्ता है ॥८४॥

मृदि योऽनिर्वचनीयो भिन्नाभिन्नत्वतो घटस्तेन ।
भवति व्यवहारोऽतो व्यर्थः परमार्थसत्ताऽस्य ॥ ८५ ॥

मिट्टी में भिन्नत्वेन अभिन्नत्वेन निर्वचन-अयोग्य घट से व्यवहार संभव होने से पारमार्थिक घट मानना वृथा है, असंभव भी है।

सद्रूपत्वे न भवोऽभावमियाज्ज्ञानतोऽन्यतो वापि ।
अनभिव्यक्तानन्तानेहःस्थानं वृथा मुक्तौ ॥ ८६ ॥

घटादिरूप तथा दुःखमोहादिरूप यह प्रपञ्च यदि सत् है तो ज्ञान भक्ति आदि किसी भी साधन से इसकी निवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि "नाभावो विद्यते सतः" यह परम सिद्धान्त है। मोक्ष काल में दुःखादि की निवृत्ति नहीं हुई तो मोक्ष क्या ? कुछ लोग कहते हैं—प्रथम अनभिव्यक्त था वह अभिव्यक्त हुआ यही उत्पत्ति है। और अभिव्यक्त बाद में पुनः अनभिव्यक्त होता है यही नाश है। पर वह अभिव्यक्ति पहले से थी कि नहीं ? वह भी अनभिव्यक्त थी क्या ? अर्थात् अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति मान्य है क्या ? अन्ततः अनवस्था निश्चित होने से अनिर्वचनीयता में पर्यवसान किसी भी हालत में मिटाया नहीं जा सकता। मोक्षकाल में

अनन्त काल तक अनभिव्यक्तरूप में दुःखादि की स्थिति मानना अपने माने हुए खरगोश के सींग को साबित करने का यत्नमात्र होगा। सो भी निरर्थक। दुःख न रहा, अनभिव्यक्त दुःख रहा इन दोनों में क्या फरक है? एक अप्रामाणिक का अस्तित्व मानना मात्र।

ईशोऽधिकारवर्त्ती रचयति विक्षेपशक्तितो भुवनम्।
नावरणमस्य जीवन्मुक्तस्य च भवमृषात्वदृशोः॥ ८७॥

ईश्वर का अनादिसिद्ध अधिकार होने से मायाविक्षेपशक्ति से जगत् की रचना आदि करता है। अनादिकाल से ही ईश्वर में आवरण नहीं है। अतः अनादिकाल से जगत् बाधित तथा बाधितानुवृत्त है। बाधित का अर्थ है—मृषात्वेन दृष्ट। जीवन्मुक्त में भी सादिरूप से बाध तथा बाधितानुवृत्ति होती है॥८७॥

तदुभययुक् तादात्म्यं मूढोऽहंकारधीमनःप्रभृतेः।
अध्यस्यात्मनि सीदति तद्धर्मांस्तेषु चान्योन्यम्॥ ८८॥

विक्षेपशक्ति तथा आवरणशक्ति दोनों से आक्रान्त मूढ अहंकार, बुद्धि एवं मन आदि का तादात्म्य आत्मा में और आत्मतादात्म्य को अहंकारादि में तथा अन्योन्यधर्मों को भी परस्पर में अध्यस्त कर दुःख पाता है॥८८॥

एषोऽध्यासः प्रसरन् व्याप्नोति द्रविणदारतनयादौ।
धनिनि दरिद्रे च सुते मूढं स्वं तादृशं मनुते॥ ८९॥

यह अध्यास फैलकर धन-दार-सुतादि में भी व्याप्त होता है। आश्रमान्तर जाने के बाद भी पूर्वश्रमीय सुतादि के धनी या दरिद्र होने पर स्वयं को वैसे मान कर प्रसन्न होते हुए और रोते हुए देखे जा सकते हैं॥८९॥

केचिच्छरीरमिन्द्रियमपरे प्राणं मनोधियौ प्रायः।
आत्मानं कर्त्तारं भोक्तारं चापि मन्यन्ते॥ ९०॥

बहुत से लोग शरीर इन्द्रिय को, अन्य प्राण को प्रायः लोग मन और बुद्धि को ही आत्मा मानते हैं और उसे कर्त्ता भोक्ता भी मानते है॥९०॥

अन्तःकरणाद्भिन्नं कर्त्तारं स्वप्रकाशमिष्ट्वापि।
सांख्याः खलु भोक्तृत्वान्नात्मानममूचन्नहह॥ ९१॥

अन्तःकरण से भिन्न स्वप्रकाश अकर्त्ता आत्मा को मानकर भी सांख्य वाले भोक्तापने से उसे छुड़ा नहीं सके। कैसा आश्चर्य?॥९१॥

यदि न खलु बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
किमति पुनरात्मभेदं मनुषे भवसत्यतां चैव ॥ ९२ ॥

"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा" इत्यादि सांख्यकारिका में कहा—वह बन्धन में नहीं पड़ता, मुक्त भी नहीं होता, संसारी भी नहीं होता। तब यह सोचो कि आत्मभेद मानने की क्या जरूरत ? जगत्सत्यता की भी क्या उपयोगिता ?

औपाधिकभेदोऽयमविद्यानानात्वतस्त्वनादिभवः ।
यस्यात्मबोधभास्वानुदयति नश्यत्यविद्यान्ध्यम् ॥ ९३ ॥

अविद्या (अन्तःकरण) भेद से आत्मा का औपाधिक भेद है। ज्ञान सूर्योदय से अविद्यान्धकार नष्ट होने पर भेद भी मिट जाता है ॥९३॥

नष्टमपि कृतार्थं प्रत्यज्ञानमनष्टमन्यसामान्यात् ।
तदनिर्वचनीयत्वादाहापि पतञ्जलिर्भगवान् ॥ ९४ ॥

माया कृतार्थं (मुक्त) के प्रति नष्ट होने पर भी अन्य के लिये नष्ट नहीं होती। क्योंकि अनिर्वचनीय ही जो ठहरी। यही बात भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा ॥९४॥

इत्यध्यासाध्यास्यनिरूपणं तृतीयः परिच्छेदः

पञ्चभ्यः कोशेभ्यो निष्कर्षात् स्यात्तदात्मविज्ञानम् ।
देहेभ्यस्त्रिभ्यो वा निर्गुणसमुपास्तितो वापि ॥ ९५ ॥

पञ्चकोश विवेक, या देहत्रयविवेक या निर्गुणोपासना से आत्मज्ञान होता है ॥९५॥

कोशाः पुनरन्नमयः प्राणमयोऽथो मनोमयश्चैव ।
एवं विज्ञानमयश्चानन्दमयश्च पञ्चैते ॥ ९६ ॥

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पाँच कोश है ॥९६॥

स्थूलं वपुरन्नमयं प्राणाः कर्मेन्द्रियैर्युतस्त्वपरः ।
धीन्द्रिययुक्ते च मनोबुद्धी. कोशौ परौ द्वौ स्ताम् ॥ ९७ ॥

स्थूलशरीर अन्नमय कोश है। कर्मेन्द्रियसहित प्राण प्राणमय कोश है। ज्ञानेन्द्रिय से युक्त मन मनोमय कोश है, और ज्ञानेन्द्रिययुक्त ही बुद्धि विज्ञानमय कोश है ॥९७॥

अज्ञानवृत्तिरेकाऽऽनन्दप्रतिबिम्बसंयुता भोक्त्री ।
आनन्दमयः सोऽयं पञ्चभिरात्मा पिहित एभिः ॥ ९८ ॥

आनन्दप्रतिबिम्बसहित एक अज्ञानवृत्ति है जो भोक्ता है। वही आनन्दमय कोश है। इन पांच कोशों से आत्मा आच्छादित है ॥९८॥

वेदान्तश्रवणादिजधैर्येणाभ्यासवर्धितेन मुहुः ।
प्रवृहेदात्मानं स्वाद्देहान्मुञ्जादिवेषीकाम् ॥ ९९ ॥

वेदान्त के श्रवण मनन से जन्य निरन्तर निदिध्यासन से वर्धित बोध रूपी धैर्य से आत्मा को पांच कोशों से और देहों से पृथक् करें। जैसे मूंज घास से सीक को ॥९९॥

स्थूलं तु साप्तधातुकमेतत्स्यात्सप्तदशकमथ लिङ्गम्।
अज्ञानमेव कारणमाहुर्देहत्रयं त्वेतत् ॥ १०० ॥

सप्तधातुधृत यही शरीर स्थूल देह है। पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय पांच प्राण मन और बुद्धि ऐसे सत्रह तत्त्व वाला सूक्ष्मशरीर है। अज्ञान ही कारण शरीर है। इस प्रकार तीन देह बताये गये हैं ॥१००॥

स्वप्नेऽस्त्यात्मस्फुरणं न स्थूलकलेवरस्य जाग्रति तु ।
न स्वप्नदेहबोधः स्फुरणं पुनरात्मनस्तुल्यम् ॥ १०१ ॥

नैव सुषुप्तावुभयं किन्त्वस्त्येवात्मनः स्फुटं स्फुरणम् ।
न विपर्यस्यति नापि च संदिग्धेऽस्मिन्निति प्रवृहेत् ॥ १०२ ॥

स्वप्नकाल में आत्मस्फुरण है स्थूलशरीरस्फुरण नहीं है। अतः स्थूल शरीर आत्मा नहीं। जाग्रत में आत्मस्फुरण तुल्य है किन्तु स्वप्नदेहस्फुरण नहीं है अतः स्वप्नशरीर भी आत्मा नहीं। सुषुप्ति में दोनों का स्फुरण नहीं और आत्मस्फुरण है। जाग्रत् में मैं था या नहीं, मैं नहीं था इत्यादि सन्देह विपर्यास अज्ञानादि नहीं, इस रीति शरीरत्रय से आत्मा को पृथक् करो ॥

श्रवणाद्यभ्यासेनाप्यविकल्पधिया समाधिना चापि ।
ईश्वरगुरुभक्त्यापि च साक्षात्कृतिरात्मनो भवति ॥ १०३ ॥

श्रवण मनन के अभ्यास से, निर्विकल्पकचित्तवृत्ति से, तथा समाधि से एवं ईश्वर-गुरुभक्ति से आत्मसाक्षात्कार होता है ॥१०३॥

ॐकारं वा प्रजपन् स्थूलं सूक्ष्मेऽथ कारणे सूक्ष्मम् ।
तच्च तुरीये नीत्वा साक्षात्कुरुते परात्मानम् ॥ १०४ ॥

अथवा ओंकार का जप करते हुए अकारार्थ स्थूल को सूक्ष्म उकारार्थ में और उसे मकारार्थ कारण में और उसे तुरीय में विलापन करते रहने पर भी महावाक्यश्रोता को साक्षात्कार होता है ॥१०४॥

यद्वा पृथिवीं सलिले तेजसि वायौ क्रमेण नभसि तथा।
आत्मनि सकलं नीत्वा स्वस्थः पश्येत् स्वमात्मानम् ॥ १०५ ॥

अथवा पृथिवी को जल में जल को तेज में उसे वायु में, वायु को आकाश में और आकाश को-सब को आत्मा में विलीन कर अपने आप में जो महा-वाक्यश्रोता स्थित हो वह आत्मा का दर्शन पाता है ॥१०५॥

अथवेदमस्तिभातिप्रियतत्त्वे नामरूपलक्ष्म जगत् ।
ब्रह्मण्येकीभूतं पश्यन् साक्षात्करोति परम् ॥ १०६ ॥

अथवा अस्ति भाति प्रियरूप ब्रह्म में नामरूप प्रपञ्च को एकीभूत अनुसन्धान करने वाला महावक्यश्रोता परमात्मसाक्षात्कार करता है ॥

तर्हि स मुक्तो यावत्प्रारब्धं वर्त्तते शरीरयुतः ।
प्रारब्धान्ते मुक्तो ब्रह्मात्मतयाऽवतिष्ठेत ॥ १०७ ॥

आत्मसाक्षात्कार होते ही वह मुक्त अर्थात् जीवन्मुक्त होता है। जब तक प्रारब्ध है तब तक सदेह रहता है। प्रारब्ध समाप्त होने पर विदेहमुक्त हो कर ब्रह्मस्वरूपेण अवस्थित होता है ॥१०७॥

अवितर्क्यमौपनिषदं वाङ्मनसाऽविषयपरमपुरुषार्थम् ।
मा स्म निकृढ्वं मुक्तावानन्दमरागतर्कहताः ॥१०८॥

बौद्धों का तर्क है कि मोक्ष में यदि राग है तो मोक्ष ही क्या ? यदि नहीं तो आनन्द रहे या न रहे, आत्मा रहे या न रहे क्या फरक ? परन्तु यह परमार्थ तत्त्व वाणी और मन का अविषय है। तर्क का अविषय है। केवल उपनिषद्गम्य है। राग के बिना ही वह परम पुरुषार्थ है। यदि वाणी से कथंचित् कहना हो तो यूं कहिये—जैसे आनन्द नित्यचैतन्याभिन्न है वैसे नित्येच्छाऽभिन्न भी है। अतएव वेदान्त में उसे पुरुषार्थ कहा। अर्थ्यमानत्वादर्थः। अर्थना है तभी तो अर्थ है। किन्तु आनन्दाभिन्न ही वह अर्थना है। "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्"। अन्यथा निरात्मता में ही डूबना पड़ेगा ॥१०८॥

इति मोक्षप्रकरणम्

व्यवहारे भट्टनयं यादृक् तादृक् च तत्त्वमाश्रुत्य ।
परमार्थं श्रुतिवचनैरिह हि प्रतिबोध्यते तत्त्वम् ॥ १०९ ॥

व्यवहार में प्रायः भट्टसिद्धान्त को माना है। और जिस से परमार्थं बोध हो वैसे तत्त्व को स्वीकारा है। प्रक्रिया में अधिक आग्रह नहीं है। यहां तो श्रुतिवचनों को लेकर परमार्थतत्त्व का प्रतिबोधन अभीष्ट है। "यया यया भवेत्पुसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि। सा सैव प्रक्रिया साध्वी ज्ञेया सा चानवस्थिता" ऐसा सुरेश्वराचार्यवचन है। यद्यपि प्रतिभासिक की अपेक्षा से जगत् को हम सत्य बोल सकते हैं। जैसे श्लोक ३९ में बताया। तथापि ब्रह्म दृष्टि को मुख्यता लाने के लिए वैराग्यार्थं मिथ्या कहा जाता है ॥१०८

परमः सिद्धान्तोऽयं सकलासूयादिदोषनिर्मुक्तैः ।
अधिकारसमनुरूपं वादगणैः सार्धमाद्रियते ॥ ११० ॥

यही केवल अद्वैत परम सिद्धान्त है। असूयादि सकल दोषों से रहित महान् सन्त इसी का आदर करते हैं। अन्य वादों से कोई द्वेष नहीं है। अधिकार के अनुसार आदरणीय हैं। "तैरयं न विरुध्यते"। वे सब एक-एक मार्ग है ॥१०९॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलायकृता ।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥ १११ ॥

सर्वेषामुपकृतये निरसूयूनां परं गवेषयताम् ।
सुधियां कृते विचारान् संक्षिप्य कृतिः कृता विमला ॥११२॥

नयनपुमर्थखनयने (२०४२) श्रावणमासे च पूर्णिमाख्यतिथौ ।
मङ्गलवासरदिवसे ग्रन्थोऽयं पूर्णतामगमत् ॥११३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यमहामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयते: कृतौ द्वादशदर्शनपदार्थसंग्रहः समाप्तिमगात् ॥

अथ विमर्शः

इत्थं सकलमपि मतं दार्शनिकानां प्रदर्शितं प्रायः ।
इतरेतरसविरोधं स्वमताभिनिवेशवलितानाम् ।। १ ।।

इस प्रकार दार्शनिकों के सभी मत प्रायः दिखा दिये । प्रायः सभी दार्शनिक अपने मत में अभिनिवेश रखते ही हैं और परस्पर विरोधी भी हैं ।।१।।

परमतमखिलैर्मिथ्या कल्पनमात्रं प्रसाधितं प्राज्ञैः ।
सकलमपि मतं मिथ्याकल्पनमात्रं ततः सिद्धम् ।। २ ।।

सभी विद्वानों ने परमत को मिथ्याकल्पनामात्र बताया । परस्पर इस आरोप का परिणाम यही निकला कि सभी मत मिथ्याकल्पना मात्र है ।।२।।

सैद्धान्तिकेऽपि तदिदं स्वमतेऽध्वनि योजयध्वमित्याह ।
खण्डनकृद् यस्य मतं वेद स नेत्याह च श्रुतिगीः ।। ३ ।।

सैद्धान्तिक स्वाभिमत मार्ग में भी इन खण्डनों को जोड लो ऐसा खण्डनकार भी कहते हैं और श्रुति भी कहती है कि "मतं यस्य न वेद सः" जिसका मत है वह नहीं जानता इस ब्रह्म को ।।३।।

अमतं परमार्थं शिवमद्वैतं सुन्दरं स्वतः सिद्धम् ।
वन्देमहि तं महितं परमात्मानं स्वमात्मानम् ।। ४ ।।

जो अमत है, स्वतःसिद्ध है वही परमार्थसत्य अद्वैत शिव एवं सुन्दर है । उस निजात्मस्वरूप ब्रह्मरूपी परमात्मा की हम वन्दना करें ।।४।।

(परिशिष्टम्)

भक्तितत्त्वनिरूपणम्

वन्देमहि किमपि महो वृन्दावनमञ्जुकुञ्जसञ्चारि ।
प्रेममयं यत्कलया जीवति सकलोऽपि लोकोऽयम् ।। १ ।।

वाणी का अविषय वृन्दावन के मञ्जुल कुञ्जों में बिहार करने वाले प्रेममय उस ज्योति की हम वन्दना करते हैं जिसकी लेश कला से ही यह समस्त जगत जीवित है। सर्वथा कहीं भी प्रेम न हो तो खाना पीना यहाँ तक कि श्वास लेना-छोड़ना भी कोई पसन्द नहीं करेगा। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमसागरस्वरूप है। हम उन्हीं की वन्दना करें ।।१।।

नारदपराशराद्यैर्दर्शितममलं सभक्ति भक्तवरैः ।
नानाचार्यैर्विवृतं व्याख्यास्ये भक्तितत्त्वमतः ।। २ ।।

भक्तवर नारद पराशरादि ऋषियों ने भक्ति पूर्वक जिसे दिखाया, नाना आचार्यों ने विस्तार किया उस निर्मल परम (प्रेम) तत्त्व की हम अब व्याख्या करेंगे ।।२।।

अथ श्रीधरस्वामिमतम्

भगवद्वृत्तिरविरता शक्तिर्वाह्लादिनी भवेद् भक्तिः ।
अथवाऽनिर्वचनीयं प्रेमैव हरिस्वरूपं सा ।। ३ ।।

भगवान् में सतत चित्तवृत्तिप्रवाह भक्ति है। या भगवान् की आह्लादिनी शक्ति भक्ति है। अथवा वाणी के अविषय प्रेम ही भक्ति है जो हरि स्वरूप ही है ।।३।।

अद्वैतं परमार्थं सदसद्वजं स वासुदेवोऽजः ।
दिव्यं तस्य तु नाम च धाम च रूपं च लीला च ।। ४ ।।

कार्यकारणभावरहित अद्वैत तत्त्व ही परमार्थ है। वही अज वासुदेव है। उसके नाम, धाम, रूप और लीला ये सभी नित्य तथा दिव्य हैं ।।४।।

ननु नित्यं नामादि स्याद्यदि तेनैव किमिति न द्वैतम् ।
शृणु भगवदभिन्नत्वात् सच्चितसुखवत्स्वरूपत्वात् ।। ५ ।।

यदि नाम-धाम-रूप-लीलादि नित्य हैं तो उन्हीं को लेकर द्वैत क्यों नहीं होगा ? सुनो। ये नामादि सभी भगवान् से अभिन्न हैं। अतः द्वैतापत्ति नहीं है। जैसे सत् चित् आनन्द ये ब्रह्मरूप होने पर भी अभिन्न होने से नाना नहीं है ॥५॥

अपृथक्त्वेऽपि पृथगिव प्रतिभासन्ते सदादिकं यद्वत् ।
नामाद्यपि भवति तथा व्यावर्त्यपृथक्त्वकारणतः ॥ ६ ॥

सत् चित् आनन्दादि अपृथक् होने पर भी पृथक् पृथक् जैसे भासते हैं वैसे नाम-रूपादि भी अपृथक् होने पर भी पृथक् जैसे भासते हैं। क्योंकि व्यावर्त्य पृथक् है। सत् कहने से असत् की व्यावृत्ति होती है। चित् कहने से जड़ की व्यावृत्ति होती है। घट पटादि नाम जड़रूप है। हरिकृष्ण आदि नाम स्वयं चैतन्यमय है। जड़ नाम से व्यावृत्त चैतन्य नाम स्फुरण नाम से होता है। इसी प्रकार रूपादि भी हैं ॥६॥

तस्य च मायाशक्तिः प्रोक्ता सदसत्स्वरूपिणि कापि ।
पृथगिव जडरूपत्वान्मिथ्याऽनिर्वाच्यताहेतोः ॥ ७ ॥

राधारूप शक्ति अत्यन्त अभिन्न है। उससे अलग माया नाम की भी एक शक्ति है जो सत्-असत् स्वरूपिणी (कार्य-कारण रूपिणी) है। जड़ होने से वह परमात्मा से पृथक् जैसी है। अनिर्वचनीय होने से मिथ्या है ॥७॥

विरचयति सकलमेव च जगदेतन्मायया तया देवः ।
अवति च पुनरन्तेऽखिलमुपसंहरते निजे रूपे ॥ ८ ॥

परमेश्वर उस माया से समस्त जगत की रचना करता है, रक्षा करता है, और अन्त में उपसंहार भी करता है ॥८॥

कर्मानुरूपमखिलं सृजतो हरतोऽवतो हरेर्भुवनम् ।
लीलाकैवल्यमिदं भजतां पुनरन्यथाप्यंव ॥ ९ ॥

परमेश्वर प्राणियों के कर्म के अनुरूप जगत को सृष्टि रक्षा एवं संहार करता है। और यह परमेश्वर की लीलामात्र है। "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" ऐसे बादरायण ने भी कहा है। और भक्ति से भजन करनेवालों के लिये अन्यथा भी होता है। अर्थात् कर्म के बिना भी कुछ कार्य परमेश्वर करता है। लीलाकैवल्य मात्र भी नहीं, "अहं भक्तपराधीनः" के अनुसार परवश होकर भी कुछ कार्य करता है ॥९॥

बलदश्च वीर्यदोऽपि च भक्तानामात्मदोऽप्यखिलदोपि ।
भगवान् महतां लभ्यो भक्त्या पुरुषार्थरूपिण्या ॥ १० ॥

वह परमेश्वर भक्तों को बल देता है, वीर्य देता है, सब कुछ देता है, अपने आप को भी देता है। "य आत्मदा बलदा" इत्यादि श्रुतिवचन इस बात का साक्षी है। "ददात्यात्मानमात्मदः" ऐसा पुराणों में वर्णन आया है। महान् पुरुष भक्ति से भगवान को प्राप्त करते हैं। जो भक्ति स्वयं अपने आप में पुरुषार्थ रूप भी है ॥१०॥

साधनसाध्यफलभिदा भक्तिः स्यात्तत्र भूमिका बहुधा ।
सत्सङ्गः श्रवणादिः परिचर्या मार्गरुचिराद्या ॥ ११ ॥

साधन, साध्य एवं फलभेद से भक्ति त्रिविध है। इनमें भूमिकायें अनेक होती हैं। सत्संग, श्रवणकीर्त्तनादि, सेवा तथा भक्ति मार्ग में रुचि ये साधन-भक्ति भूमिकायें हैं ॥११॥

मनसि भगवदावेशश्चित्तविशुद्धिः स्वतः परोक्षरुचिः ।
भावो भगवत्स्फूर्त्तिर्हृद्यपरोक्षा रुचिश्चैव ॥ १२ ॥
प्रेमा भगवति विषयाननुरागो भगवदन्यबाधकधीः ।
गृहवैराग्यं भगवद्व्यसनं सर्वात्मभावश्च ॥ १३ ॥
(साध्यमिदं)

मन में भगवान् का आवेश, चित्त की अत्यन्त निर्मलता, भगवान् में स्वयमेव प्राथभिक परोक्षरुचि, भाव, मन में बार-बार भगवत्फुरण, हृदय में अपरोक्ष रुचि, भगवान् में प्रेम, विषयों में अनुरागाभाव, भगवान से अन्य सब जीवन में बाधक जैसे लगना, गृह से वैराग्य, भगवान् का व्यसन हो जाना और सर्वात्मभाव होना ये साध्यभक्ति की भूमिकायें हैं ॥१२-१३॥

साध्यमिदं भवति हरेराविर्भावश्च दिव्यसामर्थ्यम् ।
फलमित्यष्टादशधा शाश्वतलीलाप्रवेशोऽन्ते ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त साध्यभक्ति हुई। इसके बाद हरिका आविर्भाव होना, दिव्य सामर्थ्य प्राप्त होना ये दो फल है। इस प्रकार अठारह भूमिकायें हो जाती हैं। अन्त में भगवान की शाश्वत लीला में प्रवेश होता है। यह कोट्यतीत है ॥१४॥ इत्यष्टादशभूमिकोद्देशः।

अथाष्टादशभूमिकास्वरूपम्

हरिकृपया स्वच्छन्दं चरतां महतां यदृच्छया क्वचन ।
सङ्गः सतां यदा स्याद् हृदि कोऽप्युदियात् प्रभावस्तु ।। १५ ।।

पूर्वोक्त भूमिकाओं का किंचित् विवरण प्रस्तुत करते हैं। स्वच्छन्द विचरण करने वाले संतों का हरिकृपा से जब संग प्राप्त होता है उसी समय हृदय में एक विलक्षण भाव और प्रभाव होने लगता है ।।१५।।

तत एव हरिकथादेः श्रवणादौ पूर्ववासनावशतः ।
भवति प्रवृत्तिरेवं परिचर्यायां च सद्बोधात् ।। १६ ।।

सत्संग के प्रभाव से एवं पूर्ववासना से हरिकथा एवं हरिभक्त कथाओं के श्रवणादि में प्रवृत्ति होती है। हरिकथाश्रवण से भगवत की अलौकिक शक्तियों का बोध होता है तो सेवा में भी प्रवृत्ति होने लगती है ।।१६।।

एतावत् सामान्यं साधनमुक्तं ततश्च हरिकृपया ।
मार्गरुचिर्जायेत श्रवणादिजयोग्यताकस्य ।। १७ ।।

इतना तो सामान्य साधन हुआ। इसके बाद हरिकृपा से ही श्रवणादि से योग्यता प्राप्त हुए साधक को मार्गरुचि होती है। अर्थात् हरिभक्तों के सम्प्रदायात्मक मार्ग में जुड़ने की अभिरुचि होती है—मैं भी नियमपूर्वक जप-ध्यान-भक्ति आदि करूं ऐसी इच्छा होती है ।।१७।।

आविशति तदा भगवांस्तस्य स्वान्तं परोक्षरूपेण ।
तनुते शुद्धि धुन्वन् हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि ।। १८ ।।

मार्ग रुचि के साथ श्रवणादि करने वाले के हृदय में परमेश्वर प्रथम परोक्षरूप से प्रवेश करता है और अन्तःस्थित होकर अमङ्गल का नाश करते हुए हृदय को शुद्ध करता है। "शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवण-कीर्त्तनः। हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सतां" इत्यादि वचन द्रष्टव्य है ।।१८।।

श्रवणाद्यनुवर्त्तनतो दर्शनतश्चोपदेशतो महताम् ।
प्रथमं जायेत रुचिः परोक्षरूपा हरौ विमला ।। १९ ।।

बार-बार निरन्तर श्रवण से, सन्त एवं हरिमूर्त्ति के दर्शन से, महापुरुषों के उपदेश से प्रथम हरि के प्रति परोक्षरूप रुचि होती है। जैसे अपरोक्ष न होने पर भी कन्या का वरके नाम-गुण-श्रवणादि से रुचि हातो है ।।१९।।

पूर्वसहकृता च रुचिर्भावं सा बीजरूपमुपजनयेत् ।
अन्तर्भगवत्स्फूर्त्ति स च जनयेत्पूर्वसहकारात् ॥ २० ॥

चित्तशुद्धि एवं श्रवणाद्यनुवृत्ति से सहकृत भगवत्परोक्ष रुचि हृदय में बीजरूप भाव को पैदा करती है। रुचि में सुखानुभूति की विशेषता है। भाव में आकर्षण की विशेषता है। पूर्वोक्त रुचिसहकृत भाव से अन्दर भगवान की स्फुरणा होने लगती है ॥२०॥

अन्तर्भगवत्फूर्त्तौ भगवति रुचिरूर्जिताऽपरोक्षा स्यात् ।
श्रवणादिसाधनैः सा बृंहन्ती स्नेहमादध्यात् ॥ २१ ॥

अन्दर भगवान की स्फुरणा होने लगती है तो रुचि परोक्ष से अपरोक्ष रूप होने लगती है और क्रमशः उत्कट हो जाती है। श्रवणादि तो चालू ही रहते हैं तो उससे बढती हुई वह रुचि प्रेम उद्भूत कर देती है ॥२१॥

प्रेमा स वर्धमानो विषयगरागं बलान्निवर्त्तयति ।
भगवदसम्बन्ध्यर्था बाधकविधयाऽस्य भासन्ते ॥ २२ ॥

बढ़ता हुआ वह प्रेम वैषयिक राग को बल पूर्वक नष्ट कर देता है। तब भगवान से सम्बन्ध न रखने वाले सभी पदार्थ उसको अपने लिये बाधक प्रतीत होने लगते हैं ॥२२॥

तस्य गृहादिष्वरुचिर्जटिला वैराग्यलक्षणोद्भवति ।
स्याच्च ! हरावासक्तिरशक्या केनाप्यपाकर्त्तुम् ॥ २३ ॥

विषयों में राग होने नहीं देता इतनी ही बात नहीं, जो गृह-दार-धन-सुतादि में पहले से राग बना हुआ है उनमें वैराग्यरूपी अरुचि हो जातो है। और हरि के प्रति ऐसी आसक्ति हो जाती है जिसे कोई मिटा नहीं पायेगा। जैसे मीरा आदि की ॥२३॥

व्यसनं तस्य च भगवत्सेवास्मरणादिके विजृम्भेत ।
मानससेवामाहुस्तत्प्रवणमनस्त्वरूपां ताम् ॥ २४ ॥

फिर तो भगवत्सेवा स्मरण आदि का व्यसन हो जाता है। मानो उसके बिना वह जी ही नहीं सकता। जैसे नशा चढ़ गया हो, नशा का व्यसन बन गया हो। भगवदेकतानता यही है और यही मानस सेवा भी है।

तस्मात्प्रवर्धमानादुदयति सर्वात्मभाव एतस्य ।
भगवद्विषयकनिरुपधिपरमप्रेमाणमिममाहुः ॥ २५ ॥

वही व्यसन जब उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है तो सर्वात्मभाव का उदय होता है—"जित देखे तित स्याममयी है"। यही भगवद्विषयक निष्कैतव (निश्छल) प्रेम है ॥२५॥

आविर्भवति च भगवान् फलतः पुरुषोत्तमोऽस्य भक्तस्य।
तदलौकिकसामर्थ्यं किमपि प्रादुर्भवेदस्य ॥ २६ ॥

यहाँ तक साध्य भक्ति बतायी। उसका फल है भक्त के सम्मुख भगवान का आविर्भाव। उस समय भक्त में ऐसा अलौकिक सामर्थ्य प्रकट होता है कि वह स्वयं हजारों का उद्धारकारक हो जाता है ॥२६॥

प्रविशति हरेरलौकिकसामर्थ्ययुगेष नित्यलीलायाम्।
तत्रापि यथायोग्यस्वरूपमापद्यते दिव्यम् ॥ २७ ॥

अलौकिक सामर्थ्य सम्पन्न होने से ही वह हरि की नित्यलीला में प्रवेश पा लेता है। वहाँ भी वह यथायोग्य स्वरूप को, जो दिव्य है, प्राप्त होता है।

भक्तात्मना क्वचिद्गो-गोप-मृग-विहङ्गमात्मना क्वचन।
वृक्षलतानिर्झरिणीसमीरणाद्यात्मना क्वापि ॥ २८ ॥

यथायोग्य स्वरूप का मतलब कहीं भक्त रूप से, कहीं गाय, गोप, मृग, पक्षीरूप से और कहीं वृक्ष, लता, नदी, हवा आदि रूप से भगवत् लीला में प्रवेश करता है। गोलोकादि स्थान में पक्षी वृक्ष आदि सभी दिव्यरूप होते हैं सभी भगवद्भक्तिसम्पन्न ही होते हैं। बल्कि वृन्दावन में भी भगवदवतार काल में विशेषतया पक्षी-मृगादि सभी पुण्यात्मा भक्त ही होते हैं। "प्रायो बताम्ब मुनयः" इत्यादि में यह स्पष्ट है।

व्रजवल्लविकाः सर्वा निर्विशन्ते तत्र नित्यलीलायाम्।
आधुनिकाः केचन पुनरन्ये बहुजन्मसंसिद्धाः ॥ २९ ॥

उस नित्य लीला में समस्त व्रजगोपिकाओं का प्रवेश होता हैं। अन्य कुछ आधुनिकों का भी प्रवेश होता है जो अनेक जन्मों में साधन करते-करते संसिद्ध हो गये हैं ॥२९॥

एवं क्रमेण लब्ध्वा प्रेमाणं परमममृतसिन्धुसमम्।
निर्धूतसकलभेदः प्रेमात्मतयावतिष्ठेत ॥ ३० ॥

इस क्रम से अमृतसागरोपम परम प्रेम को प्राप्त हुआ साधक सर्वात्मभाव से सकल भेद को मिटाकर प्रेमात्मस्वरूप से अवस्थित होता है ॥३०॥

इति प्रेमभूमिकानिरूपणम्

भगवल्लोकप्राप्तिः सालोक्यं प्रोक्तमदृढभक्तिफलम् ।
चिन्तननैरन्तर्यात् सारूप्यं चापि तस्यैव ।। ३१ ।।

भक्ति यदि सुदृढ़ नहीं हुई तो भगवत् लोक की प्राप्ति होगी यह सालोक्य मुक्ति है। उसी अदृढ़ भक्ति वाला निरन्तर चिन्तन भगवान का यदि करता रहता है तो उसको सारूप्य मुक्ति की प्राप्ति होती है ।।३१।।

सेवारतस्य नित्यं सामीप्यं लभ्यतेऽस्य भक्तस्य ।
तत्काम्यमयाऽस्य कृपया सैश्वर्या सार्ष्टिरस्य भवेत् ।। ३२ ।।

अदृढ़ भक्ति वाला ही नित्य सेवारत रहा हो तो उसको सामीप्य मुक्ति की प्राप्ति होती है। यदि ऐश्वर्य कामना या ईश्वर कामना रही और भगवान् की कृपा भी रही तो सार्ष्टि मुक्ति होती है जो ऐश्वर्य युक्त होती है।

यत्र स्वरूपमात्रानन्दस्फूर्त्तिस्तदेव सायुज्यम् ।
नेच्छन्त्यैक्यं भक्ताः सालोक्यादीनि चाल्पत्वात् ।। ३३ ।।

जहाँ स्वरूपानन्दमात्र का स्फुरण हो उसको सायुज्य मुक्ति कहते हैं। भक्त लोग एकत्व अर्थात् कैवल्य मुक्ति भी नहीं चाहते और सालोक्यादि पूर्वोक्त मुक्तियां भी नहीं चाहते । एकत्व तो स्वरूप ही है। उसे चाहने का मतलब नहीं । सालोक्यादि अल्परूप तुच्छ है। अतः उन्हें भी वे नहीं चाहते । हमेशा सेवा करते रहना वे चाहेंगे। क्योंकि वह चाह का विषय हो सकता है। न वह तुच्छरूप है। और चाहने योग्य विषय भी है। अत एव कहा है—"सालोक्यसार्ष्टिसारूप्यसामीप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः" ।।३३।।

यत्रात्मनानुभूतिः सकलैरपि चेन्द्रियैरविश्रान्तम् ।
परमानन्दस्य भवेच्छाश्वतलीलाप्रवेशोऽयम् ।। ३४ ।।

कैवल्य की अपेक्षा शाश्वतलीला प्रवेश में भक्तजन विलक्षणता मानते हैं। वह यह है कि आत्मा से तथा समस्त इन्द्रियों से निरन्तर भगवान के परमानन्दस्वरूप का अनुभव नित्यलीला प्रवेश में होता है। चक्षु से भगवत् रूपदर्शनानन्द, श्रोत्र से मुरलीस्वरश्रवणानन्द इत्यादि। अत एव अनन्तरसयुक्त होने से वही उत्कृष्ट है ।।३४।।

सर्वस्य च परमात्मस्वरूपता तज्जलत्वतः सिद्धा ।
सर्वात्मभाव एवं निरुपधि सर्वत्र यत्प्रेम ।। ३५ ।।

(उत्तर प्रकरणोत्थापनार्थं संगति जोड़ते हैं।) परमात्मा से उत्पन्न उसी में लीन तथा जीवित होने से समस्त जगत् परमात्मस्वरूप ही है। ऐसा निश्चय होने पर सर्वात्मभाव होता है। निष्कैतव सार्वत्रिक प्रेम हो यथार्थतः सर्वात्मभाव है ॥३५॥

सोऽधस्तात् स पुरस्तादात्माधस्तात्तथा पुरस्ताच्च ।
इत्यादि श्रुतिनिचयश्चाचष्टे स्पष्टमेवेदम् ॥ ३६ ॥

श्रुति में प्रथम, वही आगे वही पीछे नीचे इत्यादि निर्देश किया। फिर आत्मा ही आगे आत्मा ही पीछे इत्यादि कहा। इसमें सर्वात्मभाव स्पष्ट ही कहा गया है ॥३६॥

द्विविधं तमेतमाहुर्वैधं रागानुगं च भक्तानाम् ।
आद्योऽम्बरीषकादावन्त्यो व्रजगोपिकादौ सः ॥ ३७ ॥

यह सर्वात्मभावात्मक भक्ति दो प्रकार की है। एक वैध अर्थात विधि-निषेध को ख्याल में रखते हुए होती है। दूसरा रागानुगा हैं। जिस में विधि निषेध विचार नहीं होता। प्रथम अम्बरीषादि की भक्ति है। द्वितीय व्रज-गोपिकाओं की भक्ति है ॥३७॥

अथ वल्लभाचार्यप्रदर्शिततत्त्वम्

अन्ये पुनराचार्या मर्यादीयं च पुष्टिमार्गीयम् ।
भावद्वयमिममूचुर्वैधादिसमानकक्षतया ॥ ३८ ॥

अन्य आचार्य अर्थात् वल्लभाचार्यादि उक्त दो भाव की (वैध तथा रागानुग की समानकक्षा में दो मार्ग बताये। मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग। उन को मार्यादमार्गी और पुष्टिमार्गी कहते हैं, जो क्रमशः मर्यादाभक्ति और पुष्टि भक्ति करते हैं ॥३८॥

वैदिककर्माभिरतः सन्मार्गपरायणस्तु मर्यादी ।
भगवदनुग्रहमात्राधारः स्यात् पुष्टिमार्गी च ॥ ३९ ॥

जो वैदिक कर्मों में तत्पर है सन्मार्ग ही जिसका परम अयन-मार्ग है वह मर्यादी कहलाता है। और जो भगवत्-अनुग्रह मात्र की अपेक्षा रखता है विधि-निषेध पर विशेष ध्यान नहीं रखता वह पुष्टिमार्गी है ॥३९॥

पोषणमनुग्रहः स्यादनुकम्पेच्छा विलक्षणा कापि ।
भगवन्निष्ठा सैषा तज्जन्या पुष्टिभक्तिः स्यात् ॥ ४० ॥

पोषण का अनुग्रह अर्थ है। अर्थात् अनुकम्पारूपी विलक्षण इच्छा। यह भगवान में स्थित है। उससे उत्पन्न होनेवाली भक्ति पुष्टिभक्ति कहलाती है।

भगवत्स्वरूपमात्राकाङ्क्षा चेत् पुष्टिभक्तिरित्युक्ता।
प्राप्तावप्याकाङ्क्षा तेनैव विलक्षणा सैषा ॥ ४१ ॥

भगवत्स्वरूपमात्र की आकांक्षा हो तो वह पुष्टिभक्ति है। भगवत्स्वरूप की दर्शनादि रूप प्राप्ति होने पर भी यह आकांक्षा बनी ही रहती है। इसी लिए यह साधारण आकांक्षा-इच्छा से विलक्षण है ॥४१॥

मिश्रा शुद्धा च स्यात्पुष्टिर्मिश्रा त्रिधा प्रवाहेण।
मर्यादया च पुष्टया शुद्धा पुष्टिस्त्वमिश्रोक्ता ॥ ४२ ॥

पुष्टि भक्ति दो प्रकार की होती है। मिश्रा और शुद्धा। मिश्रा तीन प्रकार की है। एक प्रवाहमिश्रा है। दूसरी मर्यादामिश्रा है। तीसरी पुष्टि-मिश्रा है। शुद्धा पुष्टि उसको कहते हैं जो प्रवाहादि तीन से मिश्र न हो और पूर्वोक्ता हो—पूर्वोक्त लक्षण से युक्त हो ॥४२॥

भगवदभिध्यावशतो निरतस्य हि पाञ्चरात्रधर्मेषु।
द्विजताद्यभिमानवतः श्रुतदेवादेः प्रवाहीया ॥ ४३ ॥

भगवान की अभिध्या से पांचरात्रोक्त पूजादि धर्मों में जो निरत हैं मैं ब्राह्मण हूँ; क्षत्रिय हूँ, मेरा यह कर्त्तव्य है, इस प्रकार जो अभिमान रखते हैं ऐसे भक्तों की प्रवाहमिश्रपुष्टिभक्ति है। जैसे मैथिल श्रुतदेवादि की है ।४३।

भगवदभिध्यापूर्वा विषयनिवृत्ता निवृत्तिमार्गस्थाः।
श्रवणादिपरा पुष्टिर्मर्यादीया च भीष्मादेः ॥ ४४ ॥

भगवदभिध्या तो रहती ही है, किन्तु निवृत्तिपरायणता होने से विषयों से वे निवृत्त होते हैं। श्रवणादि में तत्परता रहती है। ऐसी पुष्टि मर्यादीया पुष्टि (मर्यादामिश्रा पुष्टि) होती है। जैसे भीष्मपितामहादि की ॥४४॥

तत्त्वज्ञानोद्भावन्यपरा स्याद् भगवतोऽनुकम्पोत्था।
सा पुष्टिपुष्टिरुक्ता नारदऋषभादिभक्तानाम् ॥ ४५ ॥

तीसरी मिश्रा भक्ति तत्त्वज्ञान का उद्भावन करती है। भगवान की अनुकम्पा से ही उत्पन्न होती है। वह पुष्टि पुष्टि (पुष्टिमिश्रा पुष्टि) भक्ति है। जैसे देवर्षि नारद एवं ऋषभदेवादि की ॥४५॥

ननु तत्त्वज्ञानादेरभिलाषा चेत्कथं नु पुष्टिः सा ।
भगवन्मात्राकाङ्क्षालक्षणशून्यत्वतो मैवम् ॥ ४६ ॥

संशय होगा कि पूर्वोक्त रीति तत्त्वज्ञानादि की अभिलाषा रह गयी तो वह पुष्टि भक्ति ही किस प्रकार ? पुष्टि हो तब मिश्रा या शुद्धा यह विचार हो सकता है। भगवतमात्र की आकांक्षा यह लक्षण ज्ञानादि को इक्छा होने पर नहीं हो सकता। इस प्रश्न का उत्तर सुनो ॥४६॥

भगवद्धर्मप्रभृतिर्न भवति भगवत्स्वरूपतो भिन्नः ।
तस्मात्तत्सम्बद्धादन्यानाकाङ्क्षणं वा सा ॥ ४७ ॥

भगवत्धर्मादि भगवान के स्वरूप से भिन्न नहीं है। अतः भगवत्पूजन भगवत्ज्ञानादि की आकांक्षा भगवदकांक्षा ही है। अथवा अन्यानाकांक्षण या भगवन्मात्राकांक्षण का भगवान की और भगवत्सम्बन्धित की आकांक्षा से अतिरिक्त आकांक्षा का न होना अर्थ समझ लो ॥४७॥

जातप्रेम्णो भगवद्गुणगानश्रवणनित्यनिरतस्य ।
निरुपाधिर्या पुष्टिः शुद्धा व्रजवल्लवीप्रभृतेः ॥ ४८ ॥

भगवान में अपार प्रेम है। भगवद्गुणों का गायन एवं श्रवण में नित्य निरत है। ऐसे भक्तों की निरुपाधि अनिमित्ता भक्ति शुद्धा पुष्टि है। जैसे व्रजगोपिकाओं की भक्ति है ॥४८॥

पुष्टिरनुग्रहशब्दा पुष्टिः स्यात्तत्प्रयुक्तभक्तिरपि ।
भगवदनुकम्पया स्यात् पुष्टिरितिदृढैषणा मार्गः ॥ ४९ ॥

पुष्टि अनुग्रह को कहते हैं। भगवदनुग्रह से प्रयुक्त भक्ति भी पुष्टि है। भगवदनुकम्पा से मुझे पुष्टि हो ऐसी दृढ अभिलाषा पुष्टिमार्ग है ॥४९॥

इति मर्यादाभक्ति पुष्टिभक्त्योर्निरूपणम्

कृष्णे प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वाऽऽसक्तिर्निरोधपदवाच्या ।
तामस-राजस-सात्त्विकभेदा लीलापि च त्रिविधा ॥ ५० ॥

प्रपञ्चविस्मरणपूर्वक श्रीकृष्णासक्ति निरोधपदार्थ है। यही निरोध भक्ति कहलाती है। वह तामस, राजस एवं सात्त्विक भेद से तीन प्रकार की है। तदनुरूप भगवत्लीला भी त्रिविध है ॥५०॥

उज्झितमर्यादानां प्रियदोषोद्भाविनां बलात्क्वापि ।
मायामोहमुपयतां तामसरूपा त्रिधा सैषा ॥ ५१ ॥

तामसनिरोध भक्ति तीन प्रकार की है। एक में मर्यादाओं का जान-बूझ का या स्वभावतः भंग किया जाता है। दूसरी में प्रियतम में बलात् दोषोद्भावन-तुम निष्ठुर हो, कितव हो, इत्यादि रीति होता है। तीसरे में भक्त भगवतमायामोह में पड़ जाता हैं ॥५१॥

भगवद्विरहक्लेशप्रसरणविक्षिप्तचेतसां यः स्यात्।
राजस एष निरोधो ज्ञानप्रतिबन्धनो भवति ॥ ५२ ॥

भगवान के विरहक्लेश के प्रसार से विक्षिप्तचित्तवाले भक्तों का ज्ञान-प्रतिबन्धनकारी निरोध राजस माना जाता है॥५२॥

भगवद्व्यापकभावप्रबोधजन्या सदा सदासक्तिः।
सात्त्विकनिरोध उक्ता लीलाश्च तथा तदनुकूलाः ॥ ५३ ॥

भगवान् व्यापक हैं ऐसे व्यापकभाव के प्रबोध से सदा सद्रूपव्यापक जो आसक्ति है वह सात्त्विक निरोध है। भगवत लीलायें भी इन तीन के अनुकूल सात्त्विकादि त्रिविध हैं ॥५३॥

त्रिगुणनिवृत्तौ सत्यां प्रविशति परमार्थनित्यलीलायाम्।
निर्गुणरूपः स्वात्मस्थितिरवधूतान्यथारूपा ॥ ५४ ॥

तीनों गुणों से ऊपर उठने पर परमार्थ नित्यलीला में प्रवेश होता है। यह निर्गुण निरोधभक्ति है। इसमें आत्मस्वरूपावस्थान होता है। अन्यथा रूप का निराकरण होता है ॥५४॥

इति निरोधतद्भेदनिरूपणम्।

यादृशगुणो निरोधो दिव्यत्वं तादृगेति परिपाके।
दशमस्कन्धे न्यगदीन्निरोधमेनं रहस्येन ॥ ५५ ॥

निरोध में सात्त्विकराजसादि जैसा भी गुण हो, वही परिपाकावस्था में दिव्य हो जाता है। अतएव नारदादि के शापादि भी दिव्य ही होते थे। दशमस्कन्ध में इस निरोध का क्रमिक परिपाक रहस्यमय ढंग से बताया गया है ॥५५॥

मूर्त्याद्याविर्भावो गुरुवचनात्तदुचितस्थितिस्थानम्।
तत्राविद्यानाशो हरिशरणगतिर्गुरोर्वचनात् ॥ ५६ ॥

जन्म प्रकरण का तात्पर्य है प्रथम भगवान का किसी भी रूप में आविर्भाव जो ध्येय है। मूर्त्ति आदि के रूप में प्रथम भगवान का आविर्भाव होता

है। गोकुल में ले जाने का तात्पर्य है—मूर्त्यादि भगवदाकार को हृदय भ्रूमध्यादि उचित स्थान में ध्यानार्थं स्थापित करना। पूतनाहनन का अर्थ है अविद्यान्धकार को नष्ट करना। हरिशरणागति गुरुवचन से करे यही वसुदेववचन से नन्दराय की भावच्छरणागति का तात्पर्य है ॥५६॥

भक्तिप्रतिबन्धकगृहदारादिविभञ्जनं रजोनिहतिः ।
स्वप्नादितोऽन्यथा वा किञ्चिन्माहात्म्यविज्ञानम् ॥ ५७ ॥

शकटभंजन का अर्थ है गृहदारादि गृहस्थियों की जो गाड़ी है उसका भंजन अर्थात् मानसिक सम्बन्ध त्याग। तृणावर्त्तहनन का तात्पर्य है उससे होने वाली रज अर्थात् रजोगुण का शमन। यशोदामाता ने मुख में विश्व रूप देखा इसका अर्थ है भावनोद्रेक से स्वप्नादि में या अन्य किसी प्रकार भगवन्माहात्म्य का अनुभव करना ॥५७॥

तत्तल्लीलाद्योतकनाम्नां ग्रहणं च भगवदीयमुखात् ।
आसुरबहुतरभावविनाशोऽदोषेक्षणं चेशे ॥ ५८ ॥

गर्गाचार्य ने नामकरण करते हुए अनेक नाम सुनाये इसका तात्पर्य है भगवान की नाना लीलाओं के द्योतक नामों को भावद्भक्तों के मुख से सुनना। मटके फोड़ने का तात्पर्य है अनेक आसुर भावों को नष्ट करना। गोपिकाओं की शिकायत पर भी श्रीकृष्ण को उलाहना न देने का तात्पर्य है ईश्वर के समस्त कार्यों को अपने भले के लिये समझना और उनमें दोष-दर्शन न करना ॥५८॥

वासोभूषणशय्यानैवेद्याद्यर्पणं विभुत्वमतिः ।
सिद्धमहापुरुषकृपालेशवशाद् भक्तिसंप्राप्तिः ॥ ५९ ॥

यशोदा माता हमेशा सुन्दर वस्त्र पहनाने में, शृंगार कराने में, शय्या सजाने में, माखन खिलाने आदि में, लगी रहती थी इसका तात्पर्य इसी प्रकार भगवत्पूजन में लगे रहना है। पुनः विश्वरूप दर्शन का तात्पर्य है व्यापकत्व बुद्धि प्राप्त करना। यशोदा और नन्दराय के पूर्वजन्म द्रोण और धरा को ब्रह्माजी से भक्ति का वरदान प्राप्त होने का तात्पर्य है सिद्ध महापुरुषों की कृपालेश से भक्ति प्राप्त करना ॥५९॥

सर्वव्यापृतिकाले भगवद्गुणगानसततनामजपः ।
सकलार्थाचयनानां केवलकृष्णार्थताबुद्धिः ॥ ६० ॥

"दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत" इस दधिमंथन प्रसङ्ग का तात्पर्य है समस्त कार्य काल में भगवद्गुणगान और भगवन्नामजपादि करना और समस्त वस्तुओं के संचयन को केवल कृष्णार्थ समझना ॥६०॥

भक्त्यैकवश्यतायाः बोधो भक्ताशिषाऽऽप्यतायाश्च ।
उभयोश्च स्वानुभवो गोकुललीलारहस्यार्थः ॥ ६१ ॥

उलूखलबन्धन का तात्पर्य है भगवान् भक्ति से वशीभूत होते हैं। यमलार्जुन पर कृपा का तात्पर्य है नारदादि भक्तों के आशीर्वाद से भगवान् प्राप्य है। दोनों का स्वानुभव "गोपीभिः स्तोभित" इत्यादि का अभिप्राय है। यह गोकुललीला का रहस्यार्थ हुआ ॥६१॥

क्रीडापरिच्छदानां चयनं सेवोपयोगिनां शुद्धिः ।
लोभानृतदम्भानां हननं हरिभावमात्रेण ॥ ६२ ॥

वृन्दावन का चुनाव किया गया इसका तात्पर्य यह है भगवत्पूजक भगवदर्थ क्रीडा सामग्रियों का चुनाव करता है। वहां वत्सासुरादिवध का अर्थ लोभ का अनृत का और दम्भ का हरिभाव से शोधन करना ॥६२॥

देहादौ स्वीयत्वाद्यध्यासहृतिर्हृषीकसंशुद्धिः ।
इन्द्रियदोषदवानलशमनं चान्तःकरणशुद्धिः ॥ ६३ ॥

अघासुरवध का तात्पर्य है देहादि में स्वत्व एवं स्वीयत्व बुद्धि का नाशन। कालिय वध के द्वारा कालिन्दी जलशोधन का तात्पर्य है इन्द्रियों की शुद्धि जिन इन्द्रियों में विषयविष फैला है। इन्द्रियदोषरूपी दावानल का शमन करना यह प्रथम दावानल शान्ति का रहस्य है और यह भगवान ही कर सकते हैं ॥६३॥

आत्माऽविद्याज्वालाशमनमनन्याश्रयो विपद्यपि च ।
श्रुत्यादिवचनरक्षा परोपकरणैकदीक्षत्वम् ॥ ६४ ॥

द्वितीय दावानलशमन का तात्पर्य है आत्मविषयक अज्ञानरूपी शोकादिज्वालाहेतु का शमन। गोवर्धनधारण का तात्पर्य है महाविपत्ति में भी भगवान की अनन्याश्रयता ही रक्षक है। कुमारिकावस्त्रहरण एवं पुनःप्रदान का तात्पर्य है श्रुतिस्मृतिरूपी भगवद्वाक्य का पालन करो। यज्ञपत्नीवत् परोपकारपरायणता होनी चाहिए ॥६४॥

शुद्धान्नैकग्रहणं श्रवणादीनां च पोषणं सततम् ।
सर्वात्मभावलाभः शाश्वतलीलाप्रवेशश्च ॥ ६५ ॥

यज्ञपत्नीभोजनग्रहण का अर्थ है भक्तवैष्णवों के शुद्धान्न का ही ग्रहण करें। गोपिकाओं की भगवल्लीलावर्णन में तन्मयता का तात्पर्य है, श्रवण कीर्त्तनादि का निरन्तर पोषण करते रहें। व्यापक ज्योतिर्लोक दिखाने का तात्पर्य है त्रिगुणातीत सर्वात्मभावलाभ। इसके बाद रसलीला वर्णन का रहस्य है त्रिगुणातीत होने पर शाश्वतलीला में प्रवेशप्राप्ति ॥६५॥

वृन्दावनलीलाया रासान्ताया अयं रहस्यार्थः।
इत्थंक्रमेण भक्त्या कृतकृत्यो जायते मर्त्यः॥ ६६॥

रासलीलापर्यन्त बृन्दावनलीला का यही रहस्यार्थ हुआ। इस क्रम से भक्तियुक्त मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है ॥६६॥

इति वल्लभाचार्यदिर्दशिततत्त्वम्

अथ गौडीयादिनिरूपिततत्त्वम्

सगुणागुणविषयत्वात्साधनभक्तिर्द्विधा बुधैरुदिता।
उभयी च मोक्षहेतुः क्वचन ज्ञानाङ्गरूपा च॥ ६७॥

साधन भक्ति दो प्रकार की होती है। एक सगुणविषयक है। दूसरी निर्गुणविषयक है। दोनों ही मोक्षहेतु है। कहीं कहीं वह ज्ञानाङ्गरूप भी होती है ॥६७।

श्रवणं स्मरणं कीर्त्तनमर्चनमपि पादसेवनं नमनम्।
दास्यं सख्यं चात्मनिवेदनमिति साधनं नवधा॥ ६८॥

श्रवण, स्मरण, कीर्त्तन, अर्चन, पादसेवन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन यह नवधा भक्ति है। (क्रम में विशेष आग्रह नहीं है) ॥६८॥

विषयविभेदात् त्रितयं प्रत्येकं स्याच्चतुर्विधं प्रथमम्।
तन्नाम्नां रूपाणां लीलानां भक्तचरितानाम्॥ ६९॥

श्रवण, स्मरण, कीर्त्तन ये तीन विषयभेद से चार-चार प्रकार के हैं। जैसे—नाम का श्रवण, कस्तूरीतिलकादियुक्त नानाविधरूपों का श्रवण, लीलाओं का श्रवण तथा भक्तचरित्रों का श्रवण। इसी प्रकार स्मरणादिभी हैं।

शैल्यां च दारुमय्यां मणिमय्यामर्चनं हि सैकत्याम्।
लौह्यां लेप्यायां वा लेख्यायां वा मनोमय्याम्॥ ७०॥

शिलानिर्मित, काष्ठनिर्मित, मणिनिर्मित, बालू से निर्मित, लोहनिर्मित लेपनात्मक लेख्य (चित्रादि) या मनोमय मूर्त्तियों में अर्चन किया जाता है।

सप्तविधप्रतिमायां प्रायः स्यादर्चनं हरेर्बाह्यम् ।
मानसमर्चनमुक्तं प्रायेण तथा मनोमय्याम् ।। ७१ ।।

सात प्रकार की बाह्य प्रतिमाओं में बाह्य अर्चन होता है। मनोमय मूर्त्ति में मानस अर्चन होता है। (बाह्य प्रतिमा में भी मनोमय पूजन होता है। अतः प्रायेण कहा) ।।७१।।

हरिमन्दिरादिमार्जनलेपनपरिधावनादिकं सकलम् ।
भवति हरिचरणसेवा भजतां शुश्रूषणं चैव ।। ७२ ।।

पादसेवन से हरिमन्दिरादि का मार्जन, लेपन, धोना इत्यादि सभी सेवायें ग्राह्य हैं। एवं भक्तसेवा भी हरिचरण सेवा है ।।७१।।

तदधीनभावना वा पूजाद्यतिरिक्तकालनमनं वा ।
वन्दनमुक्तं प्राज्ञैर्भक्तानां वन्दनं चैव ।। ७३ ।।

मैं भगवान के अधीन हूँ इस प्रकार की नम्र भावना वन्दन (नमन) है क्योंकि अर्चनान्तर्गत भी वन्दन है। अथवा अर्चनकालातिरिक्तवन्दन नमन है। और भक्तों का वन्दन भी वन्दनपदार्थ है ।।७३।।

अवतारे कृष्णादौ दास्यं साक्षात् किलोद्धवादीनाम् ।
भावात्मकमाधुनिकं स्वामिन एवाखिलं न मम ।। ७४ ।।

अवतार काल में उद्धवादि साक्षात् हरिदास्यसम्पन्न थे। वर्त्तमान में भावात्मक दास्य होगा। भगवान का ही सब कुछ है। मेरा कुछ नहीं ऐसी भावना दास्य है ।। ७४।।

सख्युर्भावः सख्यं नैम्बार्काणां विलक्षणं किमपि ।
तेन प्रादुर्भूतस्तत्र सखीसंप्रदायस्तु ।। ७५ ।।

सखा भाव ही सख्य है। किन्तु निम्बार्कानुयायियों के मत में यह विलक्षण ही है। इसी से उनकी अवान्तरशाखारूप में सखीसंप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ ।।७५।।

यद्यपि माधुर्यं स्यात्तत्र तथाप्येव तदुदयात् पूर्वम् ।
तस्य प्रयोजकतया कोऽपि च भावोऽस्ति तत्सख्यम् ।। ७६ ।।

यद्यपि सखीभाव में माधुर्य की विशेषता है। तथापि माधुर्यभाव के उदय से पहले उसके प्रयोजक के रूप में कोई विलक्षण सखाभाव होता है।

भावभक्ति पृथक् आगे बतायेंगे। अतः इस सख्य के साथ माधुर्य असंभव नहीं है ॥७६॥

आगारादिकमात्मा चापि श्रीकृष्ण तेऽस्तु भवतु नमः ।
इत्यात्मनिवेदनमिति नवधा भक्तिः परा शुभदा ॥ ७७ ॥

घर-बार आदि तथा आत्मा भी हे भगवन ! आपका ही है। आपको प्रणाम है। इस प्रकार आत्मनिवेदन होता है। यह नवधाभक्तिशुभदायिनी है।

इति नवधा साधनभक्तिः

शान्तं दास्यं सख्यं वात्सल्यं चोज्ज्वलं च भावाः स्युः ।
अन्यतमेनापि भजन् भगवन्तं प्राप्नुयान्मनुजः ॥ ७८ ॥

शान्त, दास्य,सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल अर्थात् माधुर्य ये पांच भाव हैं। किसी भी भाव से भजने वाला भगवान को प्राप्त होता है ॥७८॥

सकलजनान्तर्विष्टो जगतः सृष्टिस्थितिप्रलयकारी ।
हरिरस्यांशोऽस्म्यहमिति भावः शान्तः शमैकरतेः ॥ ७९ ॥

हरि सकलजनहृदयवर्त्ती है। जगत् की सृष्टि स्थिति एवं संहार करने वाला है। उसी का मैं अंश हूँ इस प्रकार का शमादिगुणशाली भक्त का भाव शान्तिभाव माना जाता है ॥७९॥

स्वामी सकलस्यासौ तस्यैव स्ववशवर्त्ति जगदखिलम् ।
दासोऽस्म्यहमिति भावो दास्यं सेवैकनिरतस्य ॥ ८० ॥

भगवान समस्त जगत के स्वामी है। उन्हीं के वश में पूरा विश्व है। मैं उन्हीं का दास हूँ इस प्रकार का सेवापरायण भक्त का भाव दास्यभाव कहलाता है ॥८०॥

सयुजौ खगौ सखायावेकं वृक्षं परिष्वजेते द्वौ ।
भुञ्जे फलमेकोऽन्योऽनश्नंल्लसतोति सख्यमिदम् ॥ ८१ ॥

समानधर्मों से युक्तखगरूपी दो सखा शरीरवृक्ष पर स्थित हैं। इनमें एक कर्मफलभोक्ता है। दूसरा अभोक्ता ही देदोप्यमान है। इस प्रकार अनुभव में आने लगे तो सख्यभाव है ॥८१॥

विहरति गोपकुमारैः क्वचन यशोदाभुजान्तरे ललति ।
स्नपये जमये रमये तमिति तु वात्सल्यभावोऽयम् ॥ ८२ ॥

बालमुकुन्द का स्मरण करते हुए अंदर देख रहे हैं—गोपबालकों के साथ वह खेल रहा है। कभी यशोदा माता की गोद में खेल रहा है। मैं इसको नहलाऊं जिमाऊं रमाऊं। ऐसी भावना होने लगे तो वात्सल्यभाव है ॥८२॥

उज्ज्वलनाम्ना परमो राधादेः कान्तभाविनो भावः ।
राधानिविष्टमनसां राधाभावोद्गमादधुना ॥ ८३ ॥

कान्ताभाव से युक्त राधा आदि का उज्ज्वल नामक परमभाव होता है। वर्त्तमान में राधाभजन से राधानिविष्टचित्त होने पर ही वह संभव है। स्त्रियों में वह भाव वर्त्तमान में भी सरलतया हो सकता है। जैसे मीरा आदि में। पुरुषों में विरला ही यह देखा जा सकता है। "आश्लिष्य मां पादरतां पिनष्टु वा" इत्यादि गौराङ्गजी के शब्दों में वह भाव झलकता है।

एकः पुमान् मुरारी जीवात्मानोऽखिला वयं गोप्यः ।
रमयेमहि तं सोऽयं चोज्ज्वलभावः सखीभावात् ॥ ८४ ॥

अथवा उज्ज्वलभाव इस प्रकार समझें कि पुरुष एकमात्र परमात्मा है। जीवात्मा सभी अंशबृगलवत् गोपियां हैं। वे हम परमात्मा को रमावें यह उज्ज्वलभाव है। यह है सखीभाव में उज्ज्वलभाव ॥८४॥

प्रेमैकरसनिधानं ब्रह्म सदानन्दतुन्दिलं परमम् ।
लीलादम्पतिभावाद् राधाकृष्णात्म संभूतम् ॥ ८५ ॥

जैसे जीवात्मा अंशबृगल है वैसे राधा भी है। ब्रह्म प्रेमरसनिधि है। सत् आनन्द से परिपूर्ण है। वही लीला से दम्पति-भाव को प्राप्त हो कर राधाकृष्ण हुए। वैसे ये जीवात्मा भी हो सकते हैं ॥८५॥

श्रीरूपा तु प्रथमं वृन्दावनचारिणी भवति राधा ।
लक्ष्मीरूपा द्वारावत्यां सा रुक्मिणीनाम्ना ॥ ८६ ॥

लीलादम्पति में स्त्रीभाग प्रथम श्रीरूप होकर वृन्दावनचारिणी हुई। वही राधा है। द्वारिका में लक्ष्मीरूप हो गयी। वही रुक्मिणी है ॥८६॥

राधाकृष्णौ मिलितौ प्रेमसुधाब्धिस्वरूपिणौ क्वचन ।
क्वचन विभक्तौ विरहादिव किल नित्योत्सुकोत्कण्ठौ ॥ ८७ ॥

कहीं तो राधा और कृष्ण का संयोग है। मिलकर प्रेमसुधा सागररूप होते हैं। और कहीं विभक्त होते हैं और मानो विरह से नित्य उत्सुक और उत्कण्ठित हैं ॥८७॥

प्रेमार्द्रदृष्टिवर्षैः क्वचिदमृतैर्भुवनमेव सिञ्चन्तौ ।
कमपीह मधुरिमाणं प्रवितन्वानौ च विजयेताम् ।। ८८ ।।

प्रेमार्द्र दृष्टि से अमृत बरसाते हुए वे पूरे विश्व को सींच रहे हैं और कोई अद्भुत माधुर्य को फैलाते हुए विराजे हैं ।।८८।।

उज्ज्वलभावेऽत्रैव च परकीयामूचिरेऽपरे स्वीयाम् ।
राधां श्रुतिस्त्ववादीत् पत्न्यौ ते श्रीश्च लक्ष्मीश्च ।। ८९ ।।

इस उज्ज्वलभाव में राधा को कुछ लोग परकीया मानते हैं। परन्तु श्रुति यही कहती है—"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ"। अर्थात् श्रीरूपी राधा और लक्ष्मीरूपी रुक्मिणी भगवान को पत्नियां हैं ।।८९।।

इति भावपञ्चकनिरूपणम्

एष च भावः सान्द्रः प्रेमेति निगद्यते तदुद्भूतौ ।
रागानुगा भवन्ति श्रवणाद्याः सर्व एवोक्ताः ।। ९० ।।

यही भाव सान्द्र होने पर प्रेम कहलाता है। उसके उत्पन्न होने के बाद जो श्रवण कीर्त्तनादि हैं वे रागानुगा कहलाते हैं ।।९०।।

शुद्धा मिश्रा चेति द्विविधा विबुधैरुदीरिता भक्तिः ।
प्रेमैकलक्षणा या भक्तिः सा प्रोच्यते शुद्धा ।। ९१ ।।

वह प्रेमलक्षणा भक्ति दो प्रकार की होती है। एक शुद्धा है। दूसरी मश्रिा है। प्रेममात्र जिसका स्वरूप है वह शुद्धा भक्ति है ।।९१।।

मिश्रा भवति त्रेधा त्रिविधोपाधेरनुप्रविष्टत्वात् ।
मिलिता स्याज्ज्ञानेन विरागेण च कर्मणा चैषा ।। ९२ ।।

तीन प्रकार की उपाधियों के अनुप्रवेश से मिश्रा भक्ति तीन प्रकार की मानी जाती है। ज्ञान से मिलित ज्ञानमिश्रा है। वैराग्य से मिलित वेराग्य मिश्रा है। कर्म से मिलित कर्ममिश्रा है ।।९२।।

अद्वैतादिज्ञानं ब्रह्मणि च जगत्यपि स्फुटं तन्वन् ।
भजते श्रीकृष्णं यो भक्तिः सा ज्ञानमिश्राऽस्य ।। ९३ ।।

अद्वैत ज्ञान और जगन्मिथ्यात्व ज्ञान को बढ़ाते हुए जो श्रीकृष्ण का भजन करता है उसकी भक्ति ज्ञानमिश्रा है ।।९३।।

मायामयमखिलमिदं बन्धनमिति बान्धवादिकानखिलान् ।
त्यक्त्वा भजते योऽस्य तु भक्तिर्वैराग्यमिश्रा स्यात् ।। ९४ ।।

यह संसार मायामय है। बन्धनरूप है ऐसा समझ कर अपने बन्धु-मित्रादि सबको त्याग कर जो भगवान् का भजन करता है। उसकी भक्ति वैराग्यमिश्रा होती है ।।९४।।

यागाद्यपि पूजाद्यपि सकलं भगवत्प्रसादकर्मतया ।
तन्वन् भजते यः खलु तद्भक्तिः कर्ममिश्रेति ।। ९५ ।।

यज्ञयागादि एवं पूजापाठादि सभी कर्म भगवत्प्रसादकारी अवश्य कर्त्तव्य है, इस प्रकार इन सब कर्मों को करते हुए जो भगवत्भजन करता है उसकी भक्ति कर्ममिश्रा होती है ।।९५।।

सात्त्विकराजसतामसभेदान्मिश्रापि सा भवेत् त्रिविधा ।
निर्मलता सकलुषता समोहता लक्षणं तासाम् ।। ९६ ।।

मिश्रा भक्ति सात्त्विक राजस एवं तामस भेद से पुनः त्रिविध है। सात्त्विक भक्ति में निर्मलता रहती है। राजस भक्ति में रागादि कालुष्य रहता है। तामस भक्ति में मोक्ष रहता है। यद्यपि ज्ञानमिश्रा और वैराग्य-मिश्रा में राजस तामस भाव नहीं होना चाहिए। तथापि दृढ ज्ञान और दृढ वैराग्य के अभाव में वैसे ज्ञान और वैराग्य की ओर बढते हुए भक्त में भी राजस तामस भाव कीं संभावना रहती है ।।९६।।

इति भक्तिद्वैविध्यनिरूपणम्

षोढा प्रपत्तिरुक्ता तत्राऽऽद्या त्वानुकूल्यसङ्कल्पः ।
स्यात्प्रातिकूल्यहानं विश्वासोऽविष्यतीति दृढः ।। ९७ ।।
गोप्तृत्वे वरणं स्यात्तुर्या मुख्योदितात्मनिक्षेपः ।
कार्पण्यं षष्ठं स्यादेषा शरणागतिर्गदिता ।। ९८ ।।

प्रपत्ति छह प्रकार की होती है। आनुकूल्यसङ्कल्प, प्रातिकूल्यपरित्याग भगवान् रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास, रक्षणार्थ भगवान का ही वरण करना, स्वात्मसमर्पण तथा कार्पण्य ये छः प्रपत्ति ही शरणागति है। इनमें आत्म-समर्पण मुख्य है ।।९७-९८।।

सकलचराचरमेतद् भगवद्वपुरेव तत्स्वरूपत्वात् ।
कर्त्तव्यमानुकूल्यं सर्वेषामेष सङ्कल्पः ॥ ९९ ॥

यह चराचरात्मक सकल जगत् हरि का ही स्वरूप है। अत एव हरि का शरीर है। अतः सबके अनुकूल ही रहना चाहिए। सबके लिए अनुकूल कार्यं करना चाहिए। एसा सङ्कल्प आनुकूल्यसङ्कल्प है ॥९९॥

यद्वा सुखदुःखादिकमखिलं मत्कर्मनाशनाय हरिः ।
यच्छत्यनुकूलोऽसौ सततमिति मतिर्भवेदाद्यः ॥ १०० ॥

अथवा सुखादि पुण्यकर्मनाशार्थं एवं दुःखादि पापकर्मनाशार्थं परमात्मा देता है जिससे नैष्कर्म्यसिद्धि हो। अतः हरि सदा अनुकूल ही है ऐसी मति आनुकूल्यसंकल्प है ॥१००॥

हिंसाऽनृत-परदार—द्रव्यापहृतिप्रभृत्यखिलमेव ।
प्रतिकूलं भगवत इति सहसा परिवर्जनं तस्य ॥ १०१ ॥

हिंसा, असत्य, परदारहरण, परद्रव्यहरण इत्यादि सभी भगवत्प्रतिकूल है ऐसा समझ कर इन सब को साहस से छोड़ना प्रातिकूल्यविवर्जन है ॥१०१॥

यद्वाऽसुरानपि घ्नन् प्रापयति निजं पदे दयालुरसौ ।
अप्रतिकूलोऽत इति स्थिरधीः प्रोक्तं द्वितीयं तु ॥ १०२ ॥

अथवा भगवान् असुरों को भी मारते हुए भी निजपद देते हैं। अतः वह किसी के प्रतिकूल नहीं। ऐसी स्थिरमति प्रातिकूल्यविवर्जन है ॥१०२॥

आपत्सु निमग्नमपिच रक्षिष्यति मां दयालुरेष विभुः ।
अद्य श्वो वा नूनं स च विश्वासस्तृतीयः स्यात् ॥ १०३ ॥

भगवान दयालु है। आपत्समुद्र में डूबे हुए भी मुझे आज नहीं तो कल अवश्य बचाएंगे ऐसा विश्वास—रक्षाविश्वास है ॥१०३॥

देवास्तुष्टुवुरीशं रक्षणतः प्रार्थयांबभूवुश्च ।
गोप्तृत्वे वरणं स्याच्छुद्धधिया प्रार्थनं विष्णोः ॥ १०४ ॥

यद्यपि भगवान् सर्वज्ञ हैं। फिर भी प्रार्थना आवश्यक है। इसीलिए देवता भगवत्स्तुति एवं रक्षणार्थं प्रार्थना की। यही गोप्तृत्ववरण है।१०४।

आत्मन आत्मीयानां भारन्यासो हरौ तवेतिमतेः ।
अपि नैश्चिन्त्यस्थानं तमिमं जगुरात्मनिक्षेपम् ॥ १०५ ॥

मैं और मेरे जो भी हैं सब तुम्हारे ही हैं इस प्रकार हरि में भारत्याग और निश्चिन्तता से रहना आत्मनिक्षेप है ॥१०५॥

दीनोऽहमशक्तोऽहं निरुपायोऽहं जगत्प्रभो त्वदृते ।
इत्यभिमतिपरिहाणं कार्पण्यं दैन्यपर्यायम् ॥ १०६ ॥

मैं दीन हूँ, अकिंचन असमर्थ हूँ, निरुपाय हूँ, आपके सिवाय हे प्रभो मैं कुछ नहीं इस प्रकार अभिमानत्याग कार्पण्य है। यही दीनता है ॥१०६॥

पञ्चात्राङ्गान्युदितान्यङ्गिनमाचख्युरात्मनिक्षेपम् ।
सैव प्रपत्तिरुक्ता तुष्यति परया यया भगवान् ॥ १०७ ॥

इनमें पांच अङ्ग हैं। आत्मनिक्षेप अङ्गी है। वही मुख्य प्रपत्ति-शरणागति है। जिससे परमेश्वर प्रसन्न होता है ॥१०७॥

इति षोढाशरणागतिनिरूपणम्

शृङ्गारकरुणवीर्यैरद्भुतबीभत्सरौद्रहास्यैश्च ।
सभयानकशान्तैः स्यात् सनवरसा भक्तिरपि शुद्धा ॥ १०८ ॥

शृङ्गार, करुण, वीर्य, अद्भुत, बीभत्स, रौद्र, हास्य, भयानक तथा शान्त इन भावों से भक्ति नवरस होती है, यद्यपि वह शुद्ध ही है ॥१०८॥

दृश्यश्राव्यकथादेः स्थायी भावो भवेद्रसो नाम ।
अनुभावविभावाभ्यामपि च व्यभिचारिभावेन ॥ १०९ ॥

दृश्य रासलीलादि कथा से, श्राव्य या पठनीय कथाओं से अनुभाव, वभाव तथा संचारी भावों के द्वारा जो स्थायी भाव होता है वही शृंगारादि नामक रस है (इसका विस्तृत वर्णन भक्तिसूत्रवार्त्तिक में हैं) ॥१०९॥

अथ भगवत्पादसिद्धान्तः

आत्मनि मुख्यः प्रेमा जायादेवादिके स आत्मार्थः ।
सा भवति हरौ भक्तिर्निजस्वरूपानुसन्धानात् ॥ ११० ॥

"न वा अरे जायायै कामाय" "न वा अरे देवानां कामाय" "पुत्रात्प्रेयः" इत्यादि श्रुति से और अनुभव से यह बात सिद्ध है कि मुख्य प्रेम आत्मामें ही होता है। जाया, देव, पुत्र, धनादि में आत्मार्थ गौण प्रेम ही हो सकता है। वही प्रेम जब आत्माभिन्नतया आत्मस्वरूपानुसन्धान से हरि भगवान् में हो (संक्रमित होता है) तो भक्ति कहलाती है। यही भगवत्पादाचार्य ने "स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते" इत्यादि से अभिव्यक्त किया है ॥११०॥

शक्तिं शाक्ताः शैवाः शिवमथ विष्ण्वादि वैष्णवाद्याश्च ।
यद्वपुरभजंस्तस्मै भवतु परस्मै नमः पुंसे ॥ १११ ॥

शक्तिरूप से शाक्तगण शिवरूप से शैव समुदाय विष्णु आदि रूप से वैष्णवादि जिसके स्वरूप का भजन करते हैं उस परम पुरुष परमात्मा को नमस्कार ॥१११॥

निरुपाधिकरसतानं परमप्रेमात्मकं परं ब्रह्म ।
आत्मस्वरूपममलं वन्देमहि सच्चिदानन्दम् ॥ ११२ ॥

विभावाद्युद्भावित होकर सोपाधिक अनित्य नहीं, किन्तु निरुपाधिक नित्यरसस्वरूप है, परमप्रेमास्पद न होकर तादृशवृत्त्यभिव्यङ्ग्य स्वयं परम प्रेमात्मक है आत्मस्वरूप होने से गौण न होकर परमरूप है ऐसे निर्मल सच्चिदानन्द परब्रह्म की हम वन्दना करें ॥१११॥

मङ्गलयतिना कृतिना कृतिरियमखिलस्य मङ्गलाय कृता ।
विज्ञाय सकलशास्त्रप्रतिपादितसूक्ष्मसिद्धान्तम् ॥ ११३ ॥
आस्तिकनास्तिकविदुरैरखिलैरुररीकृता समतभेदा ।
भक्तिर्निरूपितैषा तुष्यतु भगवानतो मयि सः ॥ ११४ ॥
नयनपुमर्थखनयने (२०४२) श्रावणमासे च पूर्णिमाख्यतिथौ ।
मङ्गलवासरदिवसे ग्रन्थोऽयं पूर्णतामगमत् ॥ ११५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य महामण्डलेश्वर श्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ परिशिष्टं भक्तितत्त्वनिरूपणम्

समाप्तोऽयं ग्रन्थः
शुभं भूयात्

—:०:—